सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – २

(साधन-तत्त्व)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है।

प्रथम संस्करण – २०१९

1000 प्रतियाँ

मूल्य : 10 पुस्तकों के लिए ₹2500 (₹250 X 10)

प्रकाशक

करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कायों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

विषय सूची

साधन-तत्व 7

साधक कौन है?.....8

साधन-तत्व क्या है?.....9

साध्य क्या है?.....9

क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है? 10

साधन-तत्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं? 12

साधन और साधन-तत्व में क्या भेद है? 14

साधन की आवश्यकता क्यों है? 16

साधन में विघ्न क्या हैं?..... 17

साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती? 28

जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों है? 29

साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो?..... 31

साधक होने का अधिकारी कौन है?..... 32

साधन में शिथिलता क्यों आती है? 35

साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है?..... 37

साधन का आरंभ कैसे हो? 39

साधन की लालसा 41

साधन का महत्व..... 42

असाधन का त्याग..... 44

दर्शन और साधन 47

जीवन और साधन 50

विश्वास और साधन..... 52

साधन-विधि 56

साधन-क्रम 60

साधन और असाधन..... 62

साधन और सत्संग..... 65

सत्संग की आवश्यकता 76

अहम् का नाश तथा साधन-तत्व 78

मानव की मांग 83

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग 84

सुन्दर समाज का निर्माण..... 92

अपना कल्याण चाह-रहित होने में है 104

सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति.....116

बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर..... 126
अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति 139
संयोग में वियोग के दर्शन 154
कर्तव्य-परायणता 163
अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम..... 172
भुक्ति, मुक्ति और भक्ति..... 180
निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है 187
मुक्त किससे होना है..... 192
कर्ता और कर्म- मान्यता का प्रभाव..... 202
निर्मलता कि प्राप्ति..... 209
सुख का उपयोग सेवा है 217
कर्म, विवेक और विश्वास..... 221
परिस्थितियाँ..... 227
भाव – शुद्धि..... 233
अचाह होने का महत्व 238
कर्तव्य-पालन में स्वतन्त्रता.. 241
पर-दोष-दर्शन..... 245
करना और होना..... 249
जीवन-विभाजन..... 254
करो 'सेवा' जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को..... 258
निर्भयता की प्राप्ति..... 263
स्वाभाविक आवश्यकता कि सहज पूर्ति..... 266
चरित्र – निर्माण..... 270
मानव–दर्शन.....277
मानव जीवन की समस्या, मानव–दर्शन का महत्व..... 278
असत् का विवेचन..... 299
मैं का विवेचन..... 309
पथ-विवेचन..... 340
कर्तव्य-विवेचन..... 355
समाज-दर्शन..... 373
दुःख की समस्या..... 395
शिक्षा और दीक्षा..... 403
विश्व-शान्ति..... 408
उपसंहार..... 416
साधन-निधि.....427
अपने लिए उपयोगी होना 429
जगत् के लिए उपयोगी होना 445
प्रभु के लिए उपयोगी होना... 457
उपसंहार..... 471
मंगलमयी विधान.....479

साधन-तत्व

साधन-तत्त्व में पूज्य स्वामी जी ने साधकों के हितार्थ साधन-तत्त्व, साधन और साध्य पर अनोखा प्रकाश डाला है। जो साधक अपने विवेक के प्रकाश में साधन-पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं उन्हें इस रचना से निस्सन्देह विशेष पथ-प्रदर्शन मिलेगा। इसके साथ-साथ उनकी दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याएँ भी आप सुलझती जाएँगी, कारण कि साधन में यह विशेषता है कि ज्यों-ज्यों साधक साधन-पथ पर कदम बढ़ाता है। त्यों-त्यों उससे आगे का रास्ता स्वयं प्रकाशित होता जाता है।

प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र साधक है और प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है। निज विवेक के प्रकाश में जाने हुए असाधन का त्याग ही साधन का आरम्भ है। विवेक-विरोधी प्रवृत्ति और विवेक-विरोधी मान्यता ही असाधन है। विवेक-विरोधी प्रवृत्तियों का त्याग कर्तव्य परायणता को जन्म देता है। विवेक-विरोधी मान्यताओं के त्याग में जिज्ञासा की जागृति निहित है। कर्तव्य परायणता विद्यमान राग को खा लेती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का अंत करने में समर्थ है। कामनाओं के अंत में ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः सिद्ध है। जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविकता का बोध निहित है। वास्तविकता के बोध में ही वास्तविक जीवन है। कर्तव्य का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से ही है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से है उसके पालन में असमर्थता की गंध भी नहीं है। कर्तव्य पालन में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। परिस्थिति-भेद से कर्तव्य में भेद होने पर भी फल में एकता ही है, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग का परिणाम एक ही है। कर्तव्य की दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय का अंत भी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही निहित है। परिस्थिति का दुरुपयोग व्यक्ति को परिस्थितियों की दासता में आबद्ध करता है। परिस्थितियों की दासता परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करते ही बेचारा प्राणी दीनता तथा अभिमान में आबद्ध हो जाता है। दीनता तथा अभिमान में आबद्ध प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय से आक्रान्त हो जाता है।

साधक कौन है?

प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र साधक है, क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जिसमें करने, जानने और मानने की रुचि न हो। प्रत्येक मानव कुछ-न-कुछ करना चाहता है, उसमें निस्सन्देहता की माँग भी विद्यमान है और उसका किसी-न-किसी में विश्वास भी है। जो

कुछ भी करना चाहता है वह किसी-न-किसी विधान को स्वीकार अवश्य करता है। विधान के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति ही कर्तव्य है। कर्तव्य परायणता से करने के राग की निवृत्ति और दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वतः होती है। करने के राग का अंत होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को यथेष्ठ विश्राम मिलता है, जिससे साधक कर्तव्य के अभिमान से रहित हो जाता है। कर्तव्य का अभिमान गलते ही साधक में स्वतः वास्तविकता की जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो समस्त भोग-वासनाओं का अन्त कर उसे निस्सन्देहता प्रदान करती है। सन्देह-रहित होते ही अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते है और फिर साधक स्वतः साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक मानव साधक है; क्योंकि उसमें बीजरूप से साधन-तत्व विद्यमान है।

साधन-तत्व क्या है?

अपने साध्य में अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही साधन तत्व है। साधन-तत्व साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। इस कारण प्रत्येक साधक साधन-तत्व से अभिन्न होकर ही साध्य को रस प्रदान करने में समर्थ होता है; क्योंकि प्रियता रस की जननी है। साध्य का रस ही साधक का रस है। इतना ही नहीं, रस का आदान-प्रदान रसरूप ही है।

साध्य क्या है?

साध्य वही है जिससे देश-काल की दूरी न हो, अर्थात् जो सर्वत्र तथा सर्वदा है, वही साध्य है। किसी भी साधक का साध्य वह नहीं हो सकता जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो और उसे भी साध्य नहीं कह सकते जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो। वह भी साध्य नहीं हो सकता है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता न हो। साध्य वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा प्रमाद है; क्योंकि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वाभाविक है। जिससे नित्य सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है उसकी विस्मृति भले ही हो जाय; किन्तु उससे दूरी तथा भेद नहीं हो सकता। जिससे दूरी तथा भेद हो ही

नहीं सकता उससे निराश होना, उसकी प्राप्ति में अपने को अनधिकारी मानना और उससे आत्मीयता स्वीकार न करना साधक की अपनी ही असावधानी है, और कुछ नहीं। अतः साध्य वही है जिसकी प्राप्ति में साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। साध्य को पाकर फिर कुछ और पाना शेष नहीं रहता क्योंकि साध्य की प्राप्ति समस्त अभावों का अभाव कर साधक को वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है?

निस्सन्देह सभी साधकों का साध्य एक ही है, क्योंकि सभी की वास्तविक माँग एक है। साध्य में भिन्नता तभी तक प्रतीत होती है जब तक साधक विवेकपूर्वक अपनी वास्तविक आवश्यकता को नहीं जानता, अपितु उसे अविवेक-सिद्ध कामनाओं से ढकता रहता है। यद्यपि वास्तविक आवश्यकता का नाश कभी नहीं होता, तथापि विवेक का अनादर बेचारे साधक को कामनाओं में आबद्ध कर वास्तविक आवश्यकता से विमुख कर देता है। यदि साधक प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करें, तो उसे यह स्पष्ट विदित होगा कि कामनाओं की पूर्ति उसकी वास्तविक आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सभी कामनाओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कामना की पूर्ति प्राणी को पराधीनता, जड़ता आदि दोषों में आबद्ध करती है और कामना-पूर्ति के सुख की दासता नवीन कामना को जन्म देती है। उसका परिणाम यह होता है कि अनेक बार कामना-पूर्ति होने पर भी कामना की उत्पत्ति का प्रवाह ज्यों-का-त्यों बना रहता है, अर्थात् कामना-पूर्ति का सुख बेचारे साधक को कामना आपूर्ति के दुःख से मुक्त नहीं होने देता। सुख की दासता तथा दुःख का भय किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि कामना-पूर्ति साधक की वास्तविक आवश्यकता नहीं है। यह रहस्य जान लेने पर कामना-पूर्ति का महत्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही कामना पूर्ति-आपूर्ति से अतीत वास्तविक आवश्यकता की जागृति होती है, जो सभी साधकों में एक है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि सभी साधकों का साध्य एक ही है।

इतना ही नहीं, कामना-निवृत्ति की शान्ति में रमण करना भी साध्य नहीं है; क्योंकि शान्ति में रमण करने से सीमित अहम् भाव पुष्ट होता है, जो भेद की उत्पत्ति में मूल कारण है। भेद के रहते हुए निर्भयता, निश्चिन्तता, निर्वासना और अपरिच्छिन्नता सम्भव नहीं है और उसके बिना वास्तविक जीवन से अभिन्नता नहीं हो सकती। दुःख अभाव में, सुख पराधीनता में और शान्ति परिच्छिन्नता में आबद्ध करती है। अतः सुख-दुःख तथा शान्ति का भोग साध्य नहीं हो सकता। यद्यपि सुख-दुःख की अपेक्षा शान्ति बड़े ही महत्व की वस्तु है, परन्तु सीमित अहम् भाव का अन्त करने के लिए साधक को शान्ति से भी असंग होना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शान्ति का सम्पादन नहीं करना है। कामना-पूर्ति का जब महत्व नहीं रहता तब आवश्यक कामनाओं की पूर्ति के अंत में अपने आप कामना-निवृत्ति की शान्ति आती है। शान्ति सामर्थ्य की प्रतीक और स्वाधीनता की जननी है। यदि आयी हुई शान्ति में रमण किया जाय जो संचित सामर्थ्य का व्यय कामना-पूर्ति में होने लगता है और फिर बेचारा प्राणी पूर्व की भाँति कामना-उत्पत्ति और पूर्ति के दुःख-सुख में आबद्ध होने लगता है, अथवा यों कहो कि दुःख-सुख का एक गोल चक्र बन जाता है और बेचारा प्राणी उसी में घूमता रहता है, जिससे अपनी वास्तविक आवश्यकता को नहीं जान पाता, जिसके बिना जाने वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि को ही साध्य मान बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है।

जिससे नित्य सम्बन्ध तथा जातीय एवं स्वरूप की एकता नहीं हो सकती वह साध्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प-उत्पत्ति के दुःख तथा पूर्ति के सुख एवं संकल्प-निवृत्ति की शान्ति के रमण से अतीत जो वास्तविक जीवन है वही सभी का साध्य है। उसे किसी वस्तु, अवस्था, एवं परिस्थिति में आबद्ध होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो साध्य सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है वह एक ही है। अतएव साधक अनेक और साध्य सभी का एक है।

साधन-तत्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं?

साधन-तत्व से अभिन्न होने के अनेक उपाय हैं। यद्यपि प्रत्येक साधक में बीजरूप से साधन-तत्व विद्यमान है, परन्तु उस विद्यमान साधन-तत्व को विकसित करने के लिए प्रत्येक साधक को अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर उस साधन का निर्माण करना होगा जो उसे साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ है। प्रत्येक साधक का अपना जाना हुआ असाधन अलग-अलग है। इसी कारण सर्वांश में दो साधकों की साधना भी एक नहीं हो सकती, क्योंकि साधन का आरम्भ साधक में से ही होता है। जब सर्वांश में दो साधकों की भी वर्तमान वस्तुस्थिति एक नहीं है तब सभी साधकों का आरम्भिक साधन एक कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

अपने असाधन का ज्ञान प्रत्येक साधक को है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो साधन करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता। साधन करने की बात साधक में तभी आती है जब वह अपनी जानी हुई असाधनयुक्त वस्तुस्थिति से व्यथित होता है। असाधन-जनित वेदना साधक को असाधन-जनित सुख-लोलुपता की दासता से मुक्त कर देती है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने जाने हुए असाधन के त्याग करने में समर्थ होता है। साधक के जीवन में असाधन उसी समय तक जीवित रहता है जब तक साधक असाधन-जनित सुख-लोलुपता का भोग करता है। असाधन का आरम्भ सुखद प्रतीत होता है और परिणाम बड़ा ही भयंकर दुःखद सिद्ध होता है। सुखद प्रतीति, सुख के प्रलोभन में आबद्ध कर बेचारे प्राणी को साधननिष्ठ नहीं होने देती। अतः अपने जाने हुए असाधन का त्याग अनिवार्य है। जाने हुए असाधन का त्याग करते ही साधक की योग्यता, रुचि, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुसार साधन का निर्माण अपने आप हो जाता है। इस दृष्टि से असाधन का त्याग ही साधन-निर्माण की भूमि है। अतः प्रत्येक साधक को अपने-अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर वर्तमान ही में साधन-निर्माण करना है।

समस्त साधन दो भागों में विभाजित हैं, एक निषेधात्मक, दूसरा विध्यात्मक।

निषेधात्मक साधन सभी साधकों के लिए समान है, क्योंकि असाधन का त्याग ही निषेधात्मक साधना है। असाधन के त्याग के बिना विध्यात्मक साधना, जो प्रत्येक साधक की अलग-अलग होती है, सिद्ध हो ही नहीं सकती। विध्यात्मक साधना की सिद्धि के लिए निषेधात्मक साधना को अपना लेना अनिवार्य है। निषेधात्मक साधना ही सभी साधकों में स्नेह की एकता सुरक्षित रखती है, अर्थात् विध्यात्मक साधना अलग-अलग होने पर भी साधक होने के नाते परस्पर में एकता बनी रहती है। यदि निषेधात्मक साधना को न अपनाया तो असाधन का त्याग सम्भव न होगा और उसके बिना विध्यात्मक साधना सजीव न होगी। कोई साधक निषेधात्मक साधना को बिना अपनाए विध्यात्मक साधना आग्रहपूर्वक यन्त्रवत् भले ही करता रहे, किन्तु साधक की साधन में स्वाभाविक प्रियता न होगी और उसके बिना साधन में स्वाभाविकता नहीं आएगी। स्वाभाविकता के बिना साधन निरन्तर नहीं हो सकता। जो निरन्तर नहीं हो सकता वह साधन जीवन नहीं बन सकता। जो साधन जीवन नहीं बन सकता उस साधन का आरम्भ और अन्त होता रहेगा। ऐसा साधन कालान्तर में भले ही फलित हो, पर उससे वर्तमान में सिद्धि नहीं हो सकती। अतः विध्यात्मक साधना को सजीव बनाने के लिए निषेधात्मक साधना को, जो सभी साधकों के लिए समान है, अपना लेना अनिवार्य है।

यद्यपि साधन-तत्व एक है, परन्तु उससे अभिन्न होने के लिए व्यक्तिगत साधन अनेक हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन अनेक साधनों में एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं है। सभी साधन किसी-न-किसी रूप में साधन-तत्व की ओर ही गतिशील होते हैं, परन्तु परिस्थिति-भेद से जो जीवन और साधन में भिन्नता प्रतीत होती है वह भिन्नता, जब साधक का जीवन साधन हो जाता है, तब अपने आप मिट जाती है और फिर अनेक साधन एक होकर साधन-तत्व से साधक को अभिन्न कर देते हैं। इस दृष्टि से साधन अनेक भी हैं और एक भी। प्रत्येक साधक की आन्तरिक प्रेरणा एक है ओर उसके बाह्य

स्वरूप अनेक हैं। इस रहस्य को जान लेने पर साधन-भेद होने पर भी साधन-तत्व से अभिन्न होना सभी के लिए परम आवश्यक हो जाता है।

वही साधन साधक को साधन-तत्व से अभिन्न कर सकता है, जो साधन साधक को रुचिकर हो और जिसमें विकल्प-रहित विश्वास हो और साधक का विवेक उस साधन का विरोधी न हो, समर्थक हो अथवा न हो। साधन परिस्थिति के विपरीत न हो और उसको कार्यान्वित करने में साधक, असमर्थ न हो, तथा उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य योग्यता की अपेक्षा न हो, अपितु प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यतापूर्वक ही साधन हो सके। वही साधन साधक का जीवन होकर साधक को साधन-तत्व से अभिन्न कर सकता है। जो साधन रुचिकर होता है और जिसमें अविश्वास नहीं होता उसमें साधक का मन लग जाता है। जो साधन विवेक-विरोधी नहीं होता उसमें साधक की बुद्धि लग जाती है। जो साधन परिस्थिति के अनुसार होता है वह वर्तमान में किया जा सकता है। जिस साधन में मन-बुद्धि लग जाते हैं और जो वर्तमान में ही हो सकता है वह साधन साधक के लिए स्वाभाविक हो जाता है और फिर बड़ी सुगमतापूर्वक साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है।

साधन और साधन-तत्व में क्या भेद है?

समस्त साधन जिससे अभिन्न होते हैं वही साधन-तत्व है। साधन अनेक हैं और साधन-तत्व एक ही है। साधकों की योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति-भेद से व्यक्तिगत साधन अलग-अलग हैं; किन्तु ज्यों-ज्यों साधक अपने जाने हुए असाधन का त्याग करते जाते हैं, त्यों-त्यों साधन साधक को साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ होते हैं। साधन और साधन-तत्व में केवल यही भेद है कि साधन साधन-तत्व का वह भाग है जो क्रमशः साधक में से असाधन का नाश कर साधक के अस्तित्व को साधन से अभेद कर देता है, अर्थात् साधक और साधन में किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। तब केवल साधन-तत्व ही शेष रहता है, जो साध्य की अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता है, जिससे साध्य को रस की

उपलब्धि होती है। साधन में एकदेशीयता होती है और साधन-तत्व में सर्वदेशीयता। साधन व्यक्तिगत है और साधन-तत्व समस्त साधकों का एक है। साधन-तत्व और साध्य में किसी प्रकार की दूरी नहीं रहती, क्योंकि साधन-तत्व में सत्ता साध्य की ही है, अथवा यों कहो कि साधन-तत्व साध्य का ही स्वभाव है। साधन-तत्व से अभिन्न होने पर ही साध्य की प्राप्ति होती है। इस कारण समस्त साधकों को, साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न होना है। जब तक साधक में आंशिक असाधन रहता है तब तक साधक का अस्तित्व गलकर साधन नहीं हो पाता और उसके हुए बिना साधन-तत्व से अभिन्नता नहीं होती। साधक और साधन में भेद तभी तक रहता है जब तक किसी-न-किसी अंश में असाधन है। असाधन के रहते हुए साधन सद्‌गुणों के रूप में प्रतीत होता है। गुणों का अभिमान दोषों की भूमि है। अतः जब तक असाधन का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता तब तक साधन और साधन-तत्व में भेद रहता है। गुणों का अभिमान गलते ही अनेक साधन गल कर साधन-तत्व में विलीन हो जाते हैं और फिर साधन-तत्व साध्य को रस प्रदान कर कृतकृत्य होता है। साधन का आश्रय लेकर साधक का सीमित अहम् भाव जब तक जीवित है तब तक साधन और साधन-तत्व में भेद रहता है। जब साधक में अहम् नहीं रहता तब साधन साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है।

साधन की उत्पत्ति साधक में से होती है और साधन-तत्व अनन्त का स्वभाव है। साधन, साधक में से उत्पन्न होकर साधक को उसी प्रकार खा लेता है जिस प्रकार काष्ठ में से अग्नि उत्पन्न होकर काष्ठ को ही भस्म कर देती है। साधन-तत्व साध्य का स्वभाव होने से साध्य के समान ही अनन्त है। साधन-तत्व और साध्य में नित्य मिलन और नित्य वियोग है। इसी कारण साधन-तत्व से साध्य को रस मिलता है। यद्यपि साधन-तत्व साध्य की ही अभिव्यक्ति है, तथापि साध्य को रस देने में साधन-तत्व ही समर्थ है; क्योंकि अपने में अपनी प्रियता ही अपने को रस देती है। अनन्त की प्रियता भी अनन्त ही है। प्रियता स्वभाव से ही क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है। अनेक साधक एक साध्य से तभी अभिन्न होते हैं जब

अनेक साधन एक साधन-तत्व से अभिन्न हो जाते हैं। साधन यदि लहर है तो साधन-तत्व सागर है। बस, यही साधन और साधन-तत्व में अन्तर है।

साधन की आवश्यकता क्यों है?

असाधन का अन्त करने के लिए ही साधन की अपेक्षा है, कारण कि सर्वांश में असाधन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। साधन के साथ-साथ ही असाधन जीवित रहता है। यदि सर्वांश में साधन निकाल दिया जाय तो केवल असाधन के आधार पर कोई भी मानव अधिक काल की कौन कहे, अल्प काल भी नहीं रह सकता। गुण के आश्रय ही दोष, भलाई के आश्रित ही बुराई, कर्तव्य के सहारे ही अकर्तव्य और सत्य के आश्रय से ही असत्य प्रकाशित होता है।

कोई भी दोष न तो सदैव रह सकता है और न सभी के प्रति हो सकता है, क्योंकि दोष की उत्पत्ति होती है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण दोषों की निवृत्ति का प्रश्न साधक के जीवन में है, क्योंकि निर्दोषता स्वभाव से ही सभी को प्रिय है। यदि ऐसा न होता तो अपने प्रति होने वाली बुराई किसी को भी अप्रिय, अरुचिकर तथा असह्य न होती। अपने प्रति सभी दूसरों से निर्दोष व्यवहार की ही आशा करते हैं। इस अनुभूति से क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता है कि सभी की स्वाभाविक माँग निर्दोष जीवन की ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधननिष्ठ होकर अपने बनाए हुए दोषों का अन्त करना अनिवार्य है।

पराधीनता असाधन की प्रतीक है और स्वाधीनता साधन की। असाधन उससे सम्बन्ध जोड़ता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और जो पर-प्रकाश्य है। साधन उससे सम्बन्ध जोड़ता है जो नित्य प्राप्त है और स्वयं-प्रकाश है। असाधन जड़ता में आबद्ध करता है और साधन दिव्य, चिन्मय जीवन से अभिन्न करता है। असाधन का आरम्भ और अन्त होता है; किन्तु साधन का आरम्भ तो होता है, पर अन्त नहीं होता, क्योंकि साधन साध्य का ही स्वभाव है। असाधन प्राप्त सामर्थ्य का अपव्यय कर असमर्थता की ओर ले जाता है और साधन उत्तरोत्तर सामर्थ्यशाली बनाता है। साधन वर्तमान को सरस एवं

भविष्य को उज्ज्वल बनाता है और असाधन व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध कर वर्तमान को नीरस बना देता है, जो ह्रास का मूल है। साधन भेद को अभेद में और भिन्नता को अभिन्नता में विलीन कर देता है और असाधन भेद तथा भिन्नता को पुष्ट करता है। साधन का आरम्भ निरभिमानता से और असाधन की उत्पत्ति अभिमान से होती है। अतः साधन-रहित जीवन पराधीनता, जड़ता, असमर्थता, विषमता, नीरसता, भिन्नता और अभिमान आदि दोषों में आबद्ध करता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः वास्तविक जीवन की उपलब्धि के लिए सभी को साधननिष्ठ होना परम आवश्यक है, क्योंकि साधन-युक्त जीवन ही मानव-जीवन है।

साधन में विघ्न क्या हैं?

(1) साधन में अनेक विघ्न हैं। उन सभी का मूल कारण एक-मात्र अविवेक है। विवेक का आदर न करने से प्राणी व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध हो जाता है, जो समस्त अनर्थों का मूल है। व्यक्तित्व का मोह ही भेद तथा भिन्नता को जन्म देता है। भेद के रहते हुए कोई अभय नहीं हो सकता। भयभीत प्राणी साधननिष्ठ नहीं हो सकता, क्योंकि भय प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग नहीं करने देता और भिन्नता द्वेष को उत्पन्न कर स्नेह की एकता को जाग्रत नहीं होने देती। स्नेह की एकता के बिना अकर्तव्य का अन्त नहीं हो सकता और उसके बिना कर्तव्य परायणता नहीं आती। कर्तव्य निष्ठ हुए बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण ही होता है और न करने का राग ही नाश होता है। सुन्दर समाज का निर्माण हुए बिना परस्पर में विश्वास तथा स्नेह की एकता सुरक्षित नहीं रहती, जो संघर्ष का मूल है। कर्तव्य का राग रहते हुए देहाभिमान गल नहीं सकता। उसके गले बिना निर्विकारता एवं निर्वासना तथा अमरत्व की उपलब्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, देहाभिमान समस्त विकासों में बाधक है, क्योंकि देहाभिमान साधक को वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता उसे अभिमान-रहित नहीं होने देती। निरभिमानता के बिना

अवस्थातीत, असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन में प्रवेश नहीं होता। इसी कारण ऊँची-से-ऊँची अवस्था में भी व्यक्तित्व का मोह बना रहता है, जिससे साधक अपने-पराए की कल्पना कर अपने को अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ बनाए रखने के लिए गुणों का सम्पादन कर उनका भोग करता है। गुणों का भोग समस्त दोषों की भूमि है, परन्तु व्यक्तित्व का मोह उसे गुणों के अभिमान से रहित नहीं होने देता, जिसके हुए बिना साधक का सीमित अहम्-भाव ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अहम्-रूपी अणु के रहते हुए साधन-तत्व से अभिन्नता सम्भव नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि साधन-तत्व से अभिन्न होने के लिए व्यक्तित्व के मोह का अन्त करना अनिवार्य है।

(2) यद्यपि स्वाधीनता सभी को स्वाभाविक प्रिय है, परन्तु कामना-पूर्ति के प्रलोभन के कारण साधक पराधीनता को स्वाधीनता के समान ही महत्व देने लगता है। पराधीनता में महत्व-बुद्धि होना साधन में विघ्न है, क्योंकि पराधीनता जड़ता में आबद्ध करती है, जिससे बेचारा साधक दिव्य-चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है। यदि स्वाधीनता की उत्कट लालसा जाग्रत हो जाय तो कामना-पूर्ति का प्रलोभन अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही कामना-आपूर्ति का भय शेष नहीं रहता और फिर अपने आप कामना-निवृत्ति का महत्व बढ़ जाता है, जो पराधीनता को स्वाधीनता में विलीन कर देता है। कामना-पूर्ति-काल में साधक उन वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के अधीन हो जाता है जिनके द्वारा कामना की पूर्ति होती है। प्राकृतिक नियमानुसार कामना-पूर्ति के सुख का भोग नवीन कामना को जन्म देता है और फिर वही वस्तुस्थिति हो जाती है जो कामना-पूर्ति से पूर्व थी। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति-आपूर्ति के सुख-दुःख का एक गोल चक्र बन जाता है, जिसमें बेचारा साधक अनन्त काल तक घूमता रहता है। जब तक पराधीनता में महत्व-बुद्धि रहती है तब तक सुख-दुःख से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा जाग्रत नहीं होती, जिसके जाग्रत हुए बिना सुख-दुःख के सदुपयोग की योग्यता नहीं आती। सुख-दुःख का भोग असाधन और उनका सदुपयोग साधन है।

सुख-दुःख का सदुपयोग वही साधक कर सकता है जो अपने संकल्प को विश्व के अथवा अनन्त के संकल्प में विलीन कर निःसंकल्प हो जाय। निःसंकल्पता सुरक्षित रखने के लिए संकल्प-पूर्ति, अर्थात् पराधीनता में जो महत्व-बुद्धि बन गई है उसका अन्त करना अनिवार्य होगा। संकल्प-पूर्ति-काल में पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुख भासता है, परन्तु उसमें स्वाधीनता की गंध भी नहीं होती, क्योकि संकल्प-पूर्ति में बाधा आते ही बेचारा साधक क्षोभित तथा क्रोधित हो जाता है और यदि संकल्प पूरा हो जाता है तो एक नवीन राग उत्पन्न हो जाता है। क्षोभ से अशान्ति और क्रोध से विस्मृति तथा राग से पराधीनता दृढ़ होती है। इस दृष्टि से पराधीनता को पराधीनता ही जानकर, संकल्प-पूर्ति में जो महत्व-बुद्धि बन गई है, उसका त्याग करना आवश्यक हो जाता है। संकल्प-आपूर्ति-काल में तो पराधीनता स्पष्ट ही विदित होती है, किन्तु संकल्प-पूर्ति काल में भी पराधीनता ही रहती है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन पराधीनता में महत्व-बुद्धि आरोपित कर बेचारे साधक को जड़ता में आबद्ध कर देता है। साधन-दृष्टि से कामना-पूर्ति-आपूर्ति की परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है, क्योंकि कामना-पूर्ति के बिना भोग की वास्तविकता का परिचय नहीं होता और कामना-आपूर्ति के बिना जीवन में जागृति नहीं आती। जिस भोग-वासना को साधक विवेकपूर्वक नाश नहीं कर पाता उसकी वास्तविकता जताने के लिए प्राकृतिक नियम के अनुसार के अनुसार कामना-पूर्ति की परिस्थिति आती है, किन्तु उसे जीवन मान लेना प्रमाद है। जिन कामनाओं की अनेक बार पूर्ति होने पर भी राग का नाश नहीं होता, अपितु व्यक्ति उत्तरोत्तर जड़ता में ही आबद्ध होता जाता है, उस जड़ता से जाग्रत करने के लिए मंगलमय विधान से कामना-आपूर्ति की परिस्थिति आती है। पर इस रहस्य को कोई बिरले साधक ही जान पाते हैं।

साधन-दृष्टि से कामना-पूर्ति-आपूर्ति समान अर्थ रखती है, क्योंकि दोनों ही परिस्थितियाँ राग-रहित करने में समर्थ हैं।

परन्तु यदि कामना-पूर्ति-आपूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर ली जाय, तब तो बेचारा साधक सुख-

दुःख का सदुपयोग न करके उनका भोगी हो जाता है। सुख-दुःख का भोगी होना साधन में विघ्न है; क्योंकि सुख-दुःख के सदुपयोग से ही साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को कामना-पूर्ति के प्रलोभन और कामना-आपूर्ति के भय से रहित होना अनिवार्य है।

(3) प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, और कुछ नहीं। अतएव परिस्थितियों के प्रतिकूल साधन का आग्रह साधन में विघ्न है। प्रत्येक परिस्थिति में साधन हो सकता है; क्योंकि ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं सकती जिसके सदुपयोग से साधक साधननिष्ठ न हो जाय। परिस्थिति-परिवर्तन की बात वे ही साधक सोचते हैं जो परिस्थिति के सदुपयोग के महत्व में विश्वास नहीं करते हैं, अपितु अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में ही रत रहते हैं। प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से ही अपूर्ण है। जो अपूर्ण है वह साध्य नहीं हो सकती। जो साध्य नहीं हो सकती उसे साधन-सामग्री ही मानना चाहिए। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग में ही साधन परायणता सिद्ध होती है। यह रहस्य वे ही जानते हैं जो साधन को वर्तमान की वस्तु मानते हैं। जो साधक साधन को भविष्य पर टालते हैं वे कभी भी साधननिष्ठ नहीं हो पाते, क्योंकि साधन वर्तमान की वस्तु है, भूत और भविष्य की नहीं। वर्तमान के सुधर जाने से ही भविष्य उज्ज्वल बनता है और भूतकाल का दुष्परिणाम भी मिट जाता है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति में ही साधन-निर्माण हो सकता है। साधन उसे नहीं कहते, जिसके करने में साधक असमर्थ हो। साधन वही हो सकता है, जिसे साधक कर सके साधक वही साधन कर सकता है, जो उसकी प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप हो। प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करने में ही साधन निहित है।

(4) प्रत्येक परिस्थिति अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का समूह है। प्राकृतिक विधान के अनुसार कोई भी परिस्थिति सर्वांश में अनुकूल तथा प्रतिकूल नहीं है, अपितु प्रत्येक परिस्थिति में आंशिक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता विद्यमान है। इतना ही नहीं, प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील है। ऐसी दशा में

यदि साधक उदारतापूर्वक अनुकूलता का और त्यागपूर्वक प्रतिकूलता का सदुपयोग कर डाले तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय से मुक्त होकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन का अधिकारी हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन-रूप ही है। अतः परिस्थिति के प्रतिकूल अथवा किसी अप्राप्त परिस्थिति के आश्रित साधन का आग्रह साधक का प्रमाद है। प्रत्येक साधक को यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति और सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है।

(5) असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयास करना भी साधन-निर्माण में विघ्न है। अब विचार यह करना है कि असम्भव क्या है? वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि से नित्य सम्बन्ध बना रहे, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें निज विवेक का विरोध है। विवेक-विरोधी मान्यता का नाम ही असाधन है। अतः विवेक-विरोधी मान्यताओं का साधक को त्याग करना अनिवार्य है। भूतकाल की घटनाओं का चिन्तन करना और उनके अर्थ को अपनाकर साधन-निर्माण न करना, अपितु भूतकाल के चिन्तन में ही आबद्ध रहना क्या असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयास नहीं है? क्योंकि जो हो चुका, वह मिट नहीं सकता। भूतकाल के चिन्तन ने ही सार्थक चिन्तन को उदित नहीं होने दिया। व्यर्थ चिन्तन ने ही वर्तमान को नीरस कर दिया है। नीरसता काम की जननी है। काम समस्त दोषों की भूमि है। इस दृष्टि से जो हो चुका है उसका चिन्तन करना असाधन ही है।

सार्थक चिन्तन और वर्तमान के सदुपयोग के बिना न तो वर्तमान ही सरस हो सकता है और न भविष्य ही उज्ज्वल हो सकता है। सार्थक चिन्तन जाग्रत करने के लिए भूतकाल की घटनाओं को भूलना होगा और उन घटनाओं के सार्थक अर्थ को अपनाकर वर्तमान को सरस बनाना होगा, तभी साधन-निर्माण हो सकता है। वर्तमान की नीरसता ने ही साधक को क्षोभित कर दिया है और क्रोधी बना दिया है। क्रोध-काल में कर्तव्य की विस्मृति स्वाभाविक है। कर्तव्य - परायणता के बिना वर्तमान सरस नहीं

हो सकता और न साधक राग-रहित ही हो सकता है। राग-रहित हुए बिना किसी को भी चिर-शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती। तो फिर क्या वर्तमान को सरस बनाने के लिए जो सम्भव है उसी को अपनाना अनिवार्य नहीं है? अवश्य है। यह नियम है कि जो सम्भव है उसको साधक तभी अपना सकता है जब जो असम्भव है उसको सम्भव बनाने का प्रयास न करे। प्रत्येक वस्तु स्वरूप से ही उत्पत्ति-विनाशयुक्त तथा परिवर्तनशील है। अतएव उससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि कर्तव्य -बुद्धि से प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का साध्य के नाते सदुपयोग किया जा सकता है। उनसे ममता करना प्रमाद है। वस्तु, व्यक्ति आदि की ममता का अन्त होते ही, जो सभी साधकों के लिए सम्भव है, स्वतः साधन निर्माण हो जाता है। इस दृष्टि से असम्भव का सम्भव बनाने का प्रयास न करने पर जो सम्भव है वह स्वतः हो जावेगा।

(6) साधन-निर्माण में तत्पर न होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि साधक साधन के महत्व को न मानकर असाधन-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध हो जाता है। यद्यपि सुख-लोलुपता उसे सदैव भयंकर दुःख ही देती है, किन्तु साधन की सुलभता तथा स्वाभाविकता से अपरिचित होने के कारण असाधन का त्याग करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी असाधन जीवन नहीं हो सकता, क्योंकि असाधन से साधक की जातीय एवं स्वरूप की एकता नहीं है। असाधन की उत्पत्ति तो एकमात्र अविवेक-सिद्ध है। अविवेक का अन्त प्राप्त विवेक के आदर से वर्तमान में ही हो सकता है। अविवेक का अन्त होते ही असाधन अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही साधन की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो सरल विश्वासपूर्वक साधन के महत्व को स्वीकार करते हैं। साधन के महत्व को स्वीकार न करना साधन निर्माण में विघ्न है। अतः इस विघ्न का अंत करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

(7) प्राकृतिक नियम के अनुसार मानव मात्र साधक है; परन्तु यह भूल जाना कि मैं साधक हूँ, साधन-निर्माण में बहुत बड़ा बाधक

हो जाता है। यदि साधक को यह स्मृति सजग रहे कि मैं साधक हूँ, तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक सामर्थ्य, योग्यता, रुचि एवं परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण हो सकता है; क्योंकि किसी भी साधक को वह नहीं करना है जिसे वह नहीं कर सकता और किसी भी साधक का साध्य वह नहीं हो सकता जिसकी उसे प्राप्ति नहीं हो सकती। साधन वही है जो साधक का जीवन हो जाय और साध्य वही है जिसकी प्राप्ति हो जाय। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधननिष्ठ होकर सिद्धि पाता है। साधन करने में असमर्थता स्वीकार करना और साधननिष्ठ होने पर सिद्धि में सन्देह करना साधक का प्रमाद है, और कुछ नहीं।

जब साधक इस बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेता है कि मैं साधक हूँ, तब उसकी साधन-सामग्री से तद्रूपता नहीं रहती, जिसके न रहने पर साधक बड़ी ही सुगमता-पूर्वक अपने साध्य को जान लेता है, अथवा मान लेता है।

साध्य को जान लेने पर साध्य से अभिन्नता और साध्य को मान लेने पर साध्य से नित्य सम्बन्ध स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही साधक साधन होकर, साध्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि 'मैं साधक हूँ', यह स्वीकृति प्रत्येक साधक में उस समय तक निरन्तर बनी रहे जब तक वह साधन होकर साध्य से अभेद न हो जाय।

(8) साधन-सामग्री से तद्रूपता स्वीकार करने पर साधक साधन-सामग्री को ही अपना अस्तित्व मान लेता है। यह नियम है कि जिससे साधक तद्रूप हो जाता है उसमें सत्यता और प्रियता स्वतः भासने लगती है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक भूल जाता है कि " मैं साधक हूँ ", " मेरा कोई साध्य है ", " मुझे अपने साध्य में अविचल श्रद्धा रखना अनिवार्य है और उसकी प्राप्ति के लिए प्राप्त साधन-सामग्री का सदुपयोग करना है।" अतः साध्य में अविचल श्रद्धा का न होना और साधन-सामग्री से तद्रूपता बनाए रखना, जो अविवेक-सिद्ध है, साधन-निर्माण में विघ्न है। साध्य में अविचल श्रद्धा न होने का दुष्परिणाम यह होता है कि साधक साध्य को वर्तमान की वस्तु नहीं मान पाता। यह नियम है कि

जिसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं होता उसकी प्राप्ति के लिए उत्कट लालसा, परम व्याकुलता और तत्परता नहीं होती, जिसके न होने से समस्त जीवन साधन नहीं हो पाता। जिस साधक का समस्त जीवन साधन नहीं होता, वह साधक साधन होकर, साधन-तत्व से अभिन्न नहीं हो सकता। अतः साधक को साध्य में अविचल श्रद्धा करना तथा उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है।

(9) साधन-निर्माण में एक बाधा यह भी है कि जिससे भेद है उससे सम्बन्ध नहीं तोड़ते और जिससे दूरी है उसकी कामना नहीं छोड़ते। उसका परिणाम यह होता है कि साधक में अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगते हैं। आसक्तियों में आबद्ध प्राणी शान्ति तथा स्वाधीनता से विमुख हो जाता है और अभावों में पीड़ित व्यक्ति निराशा, भय, चिन्ता, शोक आदि से आक्रान्त हो अपने को दीन-हीन मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, एवं योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता, अर्थात् कर्तव्य से विमुख हो जाता है। अतः यह अनिवार्य है कि साधक उससे सम्बन्ध विच्छेद कर डाले जिससे भेद है और उसकी कामना से रहित हो जाय, जिससे दूरी है। साधक का साध्य वही हो सकता है जिससे भेद तथा दूरी नहीं है। भेद होते हुए भी जो एकता और दूरी होते हुए जो अपनापन प्रतीत होता है, वह अविवेक-सिद्ध है। जिससे भेद होते हुए एकता प्रतीत होती है, उसकी सेवा करना है, ममता नहीं और दूरी होते हुए जिससे अपनापन प्रतीत होता है, उसके प्रति सद्भावना रखनी है, उसका चिन्तन नहीं करना है और न उससे सुख की आशा रखना है। ममता ही भेद में एकता का दर्शन कराती है और सुख की आशा ही उससे अपनापन उत्पन्न करती है, जिससे दूरी है। भेद होते हुए ममता करना और दूरी रहते हुए सुख की आशा करना असाधन है। यह नियम है कि असाधन का त्याग किए बिना साधन-निर्माण सम्भव नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिससे भेद है उससे सम्बन्ध-विच्छेद और जिससे दूरी है उसकी कामना का त्याग करने पर ही साधन-निर्माण हो सकता है।

(10) साधन का एक बहुत बड़ा विघ्न यह भी है कि अपने ज्ञान का प्रभाव अपने वर्तमान जीवन में नहीं है। यह नियम है कि जब तक अपना ज्ञान अपने काम नहीं आता तब तक किसी अन्य के द्वारा सुना हुआ ज्ञान भी जीवन नहीं हो पाता। जो निज ज्ञान का आदर नहीं कर पाते, वे अपने बनाए हुए दोषों का अन्त नहीं कर पाते। दोषों का अन्त हुए बिना निर्दोषता की अभिव्यक्ति नहीं होती। यद्यपि अपने ज्ञान में किसी को भी सन्देह नहीं होता, परन्तु निज ज्ञान के अनादर के कारण निस्सन्देहता भी सन्देह के समान ही अर्थ रखती है, अर्थात् जानते हुए भी न जानना ही प्रतीत होता है, अथवा यो कहो कि हृदय और मस्तिष्क में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, वर्तमान वस्तुस्थिति तो विवेक-विरोधी रहती है और जानने का एक नवीन मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है, जो सभी दोषों का मूल है। अपने ज्ञान का अनादर करने पर बाह्य ज्ञान मस्तिष्क का संग्रह हो जाता है। संग्रह, ज्ञान न होने पर भी ज्ञान जैसा प्रतीत होता है। जो अज्ञान ज्ञान के वेश में आता है वह अज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक अहितकर सिद्ध होता है। इस कारण जब तक अपने ज्ञान का प्रभाव अपने पर न होगा तब तक साधन-निर्माण सम्भव नहीं है।

अपने ज्ञान का प्रभाव अपने पर होने पर, ज्ञान के समान उप्लब्धि भी होती है, क्योंकि असत्य का ज्ञान असत्य की निवृत्ति में और सत्य का ज्ञान सत्य की प्राप्ति में हेतु है। यह नियम है कि असत्य को असत्य जान लेने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है और असत्य की निवृत्ति में सत्य की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के जीवन पर उसके अपने ज्ञान का प्रभाव होना अनिवार्य है, तभी साधन-निर्माण हो सकता है।

(11) माना हुआ सम्बन्ध उसी से होता है जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है। माना हुआ सम्बन्ध कर्तव्य का प्रतीक है। सुख की आशा से रहित कर्तव्य - परायणता सेवा है। अतः जिनसे माना हुआ सम्बन्ध है उनकी सेवा करना अनिवार्य है। सम्बन्ध बनाए रखना और सेवा से अपने को बचाना

साधन-निर्माण में विघ्न है। सेवा किये बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण ही हो सकता है और न

कर्ता करने के राग से रहित ही हो सकता है। राग रहित हुए बिना माने हुए सम्बन्ध का अन्त नहीं हो सकता, जिसके हुए बिना वास्तविक जीवन की न तो जिज्ञासा ही जाग्रत होती है और न उसमें प्रियता ही उदय होती है जो वास्तव में साधन है।

जिसे किसी भी कारण से सेवा न करना हो उसके लिए माने हुए सभी सम्बन्धों का विवेकपूर्वक अन्त करना अनिवार्य है। सेवा की रुचि तथा सामर्थ्य न होने पर भी सम्बन्ध बनाए रखना साधन-निर्माण में विघ्न है। यह नियम है कि सेवा और त्याग दोनों ही से साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो सकता है, क्योंकि सेवा और त्याग दोनों ही का फल समान है। अतः या तो सम्बन्ध रहते हुए सेवा द्वारा राग-रहित हो जाय, अथवा त्याग को अपनाकर राग-रहित हो जाय, तभी साधन-परायणता साधक के जीवन में आ सकती है। जो इन दोनों में से किसी को नहीं अपनाता वह साधननिष्ठ नहीं हो सकता, यह निर्विवाद सत्य है।

(12) विकल्प-रहित विश्वास के अनुरूप जीवन न होने पर भी साधन-निर्माण नहीं हो पाता। विकल्प-रहित विश्वास उसी में होता है जिसके सम्बन्ध में जानकारी कुछ न हो, किन्तु उसकी आवश्यकता हो तथा उसके सम्बन्ध में श्रवण किया हो। विकल्प-रहित विश्वास यद्यपि ज्ञान नहीं है, परन्तु जीवन में उसका प्रभाव ज्ञान के समान ही होता है। विश्वास उसी में हो सकता है जिसको न जानने पर भी उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया जाय। जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, उसमें विश्वास अपने आप हो जाता है। जिसमें विश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। जिससे सम्बन्ध हो जाता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता अपने आप आ जाती है। जिसमें सत्यता एवं प्रियता आ जाती है उसकी मधुर स्मृति स्वतः होने लगती है। जिसकी स्मृति जाग्रत होती है उसमें प्रीति स्वतः हो जाती है। यह नियम है कि प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। दूरी न रहने पर योग और भेद के मिटने से बोध स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से विश्वास, विश्वासी का जीवन होने पर ही साधन-निर्माण तथा साधन-तत्व से अभिन्नता हो सकती है। अतः साधन-निर्माण के लिए यह अनिवार्य है कि विश्वास

विश्वासी का जीवन हो। वह तभी सम्भव होगा जब अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जायँ। इसके लिए साधक को अपने विश्वास में अविचल श्रद्धा रखना अनिवार्य है।

(13) इच्छाओं की पूर्ति का प्रलोभन और आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह साधन-निर्माण में एक बड़ा विघ्न है। प्राकृतिक नियमानुसार इच्छाओं के अनुरूप प्रवृत्ति होती है। परिणाम में अभाव ही शेष रहता है। अभाव किसी की आवश्यकता नहीं है। अतः इच्छा-पूर्ति का प्रलोभन साधन-निर्माण में बाधक है, क्योंकि इच्छाओं के रहते हुए आवश्यकता की पूर्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण इच्छाओं की निवृत्ति में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है। आवश्यकता वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना आवश्यकता को अस्वाभाविक इच्छाओं से आच्छादित करना है, और कुछ नहीं। आवश्यकता की जागृति इच्छाओं को खा लेती है। किन्तु इच्छाओं की उत्पत्ति आवश्यकता को ढक सकती है, नाश नहीं कर सकती। इस दृष्टि से इच्छाएँ अस्वाभाविक और आवश्यकता स्वाभाविक है। परन्तु इच्छा-पूर्ति का प्रलोभन, अस्वाभाविक इच्छाओं में स्वाभाविकता और स्वाभाविक आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह उत्पन्न करता है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जो इच्छा और आवश्यकता के भेद को भली-भाँति जान लेते हैं। सभी इच्छाएँ अविवेक-सिद्ध हैं। इच्छाएँ वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ती हैं। आवश्यकता वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है। वस्तु, व्यक्ति आदि से नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसी कारण इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है।

इच्छाओं की निवृत्ति विवेक-सिद्ध है, जो प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति युगपद् है। निज विवेक से अविवेक का अन्त वर्तमान में ही हो सकता है। अतः सर्व इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है। इस दृष्टि से जो साधक आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह नहीं करते वे बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो जाते है। अतएव इच्छा-पूर्ति के प्रलोभन का और आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह करने का

साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि इस प्रमाद के रहते हुए साधन का निर्माण हो ही नहीं सकता।

(14) सन्देह को सहते रहना साधन-निर्माण में विघ्न है क्योंकि निस्सन्देहता के बिना साधक को अपने साध्य में आस्था नहीं होती और उसके बिना आत्मीयता उदित नहीं होती। आत्मीयता के बिना प्रियता जाग्रत नहीं होती, जो वास्तव में साधन-तत्व है। प्रियता स्वभाव से ही रसरूप एवं दिव्य तथा चिन्मय है। उससे अभिन्न हुए बिना जीवन की सार्थकता सिद्ध न होगी। सन्देह की वेदना ही जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जागृति में ही कामनाओं की निवृत्ति निहित है और कामनाओं की निवृत्ति से ही जिज्ञासा की पूर्ति होती है। इस दृष्टि से संदेह की वेदना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगी जब संदेह-निवृत्ति को साधक वर्तमान जीवन की माँग स्वीकार करे। अतः संदेह रहते हुए निस्संदेहता के लिए व्याकुल न होना साधन-निर्माण में बड़ा ही विघ्न है।

साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती?

जब तक साधक अपनी रुचि, योग्यता तथा परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण नहीं कर लेता तब तक उसे साधन में स्वाभाविक प्रियता नहीं होती। जिस साधन में स्वाभाविक प्रियता नहीं होती, वह साधन साधक का जीवन नहीं हो सकता। जो साधन जीवन नहीं हो सकता, वह अखण्ड नहीं हो सकता। जो अखण्ड नहीं हो सकता, वह वास्तव में साधन नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक रोगी की औषधि तथा पथ्य में कुछ-न-कुछ भेद होता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक के साधन में कुछ-न-कुछ भेद होता है। यद्यपि प्रत्येक साधन साधन है, परन्तु किस साधक का क्या साधन है, इसका निर्विवाद निर्णय किए बिना साधन में स्वाभाविकता सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक साधक को अपने ही में विद्यमान साधन का निर्माण करना है। जिस साधन की उत्पत्ति साधक में से होगी, वह साधन साधक को स्वाभाविक प्रिय होगा। परन्तु जब तक साधक साधन को बाहर से अपने में आरोपित करता रहता है तब तक

साधक और साधन में अभिन्नता नहीं होती और उसके हुए बिना साधन में स्वाभाविक प्रियता सम्भव नहीं है।

जिस प्रकार प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोगी को आरोग्यता प्रदान करने में समर्थ है उसी प्रकार प्रत्येक साधन किसी- न-किसी साधक के लिए हितकर ही है। परन्तु अपना साधन क्या है, इसका निर्णय तो साधक को स्वयं ही करना होगा। औषधि-मात्र को प्रत्येक रोगी नहीं खा सकता, उसी प्रकार जो अपना साधन नहीं है, वह साधक से नहीं हो सकता। जो नहीं हो सकता, उसको करने का प्रयास अस्वाभाविक है। अतः प्रत्येक साधक को अपने साधन की खोज करने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। अपने साधन की खोज करने में साधक असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है, क्योंकि किसी भी साधक को वह नहीं करना है जिसे वह नहीं कर सकता। जिसे जो करना है उसकी सामर्थ्य, योग्यता तथा परिस्थिति उसे प्राप्त ही है। अप्राप्त परिस्थिति से साधन-निर्माण का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जब तक साधक प्राप्त परिस्थिति में ही साधन की खोज नहीं करेगा तब तक उसे साधन में स्वाभाविकता प्रतीत नहीं होगी और उसके बिना साधक, साधन होकर, साधन-तत्व से अभिन्न नहीं हो सकता।

साधन, साधक के जीवन से कोई भिन्न वस्तु नहीं है; अपितु यह निर्विवाद सिद्ध है कि साधन की साधक का जीवन है। साधन की विस्मृति हुई है, अभाव नहीं। साधन की उत्कट लालसा स्वतः साधन की विस्मृति को खा लेती है और फिर अपने आप साधक अपने साधन को जानकर उससे अभिन्न हो जाता है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविक प्रियता स्वतः हो जाती है।

जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों है?

प्राकृतिक नियमानुसार भिन्न-भिन्न साधक भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा साधन-तत्व से अभिन्न होकर एक ही साध्य को पाते हैं, जो सभी का सब कुछ है। साधन-तत्व एक है और साधन अनेक हैं, क्योंकि साधन-तत्व तो साध्य ही का स्वभाव है और साधन का निर्माण साधक ही में से होता है।

साधक कहते ही उसको है जिसके पास साधन-सामग्री हो और जिसका कोई साध्य हो। साध्य सभी का एक होने पर भी साधन-सामग्री दो साधकों की भी सर्वांश में समान नहीं है। साधन-सामग्री के सदुपयोग का नाम ही साधन है। अतः साधन-सामग्री में भेद होने से साधन में भेद अनिवार्य है। साधन में भेद होने पर भी साध्य एक है, इस कारण सभी साधन आदरणीय हैं, किन्तु अनुसरणीय प्रत्येक साधक का अपना ही साधन है। अपना साधन अपनाने में लेशमात्र भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक अपने साधन में स्वाधीनतापूर्वक निष्ठ हो सकता है। साधननिष्ठ होते ही साधक और साधन में भेद नहीं रहता, अर्थात् साधन साधक का जीवन हो जाता है, जिसके होते ही साधक की जो व्यक्तिगत भिन्नता थी, वह शेष नहीं रहती। भिन्नता के मिटते ही, प्रत्येक साधक, साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है, जो साध्य का स्वभाव है।

व्यक्तिगत भिन्नता के कारण ही साधन में भिन्नता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक साधन, साधन नहीं है। जब तक साधन साधक का जीवन नहीं होता तब तक व्यक्तिगत साधन में साधक को आसक्ति रहती है। साधन की अनुरक्ति साधन को जीवन बनाने में साधन-रूप है, किन्तु साधन का अभिमान असाधन है। साधन का अभिमान ही साधकों में परस्पर एकता नहीं होने देता, जो वास्तव में प्रमाद है। साधन की अनुरक्ति तो साधक को साधन से अभिन्न करती है, किन्तु साधन का अभिमान साधक और साधन में भेद दृढ़ करता है। अतः साधन के अभिमान का त्याग कर प्रत्येक साधक को अपने साधन ही में अविचल निष्ठा रखनी चाहिये, तभी साधन जीवन होकर साधक को साधन-तत्व से अभिन्न कर सकता है, जो सफलता की कुंजी है। साध्य एक होते हुए साधन की अनेकता केवल साधको की व्यक्तिगत भिन्नता (Individual difference) के कारण ही है। व्यक्तिगत भिन्नता मंगलमय विधान से निर्मित है। उसका आदर करते हुए सदुपयोग करना है। साधन-सामग्री में साधक को जीवन-बुद्धि नहीं रखना है, क्योंकि जिसमें जीवन-बुद्धि कर ली

जाती है उससे तद्रूपता हो जाती है। जिसमें तद्रूपता हो जाती है, उसका सदुपयोग करना सम्भव नहीं रहता। इस कारण साधन-सामग्री को अपने से भिन्न जानकर उसका विवेकपूर्वक सदुपयोग करना है और वही साधन है। प्राप्त का सदुपयोग ही साधन का मूल है। इस कारण प्रत्येक साधक, साधन करने में स्वाधीन है। साधन-सामग्री का भेद ही साधन का भेद है, किन्तु उसके उपयोग का फल एक है। इसी कारण सभी साधक साधन की भिन्नता होने पर भी साधन-तत्व से अभिन्न हो जाते हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साध्य की एकता होने पर भी साधन में भिन्नता अनिवार्य है, किन्तु वह सफलता में बाधक नहीं है।

साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो?

प्रत्येक साधक में साधन का ज्ञान बीज-रूप से विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो साधन करने का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। ऐसा कोई साधक नहीं है जो अपने बनाए हुए असाधन से परिचित न हो। यह नियम है कि जब साधक अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर देता है तब उसमें जो विद्यमान साधन है उसका प्रादुर्भाव अपने आप हो जाता है, क्योंकि किसी भी साधक को वह साधन करना ही नहीं है जिसे वह नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कर्ता को अपने-अपने कर्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है। प्राप्त के सदुपयोग में ही साधन-परायणता निहित है। जिस ज्ञान में असाधन का ज्ञान है, उसी ज्ञान में साधन का ज्ञान भी निहित है। वह ज्ञान साधक को साधन करने के लिए ही मिला है। अतः साधक के विवेक में समस्त साधनों का ज्ञान विद्यमान है। इस दृष्टि से निज विवेक का आदर ही, साधन-निर्माण में मुख्य हेतु है। किन्तु साधक उस समस्त ज्ञान में से अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति के अनुरूप ज्ञान को व्यक्त कर, उसके अनुसार साधन का निर्माण करने में समर्थ होता है। वास्तव में तो विवेक-विरोधी कार्य करना ही साधन-निर्माण में बाधक है। निज विवेक, साधन-निर्माण का विधान है और प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता साधन-सामग्री है। विधान के अनुरूप प्राप्त साधन-

सामग्री का उपयोग ही साधन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निर्माण में सर्वदा स्वाधीन है। असाधन-जनित सुख-लोलुपता ने ही बेचारे साधक को साधननिष्ठ होने में असमर्थ तथा पराधीन बना दिया है। साधन-निष्ठ न होने की वेदना जाग्रत होते ही असाधन जनित सुख लोलुपता स्वतः ही मिट जाती है। जिसके मिटते ही असाधन का त्याग करना, साधक के लिए सुगम हो जाता है और फिर साधन-निर्माण स्वतः हो जाता है।

असाधन की उत्पत्ति होती है। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण इसका विनाश होता है। असाधन, साधक के सहयोग से ही जीवित है। यदि साधक असाधन से असहयोग कर ले तो असाधन अपने आप मिट जाता है।

असाधन की उत्पत्ति का मूल अविवेक है, और कुछ नहीं। अविवेक का अन्त होते ही असाधन की उत्पत्ति ही नहीं होती। अविवेक का अन्त वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस दृष्टि से अविवेक का अन्त कर प्रत्येक साधक, साधन-निर्माण में समर्थ होता है। अविवेक का अन्त विवेक-सिद्ध है, जो मंगलमय विधान से सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है। साधक, साधन-निर्माण में तभी तक असमर्थ है, जब तक उसे साधन न करने की वेदना नहीं है, अथवा साधन करने का दृढ़ संकल्प नहीं है। साधननिष्ठ होने की रुचि,साधक की उन सभी बाधाओं को हर लेती है जो साधन-निर्माण में विघ्न हैं। अतः साधन की रुचि में ही साधन-निर्माण के ज्ञान की अभिव्यक्ति निहित है।

साधक होने का अधिकारी कौन है?

जिन प्राणियों को दूसरों के द्वारा अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान होता है, वे सभी साधक होने के अधिकारी हैं, अथवा जो अपने ज्ञान से अपने दोषों को जानता है, वह भी साधक हो सकता है। साधक होने का प्रश्न उसके सामने नहीं है जो सर्वांश में निर्दोष है और साधक वह भी नहीं हो सकता जो दोष के ज्ञान से अपरिचित है। साधक होने का अधिकारी प्राणी तभी होता है जब वह निज दोष के ज्ञान से व्यथित होता है और उसमें निर्दोषता की लालसा जाग्रत होती है। जो निर्दोषता के बिना

किसी भी प्रकार चैन से नहीं रहता वह प्रथम श्रेणी का साधक है, अर्थात् निर्दोषता उसकी वर्तमान आवश्यकता है। ऐसा साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो सकता है।

जो प्राणी अपने दोष-युक्त जीवन से असन्तुष्ट तो रहता है, किन्तु दोष-जनित सुख-लोलुपता के कारण निर्दोषता-प्राप्ति के लिए वर्तमान ही में कटिबद्ध नहीं होता, वह द्वितीय श्रेणी का साधक है। ऐसे साधक को दोष-जनित वेदना को सबल बनाने के लिए परस्पर विचार-विनिमय द्वारा अपने दोषों का अपनी विवेक-दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करने से निर्दोषता की लालसा सबल होती जाएगी। निर्दोषता की लालसा दोष-युक्त कामनाओं का अन्त करने में समर्थ है। दोष-युक्त कामनाओं का अन्त होते ही निर्दोषता वर्तमान की आवश्यकता हो जाएगी, जो साधक को साधन-परायण करने में समर्थ है।

जो प्राणी निर्दोष जीवन का महत्व स्वीकार तो करता है, किन्तु दोष का त्याग करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। इतना ही नहीं, निर्दोषता की प्राप्ति के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है तथा " प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही निर्दोषता निहित है"- इस निर्विवाद सत्य में पूर्णरूपेण आस्था नहीं रखता, वह तृतीय श्रेणी का साधक है। उसमें निर्दोष होने की लालसा कभी-कभी उत्पन्न होती है, किन्तु वह स्थायी नहीं रह पाती। प्रतिकूलताओं के भय और अनुकूलता की दासता में आबद्ध होकर अपने को साधन-निर्माण में पराधीन मान लेता है और अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के भोग को ही जीवन स्वीकार कर लेता है। यह उसका प्रमाद है, और कुछ नहीं। जब वह प्राप्त अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करने में विश्वास कर लेता है तब उसमें साधन-निर्माण की रुचि जाग्रत होती है। यह नियम है कि जो रुचि सबल तथा स्थायी हो जाती है, उसकी पूर्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से तृतीय श्रेणी का साधक भी साधननिष्ठ हो सकता है।

ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जो अपने प्रति दूसरों से कर्तव्य की आशा न रखता हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्य की माँग कर्तव्य -पालन का आदेश देती है।

कर्तव्य का सम्बन्ध किसी अप्राप्त परिस्थिति से नहीं है, अपितु प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर्तव्य है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति साधक है, किन्तु असाधन-जनित सुख-भोग की दासता में आबद्ध होने से अपने को साधक स्वीकार न करके, साधारण व्यक्ति मानता है और यह बात भूल जाता है कि व्यक्ति तो साधारण ही है। असाधारणता तो एकमात्र साध्य ही में हो सकती है, साधक में नहीं।

साधारण और असाधारण में केवल यही अन्तर है कि जो सर्वांश में निर्दोष है वह असाधारण है और जिसमें आंशिक निर्दोषता है वह साधारण है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं है। आंशिक निर्दोषता, निर्दोषता की लालसा जाग्रत करने में समर्थ है। निर्दोषता की लालसा निर्दोष जीवन से सम्बन्ध जोड़ देती है। उसका परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति-विनाशयुक्त दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। यह नियम है कि असत्य से सम्बन्ध विच्छेद होते ही असत्य की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति अथवा निर्दोषता से अभिन्नता स्वतः सिद्ध है।

निर्दोषता उत्पत्ति-विनाश-रहित स्वतन्त्र सत्ता है। उससे देशकाल की दूरी सम्भव नहीं है। इस कारण उसकी प्राप्ति वर्तमान जीवन की ही वस्तु है। जो वास्तव में सर्वत्र तथा सर्वदा है, उसकी विस्मृति हो सकती है, किन्तु उससे दूरी तथा भेद नहीं हो सकता। जिससे दूरी नहीं हो सकती, उससे नित्ययोग हो सकता है और जिससे भेद नहीं हो सकता उसका बोध हो सकता है। जिससे योग तथा जिसका बोध हो सकता है उसमें प्रेम स्वतः सिद्ध है। अतः निर्दोष तत्व से योग तथा उसका बोध एवं उसमें प्रेम होना ही वास्तव में साधन-तत्व है। उस साधन-तत्व से अभिन्न होने में प्रत्येक साधननिष्ठ साधक सर्वदा समर्थ है।

समस्त दोष अविवेक-सिद्ध हैं, वास्तविक नहीं। अतः उनकी निवृत्ति विवेक-सिद्ध है। मंगलमय विधान के अनुसार विवेक प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः प्राप्त है। अविवेक विवेक का नाश नहीं कर सकता, अपितु उसे आच्छादित करता है। इसी कारण कोई भी व्यक्ति सर्वांश में

दोषी नहीं होता, किन्तु अविवेक का अन्त होने पर सर्वांश में निर्दोश हो सकता है। अतः जिसमें आंशिक निर्दोषता है वही साधक होने का अधिकारी है।

साधन में शिथिलता क्यों आती है?

असाधन के साथ-साथ किया हुआ साधन, साधक को साधन-तत्व से अभिन्न नहीं होने देता; कारण कि द्वन्द्वात्मक स्थिति सीमित अहम् भाव को पुष्ट करती रहती है। सीमित अहम्भाव ने ही साधन-तत्व से दूरी तथा भेद उत्पन्न कर दिया है। यह सभी जानते हैं कि केवल असाधन तो किसी भी साधक में रह ही नहीं सकता, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई व्यक्ति सर्वांश में दोषी है ही नहीं। अतः यदि साधक को साधननिष्ठ होकर साधन-तत्व से अभिन्न होना है तो उसे सीमित अहम्भाव का अन्त करना होगा। वह तभी हो सकता है जब साधन के साथ-साथ असाधन की गंध भी न हो। असाधन का ज्ञान ही असाधन को मिटाने में समर्थ है, क्योंकि जो मिथ्या है उसका ज्ञान होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः असाधन का ज्ञान ही असाधन का नाश करने में समर्थ है। इस दृष्टि से जो साधक अपने वर्तमान जीवन में असाधन जान लेता है वह बड़ी सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है। साधन-तत्व से अभिन्न होने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। परन्तु अपने असाधन को जानने की प्राप्त सामर्थ्य का व्यय साधक पर-दोष-दर्शन में कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अपने को साधन-असाधन की द्वन्द्वात्मक स्थिति में आबद्ध कर लेता है। बस, इसी प्रमाद से साधन में शिथिलता आ जाती है।

यह नियम है कि पराए कर्तव्य पर दृष्टि रखने से साधक अपने कर्तव्य को भूल जाता है, क्योंकि किसी के कर्तव्य की स्मृति से ही अपने कर्तव्य की विस्मृति हो जाती है। कर्तव्य की विस्मृति ने ही साधक में अधिकार-लालसा को जन्म दिया है। अधिकार लालसा ने ही पर-

दोष-दर्शन की रुचि उत्पन्न की है, क्योकि अधिकार की आपूर्ति क्षोभित तथा क्रोधित कर देती है। क्षोभित होने पर प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं हो पाता और क्रोधित होने पर कर्तव्य आदि की विस्मृति हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक कर्तव्य - पालन में असमर्थ तथा पराधीन है, क्योंकि साधक जिसे नहीं कर सकता वह उसे करना ही नहीं है। उसे तो वही करना है जो कर सकता है। इस दृष्टि से, भला, साधननिष्ठ होने में असमर्थता तथा पराधीनता कहाँ है? अर्थात् नहीं है।

साधन वर्तमान की वस्तु है। जो वर्तमान की वस्तु है उसको न करना इस बात को सिद्ध करता है कि साधक साधननिष्ठ होने की सामर्थ्य का दुर्व्यय कर रहा है। इसी असावधानी से साधन में शिथिलता आ जाती है। यह बात सिद्धान्त-रूप से सभी साधकों को मान लेनी चाहिए कि दूसरों के कर्तव्य की स्मृति में ही अपने कर्तव्य की विस्मृति निहित है। वर्तमान में साधननिष्ठ वही साधक हो सकता है जिसकी दृष्टि पराए कर्तव्य पर कभी नहीं जाती है, क्योंकि उसे अपने कर्तव्य से अवकाश ही कहाँ मिलता है! साधन कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसमें कभी न करने की बात आए। साधन वही है जो स्वभाव से ही निरन्तर होता रहे। यदि साधन में व्यवधान पड़ता है तो यह समझना चाहिए कि साधन के भेष में किसी असाधन को अपना लिया है। साधक के जीवन में असाधन के लिए कोई स्थान नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार असाधन अपने आप नहीं होता, अपितु करना पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि असाधन का त्याग करने पर साधन अपने आप होने लगता है। जब साधन अपने आप होने लगता है, तब साधन में शिथिलता का कोई प्रश्न नहीं रह जाता, क्योंकि शिथिलता श्रम-साध्य है, स्वभाव-सिद्ध नहीं है। साधक के जीवन में श्रम-साध्य साधन तभी तक रहता है जब तक असाधनयुक्त साधन है। अतः असाधन का अन्त होते ही साधन की शिथिलता सदा के लिए स्वतः मिट जाती है।

साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है?

साधक, साधन-निर्माण करने से पूर्व, साधन करना आरम्भ कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधन उसके लिए भार हो जाता है। जिस प्रकार यथेष्ट निदान किए बिना यदि औषधि सेवन की जाय तो वह हितकर सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार अपनी वास्तविक वस्तुस्थिति का अध्ययन किए बिना यदि साधन करना आरम्भ किया जाय तो वह साधन स्वाभाविक नहीं होता।

जिस प्रकार प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोगी के लिए तो हितकर ही है उसी प्रकार प्रत्येक साधन, उसके लिए, जो उस साधन का अधिकारी है, उपयुक्त ही है। साधन उसे नहीं कहते जिसमें साधक को संदेह हो, क्योंकि संदेह रहते हुए साधन में सद्भाव नहीं हो सकता। जिसमें सद्भाव नहीं होगा उसमें दृढ़ता नहीं आएगी। उसके बिना साधन करने में तत्परता नहीं होगी और तत्परता के बिना अस्वाभाविकता नाश नहीं होगी। अतः संदेहयुक्त साधन में स्वाभाविकता नहीं हो सकती। स्वाभाविकता उसी साधन में हो सकती है जिसमें साधक को लेशमात्र भी संदेह न हो, अर्थात् साधन निज विवेक के अनुरूप हो, क्योंकि विवेक-विरोधी साधन में निस्संदेहता सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, किसी अन्य साधन द्वारा सिद्धि का प्रलोभन भी साधक को अपने साधन से विचलित न कर सके, अपितु उसमें यही भाव दृढ़ रहे कि मुझे अपने ही साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करना है। यही निस्संदेहता की कसौटी है। यह नियम है कि निस्संदेहता से अभिन्नता स्वाभाविक है और अभिन्नता में प्रियता स्वाभाविक है। जिसमें प्रियता हो जाती है उसमें अस्वाभाविकता की गंध नहीं रहती। इस दृष्टि से साधन वही सार्थक सिद्ध हो सकता है जिसमें संदेह न हो। संदेह उसी में नहीं होता जो अपने ज्ञान के अनुसार है। अतएव स्वाभाविकता उसी साधन में आ सकती है जिस साधन के प्रति संदेह नहीं है।

अपने साधन के प्रति यह भी आवश्यक है कि वह अपने लिए रुचिकर हो। हाँ, यह अवश्य है कि

साधन रुचिकर होते हुए भी विवेक-विरोधी न हो। क्योंकि जो रुचि विवेक-विरोधी होती है वह भोग है, साधन नहीं। असाधन के रूप में साधन करना साधन नहीं है, अपितु असाधन ही है, जो वास्तव में त्याज्य है। वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता और सुन्दरता रुचिकर हो सकती है, किन्तु वह रुचि विवेक-विरोधी है, क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी हो ही नहीं सकती जिसकी सुन्दरता नित्य हो, जिसमें मलीनता न हो और जो अविनाशी हो तथा जिससे नित्य सम्बन्ध सुरक्षित रह सके। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा साधन हो सकता है, उनकी ममता और उनका भोग साधन नहीं हो सकता। अतः योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन तथा उनका सदुपयोग एवं निर्मोहतापूर्वक व्यक्तियों की सेवा करने की रुचि में निज विवेक का विरोध नहीं है।

वह साधन भी साधक के लिए स्वाभाविक तथा हितकर नहीं हो सकता जो साधन उसकी परिस्थिति के प्रतिकूल हो, क्योंकि परिस्थिति के प्रतिकूल साधन कभी क्रियात्मक नहीं हो सकता। यह नियम है कि सक्रिय साधन के बिना करने के राग का नाश सम्भव नहीं है, जिसके हुए बिना साधन सार्थक सिद्ध नहीं होगा और न उस साधन की अभिव्यक्ति होती है जो स्वभाव से ही निरन्तर होता रहे, जिसमें करने की गंध भी न हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वह साधन साधन नहीं है जो प्राप्त परिस्थिति के प्रतिकूल है।

जिस साधन में निस्संदेहता होती है उसमें बुद्धि और जो साधन रुचिकर होता है उसमें मन अपने आप लग जाता है। मन-बुद्धि के लगने से साधन में स्वाभाविकता आ जाती है, क्योंकि मन, बुद्धि आदि को लगाने-हटाने में जो अस्वाभाविक्ता है वह नाश हो जाती है। कारण कि हटाना और लगाना श्रम-साध्य है। श्रम कभी भी अखण्ड नहीं हो सकता। श्रम यदि विश्राम में विलीन नहीं होता तो उसमें किसी-न-किसी अंश में अस्वाभाविकता ही रहती है। वह श्रम, जो परिस्थिति के अनुसार हो और वह विश्राम, जिसमें सुख-भोग की गंध भी न हो, साधन-रूप है और उसमें अस्वाभाविकता नहीं है। सुख की आशा से किया हुआ साधन,

साधन के भेष में असाधन ही है, क्योंकि सुख-भोग, निर्वासना नहीं आने देता, अपितु नवीन वासना को जन्म ही देता रहता है। इस कारण वही निवृत्ति और प्रवृत्ति साधन-रूप हो सकती है जो सुख की आशा से रहित है। सुख की आशा से रहित निवृत्ति अहम्भाव का अन्त कर देती है और सुख की आशा से रहित प्रवृत्ति समस्त आसक्तियों को खा लेती है। अहम् का नाश होते हो समस्त भेद मिट जाते हैं और आसक्तियों का अन्त होते ही स्वतः प्रीति की अभिव्यक्ति होती है। भेद के नाश में अध्यात्म साधन की पराकाष्ठा और प्रीति की अभिव्यक्ति में आस्तिक साधन की परावधि है। आसक्तिरहित प्रवृत्ति परस्पर में स्नेह की वृद्धि और अन्त में चिर-शान्ति प्रदान करती है, जो वास्तव में भौतिकवाद की दृष्टि से परम साधन है। प्रत्येक साधक के जीवन में भौतिकता, आध्यात्मिकता और आस्तिकता ओतप्रोत है। समस्त जीवन साधन तभी हो सकता है जब सभी दृष्टियों से साधन, सार्थक सिद्ध हो जाय और तभी साधन में स्वाभाविकता आएगी।

समस्त साधनों का आरम्भ होता है सुख की आशा से रहित की हुई सेवा से, क्योंकि यह कर्तव्य - विज्ञान है और समस्त साधनों का अन्त होता है प्रीति की अभिव्यक्ति में, क्योंकि प्रीति से ही अपने साध्य को रस मिलता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग और प्रेमास्पद को रस देने की उत्कट लालसा में ही साधन-तत्व से अभिन्नता हो सकती हे, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आ जाती है, जो सभी साधको को अभीष्ट है।

परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य, निस्संदेहता और रुचि, साधन के बाह्य अंग है और सुख की आशा का अत्यन्त अभाव तथा प्रियतम को रस देने की उत्कट लालसा साधन के आन्तरिक अंग है। बाह्य तथा आन्तरिक अंगो की पूर्णता में ही साधन की स्वाभाविकता निहित है।

साधन का आरंभ कैसे हो?

साधन की लालसा में ही साधन का आरम्भ निहित है। यद्यपि साधन की लालसा मानव-मात्र में विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को

असाधनयुक्त कामनाओं ने आच्छादित कर दिया है। असाधन का आरम्भ सुखद और परिणाम दुःखद है। जब तक साधक अपने को सुखभोग के प्रलोभन में आबद्ध रखता है तब तक न तो असाधन का त्याग ही होता है और न साधन का आरम्भ ही। असाधन के परिणाम का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों ही असाधन-जनित सुख-लोलुपता स्वयं मिटती जाती है, जिसके मिटते ही असाधन का त्याग और साधन का आरम्भ युगपद हो जाता है। वास्तव में तो असाधन का त्याग भी साधन ही है।

प्रतिकूलताओं से भयभीत होकर जो हार स्वीकार नहीं करता, अपितु प्रतिकूलता के सदुपयोग में ही प्रयत्नशील रहता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ हो जाता है। अतः प्रतिकूलताओं से भयभीत न होने में भी साधन का आरम्भ निहित है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रतिकूलताएँ तथा अनुकूलताएँ अपने आप आती हैं, पर वे सदैव न रहेगी। इस अनुभूति का आदर करने पर भी साधन का आरम्भ हो जाता है; क्योंकि जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नहीं है। उसके सदुपयोग का नाम ही साधन है। सदैव न रहने वाली वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद तथा उनका सदुपयोग करने में न तो पराधीनता ही है और न असमर्थता। अतः जो अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करता, अपितु उन्हें साधन-सामग्री ही जानता है वह न तो प्रतिकूलता से भयभीत होता है और न अनुकूलता की दासता में ही आबद्ध रहता है। वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से साधन का आरम्भ कर सकता है।

निज-विवेक के प्रकाश में वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद द्वारा भी साधन का आरम्भ हो सकता है, क्योंकि वस्तु,व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करने पर लोभ, मोह आदि दोषों का नाश स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से निज ज्ञान के आदर में भी साधन का आरम्भ निहित है। यह नियम है कि वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करने पर प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा स्वतः होने लगती है। इस दृष्टि से प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग एवं

व्यक्तियों की सेवा द्वारा भी साधन का आरम्भ हो सकता है।

अपने प्रति होने वाली बुराई सभी को स्वभाव से ही अप्रिय है। अतः हम किसी का बुरा न चाहें, इस सद्भावना को दृढ़ करने से भी साधन का आरम्भ हो सकता है, क्योंकि पवित्र भाव अपवित्रता का नाश करने में समर्थ है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा होने पर भी वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही उससे सम्बन्ध अपने आप हो जाता है जो सभी वस्तुओं से अतीत है तथा जो उत्पत्ति-विनाश-रहित अनुत्पन्न हुआ है। इतना ही नहीं, जो सभी का आधार एवं प्रकाशक है उसकी सत्ता स्वीकार करने पर भी साधन का आरम्भ हो जाता है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उनकी ममता का त्याग उसमें अविचल श्रद्धा जाग्रत करता है जो सभी का सब कुछ होते हुए भी सभी से अतीत है। अतः उस अनन्त की सत्ता स्वीकार करने में भी साधन का आरम्भ निहित है।

साधन की लालसा कर्तव्य - बुद्धि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, विवेकपूर्वक देह आदि वस्तुओं से असंगता, सरल विश्वासपूर्वक वस्तुओं से अतीत के जीवन में श्रद्धापूर्वक अपने साध्य से निराश न होने में साधन का आरम्भ निहित है।

साधन की लालसा

यद्यपि साधन की लालसा बीज-रूप से प्रत्येक साधक में विद्यमान है, परन्तु असाधन की कामना ने साधन की लालसा को जाग्रत नहीं होने दिया। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जिसमें आंशिक साधन और आंशिक असाधन न हो। आंशिक असाधन की कामना को नाश करने के लिए ही विद्यमान साधन की लालसा को सबल तथा स्थायी करना है। यह तभी संभव होगा जब साधक अपने में विद्यमान आंशिक साधन को सर्वांश में अपना ले। जिस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से असत् में सत् ही की सत्ता है और असत् सत् ही से प्रकाशित है, उसी प्रकार आंशिक साधन के महत्व से ही साधक प्रमादवश आंशिक असाधन

को जीवित रखता है, क्योंकि केवल दोषयुक्त जीवन किसी का नहीं है।गुण-दोषयुक्त जीवन में ही साधन की लालसा का प्रश्न उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, सीमित गुण भी दोष बन जाता है। किसी भी एक साधन के विभु हो जाने पर असाधन-जनित सभी कामनाएँ अपने आप मिट जाती हैं, जिसके मिटते ही साधन की लालसा सबल तथा स्थायी हो जाती है और फिर साधक साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है।

साधन की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असाधन-जनित कामनाएँ अपने आप मिटती जाती हैं। ज्यों-ज्यों असाधन-जनित कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों साधन की लालसा वर्तमान जीवन की वस्तु हो जाती है। यह नियम है कि जो लालसा वर्तमान जीवन से संबंध रखती है उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। साधन-लालसा की पूर्ति में ही साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वास्तव में साधन ही साधक का अस्तित्व है। परन्तु जब तक साधक के जीवन में आंशिक असाधन रहता है तब तक उसे अपने और अपने साधन में किसी-न-किसी प्रकार भेद प्रतीत होता है। जब साधक को वह भेद असह्य हो जाता है तब अपने आप असाधन का सर्वांश में नाश हो जाता है।

साधन, साधन-तत्व के समान ही नित्य तत्व है। इस कारण प्रत्येक साधक को साधन होना अनिवार्य है। असाधन-जनित सुख-लोलुपता की दासता ने ही बेचारे साधक को साधन से विमुख किया है, किन्तु साधन की लालसा का नाश करने में असाधन समर्थ नहीं है। साधन-लालसा असाधन का अन्त करने में सर्वदा समर्थ है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक विद्यमान साधन-लालसा को जाग्रत करने में सफल होता है।

साधन का महत्व

साधन का महत्व जाने बिना जीवन की सार्थकता संभव नहीं है। निराशा में आशा, अभाव में भाव, दुःख में आनन्द, पराधीनता में

स्वाधीनता और अन्धकार में प्रकाश का दर्शन साधन के महत्व में ही निहित है।

साधन का महत्व जान लेने पर प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, साधन होकर साधक को साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ होती है। प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो साधन के महत्व से भली-भाँति परिचित हैं।

साधन के महत्व को जाने बिना कोई भी व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि साधन के महत्व से ही व्यक्ति, व्यक्ति-भाव को त्याग, साधक-भाव स्वीकार करता है। साधक-भाव की स्वीकृति में ही साधन-निर्माण की उत्कंठा जाग्रत होती है, जो साधक को असाधन का त्याग करने के लिए विवश कर देती है।

जब तक व्यक्ति अपने को साधक नहीं जान लेता तब तक उसे परिस्थिति ही जीवन प्रतीत होती है। प्रत्येक परिस्थिति सतत् परिवर्तनशील है। अतः कोई भी परिस्थिति जीवन हो ही कैसे सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन की लालसा स्वतः जाग्रत होती है। वही व्यक्ति परिस्थितियों का दास है जो अपने को साधक स्वीकार नहीं करता। व्यक्ति साधक होकर परिस्थितियों का सदुपयोग करने में समर्थ होता है। परिस्थितियों का सदुपयोग परिस्थितियों से असंगता प्रदान करने में हेतु है। परिस्थितियों से असंग होते ही जीवन साधन और साधन जीवन हो जाता है।

साधन ही साधक को साधन-तत्व से अभिन्न कर साध्य को रस देने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, साध्य असाधन को सत्ता देता है और उसे प्रकाशित करता है, पर उसका नाश नहीं करता, क्योंकि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं; किन्तु सत् की लालसा, जो साधन-रूप है, असत् को खाकर साधक को सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साध्य की अपेक्षा साधन का कहीं

अधिक महत्व है। हाँ, यह अवश्य है कि साधन में सत्ता साध्य की ही होती है। यह साध्य की कृपालुता है कि साधन को सत्ता देकर उसे अधिक महत्वपूर्ण बना दिया।

प्रत्येक साधक को यह ध्यान रहे कि साधन का महत्व साध्य की प्राप्ति में ही है, उसकी विस्मृति में नहीं, अर्थात् साध्य के लिए ही साधन का महत्व है, क्योंकि साधक का साध्य से संबंध साधन हुए बिना संभव नहीं है। अतः साधन का महत्व स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

असाधन का त्याग

विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, संबंध और चिन्तन असाधन हैं। अतः प्रत्येक साधक को असाधन का त्याग करना अनिवार्य है, क्योंकि असाधन के त्याग में ही साधन का निर्माण निहित है। प्राकृतिक नियमानुसार दर्शन अनेक और जीवन एक है किन्तु असाधन का त्याग सभी मत, सम्प्रदाय, विचारधारा के साधकों के लिए समान है, अथवा यों कहो कि भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, विचारमार्गी एवं विश्वासमार्गी के लिए भी असाधन का त्याग अनिवार्य है। असाधन का त्याग किए बिना, किसी भी सिद्धान्त का मानने वाला क्यों न हो, सफल नहीं हो सकता। असाधन के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

विवेक-विरोधी स्वीकृति पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसको 'यह' करके सम्बोधन करते हैं उसे 'मैं' नहीं कह सकते। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी को निज विवेक द्वारा तो 'मैं' नहीं कह सकते। 'मैं' जैसी कोई भी वस्तु यदि है तो इन सबसे भिन्न है। परन्तु जब व्यक्ति अपने को देह मान लेता है तब बेचारा मोह में आबद्ध हो जाता है। जिसके होते ही अनेक कामनाएँ स्वतः उत्पन्न होने लगती हैं; कारण कि ऐसी कोई कामना हो ही नहीं सकती जिसका संबंध देह में अहम्-बुद्धि स्वीकार किये बिना होता हो। कामनाओं की पूर्ति-आपूर्ति ही सुख-दुःख की जननी है। सुख की दासता तथा दुःख भय प्राणी को साधननिष्ठ नहीं होने देता।

यद्यपि सुख-दुःख के सदुपयोग में ही साधन निहित है, परन्तु यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो विवेक-विरोधी स्वीकृति का त्याग कर मोह-रहित हो जाते हैं। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी स्वीकृति का त्याग प्रत्येक साधक के लिए परम आवश्यक है।

विवेक-विरोधी स्वीकृति तो कभी भी साधन-रूप हो ही नहीं सकती। व्यक्तित्व की दासता से मुक्त करने में " मैं देह नहीं हूँ"-यह स्वीकृति स्वीकार करना अनिवार्य होगा। किन्तु व्यक्तित्व को सुन्दर बनाने के लिए उन सभी स्वीकृतियों को साधन-रूप में स्वीकार करना होगा जो स्वीकृतियाँ गुणों के विकास में तथा कर्तव्य -पालन द्वारा दूसरों के अधिकारों की रक्षा में हेतु हैं। यह नियम है कि साधन-रूप स्वीकृतियों के अनुरूप कर्तव्य निष्ठ होते ही स्वीकृति स्वयं नाश हो जाती है और फिर निर्वासना अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही अपने में से देह-भाव का सदा के लिए अन्त हो जाता है, अर्थात् देह से संबंध-विच्छेद हो जाता है।

विवेक-विरोधी कर्म के अतिरिक्त अकर्तव्य और कुछ नहीं है। अकर्तव्य के रहते हुए न तो करने का राग ही नाश होता है और न सुन्दर समाज का निर्माण ही होता है। इस कारण विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में ही अकर्तव्य का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही कर्तव्य परायणता अपने आप आ जाती है, क्योंकि अकर्तव्य के त्याग में ही कर्तव्य परायणता निहित है। कर्तव्य परायणता विद्यमान राग को खा लेती है। इस दृष्टि से कर्तव्य परायणता के बिना कोई भी साधक राग-रहित नहीं हो सकता। राग-रहित हुए बिना भोग योग में, स्वार्थ सेवा में, अशान्ति शान्ति में, पराधीनता स्वाधीनता में विलीन नहीं होती; क्योंकि राग ही अशान्ति, स्वार्थ-भाव तथा पराधीनता को जन्म देता है। अतः विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है।

व्यक्तित्व को सुन्दर बनाना और उसकी दासता से मुक्त होना ही साधन की पूर्णता है। यदि कोई साधक केवल व्यक्तित्व को सुन्दर बनाने में ही लगा है तो वह उसकी केवल आंशिक साधना है। आंशिक साधना में सन्तुष्ट होना किसी-न-किसी अंश में असाधन को जीवित

रखना है। असाधन-युक्त साधन साधक को साधन-तत्व से अभिन्न नहीं होने देता। इस कारण प्रत्येक साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक व्यक्तित्व को सुन्दर बनाते हुए उसकी दासता से मुक्त होना है।

देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि से सम्बन्ध स्वीकार करना विवेक-विरोधी सम्बन्ध है, क्योंकि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है एवं जिससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता सम्भव नहीं है उससे सम्बन्ध रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वस्तु, व्यक्ति के सम्बन्ध से लोभ, मोह और देश, काल, अवस्था एवं परिस्थिति आदि के सम्बन्ध से परिच्छिन्नता, जड़ता तथा काम आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। यदि विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्लोभता, निर्मोहता, निष्कामता, अपरिच्छिन्नता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

आगे-पीछे का चिन्तन तथा वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन विवेक- विरोधी चिन्तन है, क्योंकि आगे-पीछे का चिन्तन सार्थक चिन्तन का तथा अचिन्तता का विघ्न है और वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन वस्तु, व्यक्ति में आसक्ति भले ही उत्पन्न कर दे, किन्तु चिन्तन मात्र से किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त तथा पर-प्रकाश्य वस्तुएँ हैं उनकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, चिन्तन-साध्य है। इस कारण विवेक-विरोधी चिन्तन के त्याग में ही सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति और अचिन्तता की उपलब्धि निहित है, जो साधन-रूप है।

जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त तथा पर-प्रकाश्य नहीं है उसका चिन्तन ही सार्थक चिन्तन है। पर सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति व्यर्थ चिन्तन के त्याग में ही निहित है। व्यर्थ चिन्तन के साथ-साथ सार्थक चिन्तन करना सार्थक चिन्तन का लेप चढ़ाना है। वास्तव में तो जो किया जाता है वह चिन्तन नहीं है। चिन्तन वही है जो स्वतः होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं

जो विवेक-विरोधी चिन्तन से रहित हो जाते हैं। चिन्तन कर्म नहीं है, अपितु साध्य की प्रियता है। प्रियता आत्मीयता तथा नित्य सम्बन्ध से उदित होती है। अतः विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग में ही नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति और नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति में ही सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है। सार्थक चिन्तन श्रम-रहित साधन है। जो श्रम-रहित है वही अखण्ड है। इस दृष्टि से सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति में ही चिन्तन की सार्थकता सिद्ध होती है। अतः विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध तथा चिन्तन से रहित होने में ही असाधन का त्याग और साधन की अभिव्यक्ति निहित है।

दर्शन और साधन

प्रत्येक दर्शन साधन की भूमि है। दार्शनिक भेद से ही साधन में भेद है, किन्तु साधन-तत्व में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार समस्त नदियाँ सागर में विलीन होकर एक हो जाती हैं उसी प्रकार समस्त साधन साधन-तत्व से अभिन्न होकर एक हो जाते हैं।

इन्द्रिय-ज्ञान से दर्शन का आरम्भ होता है। इसी के आधार पर सृष्टि की स्वीकृति है। किन्तु इन्द्रिय-ज्ञान से जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है वही वस्तु उसी काल में बुद्धि-ज्ञान से इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा भिन्न प्रतीत होती है। इसी कारण में संदेह उत्पन्न होता है। संदेह की वेदना जिज्ञासा जाग्रत करती है। जिज्ञासा की जागृति इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाओं को खा लेती है। सभी कामनाओं का नाश होते ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर बुद्धि से अतीत के ज्ञान से अभिन्नता हो जाती है। इन्द्रिय-ज्ञान बुद्धि-ज्ञान की अपेक्षा अल्प है, अर्थात् अधूरा ज्ञान है। अधूरे ज्ञान प्रभाव अंकित हो जाना दार्शनिक दृष्टिकोण से असाधन है। असाधन के नाश में ही साधन की अभिव्यक्ति निहित है। साधक के जीवन में इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग भले ही हो, किन्तु इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का कोई स्थान नहीं है। इसी कारण बुद्धि-ज्ञान से इन्द्रिय-ज्ञान पर विजयी होना साधन है।

इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव साधक में राग उत्पन्न करता है। राग-रूपी भूमि में ही भोग-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जिस पर सुख-दुःख रूपी अनेक फल लगते हैं। जब साधक सुख की दासता तथा दुःख के भय से पीड़ित होता है तब उसे इन्द्रिय-ज्ञान में स्वतः संदेह होता है, जिसके होते ही साधक बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होने लगता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-ज्ञान अपने आप मिटता जाता है ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों -त्यों राग वैराग्य में विलीन होता जाता है। सर्वांश में इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही साधक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित भूमि में ही योग-रूपी वृक्ष की अभिव्यक्ति होती है, जिस पर तत्व-ज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेम-रस से पूर्ण है।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर जो सृष्टि सत् प्रतीत होती है वही बुद्धि-ज्ञान से सतत् परिवर्तनशील प्रतीत होती है। सृष्टि में सद्भाव भौतिक दर्शन का पोषक है और सृष्टि की अनित्यता अध्यात्म दर्शन को जन्म देती है। भौतिक दर्शन में कर्तव्य - परायणता अर्थात् सुख-दुःख का सदुपयोग साधन है और चिर-शान्ति एवं दुःख-निवृत्ति तथा सुन्दर समाज का निर्माण साध्य है। सुख-दुःख का भोग असाधन है। सुख-दुःख की उत्पत्ति प्राकृतिक विधान है। सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि प्रमाद है। समस्त विश्व एक जीवन है, यही भौतिक दर्शन है। बाह्य अनेक भेद, अर्थात् आकृति, रंग, रहन-सहन, बोल-चाल इत्यादि भिन्न होने पर भी वास्तव में हम सब एक हैं। जिस प्रकार प्रत्येक लहर सागर से अभिन्न है उसी प्रकार शरीर विश्व से अभिन्न है। शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रीति से भरा रहे और अहम् अभिमान-शून्य हो जाय, यही भौतिक दर्शन की पराकाष्ठा है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सुख उदारता का और दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। इतना ही नहीं, उदारता त्याग को पुष्ट करती है और त्याग उदारता को सुरक्षित रखता है। उदारता और त्याग के अपना लेने पर सुखियों और दुःखियों में वास्तविक एकता हो जाती है, जिसके होते ही समस्त संघर्ष

अपने आप मिट जाते हैं; कारण कि वैर-भाव शेष नहीं रहता। साधक के जीवन में करुणा तथा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हो जाती है। करुणा स्वार्थभाव को खा लेती है और प्रसन्नता निष्कामता को जन्म देती है। स्वार्थ-भाव के गलते ही सुखासक्ति अपने आप मिट जाती है और निष्कामता के आते ही दुःख का भय सदा के लिए विदा हो जाता है। इस दृष्टि से उदारता और त्याग विश्व-शान्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। भौतिक दर्शन के आधार पर किया हुआ साधन भी साधक को चिरशान्ति से अभिन्न करने तथा सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

जब साधक चिर-शान्ति में अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता तब भौतिक दर्शन स्वतः अध्यात्म दर्शन में विलीन हो जाता है, क्योंकि दर्शन अनेक और जीवन एक है। शान्ति में सन्तुष्ट होने से अहम्-भाव रूपी अणु शेष रहता है, जिसके रहने पर भेद नाश नहीं होता। भेद के रहते हुए सर्वांश में अभाव का अभाव सम्भव नहीं है। इसी कारण अध्यात्म दर्शन की आवश्यकता शेष रहती है। अध्यात्म दर्शन के साधन का आरम्भ इन्द्रिय-ज्ञान में संदेह उत्पन्न होने पर होता है। संदेह की वेदना जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जागृति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाओं की निवृत्ति अपने आप होती जाती है। जिस काल में सर्वांश में कामनाएँ मिट जाती हैं उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति शान्ति से असंग कर स्वाधीनता से अभिन्न कर देती है।

स्वाधीनता में जड़ता की गंध भी नहीं रहती, क्योंकि पराधीनता का अन्त होते ही जड़ता चिन्मयता में और मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है। यही अध्यात्म दर्शन का साध्य है।

अध्यात्म दर्शन के आधार पर संदेह की वेदना से साधन का आरम्भ होता है और निस्संदेहता में साधन की पूर्णता सिद्ध होती है। इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर जिस सृष्टि को स्वीकार किया था और बुद्धि -ज्ञान के आधार पर जिसमें सतत् परिवर्तनशीलता का दर्शन किया था " वह सृष्टि नहीं है"- इस सम्बन्ध में अध्यात्म-दर्शन का साधक निस्सन्देह हो जाता है और सृष्टि के होने, न-होने में जो सदैव ज्यों-का-त्यों अपनी महिमा में आप स्थित है उसके होने में

निस्सन्देह होता है, अर्थात् सृष्टि की अस्वीकृति और अनन्त की स्वीकृति में ही अध्यात्म-दर्शन का साधक निस्सन्देह हो जाता है। जिसके होने में निस्सन्देह है उसका योग, बोध तथा प्रेम स्वतः सिद्ध है। योग शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। बोध स्वाधीनता, चिन्मयता तथा अमरत्व का प्रतीक है और प्रेम आनन्द तथा अगाध, अनन्त रस का प्रतीक है। दार्शनिक दृष्टि से योग, ज्ञान तथा प्रेम में विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि तीनों ही अनन्त की अभिव्यक्ति हैं। तीनों की एकता में ही दर्शन की परावधि है।

जीवन और साधन

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन वास्तविक जीवन का साधन है, और कुछ नहीं। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करते। जीवन उसे नहीं कह सकते जिसमें अभाव का अभाव न हो। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति अभाव-रूप है। अतः किसी भी परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

साधन-रहित जीवन प्राणी को मृत्यु की ओर ले जाता है और साधन-युक्त जीवन उसे अमरत्व से अभिन्न कर देता है। साधन का जीवन से और जीवन का साधन से विभाजन नहीं हो सकता। जो साधन जीवन के किसी एक अंश में प्रतीत होता है वह वास्तव में साधन के भेष में असाधन ही है, क्योंकि साधक का समस्त जीवन साधन है अथवा यों कहो कि साधन ही साधक का जीवन है, क्योंकि साधन से अतिरिक्त साधक का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही साधन की पूर्णता निहित है। परिस्थिति का सदुपयोग साधक को परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर सभी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक जीवन है उससे अभिन्न करने में समर्थ है। अतः प्रत्येक परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग, साधन और जीवन में एकता सिद्ध करने में समर्थ है। यह तभी सम्भव

होगा जब प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग सुख की आशा से रहित होकर किया जाय। सुख की आशा से रहित प्रवृत्ति परस्पर में स्नेह तथा विश्वास की दृढ़ स्थापना करती है और अपने अधिकार का त्याग तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा कराने में समर्थ है। दूसरों के अधिकार की रक्षा विद्यमान राग के नाश में हेतु है और अपने अधिकार का त्याग नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देता। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो तो साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित होकर चिर-शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है और फिर साधन और जीवन में भेद नहीं रहता।

साधन और जीवन में एकता प्राप्त करने के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। परिस्थिति-परिवर्तन की कामना उन्हीं प्राणियों में रहती है जो परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं, उसे साधन-सामग्री नहीं जानते। यद्यपि परिस्थिति-परिवर्तन के लिए भी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही करना पड़ता है, किन्तु परिस्थिति को ही जीवन मान लेने से बेचारा प्राणी अपने को परिस्थितियों की दासता में आबद्ध कर लेता है और फिर अनेक प्रकार के अभावों से पीड़ित रहता है, क्योंकि सभी परिस्थितियाँ स्वरूप से अभाव रूप ही हैं। साधन-बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग अभाव का अभाव करने में समर्थ है। पर यह तभी सम्भव होगा जब साधन में ही जीवन स्वीकार कर लिया जाय। साधन से भिन्न भी जीवन है, इस स्वीकृति का अत्यन्त अभाव अनिवार्य है।

जीवन को साधन और साधन को जीवन बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान कर्तव्य कर्म को भौतिक दृष्टि से सुन्दर समाज का निर्माण के लिए और विश्व-प्रेम की प्राप्ति के लिए सावधानीपूर्वक, साधन-बुद्धि से सम्पन्न किया जाय। अध्यात्म दृष्टि से वर्तमान कर्म को राग-निवृत्ति तथा सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति एवं अपने ही में अपने अविचल प्रेम की प्राप्ति के लिए साधन-बुद्धि से किया जाय उसमें सुख की आशा का लेश भी न हो, तभी

अध्यात्म दृष्टि से जीवन और साधन में एकता हो सकती है।

आस्तिक दृष्टि में प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य कर्म अपने प्यारे की पूजा है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि जिसकी पूजा की जाती है, पुजारी पूजा के अन्त में स्वतः उसी का प्रेम हो जाता है। अतः साधन और जीवन में एकता होते ही सभी साधकों को प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता तथा साधन की पूर्णता निहित है। इस दृष्टि से जीवन साधन और साधन जीवन है। प्रत्येक साधक साधन होकर ही साधन-तत्व से अभिन्न होता है, जो वास्तव में साधन और जीवन की अभिन्नता है।

सभी दृष्टियों से सभी साधकों को प्राप्त करने योग्य एकमात्र प्रेम ही है, क्योंकि प्रेम का आरम्भ चाहे जैसे हो किन्तु प्रेम स्वभाव से ही विभु तथा अनन्त है। अतः प्रेम की प्राप्ति के लिए सभी साधकों को अपना समस्त जीवन साधन से अभेद करना अनिवार्य है।

विश्वास और साधन

बीज-रूप से विश्वास प्राणी-मात्र में विद्यमान है, क्योंकि कोई ऐसा व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का विश्वास न हो।

विवेक-विरोधी विश्वास असाधन और जिस विश्वास में विवेक का विरोध न हो- समर्थन हो अथवा न हो-साधन-रूप है।

अपने को देह मान लेना अथवा किसी वस्तु को अपना मान लेना विवेक-विरोधी विश्वास है। विवेक-विरोधी विश्वास ने ही प्राणी को लोभ, मोह आदि अनेक विकारों में आबद्ध कर दिया है। अतः विवेक-विरोधी विश्वास प्रत्येक साधक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करते ही साधक में जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो अविवेक-जनित कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं का अंत होते ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं जिन साधकों ने विवेक-विरोधी विश्वास का अंत कर दिया है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग निज विवेक के आदर में ही

निहित है। उसके लिए किसी अन्य अभ्यास की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक स्वीकृति अस्वीकृति से नाश हो जाती है, जिसके होते ही अपने आप साधन का निर्माण हो जाता है; क्योंकि असाधन के त्याग में ही साधन निहित है।

प्रत्येक व्यक्ति में करने की और जानने की रुचि है। करने की रुचि की पूर्ति-निवृत्ति के लिए ही कर्तव्य पालन का प्रश्न साधक में स्वतः उत्पन्न होता है, क्योंकि कर्तव्य निष्ठ हुए बिना विद्यमान राग की निवृत्ति सम्भव नहीं है। राग-रहित होने में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग जिज्ञासा की जागृति में समर्थ है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं की निवृत्ति में हेतु है और कामनाओं का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से जानने की रुचि की पूर्ति के लिए भी विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग ही मुख्य साधन है। विवेक-विरोधी विश्वास के रहते हुए जो प्राणी अपने को सुख-दुःख का भोगी मानता है, वही प्राणी विवेक-विरोधी विश्वास का नाश होने पर अपने में जिज्ञासु-भाव स्वीकार करता है, अर्थात् सुख-दुःख का भोग न करके उनकी वास्तविकता जानने में तत्पर हो जाता है।

अपने में जिज्ञासु-भाव की स्वीकृति दो प्रश्न उत्पन्न करती है- एक तो यह कि " सृष्टि क्या है?" और दूसरा " मैं क्या हूँ?" इन दोनों प्रश्नों का हल ही अध्यात्म जीवन हैं। साधक में जिज्ञासु-भाव की स्वीकृति संदेह की वेदना से उत्पन्न होती है। यह नियम है कि स्वीकृति के अनुरूप कर्तव्य निष्ठ होने पर स्वीकृति सदा के लिए मिट जाती है। इस दृष्टि से कर्तव्य -विश्वास भी साधन-निर्माण में बड़े ही महत्व की वस्तु है। कर्तव्य -विश्वास और साधक का अपने में विश्वास होने पर ही कर्तव्य -परायणता वर्तमान की वस्तु होती है। कर्तव्य वही है जिसके करने में साधक सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है और जिसका परिणाम राग-रहित होना है। राग रहित होते ही कर्तव्य का प्रश्न ही शेष नहीं रहता और फिर जो होना चाहिए वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से कर्तव्य - विश्वास उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक किसी-न-किसी प्रकार का राग शेष है। राग के रहते

हुए यदि कर्तव्य में विश्वास न किया जाय तो अकर्तव्य उत्पन्न हो जायगा, जो असाधन है। अकर्तव्य के रहते हुए कोई भी व्यक्ति राग-रहित नहीं हो सकता, अपितु नवीन राग की उत्पत्ति ही होती रहती है।

इस कारण प्रत्येक साधक को राग-रहित होने के लिए कर्तव्य में विश्वास करना अनिवार्य है। कर्तव्य - पालन के लिए जिस वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता एवं विधान की आवश्यकता है वह सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है। यदि ऐसा न हो तो कर्तव्य -पालन का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। कर्तव्य - पालन की सामग्री किस कर्तव्य का फल है? इसका निर्णय यही हो सकता है कि जिसने साधन-सामग्री प्रदान की है उसने अपने को इतना छिपाया है कि उस तक किसी की बुद्धि नहीं पहुँचती। इतना ही नहीं, प्रत्येक कर्तव्य निष्ठ साधक को कर्तव्य पालन की सामग्री अपनी ही प्रतीत होती है।यद्यपि विवेक-दृष्टि से कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है और सामूहिक वस्तुएँ भी अपने को अपने आप प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हैं। इन सब कारणों से यह विश्वास स्वतः होता है कि जिसने सब कुछ दिया है उसकी स्वीकृति अनिवार्य है। भले ही उसकी स्वीकृति विवेक-सिद्ध न हो, किन्तु उसकी अस्वीकृति मे विवेक का समर्थन नहीं है। जिसकी अस्विकृति में विवेक का समर्थन नहीं है, उसमें अविचल श्रद्धा तथा विश्वास करना साधक के लिए स्वाभाविक है। उस विश्वास को ही उसका विश्वास कहते है कि जिसके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं जानता, किन्तु उसकी माँग जीवन में है। यदि ऐसा न होता तो प्रत्येक परिस्थिति से ऊपर उठने की रुचि न होती, प्राणी प्राप्त परिस्थिति में सन्तुष्ट हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि सभी परिस्थितियों से अतीत जो है और सभी परिस्थितियाँ जिसके किसी अंश मात्र में है उस अनन्त में विश्वास करना परम आवश्यक है।

जब तक विश्वासी विश्वास में और अपने में भेद पाता है तब तक विश्वास जीवन नहीं है। जब तक विश्वास जीवन नहीं तब तक विश्वास सजीव नहीं है। विश्वास के सजीव बिना हुए विश्वास-पात्र से न तो सम्बन्ध ही हो सकता है और न आत्मीयता ही। नित्य सम्बन्ध के बिना मधुर स्मृति और आत्मीयता के बिना परम प्रेम की

अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अतः विश्वासी को विश्वास से भिन्न अपना कोई अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिए।

जिस वास्तविक जीवन की प्राप्ति जिज्ञासु को दर्शन के द्वारा होती है, उसी जीवन की प्राप्ति विश्वासी को विश्वास के द्वारा होती है और वही जीवन कर्तव्य निष्ठ को कर्तव्य परायणता से प्राप्त होता है। जिसे प्राप्त करना है वह सभी का सब कुछ है। इस कारण प्रत्येक साधक अपने-अपने साधन द्वारा साधन-तत्व से अभिन्न होकर उसे प्राप्त करता है।

साधन में विश्वास का बहुत बड़ा स्थान है। जाने हुए में जिज्ञासु को विश्वास करना ही पड़ता है और माने हुए में विश्वासी को तथा किए हुए में कर्तव्य निष्ठ को विश्वास करना पड़ता है। विकल्प-रहित विश्वास और ज्ञान के प्रभाव में कोई अन्तर नहीं होता। यदि ऐसा न होता तो स्वीकृति के अनुरूप न तो प्रवृत्ति होती और न प्रतीति ही होती। साधन-रूप सभी स्वीकृतियाँ कर्तव्य की प्रतीक हैं। कर्तव्य में अविचल विश्वास ही कर्तव्य -परायणता को सजीव बनाता है। विश्वास के बिना न तो साधन का ही आरम्भ हो सकता है और न असाधन का त्याग ही। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते उससे सम्बन्ध जोड़ने में भी विश्वास ही हेतु है, अर्थात् आस्तिकता का मूल विश्वास ही है।

विवेक-विरोधी विश्वास के अतिरिक्त अन्य सभी विश्वास साधन-रूप हैं- चाहे अपने में हो, कर्तव्य में हो, गुरु में हो अथवा उसमें हो जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते उसमें विश्वास होने पर फिर किसी अन्य विश्वास की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि उसके अतिरिक्त सभी विश्वास साधन-रूप होने से आदरणीय हैं, किन्तु नित्य नहीं हैं। कर्तव्य -विश्वास कर्तव्य -पालन के पश्चात् अपेक्षित नहीं रहता, क्योंकि कर्तव्य परायणता राग को खाकर कर्तव्य के अभिमान का अन्त कर देती है और फिर करना होने में बदल जाता है। जब विश्वासी स्वयं अनन्त का विश्वास हो जाता है तब उसे अपने में विश्वास की अपेक्षा नहीं रहती और जाने हुए का आदर करने पर गुरु-विश्वास आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि बाह्य गुरु की अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक साधक

निज ज्ञान का सर्वांश में आदर नहीं करता।

विवेक-विरोधी विश्वास आसक्ति को और विवेक के अनुरूप विश्वास अनासक्ति को और अनन्त का विश्वास प्रीति को प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है। अतः असाधन-रूप विश्वास का त्याग कर साधन-रूप विश्वास को अपनाकर प्रत्येक साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-तत्व से अभिन्न हो सकता है।

साधन-विधि

प्रत्येक साधन-विधि अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है। जिस प्रकार प्रत्येक लहर का सागर से अभेद है उसी प्रकार प्रत्येक साधन-विधि अनन्त के विधान से अभिन्न है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता का विधिवत् सदुपयोग ही साधन है, कारण कि साधन का सम्बन्ध किसी अप्राप्त परिस्थिति से नहीं है। यदि ऐसा न होता तो प्रत्येक साधक साधन करने में समर्थ न होता। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक साधक विधिवत् साधन करने में सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है। साधन की पूर्णता कामना-निवृत्ति, जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति में निहित है। अतः जिस विधि से साधन की पूर्णता सिद्ध हो वही विधि अनुसरणीय है।

प्रत्येक साधक को अनन्त के मंगलमय विधान का प्रतीक निज विवेक प्राप्त है। ऐसा कोई साधक हो ही नहीं सकता जिसमें बीज-रूप से विवेकशक्ति, भावशक्ति तथा क्रिया शक्ति विद्यमान न हो। विद्यमान शक्तियों की एकता में ही साधन-विधि निहित है। अतः साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति भाव से भावित हो और भाव विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, तभी वह साधन-सम्पन्न होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो सकता है।

समस्त असाधन अविवेक-सिद्ध हैं, अर्थात् निज विवेक के अनादर से ही असाधनों की उत्पत्ति होती है। अतः विवेक का आदर करते ही समस्त असाधन स्वतः मिट जाते हैं।

अविवेक से अपवित्र भाव और अपवित्र भाव से अशुद्ध कर्म होने लगता है, क्योंकि अविवेक बेचारे प्राणी को देहाभिमानी में आबद्ध कर

उसे स्वार्थरत बना देता है, जिससे वह अपने सुख की आशा में ही दिन-रात उलझा रहता है और कामना-पूर्ति को ही अपना सर्वस्व मान लेता है। यह नियम है कि कामना-पूर्ति को ही जीवन मान लेने पर प्राणी दूसरों के अहित से पीड़ित नहीं होता। उसे तो वह सुख प्यारा लगता है जिसकी उत्पत्ति भले ही किसी के दुःख तथा अहित से हो। प्राकृतिक विधान की दृष्टि से जिस सुख की उत्पत्ति किसी के दुःख तथा अहित से होती है वह सुख अन्त में घोर दुःख में बदल जाता है और सुख-भोगी का अहित ही होता है। इस कारण अविवेक का अन्त करना अनिवार्य है।

निज विवेक का आदर करते ही देहाभिमान गल जाता है। उसके गलते ही निर्वासना आ जाती है, जिसके आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। निर्वासना पराधीनता को, स्वाधीनता में बदल देती है। स्वाधीनता जड़ता से मुक्त कर चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है। वैर-भाव का अन्त होते ही समस्त संघर्ष अपने आप मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चिर-शान्ति की स्थापना हो जाती है, जो सामर्थ्य की प्रतीक है। सामर्थ्य का सम्पादन होते ही जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है, जो करने योग्य नहीं है उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। अकर्तव्य का अन्त और कर्तव्य परायणता की अभिव्यक्ति हो जाने पर समस्त भय अपने आप मिट जाते हैं। भय के अन्त में ही विषमता का सर्वांश में नाश हो जाता है अर्थात् समता का प्राकट्य होता है, जो मुदिता से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से विवेक का आदर समस्त साधनों का आश्रय है।

प्रत्येक व्यक्ति निज विवेक के प्रकाश में अपने प्रति होने वाली बुराइयों को जानता है। इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्राप्त विवेक में दोषों का ज्ञान विद्यमान है। अपने जाने हुए दोष के त्याग में निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है। निर्दोषता अपवित्र भाव का अन्त कर पवित्र भाव को जन्म देती है और फिर समस्त कर्म दिव्य हो जाते हैं, जिनके होते ही क्रियाशक्ति भावशक्ति में और भावशक्ति विवेकशक्ति में विलीन हो जाती है, जो निस्सन्देहता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है।

प्रत्येक साधक में कर्म, चिन्तन और स्थिति तीन अवस्थाएँ क्रमशः रहती ही हैं। कर्म की अपेक्षा चिन्तन में और चिन्तन की अपेक्षा स्थिति में अधिक स्वाभाविकता तथा व्यापकता है। इसी कारण समस्त कर्म चिन्तन में और चिन्तन स्थिति में विलीन होते हैं। कर्म का उद्गम-स्थान चिन्तन और चिन्तन का उद्गम-स्थान शाश्वत शान्ति अर्थात् चिर-विश्राम है। चिर-विश्राम से चिन्तन तथा कर्म की ओर गतिशील होने में प्राणी असीम से सीमित, चिन्मय से जड़ता और स्वाधीनता से पराधीनता की ओर अग्रसर होता है, जो वास्तव में असाधन है।

साधन-विधि की दृष्टि से साधक का कर्म से चिन्तन और चिन्तन से चिर-विश्राम की ओर उत्तरोत्तर बढ़ना है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक साध्य ही के नाते वर्तमान कर्तव्य कर्म को सुख की आशा से रहित होकर करने का स्वभाव बना ले। यह नियम है कि कर्ता जिस भावना से प्रेरित होकर कर्म करता है अन्त में वह उसी की स्मृति हो जाती है अथवा यों कहो कि उसे उसकी स्मृति प्राप्त होती है जिसके नाते कर्म किया था। जो कर्म चिन्तन में विलीन नहीं होता वह कर्म भोग है, साधन नहीं। साधक के जीवन में सुख-भोग का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि सुख-भोग की अपेक्षा सेवा में कहीं अधिक मधुर रस है। कर्म का उपयोग केवल करने का राग मिटाने के लिए और सुन्दर समाज के निर्माण में ही है, पर वह तभी हो सकता है जब कर्म सेवा-भाव से सम्पादित किया जाय, उसमें स्वार्थ-भाव की गंध भी न रहे। सेवा-भाव की जागृति तभी होती है जब साधक अपने साध्य में अविचल श्रद्धा तथा विश्वास रखता है। साध्य वही है जिसकी उसने सत्ता स्वीकार की है।

साधक का सम्बन्ध किसी परिस्थिति से नहीं रहता, अपितु अपने साध्य से ही रहता है। इसी कारण वह प्रत्येक कर्म के द्वारा अपने साध्य की पूजा करता है और पूजा के अन्त में साधक स्वयं साध्य का चिन्तन होकर साध्य की अहैतुकी कृपा से चिर-विश्राम पाकर साध्य की प्रीति हो जाता है।

साधन-विधि के अनुसार साधक के जीवन में किसी से भी सुख की आशा रखने का कोई स्थान नहीं

है, क्योंकि सुख की आशा उसे पराधीनता, जड़ता, असमर्थता आदि दोषों में आबद्ध कर देती है। इतना ही नहीं, जिनसे वह सुख की आशा करता है उनका भी ह्रास ही होता है। सुख देने की लालसा ही वास्तव में साधन-रूप लालसा है। वह लालसा तभी जाग्रत होती है जब किसी से सुख की आशा न की जाय। सुख की आशा की उत्पत्ति अविवेक-सिद्ध है, जो वास्तव में असाधन ही है। साधक अपने को शरीर मानकर विश्व और व्यक्ति मानकर समाज के हित में रत रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि शरीर विश्व से और व्यक्ति समाज से अभिन्न हो जाता है। किन्तु जब साधक शरीर से असंग तथा व्यक्तित्व के अभिमान से रहित हो जाता है तब वह साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है।

समस्त विकारो की उत्पत्ति सुख की आशा में ही है और समस्त साधनों की अभिव्यक्ति सुख देने की लालसा में निहित है। अपने को देह मानकर सृष्टि से, व्यक्ति मानकर समाज से और जीव मान कर प्रभु से प्राणी प्रमादवश सुख की आशा कर बैठता है। यद्यपि साधनयुक्त जीवन इतना सुन्दर जीवन है कि अनन्त की अहैतुकी कृपा ने उसका निर्माण सृष्टि, समाज और अनन्त को रस देने के लिए ही किया है, परन्तु प्राणी साधननिष्ठ न होकर अपने को सुख की आशा में आबद्ध कर लेता है।

सुख के भोगी से प्राणी-मात्र भयभीत हो जाता है, क्योंकि हिंसा तथा प्रमाद के बिना सुख-भोग की सिद्धि ही नहीं होती। परन्तु जब प्राणी सुख की आशा से रहित होकर सुख देने की लालसा को ही अपना लेता है तब अचाह होकर समस्त सृष्टि को अभय कर देता है, उदारतापूर्वक समाज के काम आ जाता है और प्रेम होकर अनन्त को रस प्रदान करने में समर्थ होता है।

चाह-रहित होते ही शरीर और विश्व में एकता हो जाती है। उदारता आते ही व्यक्ति और समाज में अभिन्नता हो जाती है और प्रेम की अभिव्यक्ति होते ही सब प्रकार की दूरी तथा भेद मिट जाता है, क्योंकि प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। इस दृष्टि से विधिवत् साधन करने से सभी साधक साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो सकते हैं।

साधन-क्रम

साधनयुक्त जीवन में अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पो का कोई स्थान ही नहीं है। इस कारण अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों का त्याग करना अनिवार्य है। साधन का आरम्भ अशुद्ध संकल्पों के त्याग में ही निहित है, क्योंकि उनका त्याग बिना किए किसी भी पद्धति के अनुसार साधन का आरम्भ नहीं हो सकता, क्योंकि अशुद्ध संकल्प असाधन की भूमि है।

किसी के अहित में अपना हित, किसी के ह्रास में अपना विकास, किसी के दुःख में अपना सुख मान लेना ही अशुद्ध संकल्प है, जो अविवेक-सिद्ध है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्तव्य -विज्ञान की दृष्टि से यह निर्विवाद सत्य है कि दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह कालान्तर में कई गुना अधिक होकर अपने प्रति स्वतः हो जाता है। इस कारण किसी के अहित में अपना हित स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अशुद्ध संकल्पों का त्याग करते ही अहिंसा, क्षमाशीलता, निर्वैरता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होने लगती है, क्योंकि अशुद्ध संकल्पों के त्याग में ही शुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति निहित है। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसके जीवन में किसी भी नवीन दोष की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उत्पन्न हुए दोषों की निवृत्ति ही हो जाती है। इस दृष्टि से साधक को किसी भी परिस्थिति में अशुद्ध संकल्प नहीं करना है।

अनावश्यक संकल्प साधक के जीवन में शान्ति की स्थापना नहीं होने देता। शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और सामर्थ्य के बिना न तो कर्तव्य परायणता ही प्राप्त होती है और न सर्वांश में अकर्तव्य का ही नाश होता है, क्योंकि सामर्थ्यशाली वही है जिसके द्वारा जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगे और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही न हो। अनावश्यक संकल्प ही वे हैं जिनका सम्बन्ध वर्तमान से न हो, जिनके पूरे करने का साधन उपलब्ध न हो, जिनकी पूर्ति के बिना रह सकते हों

और जिनमें दूसरों का अहित हो। यह नियम है कि अनावश्यक संकल्पों का त्याग करते ही आवश्यक संकल्पों की पूर्ति अपने आप हो जाती है अथवा यों कहो कि अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों के त्याग में ही शुद्ध तथा आवश्यक संकल्पों की पूर्ति निहित है। आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा विद्यमान राग की वास्तविकता का परिचय हो जाता है। यदि साधक संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो तो संकल्प-पूर्ति के अन्त में संकल्प-निवृत्ति अपने आप हो जाती है, क्योंकि संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता ही नवीन संकल्पों की जननी है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति का सुख बड़ा ही मधुर है, परन्तु प्राणी को पराधीनता में आबद्ध कर देता है। इस मधुर विष से बचने के लिए भी संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता का त्याग अनिवार्य है।

संकल्प-पूर्ति के सुख की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति कहीं अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि उसमें न तो पराधीनता ही है और न प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है, अपितु आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोगी तो असमर्थ हो ही जाता है, क्योंकि भोग की सिद्धि प्राप्त शक्ति के ह्रास में ही होती है और भोग्य वस्तु का नाश होने के कारण बेचारा भोगी पराधीनता में ही आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से सुख-भोग की अपेक्षा शान्ति का कहीं अधिक महत्व है।

विचारशील साधक को संकल्प- निवृत्ति की शान्ति का सम्पादन तो करना है, परन्तु उसमें रमण नहीं करना है। क्योंकि शान्ति में रमण करने से अहम्-भाव का महत्व बढ़ता है। अहम्-भाव के रहते हुए साधन-तत्व से अभिन्नता सम्भव नहीं है। अतएव शान्ति से असंग होना अनिवार्य है। शान्ति की असंगता में ही स्वाधीनता और स्वाधीनता में ही चिन्मय जीवन की प्राप्ति निहित है, क्योंकि पराधीनता का अन्त होते ही जड़ता सदा के लिए मिट जाती है। इस दृष्टि से शान्ति से असंग होना परम आवश्यक है।

सुख की अपेक्षा शान्ति और शान्ति की अपेक्षा स्वाधीनता कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। परन्तु स्वाधीनता में सन्तुष्ट होने पर अखण्ड

रस की उपलब्धि तो होती है, किन्तु अगाध अनन्त नित-नव रस की माँग की उस समय तक पूर्ति नहीं होती जिस समय तक साधक स्वाधीनता को समर्पित कर परम प्रेम को प्राप्त नहीं कर लेता। प्रेम की प्राप्ति में ही साधन-तत्व से अभिन्नता हो सकती है। यद्यपि स्वाधीनता में किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता परन्तु रस की वृद्धि के लिए प्रेम-प्राप्ति अनिवार्य है। प्रेम दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देता। दूरी के अभाव में नित्ययोग और भेद के अभाव में तत्व-ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से साधन का आरम्भ अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों के त्याग में और साधन की पूर्णता प्रेम की प्राप्ति में निहित है अथवा यों कहो कि साधन-तत्व से अभिन्न होने के लिए कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति अनिवार्य है।

साधन और असाधन

करना, जानना और मानना, इन तीनो की वास्तविकता ही साधन है। करना वही है जिसे कर सकते हैं, जानना वही है जिसे जान सकते हैं और मानना उसी को है जिसकी आवश्यकता तो है, पर उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते।

करने में सेवा, त्याग तथा क्षमाशीलता मुख्य हैं। जानना उसी को है जिसके सम्बन्ध में अधूरा ज्ञान है, क्योंकि अधूरे ज्ञान में ही संदेह उत्पन्न होता है और संदेह की वेदना ही जिज्ञासा को जाग्रत करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपने और जगत् के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा होती है, क्योंकि सभी साधक अपने तथा जगत् के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ जानते हैं। अब रही मानने की बात। मानना उसी को है जिसके सम्बन्ध में सुना तो है, पर जानते कुछ नहीं अथवा यों कहो कि जिसकी माँग तो स्वाभाविक हो, पर उसे इन्द्रिय तथा बुद्धि के द्वारा कभी अनुभव न किया हो।

सेवा वही कर सकता है जिसकी सभी के हित में रति है। त्याग वही कर सकता है जो संसार के स्वरूप को भली-भाँति जानता है और क्षमाशील वही हो सकता है जो अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं

मानता। सेवा, करुणा और प्रसन्नता की जननी है। करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि का नाश होते ही विद्यमान राग मिट जाता है और नीरसता का अन्त होते ही नवीन राग उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् सेवा साधक को राग-रहित करने में समर्थ है। त्याग चिर-शान्ति का प्रतीक है। चिर-शान्ति में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता तथा अमरत्व निहित है। क्षमाशीलता प्रेम की प्रतीक है, क्योंकि क्षमाशीलता द्वेष की अग्नि को सदा के लिए बुझा देती है।

निज ज्ञान के प्रकाश में अपनी खोज करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि देह मैं नहीं हूँ और न देह मेरी है। इस ज्ञान का प्रभाव समस्त आसक्तियों का अन्त कर अनासक्ति प्रदान करने में समर्थ है। अनासक्ति की अभिव्यक्ति होने पर 'मैं' जैसी वस्तु उस अनन्त की प्रीति में विलीन हो जाती है। आसक्ति-काल में व्यक्ति को संसार में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता का भास होता है, जो इन्द्रिय-ज्ञान के सद्भाव का प्रभाव है। अधूरे ज्ञान में सद्भाव न रखना साधन है। इन्द्रिय-ज्ञान में संदेह होने पर स्वतः जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो कामनाओं को खाकर अपने आप पूरी हो जाती है। जिज्ञासा के पूर्ति-काल में संसार की सत्यता शेष नहीं रहती।

जब साधक उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है जिसकी उसे माँग है, तब उसमें उसका स्वतः विश्वास हो जाता है। विश्वास के होते ही नित्य सम्बन्ध अपने आप हो जाता है, जिसके होते ही स्मृति उदय होती है जो दूरी तथा भेद को खाकर साधन-तत्व से अभिन्न कर देती है। यह नियम है कि स्वीकृति में विश्वास, विश्वास में सम्बन्ध और सम्बन्ध में आत्मीयता स्वतः सिद्ध है, जो प्रेम की प्रतीक है। प्रेम की प्राप्ति में ही साधन की पूर्णता निहित है।

साधन के अतिरिक्त जो है वही असाधन है। असाधन में प्रवृत्ति तभी होती है जब व्यक्ति अपने दुःख तथा सुख का कारण वस्तु, व्यक्ति आदि को मान लेता है। सुख-दुःख अविवेक-सिद्ध हैं, और कुछ नहीं। अविवेक किसी और की देन नहीं है, निज विवेक के अनादर से स्वयं अविवेक को उत्पन्न कर लिया है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं जो

निज विवेक का आदर कर अविवेक का अन्त कर देते हैं।

अनन्त में दुःख है नहीं, सृष्टि दुःख दे सकती नहीं, क्योंकि जो स्वयं उत्पत्ति-विनाश-युक्त तथा पर-प्रकाश है वह कैसे दुःख दे सकती है! तो फिर अपने दुःख का कारण किसी और को मानना क्या असाधन नहीं है? अर्थात् यह असाधन ही है। अपने दुःख का कारण किसी और को मानना हृदय में द्वेष की अग्नि प्रज्ज्वलित कर देता है। द्वेष के उत्पन्न होते ही क्षमाशीलता शेष नहीं रहती। क्षमाशीलता का अभाव होते ही वैर-भाव उत्पन्न होता है, जो संघर्ष का मूल है।

अपने दुःख का कारण किसी और को मानना अविवेक-सिद्ध है, और कुछ नहीं। अविवेक अपना ही बनाया हुआ दोष है, किसी और का दिया हुआ नहीं, इस कारण उसके मिटाने का दायित्व भी अपने पर है। हाँ, यह अवश्य है कि अविवेक का अन्त करने के लिए प्रत्येक साधक को अनन्त की अहैतुकी कृपा से विवेक स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक का अनादर ही समस्त असाधनों का मूल है। पर प्राणी प्रमादवश अपने दुःख का कारण अपने को न मानकर दूसरों को मान बैठता है, जिसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। यहाँ तक कि जिस दुःख को स्वयं मिटा सकता है उसके लिए पराधीन हो जाता है। पराधीन होने पर दुःख मिटने की तो कौन कहे, प्रत्युत दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है।

जो प्राणी अपने दुःख का कारण दूसरे को मानता है वह अपने सुख के लिए भी दूसरों की ही आशा करता है, अर्थात् बेचारा अपने को दुःख तथा सुख के लिए पराधीन मान लेता है। विवेक-दृष्टि से पराधीनता के समान अन्य कोई दुःख नहीं है। पराधीनता में जीवन है, उससे कुछ मिल सकता है- इस धारणा के समान और कोई असाधन हो ही नहीं सकता, क्योंकि पराधीनता ने ही प्राणी को जड़ता में आबद्ध कर चेतना से विमुख कर दिया। इतना ही नहीं, पराधीनता में ही लोभ, मोह, काम, क्रोध, दीनता, अभिमान आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रत्येक असाधन अनेक असाधनों को जन्म देता है। इस दृष्टि से यह भली-भाँति जान लेना चाहिए

कि जब तक जीवन में आंशिक असाधन भी प्रतीत होता है, तब तक समस्त असाधन मौजूद हैं। जिस प्रकार प्रत्येक बीज में अगणित वृक्ष विद्यमान है उसी प्रकार प्रत्येक असाधन में अनेक असाधन मौजूद है। सर्वांश में असाधन का नाश होने पर ही असाधनों का नाश होता है।

कर्तव्य-अकर्तव्य, ज्ञान-अज्ञान, विश्वास-अविश्वास का द्वन्द्व भी असाधन-रूप ही है, क्योंकि असाधन का अन्त होते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति शेष नहीं रहती। अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानने में ही राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग पराधीनता को और द्वेष हिंसा को जन्म देता है। अतः अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को मानना असाधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जब साधक अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता है तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक त्याग से राग का और प्रेम से द्वेष का नाश करने में समर्थ होता है। राग का नाश होते ही पराधीनता स्वाधीनता में और द्वेष का नाश होते ही क्रोध क्षमाशीलता में तथा हिंसा अहिंसा में विलीन हो जाती है। स्वाधीनता समस्त दिव्य गुणों की भूमि है और क्षमाशीलता तथा अहिंसा में ही प्रेम की अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता का रस अखण्ड है और प्रेम का रस अनन्त है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को पराधीनता का नाश और स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति के लिए तत्पर रहना अनिवार्य है। स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति के लिए ही प्राणी को साधन-युक्त जीवन मिला है। विवेक के आदर में समस्त असाधनों की निवृत्ति और साधनों की अभिव्यक्ति निहित है, जो मानव-मात्र को अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त है।

साधन और सत्संग

सत्संग स्वयं साधन है, क्योकि जाने हुए असत् के त्याग में ही सत् का संग है। यह नियम है कि जिस ज्ञान में असत् का ज्ञान निहित है उसी ज्ञान में असत् के त्याग की सामर्थ्य भी विद्यमान है। अतः प्रत्येक साधक को अपने जाने हुए असत् का त्याग कर सत् का संग करना अनिवार्य है।

असत् के त्याग से ही असत् की निवृत्ति और सत् के संग में ही सत्

की प्राप्ति निहित है अथवा यों कहो कि असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति युगपद् है। असत् का ज्ञान सर्वदा सत् है। इसी कारण असत् को असत् जान लेने पर उसकी निवृत्ति और सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। सत् उसे नहीं कहते जो कभी भी अप्राप्त हो अर्थात् सत् सर्वदा प्राप्त है। जो सर्वदा प्राप्त है उससे देश-काल की दूरी हो ही नहीं सकती। जिससे देश-काल की दूरी संभव नहीं है वह स्वरूप से ही अविनाशी है। अविनाशी का कोई त्याग नहीं कर सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता उसमें प्रेम हो सकता है। अतः सत् के प्रेम में ही सत् की अभिव्यक्ति निहित है।

सत् के प्रेम को असत् की आसक्तियों ने आच्छादित कर दिया है। असत् का ज्ञान असत् की आसक्तियों को खा लेता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सत् के प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से जाने हुए असत् का त्याग कर सत् के संग में ही समस्त साधन निहित हैं।

यद्यपि अपने-अपने जाने हुए असत् के त्याग करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है परन्तु निज ज्ञान का आदर न करने से बेचारा साधक अपने को असमर्थ मान लेता है। ऐसी दशा में उसे प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में अपने विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् पर व्यक्तिगत रूप से विचार करना अनिवार्य है। जब साधक अपनी दृष्टि से अपने दोष को देख लेता है तब उसमें जाने हुए दोषों के त्याग की लालसा जाग्रत होती है। वह लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों दोष-जनित सुखासक्ति अपने आप गलती जाती है। जिस काल में सर्वांश में दोष-जनित सुखासक्ति मिट जाती है उसी काल में जाने हुए दोषों का त्याग और निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक साधक व्यक्तिगत रूप से सत्संग करके निर्दोषता से अभिन्न हो सकता है।

व्यक्तिगत रूप से किया हुआ सत्संग साधक को स्वाधीनता पूर्वक सिद्धि देने में समर्थ होता है, क्योंकि इस विधि में साधक को केवल अपने ही जाने हुए असत् का त्याग करना है। व्यक्तिगत सत्संग द्वारा निर्मित साधन के प्रति साधक सर्वदा

निस्सन्देह रहता है, क्योंकि निज ज्ञान में सन्देह हो ही नहीं सकता। इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान में भले ही किसी को सन्देह हो, क्योंकि वह अल्प-ज्ञान है; किन्तु निज ज्ञान में तो सन्देह हो ही नहीं सकता। यह नियम है कि निस्सन्देहता आत्मीयता प्रदान करती है। आत्मीयता प्रीति की प्रतीक है। प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। अतः निज ज्ञान में प्रियता स्वाभाविक है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत सत्संग बड़े ही महत्व की वस्तु है।

अपने जाने हुए असत् के त्याग का जो संकल्प है उसमें साधक को भी कभी विकल्प नहीं करना चाहिए। विकल्प-रहित संकल्प स्वतः दृढ़ हो जाता है, जिसके होते ही संकल्प के अनुरूप साधक का जीवन हो जाता है। भूतकाल की दोष-जनित स्मृतियों वर्तमान की निर्दोषता में सन्देह उत्पन्न करती हैं। किन्तु जिसने जाने हुए असत् के त्याग का दृढ़ संकल्प कर लिया है उसे कभी भी दोष-जनित से सहयोग नहीं करना चाहिए और न उनसे तादात्म्य ही स्वीकार करना उचित है, अपितु सर्वथा असहयोग ही करना है। असहयोग द्वेष नहीं है, अपितु संबंध-विच्छेद है। यह नियम है कि जिन स्मृतियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है वे स्मृतियाँ कालान्तर में स्वतः मिट जाती हैं। स्मृतियों का सद्भाव तथा सहयोग ही उन्हें जीवित रखता है। स्मृतियों की असत्यता स्वीकार करते ही वे निर्जीव हो जाती हैं और असहयोग करते ही मिट जाती हैं। अतः वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए भूतकाल की दोषजनित स्मृतियो का स्वरूप से अभाव स्वीकार करना अनिवार्य है।

यदि साधक व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित न रख सके अथवा जाने हुए दोषों का त्याग न कर सके तो उसे अपने जाने हुए असत् का त्याग करने के लिए परस्पर विचार-विनिमय द्वारा सत्संग करना चाहिए। जिस प्रकार दो दीपक एक दूसरे का अन्धकार मिटाने में सहायक होते हैं उसी प्रकार परस्पर विचार-विनिमय द्वारा अपने-अपने जाने हुए असत् का त्याग करने में साधक समर्थ होते हैं।

विचार-विनिमय करते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाय कि अपने जाने हुए दोषों के सम्बन्ध में ही विचार करना है।

विचार-विनिमय के नाम पर पर-चर्चा नहीं करनी है। सत्संग अपने संदेह मिटाने का साधन है, और कुछ नहीं। निस्सन्देहता के बिना दृढ़ता नहीं आती और दृढ़ता के बिना जीवन और साधन में एकता नहीं होती। इस कारण संदेह-रहित होना अनिवार्य है। विचार-विनिमय करने का अर्थ उपदेष्टा होना नहीं है, अपितु अपनी निर्बलताओं को प्रकाशित करना है। यह नियम है कि जो निर्बलताएँ स्पष्ट रूप से जानने में आ जाती हैं और जिनके प्रकाशित करने में साधक को संकोच नहीं होता उन निर्बलताओं से तादात्म्य नहीं रहता। जिससे तादात्म्य नहीं रहता उसका नाश बड़ी सुगमतापूर्वक हो जाता है, क्योंकि निर्बलता का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। निर्बलता जिसमें होती है उसी से सत्ता पाकर उसी पर शासन करने लगती है। जब साधक अपनी निर्बलताओं से असहयोग करने लगता है तब निर्बलताएँ अपने आप मिटने लगती हैं। इस दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को प्रकाशित करना और उनको मिटाने के लिए परस्पर विचार-विनिमय द्वारा सत्संग करना बड़ा ही सुगम साधन है। निर्बलताओं को प्रकाशित करते समय यह भी ध्यान रहे कि जिस निर्बलता की चर्चा की जा रही है वह निर्बलता भूतकाल की है, वर्तमान की नहीं। अपनी निर्बलताओं का स्पष्ट ज्ञान तभी होता है जब निर्बलताओं से छुटकारा पाने की तीव्र लालसा जाग्रत हो जाती है। निर्बलताओं को मिटाने का दृढ़ संकल्प सभी निर्बलताओं का अन्त करने में साधनरूप है। इस दृष्टि से अपनी-अपनी निर्बलताओं को परस्पर में साधन-बुद्धि से प्रकाशित करना अनिवार्य है। परन्तु भूतकाल की निर्बलताओं के आधार पर अपने को वर्तमान में निर्बल स्वीकार करना असाधन है, क्योंकि साधक को निर्दोषता की उपासना करना है, दोषों की नहीं। अतः परस्पर विचार-विनिमय द्वारा जाने हुए दोषों का त्याग कर निर्दोषता से अभिन्न होना ही वास्तव में सत्संग है।

परस्पर विचार-विनिमय करने पर भी यदि साधक अपने जाने हुए असत् के त्याग में समर्थ न हो तब उसे अपनी असमर्थता का अन्त करने के लिए सत् की लालसा को सबल तथा स्थायी करना अनिवार्य है। लालसा को सबल तथा स्थायी बनाने

के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि थोड़ी-थोड़ी देर बाद हृदय में लालसा की पुनरावृत्ति व्याकुलतापूर्वक होती रहे। सत् की लालसा असत् की कामनाओं को खा लेती है। असत् की कामनाओं के नाश में ही सत् की लालसा की पूर्ति निहित है। इस दृष्टि से सत् की लालसा का जाग्रत होना भी जाने हुए असत् के त्याग में साधन-रूप है। असत् की कामना ही असत् को जीवित रखती है। असत् की कामनाओं की निवृत्ति सत् की तीव्र जिज्ञासा की जागृति से ही सम्भव है, क्योंकि सत् की लालसा सत् से भी कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। कारण कि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं; किन्तु सत् की लालसा असत् को खाकर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः सत् की लालसा की पुनरावृत्ति साधक में असत् के त्याग की सामर्थ्य प्रदान करती है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सत् की लालसा को सबल तथा स्थायी करके जाने हुए असत् के त्याग में समर्थ होता है। इस दृष्टि से सत् की लालसा के द्वारा भी सत्संग हो सकता है।

लालसा और कामना में एक बड़ा भेद यह है कि कामना उन वस्तुओं की होती है जिनसे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त न हो और लालसा उसी की होती है जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, केवल उसकी विस्मृति हो गई है। इसी कारण लालसा कामनाओं को खाकर साधक को उससे अभिन्न कर देती है, जो सर्वदा सभी को स्वतः प्राप्त है। प्राप्त की प्रीति उसकी विस्मृति को सदा के लिए खा लेती है। अतः अनन्त की लालसा साधक को अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है।

यदि साधक अपने द्वारा अपने जाने हुए असत् के त्याग में अपने को समर्थ न पाता हो और उसे किसी के सहयोग की अपेक्षा प्रतीत होती हो तो ऐसी स्थिति में उसे किसी ऐसे सत्पुरुष, जिसमें उसे अपने ज्ञान से किसी दोष का दर्शन न होता हो और स्वभाव से ही उनकी आज्ञा-पालन में रुचि हो तथा जिनके सम्पर्क में रहने से अपने को शान्ति की अनुभूति होती हो, के परामर्श से अपने जाने हुए असत् का त्याग करने का प्रयास करना चाहिए। पर इस

बात का ध्यान रहे कि मेरा सम्पर्क केवल अपने साधन-निर्माण के लिए के लिए ही है। वे कैसे हैं, कितना जानते हैं, क्या करते हैं-इन सब बातों पर यदि साधक ध्यान देगा तो वह अपने साधन-निर्माण की बात को भूल जायेगा। जिस प्रकार रोगी वैद्य के पास जाकर अपने रोग-निवारण की ही चर्चा करता है उसी प्रकार साधक सत्पुरुष के पास जाकर अपनी समस्याओं के हल करने के सम्बन्ध में ही चर्चा करता है। जो साधक सत्पुरुषों के सम्पर्क में जाकर भी पर-चर्चा में लग जाता है, उस बेचारे साधक को अपनी समस्या हल करने का अवकाश ही नहीं मिलता और सत्पुरुष का सम्पर्क उसके लिए उतना हितकर नहीं सिद्ध होता है जितना हो सकता था। यद्यपि सत्पुरुष का सम्पर्क निरर्थक नहीं जाता, परन्तु पूरा-पूरा लाभ उन्हीं साधकों को होता है जो केवल साधन-निर्माण मात्र के लिए ही सत्पुरुषों के सम्पर्क में रहते हैं। साधन-निर्माण ही साधक का सर्वस्व है, जो जाने हुए असत् के त्याग से ही सम्भव है। अतः सत्पुरुष के सम्पर्क में रहकर भी अपने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा सत् का संग करना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो कोई ऐसा सत्पुरुष ही नहीं मिलता जिस पर हमारी स्वाभाविक श्रद्धा हो। ऐसी परिस्थिति में साधक को सद्ग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिए। पर यह बात बड़ी ही सावधानी से ध्यान में रखनी चाहिये कि जिस सद्ग्रंथ में उसकी श्रद्धा है उसमें अपनी समस्या हल करने के उपाय की ही खोज करे, सारा ग्रंथ समझने का प्रयास न करे, क्योंकि जाने हुए असत् का त्याग किये बिना कोई भी साधक किसी भी सद्ग्रंथ को सर्वांश में नहीं जान सकता। सद्ग्रंथ भले ही सूर्य के समान हो, किन्तु सूर्य का प्रकाश नेत्र-विहीन के काम नहीं आता। उसी प्रकार जब तक साधक अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर देता तब तक वह दृष्टि प्राप्त ही नहीं होती जिसका सद्ग्रंथों में प्रकाश है। सद्ग्रन्थ औषधालय के समान हैं और प्रत्येक साधक रोगी के समान है। प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोगी के लिए हितकर है। उसी प्रकार प्रत्येक साधन किसी-न-किसी साधक के लिए उपयोगी है, किन्तु सभी साधन सभी

साधकों के लिए उपयोगी नहीं होते। इसी कारण प्रत्येक साधक को सद्ग्रंथों में से अपने उपयोगी साधन को अपनाकर जाने हुए असत् का त्याग करना है। असत् के त्याग में समस्त विकास निहित है। इस दृष्टि से सत्संग सर्वोत्कृष्ट साधन है।

सत् किसी को अप्राप्त नहीं है। असत् की कामनाओं के कारण नित्य प्राप्त सत् अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है। असत् की कामनाएँ अविवेक-सिद्ध हैं। जो वस्तु अविवेक-सिद्ध है उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता उसकी निवृत्ति अनिवार्य है। इसी कारण कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। सत् स्वरूप से, सत् के जिज्ञासु में भी ज्यों-का-त्यों भरपूर है और सत् का जिज्ञासु भी सत् में ही है अर्थात् सत् की सीमा के बाहर कुछ नहीं है। इस दृष्टि से सत् के जिज्ञासु को, जहाँ है वहीं सत् से अभिन्न होना है।

सत् से अभिन्न होने के लिए किसी श्रम की अपेक्षा नहीं है और न आलस्य तथा अकर्मण्यता से ही सत् की उपलब्धि होती है। जिस काल में सत् की जिज्ञासा असत् की कामनाओं को खा लेती है, उसी काल में सत् का जिज्ञासु सत् की प्रियता होकर सत् से अभिन्न हो जाता है। कारण कि प्रियता दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। सत् की प्रियता असत् के त्याग में निहित है। त्याग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु असत् को असत् जानकर उससे असहयोग करना ही त्याग है। त्याग हो जाने पर त्याग का भास नहीं रहता, क्योंकि त्याग की स्मृति अथवा उसका अस्तित्व तभी तक प्रतीत होता है जब तक त्याग होता नहीं। त्याग होते ही त्याग का त्याग स्वतः हो जाता है और फिर किसी प्रकार का श्रम शेष नहीं रहता। श्रम-रहित होते ही चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

मूक-सत्संग सभी साधको की भूमि है और सभी साधन मूक-सत्संग में ही विलीन होते हैं, अथवा यों कहो कि समस्त साधनों का उद्गम और लय मूक-सत्संग ही में है। क्योकि कुछ न करने से ही करने का आरम्भ होता है और सब कुछ करने पर भी अन्त में कुछ न करना ही शेष रहता है, जिस प्रकार मौन से ही

बोलना होता है और बोलने पर भी मौन ही होता है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियमानुसार समस्त गति स्थिरता से ही उत्पन्न होती है और अन्त में उसी में लय होती है। इस दृष्टि से श्रम से पूर्व जो स्थिति है श्रम के अन्त में भी वही है। आदि और अन्त में जो है वही नित्य है। अतः मूक होते ही असत् का त्याग और सत् का संग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि मूक होने का उपाय क्या है? मूक होने के लिए वर्तमान कर्तव्य कर्म को विधिवत् करना अनिवार्य है, क्योंकि आवश्यक कार्य को किए बिना किसी को भी विश्राम नहीं मिल सकता। यह नियम है कि आवश्यक कार्य करने के लिए अनावश्यक कार्य का त्याग अनिवार्य हो जाता है। विधिवत् कार्य वही कर सकता है जो प्राप्त परिस्थिति के अनुसार फलासक्ति से रहित कार्य करता है। फलासक्ति का त्याग किए बिना कार्य के अन्त में विश्राम मिल ही नहीं सकता और फलासक्ति से रहित कार्य करने पर कार्य के अन्त में कर्ता स्वयं श्रम-रहित हो जाता है अथवा यों कहों कि प्रत्येक कर्ता कार्य के अन्त में उसी से अभिन्न हो जाता है, जिसके नाते कार्य का आरम्भ किया था। कर्ता कार्य होकर अपने उद्देश्य की पूर्ति में विलीन हो जाता है। कार्य कर्ता का चित्र है और उद्देश्य कर्ता का जीवन है। वर्तमान कर्तव्य कर्म सभी दार्शनिकों के लिए एक है, क्योकि कर्तव्य का सम्बन्ध परिस्थिति से है और दर्शन का सम्बन्ध भावना तथा उद्देश्य से है। अतः प्रत्येक साधक को वर्तमान कर्तव्य कर्म तो परिस्थिति के अनुसार विधिवत् ही करना है। परिस्थिति-भेद से कर्तव्य कर्म में भले ही भेद हो, किन्तु फलासक्ति से रहित विवेक के अनुरूप ही कर्म करना है। प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः विश्राम प्राप्त होता है, किन्तु अनावश्यक कार्य का चिन्तन विश्राम को सुरक्षित नहीं रहने देता। इस कारण मूक-सत्संग सिद्ध नहीं होता। कार्य के अन्त में यदि कार्य का चिन्तन न रहे तो अपने आप श्रम-रहित होकर मूक-सत्संग हो जाता है। मूक-सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु चिर-विश्राम है, जिसकी माँग स्वभाव से ही प्रत्येक साधक को है। माँग उसी की होती है जिसके बिना साधक किसी भी प्रकार न रह सके। इस दृष्टि से विश्राम तथा

मूक-सत्संग बड़े ही महत्व की वस्तु है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जो अनावश्यक कार्य का त्याग कर आवश्यक कार्य करने में तत्पर रहते हैं।

भौतिकवाद की दृष्टि से कर्तव्य परायणता का, अध्यात्मवाद की दृष्टि से विवेकपूर्वक असंगता का और आस्तिकवाद की दृष्टि से समर्पण का परिणाम मूक-सत्संग है। कर्तव्य परायणता, असंगता, समर्पण से मूक-सत्संग स्वतः हो जाता है। कर्तव्य - परायणता समस्त विश्व के साथ एकता का बोध कराने में, असंगता निर्वासनापूर्वक भेद नाश करने में और समर्पण प्रीति होकर अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। एकता, अभेदता और अभिन्नता सभी को स्वभाव से ही अभीष्ट हैं, क्योंकि इन्हीं में सत् का संग तथा असत् का त्याग निहित है। एकता शान्ति रस, अभेदता अखण्ड रस और अभिन्नता अनन्त रस की प्रतीक है। मूक-सत्संग का आरम्भ शांत रस से और अन्त अनन्त रस में होता है। रस नीरसता को खाकर साधक को साधन-तत्व से अभिन्न कर देता है। नीरसता का अन्त होते ही समस्त विकार स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि नीरसता ही सभी विकारो की जननी है। नीरसता असमर्थता से उत्पन्न होती है।

असमर्थता केवल विश्राम न मिलने से ही उत्पन्न हो गयी है। इस दृष्टि से निर्विकार होने के लिए असमर्थता का नाश करना अनिवार्य है, जो मूक-सत्संग से सुलभ है। मूक-सत्संग स्वतः सिद्ध साधन है। जो स्वतः सिद्ध है उससे अभिन्न होने के लिए साधक को सभी अस्वाभाविकताओं का त्याग करना होगा। प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में विश्राम स्वाभाविक है। विश्राम अभ्यास नहीं है, किसी का चिन्तन तथा ध्यान भी नहीं है, अपितु विश्राम से ही सार्थक चिन्तन उत्पन्न होकर अचिन्तता में विलीन होता है। विश्राम में से ही प्रीति उदय होकर अपने प्रीतम से अभिन्न होती है। विश्राम से ही विचार का उदय होता है, जो अविचार को खाकर स्वतः साधक को तत्व से अभेद कर देता है।

विश्राम को सुरक्षित रखने के लिए करने का राग और पाने का प्रलोभन, जीने की आशा और मरने के भय का सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है, क्योंकि विश्राम असत् की

निवृत्ति एवं सत् की प्राप्ति में समर्थ है। विश्राम के लिए सभी का त्याग करना है, किन्तु विश्राम का त्याग किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के लिए नहीं करना है, क्योंकि विश्राम शक्ति, मुक्ति एवं भक्ति का प्रतीक है।

विश्राम-काल में विश्राम पाने का जो प्रयत्न है वही विश्राम में विघ्न है। विश्राम के लिए समस्त जीवन को साधन बनाना होगा। अकर्तव्य, देहाभिमान और अहम्-भाव का रहना ही विश्राम में बाधक है। अकर्तव्य कर्तव्य परायणता से, देहाभिमान विवेकपूर्वक असंगता से एवं अहम्-भाव समर्पण से ही मिट सकता है। इस दृष्टि से कर्तव्य परायणता, असंगता एवं शरणागति से ही मूक-सत्संग सिद्ध हो सकता है।

प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में मूक-सत्संग आवश्यक है। यदि शान्त होते समय मन में उथल-पुथल मचे तो उससे साधक को भयभीत नहीं होना चाहिए, अपितु उससे असहयोग करना चाहिए। अनुकूल चिन्तन से सुख नहीं लेना है और प्रतिकूल चिन्तन से भयभीत नहीं होना है। सुख लेने से चिन्तन की पुनरावृत्ति होती रहेगी और भयभीत होने से चिन्तन को दबाने का प्रयत्न आरम्भ हो जाएगा। यह नियम है कि दबा हुआ चिन्तन बार-बार होता रहता है, जो विश्राम में बाधक है। प्रत्येक चिन्तन कर्ता की तद्रूपता से ही जीवित रहता है। यदि चिन्तन से तादात्म्य न किया जाय तो बड़ी सुगमतापूर्वक चिन्तन अपने आप मिट जाता है। अतः विश्राम काल में होने वाले चिन्तन को सहयोग नहीं देना है और न उससे तद्रूप रहना है। वह बना रहे अथवा मिट जाय, इस भावना का भी नाश कर देना है, तभी व्यर्थ चिन्तन का अन्त होगा, जो विश्राम को सुरक्षित रखने में हेतु है। विश्राम-काल में जो चिन्तन होता है वह सुने हुए, जाने हुए, माने हुए एवं भुक्त-अभुक्त कामनाओं का प्रभाव अर्थात् स्मृति मात्र है। विश्राम-काल में ही उसका स्पष्ट बोध होता है। पर बेचारा साधक यह मान कर कि मुझमें बड़े ही दोष हैं उस चिन्तन को सजीव बना देता है और फिर स्वयं उसमें आबद्ध होकर अपने को उसके मिटाने में असमर्थ मान लेता है।

यह नियम है कि जिस चिन्तन के प्रति कर्तव्य का भाव नहीं रहता वह चिन्तन प्रकट होकर अपने

आप मिट जाता है, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार अचिन्तता के लिए ही चिन्तन प्रकट होता है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। आस्तिक दृष्टिकोण से अनन्त की अहैतुकी कृपा प्रकट हुए चिन्तन को स्वतः मिटा रही है। इस भावना के दृढ़ होते ही साधक के हृदय में एक अद्‌भुत उत्साह तथा सरसता जाग्रत होती है, जिससे नीरसता मिट जाती है। उसके मिटते ही व्यर्थ चिन्तन स्वतः नाश हो जाता है।

अध्यात्म दृष्टि से उत्पन्न हुआ चिन्तन इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव है, और कुछ नहीं। उससे तादात्म्य भाव अस्वीकार करते ही वह निर्जीव हो जाता है। भौतिक दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन भोगे हुए सुख-दुःख का प्रभाव है, और कुछ नहीं। फलासक्ति-रहित कर्तव्य निष्ठ होते ही वह अपने आप मिट जाता है।

सुख-दुःख में सद्भाव होने से उसमें जीवन-बुद्धि हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि सुख-दुःख के भोग का प्रभाव साधक के अहम्-भाव में अंकित हो जाता है। जब साधक अहम्-भाव को मिटाने का अथवा उसको शुद्ध करने का प्रयास करता है तब वह दबा हुआ प्रभाव प्रकट होता है। यदि साधक उस प्रभाव से भयभीत न हो तो वह प्रभाव अपने आप निर्जीव हो जाता है। चिन्तन का प्रकट होना अहम् की शुद्धि तथा उसके मिटाने की तैयारी की सूचना मात्र है। क्योंकि सुख-दुःख के उपयोग में ही साधन का निमार्ण है और उसके भोग में ही असाधन की उत्पत्ति है। मूक-सत्संग अहम् की शुद्धि तथा उसके गलाने का सर्वोत्कृष्ट उपाय है, क्योंकि किसी-न-किसी प्रयत्न के आधार पर ही बेचारा अहम्-भाव जीवन पाता है। मूक-सत्संग आरम्भ होते ही समस्त प्रयत्न शान्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से मूक-सत्संग के बिना अहम्-भाव का अन्त हो ही नहीं सकता। अतः प्रत्येक साधक को सब कुछ करने पर भी मूक-सत्संग को अपना लेना अनिवार्य है, क्योंकि बिना उसके अपनाए अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता सम्भव नहीं है, जो साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ है।

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रत्येक साधक को अपनी रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार जाने हुए असत् का त्याग कर सत् का

संग करना अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना साधन का निर्माण तथा असाधन की निवृत्ति सम्भव नहीं है। सत्संग के लिए प्रत्येक साधक को सर्वदा उद्यत रहना परम आवश्यक है, क्योंकि सत्संग ही एकमात्र वह उपाय है जिससे सभी निर्बलताएँ स्वतः मिट जाती हैं। सत्संग के समान और कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं है, क्योंकि सत्संग में ही समस्त साधन निहित हैं। अतः असत् के त्याग और सत् के संग के लिए अपना सर्वस्व निछावर करना प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है।

सत्संग की आवश्यकता

सत् की जिज्ञासा और असत् की कामनाओं का पुंज ही अहम्-भाव है। जब तक साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन में आबद्ध रहता है तब तक सत् की जिज्ञासा सर्वांश में जाग्रत नहीं होती। जिज्ञासा-जागृति के बिना न तो कामनाओं का नाश ही होता है और न जिज्ञासा की पूर्ति ही, क्योंकि कामनाओं का प्रलोभन साधक को देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में आबद्ध कर देता है। इसी कारण कामना-पूर्ति का कार्यक्रम सदैव भविष्य की आशा पर निर्भर रहता है। यद्यपि वर्तमान की उपयोगिता से ही भविष्य उज्ज्वल होता है, परन्तु साधक असावधानी के कारण वर्तमान का सदुपयोग न करके भविष्य के व्यर्थ चिन्तन में लगा रहता है, जो उसमें सार्थक चिन्तन को उदित नहीं होने देता। सार्थक चिन्तन के बिना व्यर्थ चिन्तन का नाश सम्भव नहीं है और व्यर्थ चिन्तन का नाश हुए बिना कोई भी साधक वर्तमान का सर्वांश में सदुपयोग नहीं कर सकता, जिसके किए बिना न तो प्राप्त परिस्थिति से असंगता ही प्राप्त होती है, न साधक अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से ही रहित होता है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में उसका प्रवेश होता है। परिस्थितियों के आश्रय के आधार पर ही अहम्-भाव जीवित है। अहम्-भाव के रहते हुए भेद का अन्त किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। उसके हुए बिना साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो ही नहीं सकता। यह निर्विवाद सत्य है।

कामना-पूर्ति के सुख ने कामना-आपूर्ति के दुःख को जन्म

दिया है और कामना-आपूर्ति के दुःख ने बेचारे प्राणी में सुख की दासता उत्पन्न कर दी है। इस दृष्टि से दुःख का भय तथा सुख की दासता ही अहम्-भाव को पुष्ट करती है। जिज्ञासा की जागृति सुख की दासता और दुःख के भय को सदा के लिए खा लेती है और फिर स्वयं जिसकी जिज्ञासा है उससे अभिन्न हो जाती है। जिज्ञासा से भिन्न जिज्ञासु का और कामनाओं से भिन्न कामी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व किसी ने अनुभव नहीं किया। इतना ही नहीं, कामना-काल में जिज्ञासु भाव और जिज्ञासा काल में कामी भाव की प्रतीति भी नहीं होती, अपितु जिज्ञासा -काल में जो जिज्ञासु है वही कामनाओं के रहते हुए कामी है। किसी एक में ही कामी-भाव तथा जिज्ञासु-भाव का आरोप है। जिसमें आरोप है कि उसका अस्तित्व क्या है? इसकी खोज करने के लिए ही सत्संग की आवश्यकता है। प्रत्येक कामना की उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के अन्त में जो जीवन है, क्या उस जीवन में कामी तथा जिज्ञासु-भाव है? कामना-उत्पत्ति से पूर्व किसी का भी क्या किसी वस्तु से सम्बन्ध रहता है? यदि रहता है तो किससे? क्या कोई ऐसी कामना हो सकती है कि जिसकी उत्पत्ति किसी वस्तु तथा स्वीकृति से तादात्म्य भाव स्वीकार किए बिना होती हो? कदापि नहीं। और कामना-उत्पत्ति के बिना क्या जिज्ञासा की आवश्यकता होती है? यदि नहीं होती तो क्या यह स्पष्ट सिद्ध नहीं हो जाता है कि कामी-भाव स्वीकार करने पर ही जिज्ञासु होना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से जिसमें जिज्ञासा तथा कामना उत्पन्न होती है उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पर यह रहस्य तभी खुलता है जब कामनाओं का अन्त कर जिज्ञासा की पूर्ति हो जाए।

कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है उसकी वास्तविकता का अनुभव तभी हो सकता है जब साधक कामना-आपूर्ति के दुःख, पूर्ति के सुख तथा निवृत्ति की शान्ति से असंग हो जाए।

सुख का प्रलोभन ही दुःख के भय को जन्म देता है। प्रलोभन तथा भय के आधार पर ही बेचारा अहम् जीवित है। यदि साधक असत् का त्याग कर सत् के संग द्वारा सुख के प्रलोभन से रहित हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दुःख का भय अपने

आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्वतः शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु उसमें रमण नहीं करना है, क्योंकि शान्ति के रमण में भी अहम्-भाव पुष्ट हो सकता है। सुख -दुःख की अपेक्षा शान्ति भले ही महत्व की वस्तु हो, किन्तु वास्तविक जीवन की उपलब्धि के लिए तो साधक का शान्ति में निवास वास्तव में विघ्न ही है। शान्ति में निवास न करने पर भी शान्ति का सुरक्षित रहना अनिवार्य है, क्योंकि वही सामर्थ्य और स्वाधीनता की प्रतीक है। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा-पूर्ति के लिए सत्संग अनिवार्य है।

अहम् का नाश तथा साधन-तत्व

अहम्-भाव के नाश होने पर ही साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो सकता है, क्योंकि समस्त भेद अहम् से ही उत्पन्न होते हैं, जिनके उत्पन्न होते ही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सभी विकार साधक के जीवन में अपने आप आ जाते हैं। इस दृष्टि से समस्त विकारों का मूल भी अहम् ही है। अहम्-रूपी बीज में ही विकार-रूपी वृक्ष विद्यमान है। प्राकृतिक नियमानुसार बीज के नाश में ही वृक्ष का नाश निहित है। अतः प्रत्येक साधक को निर्विकार जीवन के लिए अहम् का अन्त करना अनिवार्य है। प्रत्येक साधक अहम् का अन्त करने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, क्योंकि पराधीनता तथा असमर्थता उसी के लिए होती है जिसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता आदि की अपेक्षा हो। अहम् का अन्त करने के लिए किसी भी वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता की अपेक्षा नहीं है, अपितु सभी से विमुख होना है। वस्तु आदि से विमुख होते ही अहम् अपने आप मिटने लगता है, क्योंकि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है वह निराश्रय होते ही मिट जाता है। वस्तु, व्यक्ति आदि के आश्रय से ही बेचारा अहम् जीवित है। वस्तुओ के सदुपयोग से वस्तुओं का आश्रय और व्यक्तियों की सेवा से व्यक्तियों का सम्बन्ध शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर अहम् अपने आप मिट जाता है।

व्यक्तियों की सेवा में ही वस्तुओं का सदुपयोग निहित है। व्यक्तियों की सेवा वही साधक कर सकता है जो किसी का अनादर नहीं

करता, किसी का बुरा नहीं चाहता और न किसी की हानि ही जिसे अभीष्ट है। जो किसी का अनादर नहीं करता उसके सभी अशुद्ध संकल्प नाश हो जाते हैं। अशुद्ध संकल्पों के नाश में ही शुद्ध संकल्पों की पूर्ति निहित है। जो किसी का बुरा नहीं चाहता वह दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न हो जाता है। करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता उसमें नीरसता को खा लेती है। जो किसी को हानि नहीं पहुँचाता उसमें वस्तुओं की दासता नहीं रहती, जिसके मिटते ही निर्लोभता आ जाती है, जो दरिद्रता का अन्त करने में समर्थ है।

प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग द्वारा जब साधक व्यक्तियों की यथेष्ट सेवा करने लगता है और उसके बदले में किसी प्रकार के सुख की आशा नहीं रखता, यहाँ तक कि सेवक कहलाने की भी जिसमें कामना नहीं है, तब उसका किसी वस्तु से तथा व्यक्ति से सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि जो कुछ भी चाहता है उसी का वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध रहता है, जिसके रहते हुए न तो निर्विकारता ही प्राप्त होती है और न अहम् का ही नाश होता है। विकारों के रहते हुए पराधीनता का नाश सम्भव नहीं है। पराधीनता का नाश हुए बिना जड़ता का अभाव हो नहीं सकता। उसके हुए बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती। अहम् का नाश हुए बिना भेद का नाश नहीं होता और उसके हुए बिना अनन्त के प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। अतः वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य है।

सम्बन्ध-विच्छेद से किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की क्षति नहीं होती और न प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही बाधा होती है। इतना ही नहीं, मंगलमय विधान के अनुसार प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि और व्यक्तियों की सेवा में ही सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति निहित है। सम्बन्ध-विच्छेद बिना किए न तो प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग ही सम्भव है और न व्यक्तियों की सेवा। किसी भी वस्तु ने कभी किसी को अपना नहीं कहा, साधक भले ही उन्हें अपना माने। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु को अपना मानना उसको अपना मानना है, जो वास्तव में अपना नहीं है। व्यक्तियों को अपने अधिकार की रक्षा भले ही अभीष्ट हो, किन्तु जो

केवल अधिकार का अपहरण करता है अथवा रक्षा नहीं करता और अपना अधिकार ही माँगता है उसकी आवश्यकता न किसी व्यक्ति को होती है और न समाज को। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिन्हें साधक अपना साथी मानता है वे वास्तव में अपने अधिकार के इच्छुक हैं। अतः उनका अधिकार उन्हें देकर और अपने अधिकार का त्याग कर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी सम्बन्धियों की ममता से रहित हो सकता है।

जब साधक के जीवन में अधिकार की गंध भी नहीं रहती और सभी के अधिकार देकर उनसे क्षमा माँग लेता है तब उसका जीवन स्वाधीनता तथा प्रेम से पूर्ण हो जाता है, भेद तथा भिन्नता सदा के लिए मिट जाती है। अतः भौतिक दृष्टि से दूसरो के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार के त्याग में ही अहम् का नाश निहित है। अपने अधिकार का त्याग प्रेम है और दूसरों के अधिकार की रक्षा न्याय है। न्याय तथा प्रेम से युक्त जीवन अहम् और मम से रहित जीवन है। न्याय से निर्दोषता सुरक्षित रहती है और प्रेम से अगाध, अनन्त, नित-नव रस की वृद्धि होती रहती है।

निज विवेक के प्रकाश में अहम् की खोज करने पर भी अहम् का नाश हो जाता है, क्योंकि जिन वस्तुओं की प्रतीति होती है वे वस्तुएँ अहम् नहीं हो सकतीं और जिन साधन-असाधन रूप स्वीकृतियों को स्वीकार किया है वे भी अहम् नहीं हो सकतीं। साधनरूप स्वीकृति कर्तव्य की और असाधनरूप स्वीकृति अकर्तव्य की प्रतीक हो सकती है, अहम् नहीं। जब किसी भी वस्तु में अहम्-बुद्धि नहीं रहती तब स्वतः निर्दोषता आ जाती है और जब किसी भी स्वीकृति में अहम्-बुद्धि नहीं रहती तब सभी वासनाएँ अपने आप मिट जाती हैं। निर्दोषता तथा निर्वासना आते ही सभी भेद और भिन्नताएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही अहम् जैसी वस्तु शेष नहीं रहती। अतः अहम् की खोज में भी अहम् का नाश निहित है।

जब साधक अपनी असमर्थताओं से पीड़ित होकर अधीर होने लगता है तब स्वभाव से ही उसमें निर्भरता की अभिव्यक्ति होती है। निर्भरता अहम्-भाव को खाकर अनन्त से अभिन्न कर देती है। असमर्थता की वेदना में सर्व-समर्थ की पुकार स्वतः जाग्रत होती है। साधक भले ही जानबूझकर उसे न

पुकारता हो जो सर्व-समर्थ है अथवा उसके विश्वास में भी उसका अस्तित्व न हो तब भी यह नियम है कि असमर्थता की वेदना में सर्व-समर्थ की पुकार स्वतः रहती ही है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जो असमर्थता के रहते हुए चैन से नहीं रहते। असमर्थता रहते हुए चैन से रहना साधक को अनन्त से विमुख कर देता है, जो उसका अपना ही प्रमाद है। जिस असमर्थता में वेदना नहीं है वह असमर्थता निर्जीव है, अर्थात् आंशिक सामर्थ्य का सुख-भोग जीवित है। यद्यपि असमर्थता की अनुभूति सर्व-समर्थ से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कराने में साधन-रूप है, परन्तु आंशिक सामर्थ्य के अपव्यय अर्थात् सुख-दुःख के भोग ने सीमित अहम्-भाव को पुष्ट कर दिया है। सुख-दुःख का सदुपयोग साधन और उनका भोग असाधन है। असाधन का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सुख-दुःख का सदुपयोग करते ही साधक साधन होकर साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है अथवा यों कहो कि सुख में दुःख का दर्शन करने पर सुख-दुःख का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है,जिसके मिटते ही अहम् शेष नहीं रहता। अहम् के नाश में ही साधक साधन-तत्व से अभिन्न होता है और साधन-तत्व से अभिन्न होने ही में अहम् का नाश निहित है।

कर्तव्य परायणता, अहम् की खोज तथा सर्व-समर्थ की शरणागति अहम् के नाश में हेतु हैं। जगत् की सत्ता स्वीकार करने पर कर्तव्य परायणता को अपना लेना अनिवार्य है। शरीर विश्व के, व्यक्ति समाज के काम आ जाय, उसका अपना कोई अलग संकल्प न रह जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक अहम् का नाश हो सकता है, क्योंकि जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं है उसी की सभी को आवश्यकता है। जिसकी सभी को आवश्यकता है उसमें अहम् की गंध भी नहीं रहती, क्योंकि अहम् उसी समय तक जीवित है जब तक उसकी कोई अपनी आवश्यकता है, कारण कि आवश्यकता की शून्यता में ही अहम् का नाश निहित है।

अहम् की खोज किसी बाह्य तथा अन्तःकरण के द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि करण की अपेक्षा तो केवल कामना-पूर्ति में ही हेतु है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन रहते हुए अहम् की खोज सम्भव नहीं है। अतः अहम् की खोज वही साधक कर सकता है जो

कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन तो प्राणी को वस्तुओं तथा स्वीकृतियों में ही आबद्ध करता है। अहम् की खोज करने के लिए वस्तुओं से असंगता और स्वीकृतियों का त्याग अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना वासनाओं का अन्त सम्भव नहीं है। निर्वासना आते ही अहम् की खोज अहम् को खाकर स्वयं अनन्त से अभिन्न हो जाती है।

अब यह विचार करना है कि अहम् की खोज कब जाग्रत होती है। जब तक साधक इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर जगत् की सत्ता को स्वीकार करता है तब तक अहम् की खोज नहीं कर सकता। अहम् की खोज वही कर सकता है जो अविवेक-सिद्ध जगत् की प्रतीति को विवेकपूर्वक अस्वीकार करता है। आंशिक सामर्थ्य का सद्व्यय करने पर जब साधक में असमर्थता की असह्य वेदना उदित होती है तब सरल विश्वास-पूर्वक सर्व-समर्थ को स्वीकार कर साधक अपने को शरणागत कर अभय हो जाता है। क्योंकि शरणागत के सभी संकल्प तथा विश्वास एवं सम्बन्ध शरण्य के संकल्प, विश्वास एवं सम्बन्ध में विलीन हो जाते हैं, जिसके होते ही स्वतः अहम् नाश होकर शरण्य की प्रीति हो जाता है। यह नियम है कि प्रीति में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह प्रीति है, और प्रीति में ही उसका निवास है जिसकी वह प्रीति है अतः प्रीति और प्रीतम में लेशमात्र भी भेद तथा भिन्नता नहीं रहती। इस दृष्टि से शरणागति से भी अहम् का नाश तथा साधन-तत्व से अभिन्नता हो जाती है।

अहम् का नाश हुए बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण ही हो सकता है और न चिर-शान्ति ही मिल सकती है, अहम् के नाश में ही स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व की उपलब्धि निहित है और अहम् के नाश में ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है, जो प्रत्येक साधक को साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ है। साधक साधन-तत्व से अभिन्न होकर ही साध्य को रस देने का अधिकारी होता है, जो वास्तविक जीवन है। अतः प्रत्येक साधक के लिए साधन-तत्व से अभिन्न होना अनिवार्य है।

ॐ आनन्द। ॐ आनन्द। ॐ आनन्द॥

मानव की मांग

"मानव की मांग" में जन-हितकारी भाव से ओत-प्रोत सन्त-हृदय से उद्‌भूत ऐसा अनूठा प्रकाश एवं मार्ग-दर्शन मिलता है जिससे व्यक्ति अपने में ही निहित अपनी वास्तविक मांग को अनुभव कर शान्त और सन्तुलित हो सकता है। वास्तविक मांग ही वास्तविक सत्ता का प्रमाण है। उस मांग की जागृति से समस्त कामनाएं स्वत: मिट जाती हैं। निष्कामता-जनित शान्ति से जिस अलौकिकता का प्राकट्य होता है उससे सदा के लिये अभाव का अभाव हो जाता है| और वही जीवन की पूर्णता है।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग

(दिनांक 11 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

मानव-जीवन बड़े ही महत्व की वस्तु है। मानव में बीज-रूप से मानवता विद्यमान है, उसे किसी अप्राप्त योग्यता की आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्राप्त योग्यता के सदुपयोग की आवश्यकता है।

इस दृष्टिकोण को जब हम अपने सामने रखते हैं, तो हमारे जीवन में एक नवीन आशा का संचार होता है और निराशारूपी पिशाचिनी, जो जीवन के साथ है, भाग जाती है। जिस जीवन में हम अपनी कर्तव्य-परायणता से सुगमता-पूर्वक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके, उसी जीवन का नाम मानव-जीवन है। इस बात की कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये कि हमारी साधन-सामग्री कैसी है, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी परिस्थितियों में साधन का निर्माण हो सकता है। हमें तो केवल यह देखना चाहिये कि हम अपनी प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक कितना सदुपयोग करते हैं। परिस्थितियों का सदुपयोग ही वास्तव में जीवन का आदर है।

आदर का अर्थ ममता अथवा मोह नहीं है। आदर का अर्थ है-परिस्थितियों को प्राकृतिक न्याय मानना या आस्तिक दृष्टि से अपने परम प्रेमास्पद का आदेश तथा सन्देश जानना। यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि प्राकृतिक न्याय में प्राणी का हित तथा उन्नति ही निहित है, अवनति नहीं। इसलिए प्रत्येक परिस्थिति का आदर करना ही उचित है। हमारे और आपके सामने इस समय सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि हमारी बहुत-सी शक्ति अप्राप्त परिस्थिति के आह्वान तथा चिन्तन में ही वृथा व्यय हो जाती है, जिससे हम प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नही कर पाते। अतः अप्राप्त परिस्थिति का व्यर्थ-चिन्तन त्यागकर शक्ति संचय करे और उसके द्वारा वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर डाले। यह नियम है कि वर्तमान के सदुपयोग से ही भविष्य उज्ज्वल बनता है, व्यर्थ-चिन्तन से नहीं।

परिस्थिति का सदुपयोग कर्म से होता है। परिस्थितियों के चिन्तन से तो उनमें आसक्ति ही उत्पन्न होती है। अत: परिस्थितियों का चिन्तन कोई साधन नहीं, अपितु अनेक दोषों की उत्पति का हेतु है।

कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से होता है और चिन्तन का भूत और भविष्य से केवल उसी का करना है जिसकी उपलब्धि कर्म से न हो।अपने कर्तव्य द्वारा परिस्थितियों का सदुपयोग न करने अवस्थाओं में और वस्तुओं मे आसक्ति दृढ़ हो जाती निर्माण नहीं होने देती। हमारा वास्तविक जीवन सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत है। किस जीवन से देश-काल की दूरी नहीं है।

हम निज-ज्ञान का अनादर करके अपने उस निज-जीवन से विमुख हो गये हैं। यह विमुखता प्रमादमात्र है और न जानने की दूरी उत्पन्न करती है। यह रहस्य जान लेने पर हम परिस्थितियों से असंग होकर अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाते हैं, अथवा यों कहिये कि सभी परिस्थितियों से विमुख होकर अपने लक्ष्य के सम्मुख हो जाते हैं। परिस्थितियों के सदुपयोग अथवा उनसे विमुख होने में सब भाई-बहन सर्वदा स्वतन्त्र है।कारण कि परिस्थितियो की आसक्ति केवल अविचार-सिद्ध है,जो निज-ज्ञान का आदर करने से स्वतः मिट जाती है और हम सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते है।

साधनरूप जीवन ही मानवता है, जो सब भाई-बहिनों में बीजरूप से विद्यमान है और जिसे प्राप्त विवेक के प्रकाश में विकसित करना है। कारण कि, विवेक का प्रकाश हमारे दोषों को मिटाने में समर्थ है। ज्यों-ज्यों हम अपने बनाये हुए दोषों को मिटाते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारा जीवन साधन-युक्त होता जाता है। अपने बनाये हुए सभी दोष मिट जाने पर समग्र जीवन ही साधन बन जाता है और साधन जीवन का केवल एक अंग मात्र नहीं रहता, अर्थात् जाग्रत अवस्था से सुषुप्तिपर्यन्त और जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रत्येक प्रवृत्ति साधन बन जाती है और यही मानव जीवन है। जीवन इस प्रकार का हो जाने पर प्रत्येक साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो जाता है।

सिद्धांत रूप से देखा जाय तो साधन-तत्व साध्य का स्वभाव ही

है। साध्य से साधन-तत्व को पृथक् नहीं किया जा सकता। साधन-तत्व ही साधक का अस्तित्व है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक की साध्य से जाति और स्वरूप की एकता है और भिन्नता तो केवल मानी हुह है, जो अवस्था और परिस्थितियों की आसक्ति से उत्पन्न हो गई है। उसे मिटाने में और जिससे जाति तथा स्वरूप की एकता है उसे प्राप्त करने में साधक सर्वदा स्वतन्त्र है। अत: मानव को 'मानव' होने से निराश होने का कोई कारण नहीं है।

साधारणतया हम बुद्धि और विवेक को एक मान लेते हैं, परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि तो एक प्राकृतिक यन्त्र के समान है और विवेक प्रकृति से अतीत अर्थात् अलौकिक तत्व है। जैसे, विद्युत एक शक्ति है और उसका प्रकाश सर्वसाधारण को बल्ब आदि के साधनों द्वारा प्रतीत होता है; विज्ञान का ज्ञाता ही इस बात को जानता है कि प्रकाश बल्ब का नहीं, विद्युत का है। इसी प्रकार साधारण प्राणी अलौकिक विवेक को बुद्धि गुण मानता है; किन्तु तत्वदर्शी बुद्ध को विवेक का प्रकाश-मात्र मानता है।

विवेक अपरिवर्तनशील और बुद्धि परिवर्तनशील है। बुद्धि प्रकृति का कार्य है और विवेक प्रकृति से परे की अलौकिक विभूति है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से ही दीपक और विद्युत् का प्रकाश प्रकाशित होता है, उसी प्रकार अलौकिक विवेक के प्रकाश से ही बुद्धि और इन्द्रियों का ज्ञान प्रकाशित होता है। जब प्राणी अलौकिक विवेक के प्रकाश से अपनी बुद्धि को शुद्ध कर लेता है, तब शुद्ध बुद्धि मन को निर्मल कर देती है। और, मन की निर्मलता इन्द्रियों के व्यापार में शुद्धता का संचार कर देती है। इन्द्रियों के शुद्ध व्यापार से ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है और सच्चरित्रता से समाज सुन्दर बनता है। अत: यह सिद्ध हुआ कि विवेक का आदर करने में ही सुन्दर समाज के निर्माण की सामर्थ्य निहित है और अपना कल्याण भी विवेक के आदर से ही सम्भव है।

इसके विपरीत जब प्राणी निज-विवेक का अनादर करता है, तब इन्द्रियों के ज्ञान को ही पूरा ज्ञान मान बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है। इन्द्रियों के ज्ञान को सही ज्ञान मान

लेने पर राग उत्पन्न होता है। राग से भोग में प्रवृत्ति होती है, जो प्राणी में स्वार्थ-भाव दृढ़ कर देती है। स्वार्थ-भाव दृढ़ होते ही असीम प्यार मिट जाता है, जिसके मिटते ही देहाभिमान पुष्ट हो जाता है। देहाभिमान पुष्ट हो जाने पर भिन्न-भिन्न प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं जो प्राणी को पराधीनता, जड़ता और शोक में आबद्ध कर देती हैं।

जब प्राणी इन्द्रियों के ज्ञान को ही पूरा ज्ञान नहीं मानता, तब बुद्धि के ज्ञान का आदर करने लगता है। बुद्धि का ज्ञान वस्तु, अवस्था और परिस्थितियों की नित्यता को खा लेता है और उनमें सतत् परिवर्तन के दर्शन कराता है, जिससे राग वैराग्य में बदलने लगता है और भोग योग में बदल जाता है। योग हमें जड़ता से चिन्मयता और पराधीन से स्वाधीनता एवम् अनित्य से नित्य की ओर प्रेरित कर देता है, अर्थात् विषयों से विमुख होकर इन्द्रियाँ मन में और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। मन के विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बस, यही योग है। इसके दृढ़ होने पर जो बुद्धि से परे अलौकिक विवेक है उससे अभिन्नता हो जाती है और अविवेक सदा के लिये मिट जाता है। विवेक से अभिन्न होते ही अमर जीवन की प्राप्ति होती हैं, जो मानव की माँग है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक विवेक के आदर से ही हम अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं, जो मानवता है।

यह मानवता हमें सुख-दु:ख का सदुपयोग करने के लिये मिली है, इनके उपभोग-मात्र के लिये नहीं। यदि प्राकृतिक नियमानुसार विचार किया जाय, तो सुख-दु:ख का उपभोग तो मानव-जीवन के अतिरिक्त अन्य योनियो में भी किया जा सकता है। सुख-दु:ख का सदुपयोग करने पर मानव सुख-दु:ख से अतीत जो अनन्त चिन्मय जीवन है, उससे अभिन्न हो सकता है। सुख का सदुपयोग उदारता और दु:ख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता आ जाने पर हृदय पराये दु:ख से भर जाता है और फिर मानव करुणित होकर प्राप्त सुख को दुखियों को समर्पित कर देता है। करुण रस ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों सुख की आसक्ति स्वतः

गलती जाती है। सुखासक्ति गल जाने पर भोग वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं।

भोग-वासना मिटते ही तत्व जिज्ञासा स्वत जागृत् होती है, जो स्वतः पूर्ण हो जाती है। कारण कि, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति के लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है, केवल उसकी आवश्यकता की जागृति ही उसकी प्राप्ति का उपाय है। अर्थात् उसके लिए कोई कर्म-अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है। जिसके लिए किसी कर्म विशेष की अपेक्षा नहीं होती, उसके लिए किसी वस्तु, अवस्था, व्यक्ति अथवा परिस्थिति-विशेष की आवश्यकता नहीं होती। परिस्थितियों की आवश्यकता तो सुख-दुःख के भोगने के लिये ही होती है। यह अवश्य है कि परिस्थितियों से असंग होने के लिये प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है। आस्तिक परिस्थितियों का सदुपयोग अपने प्रभु के नाते करता है, अध्यात्मवादी सर्वात्म-भाव से करता है और भौतिकवादी विश्व के नाते करता है।

यह नियम है कि जो प्रवृत्ति जिस सद्भावना से प्रेरित होकर की जाती है उस प्रवृत्ति का कर्ता उसी भावना में विलीन हो जाता है। अतः प्रभु के नाते की हुई प्रवृत्ति जीवन को प्रभु के प्रेम से भर देती है सर्वात्म भाव से की हुई प्रवृत्ति आत्मरति उत्पन्न कर देती है और विश्व के नाते की हुई प्रवृत्ति विश्व के प्यार से भर देती है। प्रेम, रति तथा प्यार में यह सामर्थ्य है कि वे किसी प्रकार का स्वार्थ-भाव तथा भोग-वासना शेष नहीं रहने देते। यह प्रत्येक भाई-बहन का अनुभव है कि स्वार्थ-भाव तथा भोग-वासना के बिना किसी भी दोष की उत्पति नहीं हो सकती, अर्थात जीवन निर्दोषता से परिपूर्ण हो जाता है। यह भी नियम है कि पुनरावृति न होने पर सभी दोष स्वतः मिट जाता है, क्योंकि दोषों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, किसी गुण के अभिमान पर ही वे जीवित रहते है। निर्दोषता दोषों को उत्पन्न नहीं होने देती और गुणों के अभिमान को भी खा लेती है, यह उसका स्वाभाव ही है। गुणों को अपनाने के पश्चात् पुनः बलपूर्वक दोषों को दबाता में गुणों की स्थापना करता है।

यह नियम है कि कर्तृत्व भाव से जिसकी स्थापना की जाती है,

स्वाभाविक नहीं होती और जो स्वाभाविक नहीं है उसको अभिमान के जीवित रखना पड़ता है। अभिमान भेद उत्पन्न करता है और भेद सीमित कर देता है। सीमित प्रीति दोषों को जीवित रखती है। निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जब तक हमारे जीवन में कोई भी अभिमान के साथ रहता है, क्योंकि गुण को, जो स्वाभाविक अपनी स्थापित की हुई वस्तु मान लिया गया है। जैसे मिथ्या सभी सत्य बोलते थे, किसी ने आरम्भ से ही मिथ्या नहीं बोला का स्वभाव तो निज-विवेक का अनादार करके उत्पन्न किया था।

दोष उसे नहीं कहते जो बिना जाने किया जाए। किये हुए दोषों को दबाने के लिये जो प्रयास है, वही गुण का अभिमान है। विवेकपूर्वक दोष त्याग ही की हुई भूल का प्रायश्चित है, गुण का अभिमान नहीं। जब हमने मिथ्या बोलकर मिथ्या बोलने को न दोहरने का प्रायश्चित किया, तो फिर 'मैं सत्यवादी हूँ। ऐसे अभिमान के लिए कोई स्थान ही नहीं है। परन्तु हम अभिमान कर बैठे जिसने सत्यवादी तो बना दिया, परन्तु भेद उत्पन्न करके नये दोषो की उपत्ति कर दी। यदि आज हमारे जीवन में अभिमान न रहे, तो हम-भेद को न अपनाएँ, जो वास्तव में अमानवता है। मानवता प्रीति भेद को समाप्त कर बाह्य और अन्तर के संघर्ष को भी खा लेती है।

अब रही बात दु:ख के सदुपयोग की। दु:ख का सदुपयोग विरक्ति है। विरक्ति का अर्थ रूठकर अकेले बैठ जाना नहीं है, और न केवल अनिकेत (गृहहीन) हो जाना और न नंगा हो जाना है। यह सब तो विरक्त का बाह्य श्रृंगार-मात्र है। विरक्ति का वास्तविक अर्थ है, इन्द्रियों के विषयों से अरुचि अर्थात् भोग की अपेक्षा भोक्ता का मूल्य बढ़ा लेना। भोक्ता भोग के बिना भी सहर्ष रह सके,यही उसका मूल्य बढ जाना है। अब प्रश्न यह है कि भोग भोक्ता को प्रकाशित करता है या भोक्ता भोग को? यह तो मानना ही होगा कि भोक्ता जिस भोग को अपना कहता है, उस भोग ने भोक्ता को कभी अपना नहीं कहा,और न भोक्ता कि सत्ता के बिना भोग प्रकाशित करता है। जैसे, देखने कि रूचि ही नेत्र तथा रूप को प्रकाशित करती है।नेत्र में देखने कि क्रिया है,देखने कि रूचि

नहीं।देखने कि रूचि तो उसमे है जो नेत्र को अपना मानता है अथवा यों कहो कि,जो उसके अभिमान को स्वीकार करता है।

यदि भोक्ता भोग की रुचि का त्याग कर दे, तो सभी भोगों और भोग के साधनों का कोई महत्व नहीं रह जाता। इतना हीं नहीं, सत्ता को त्यागकर भोक्ता में विलीन हो जाते हैं। फिर जो भोग का प्रकाशक था, उसी की सत्ता शेष रह जाती है। भोग और भोगने के साधनों के साधनों का अस्तित्व नहीं रहता और न किसी प्रकार की विषमता शेष रहती है। उसके मिटते ही चिर–शक्ति तथा स्थायी प्रसन्नता आ जाती है, जो दुःख को खाकर अनन्त चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सुख-दुःख का सदुपयोग मानवता है, जो हमें सुख-दुःख से मुक्त करने में समर्थ है।

मानव-जीवन सुख-दुःख का भोग करने मात्र के लिए नहीं मिला है, अपितु उनके बन्धन से मुक्त होने के लिए मिला है। सुख दुःख भोगने का अवसर तो मानव से अतिरिक्त अन्य योनियों मे भी होता है। परन्तु, उन योनियों में सुख-दुःख से ऊपर उठने की योग्यता नहीं है। कारण कि, उन योनियों में विवेक का प्रकाश मानव के समान नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार जिन योनियों में विवेक की कमी है, अर्थात् विवेक सुषुप्तवत् है, उन योनियों में सुख-दुःख भोगने की मर्यादा भी स्वतः सिद्ध है। जैसे, पशु यदि भूखा हो और उसका खाद्य पदार्थ उसके निकट हो, तो वह अपने को रोक नहीं सकता, परन्तु साथ ही बची हुई खुराक का संग्रह भी नहीं कर सकता।

मानव भले ही अपनी गाय के लिए चारा संग्रह करे, परन्तु बेचारी गाय अपने लिए चारा संग्रह नहीं कर सकती। मानव भूखा हो और अनुकूल भोजन भी प्राप्त हो, परन्तु भोजन करना यदि उसकी मर्यादा के प्रतिकूल हो, तो वह भूखा रह जायगा। किन्तु कभी स्वाद अथवा आदर की आसक्ति से प्रेरित होकर वह बिना भूख भी खा लेता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मानव वह भी कर लेता है जो उसे करना चाहिये, और प्रमादवश वह भी कर बैठता है जो उसे नहीं करना चाहिये।अपौरुषेय विधान में मानव को ऐसी स्वाधीनता क्यों मिली?

पशुओं की भाँति वह पराधीन क्यों नहीं बनाया गया? इसका प्रधान कारण यह है कि मानव को उस विधान में विवेक मिला है। जिस उदार ने विवेक प्रदान किया, उसने मानव की ईमानदारी पर विश्वास किया कि वह उसका आदर अवश्य करेगा। तो क्या हमें अपने उस दाता के प्रति विश्वासघाती होकर विवेक का अनादर करना चाहिये? विवेक के अनादर से ही हम वह कर बैठते हैं जो हमें नहीं करना चाहिये।

वास्तव में जो नहीं करना चाहिये उसे करने का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिये वह न करने से जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो नहीं करना चाहिए उसका न करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है और उसी का नाम मानवता है।

विवेक-शून्य सदाचार वृक्षों में भी है, परन्तु उन्हें मानवता नहीं मिलती, क्योंकि वे बेचारे जड़ता के दोष में आबद्ध हैं। संग्रह-रहित बहुत-से पशु भी होते हैं, परन्तु उन बेचारों को कोई साम्यवादी या परमहंस नहीं कहता। पराये बनाये घर में बहुत-से पशु रह जाते हैं, पर उन्हें कोई विरक्त नहीं कहता। इससे यह सिद्ध हुआ कि विवेक-पूर्वक उदारता एवं त्याग से ही मानव 'मानव' होता है। अवस्था, कर्म, परिस्थिति, भाषा, वेष, मत, विचारधारा, दल, सम्प्रदाय आदि विविध भेद होते हुए भी मानवता हमें स्नेह की एकता की प्रेरणा देती है।

स्नेह की एकता संघर्ष उत्पन्न नहीं होने देती। संघर्ष का अभाव मानव को स्वभावत :प्रिय है, क्योंकि संघर्ष से किसी-न किसी का विनाश होता है। अपना विनाश किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। कारण कि, प्राकृतिक नियमानुसार जिस विकास का जन्म किसी के विनाश से होता है, उसका विनाश स्वयं हो जाता है। अत :मानवता हमें उस विकास की ओर प्रेरित नहीं करती, जिसका जन्म किसी के विनाश से हो। यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि मानवता भौतिकवाद की दृष्टि से प्राकृतिक, आस्तिकवाद की दृष्टि से अपौरुषेय विधान और अध्यात्मवाद की दृष्टि से अपना ही स्वरूप तथा स्वाभाव हैं आए मानवता का त्याग किसी भी मानव को करना उचित नहीं है।

स्नेह की एकता आ जाने पर प्रेमी को प्रेमास्पद, योगी को योग, जिज्ञासु को तत्वज्ञान और भौतिकवादी को वास्तविक साम्य एवं चिर-शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। स्नेह की एकता स्वार्थ को खा लेती है। उसके मिटते ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है, जिसके होने से सच्चा साम्य एवं शान्ति आ जाती है। स्नेह की एकता किसी भी प्रकार का भेद शेष नहीं रहने देती। भेद के गलते ही अहंभाव मिट जाता है और स्वतः तत्व-ज्ञान हो जाता हैं। स्नेह सब कुछ खाकर केवल प्रेम को ही शेष रखता है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में स्वतः समर्थ है।

मानवता हमें सभी मतों एवं सिद्धान्तों के द्वारा वास्तविक अभीष्ट तक पहुँचा देती है। अत: सब भाई-बहनों को मानवता प्राप्त करने के लिये निज-विवेक के प्रकाश में अपनी योग्यता के अनुसार साधन-निर्माण करने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। यह नियम है कि अपनी योग्यातानुसार साधन-निर्माण करने से सिद्धि अवश्य होती है।

॥ॐ॥

सुन्दर समाज का निर्माण

(दिनांक 12 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल आपकी सेवा में निवेदन किया था कि साधनयुक्त जीवन मानव-जीवन है। इस दृष्टि से हम सब साधक हैं और जो परिस्थिति हमें प्राप्त है, वह सब साधन-सामग्री है। इस साधन-सामग्री का उपयोग करना साधना है।

इस साधना के दो मुख्य अंग हैं-एक तो वह साधन कि जिससे अपना कल्याण हो और दूसरा वह जिससे सुन्दर समाज का निर्माण हो। अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण, यह मानव-जीवन की वास्तविक माँग है। जो लोग इन दोनों विभागों को जीवन की माँग नहीं मानते, वे वास्तव में विवेक दृष्टि से मानवता को नहीं जानते हैं। मानव-जीवन एक ऐसा महत्वपूर्ण जीवन है कि जिसको पाकर प्राणी सुगमतापूर्वक अपने अभीष्ट लक्ष्य को

प्राप्त कर लेता है। कारण कि, मानव-जीवन में ऐसी कोई प्रवृत्ति, अवस्था एवं परिस्थिति नहीं है जो साधन-रूप न हो, अर्थात् यह जीवन साधन-सामग्री से परिपूर्ण है।

अब विचार यह करना है कि अपने कल्याण का अर्थ क्या है और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है? अपने कल्याण का अर्थ है-अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता न रहे और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ है कि जिस समाज में एक-दूसरे के अधिकारों का अपहरण न होता हो। कुछ लोग सुन्दर समाज का अर्थ मानते हैं-सुन्दर-सुन्दर मकानों का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर सड़कों का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर बगीचों का निर्माण। ये सब तो बाह्य चीजे हैं।

वास्तव में सुन्दर समाज की कसौटी यह है कि जिस समाज में किसी के अधिकारों का अपहरण न होता हो। यदि किसी भाई-बहन से पूछा जाय कि तुम अपनी समझ से किस घर को सुन्दर कहते हो? तो वे कहेगे कि जिस घर में ऐसा कोई व्यक्ति न हो, जिसके अधिकार सुरक्षित न हों। उस घर को सभी लोग अच्छा घर मानेगे, जहाँ कि वृद्धजन बालकों के अधिकारों को सुरक्षित रखते हों, भाई-बहन के अधिकार को सुरक्षित रखता हो। ऐसे ही पति पत्नी के अधिकार को सुरक्षित रखता हो और पत्नी पति के अधिकार को सुरक्षित रखती हो। वैसे ही समाज में मित्र-मित्र के और पड़ोसी-पड़ोसी के अधिकार को सुरक्षित रखता हो।

यानी जितने भी सम्बन्ध हैं, उनमें यदि एक-दूसरे के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, तो उस घर को, उस समाज को सुन्दर कहेगे। तो सुन्दर समाज की पहचान यह हुई कि जहाँ किसी के अधिकार का हनन न होता हो। कोई कहते हैं कि सर्वांश में समानता ही सुन्दर समाज का प्रतीक है। इस पर आप विचार करे, तो स्पष्ट हो जायगा कि समानता का यह अर्थ नहीं हो सकता कि हमारी सबकी परिस्थतियाँ एक हो जाएँ अथवा अवस्था एक हो जाय।

गम्भीरता से सोचिये, यदि समानता का अर्थ परिस्थितियों की एकता हो, तो समान परिस्थितियों में गति रुक जाती है। जैसे कल्पना करो, नेत्र और पैर में समानता हो जाय, नेत्र और पैर दोनों चलने लगे अथवा देखने

लगे तो गति होगी क्या? लेकिन नेत्रों में देखने की योग्यता है और पैरों चलने की। दोनों में कर्म, गुण और आकृति की भिन्नता होते हुए भी प्रीति एकता है, तभी गति सुचारु रूप से होती है।

इस दृष्टिकोण से मानना होगा कि परिस्थिति तथा अवस्था की समानता के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण नहीं हो सकता। गहराई से विचारिये तो परिस्थितियों की एकता प्राकृतिक नियम के सर्वथा प्रतिकूल है। परिस्थिति और गुणों की विभिन्नता होते हुए भी लक्ष्य और प्रीति की एकता होने से ही सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव है। समान अवस्था सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में है, परन्तु उसमें जड़तायुक्त शान्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यवहार की सिद्धि नहीं होती। जागृति और स्वप्न में कभी समान अवस्था नहीं हो सकती और इसी विषमता से व्यवहार सिद्ध होता है। यह प्रत्येक मानव का दैनिक अनुभव है। परन्तु परिस्थिति और अवस्था की विषमता में भी एक-दूसरे के अधिकार की यदि रक्षा हो जाय, तो वहाँ विषमता में भी समानता ही मानी जायगी और परस्पर संघर्ष नहीं होगा।

कल्पना करो, एक रोगी है और एक डॉक्टर। यदि दोनों की अवस्था एक हो जाय और फिर चिकित्सा हो, तो क्या यह समानता मानी जायगी? किन्तु रोगी तो डॉक्टर की आज्ञा माने और डॉक्टर रोग का निदान एवं चिकित्सा करे तथा दोनों में स्नेह की एकता हो, तभी सुन्दरता आयेगी। हम तो आजकल समानता का यह अर्थ करने लगे हैं कि हम सब की परिस्थितियाँ एक हो जाय, परन्तु यह मानवता और प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध है। ऐसी समानता न कभी हुई और न कभी होगी। हाँ, एक बात अवश्य है कि जहाँ दो आवश्यकताएँ एकत्र होती है, वहीं समाज बनता है, केवल एक आवश्यकता से समाज नहीं बनता।

जैसे जहाँ विद्यार्थी हों, पर विद्वान न हों, विद्वान हों पर विद्यार्थी न हों, महिला हो किन्तु पुरुष न हो, पुरुष हो किन्तु महिला न हो, महाजन हो किन्तु मजदूर न हों, मजदूर हों किन्तु महाजन न हों, वहाँ समाज नहीं बन सकेगा। समाज वहीं बनेगा जहाँ महिलायें और पुरुष दोनों हों, विद्यार्थी और विद्वान दोनो हो, महाजन और मजदूर दोनो हो।

हम सुन्दर समाज उसे कहेगे जहाँ महाजनों के द्वारा मजदूरों के अधिकार सुरक्षित हों और मजदूरों के द्वारा महाजनों के अधिकार सुरक्षित हों, विद्वानों के अधिकार विद्यार्थियों द्वारा सुरक्षित हों, रोगी के अधिकार डॉक्टर द्वारा सुरक्षित हों, डॉक्टर के अधिकार रोगी द्वारा सुरक्षित हों आदि। जहाँ एक से अधिक वर्ग होते है वहीं समाज होता है। जहाँ एक वर्ग होता है वहाँ समाज नहीं होगा। केवल मजदूरों से समाज नहीं बनेगा, केवल महिलाओं से उसी का नाम समाज समझना चाहिए। जब तक किसी एक की आवश्यकता किसी दूसरे की आवश्यकता की पूरक न हो, तब तक समाज की स्थापना ही सिद्ध नहीं होती।

आज हम स्वरूप से एकता करने की जो कल्पना करते हैं वह विवेक की दृष्टि से अपनों को धोखा देना है अथवा भोली-भाली जनता को बहकाना अथवा उसे कहेंगे जिसमें सब कमरे अपने-अपने कार्य के लिए उपयुक्त हों? जैसे शौचालय अपने स्थान पर ठीक हो, रसोईघर अपने स्थान पर ठीक हो, बैठने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो, सोने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो, कार्य करने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो। सब कमरे अपने-अपने स्थान पर ठीक हों, तो उन्हीं के समूह को आप सुन्दर मकान अपने-अपने स्थान पर सही और स्वस्थ हो। सुन्दर समाज उसे कहेंगे, जिसका प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्थान पर सही हो, ठीक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि सुन्दरता का अर्थ अनेक विभिन्नताओं का अपने-अपने स्थान पर यथेष्ट होना है।

अब विचार यह करना है कि जब हमें अपने अधिकार प्रिय हैं, तो हमारे अधिकार क्या होगे? हमारे अधिकार वही होंगे, जो हमारे साथियों के कर्तव्य हैं। और हमारे साथियों के अधिकार वे हैं, जो हमारे कर्तव्य हैं। हमारे अधिकार तभी सुरक्षित रह सकते है, जब हमारे साथी कर्तव्य-परायण हो; और हमारे साथियों के अधिकार तभी सुरक्षित होगे जब हम कर्तव्यनिष्ठा हो हमारी कर्तव्यनिष्ठा ही हमारे साथियों में कर्तव्य परायणता उत्पन्न करेगी; क्योंकि, जिसके अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं, उसके हृदय में हमारे प्रति प्रीति स्वतः उत्पन्न हो जाती है, जो उसे कर्तव्य-

परायण होने के लिए विवश कर देती है।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारी कर्तव्यनिष्ठा ही हमारे अधिकारों को सुरक्षित रखने में समर्थ है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि अधिकार कर्तव्य का दास है। हम अपने अधिकार की रक्षा में भले ही परतन्त्र हों, परन्तु इस बात में सर्वदा स्वतन्त्र हैं कि अपने साथियों के अधिकारों की रक्षा करें। इसमें कोई पराधीन नहीं है। तो आप विचार करें कि सुन्दरता समाज में कब आयेगी? जब व्यक्ति में सुन्दरता हो तब आयेगी या समाज में सुन्दरता हो तब व्यक्ति में सुन्दरता आयेगी?

इस दृष्टिकोण को सामने रखकर आप सोचे कि अपने को सुन्दर बनाने में हम पराधीन नहीं हैं। हमारा साथी सुन्दर हो, इसमें हम भले ही पराधीन हों। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब हम स्वयं सुन्दर होने में स्वतन्त्र हैं, तो यह क्यों सोचे कि पहले हमारा साथी निर्दोष तथा सुन्दर हो? प्रत्येक भाई-बहन को यह सोच लेना चाहिए कि हम सुन्दर होने में स्वाधीन हैं और हमारे साथी को हमारी सुन्दरता की आवश्यकता भी है। तो हम पहले स्वयं ही सुन्दर बनेगे। हमारी सुन्दरता स्वयं हमारे साथियों को सुन्दर बनाने में समर्थ होगी। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प से स्वयं सुगन्ध फैलती है, उसी प्रकार सुन्दर जीवन से समाज में सुन्दरता फैलती है।

सुन्दर जीवन की कसौटी यही है कि वह प्रीति से परिपूर्ण हो। प्रीति-युक्त जीवन ही सुन्दर जीवन है। ऐसे जीवन से ही प्रीति का प्रसार स्वयं होता है। प्रीति सीखने-सिखाने के लिए किसी पाठशाला की अपेक्षा नहीं है। व्यक्ति की कर्तव्य-निष्ठा ही समाज में प्रीति का प्रसार करती है। यह सभी का अनुभव है कि, परस्पर प्रीति का संचार होने पर संघर्ष स्वतः मिटने लगता है और संघर्ष मिटने पर एक अनुपम सन्तोष तथा एकता का उदय होता है। असन्तोष का मूल परस्पर का संघर्ष है। संघर्ष का जन्म प्रीति के अभाव में होता है और प्रीति का अभाव तब होता है, जब हम कर्तव्य-निष्ठ न रहकर अपने साथी के अधिकार का अपहरण करते हैं। यह बात निर्विवाद है कि हमारे और समाज के बीच में अथवा एक-दूसरे वर्ग के बीच में प्रीति के अभाव में ही संघर्ष होता है। अत: हमको

कर्तव्यपरायणता से ही संघर्ष का अन्त करना है। उसके बिना सरकारी कानून का आधार लेना अमानवता है। जो सुन्दर समाज का स्वप्न कानून के बल पर देखना चाहते हैं, वे यह सोचते हैं कि जब हमारी सरकार सुन्दर बन जाएगी या हम सरकार बन जायेगे, तब हग सुन्दर समाज का निर्माण कर लेंगे। यह अपने को तथा समाज को धोखा देने वाली बात है।

जो कार्य केवल मानवता से ही हो सकता है उसे कानून द्वारा पूरा करने का प्रयत्न केवल अपनी किसी अन्तर में छिपी हुई वासना की पूर्ति का प्रयास ही मानना चाहिये। हमारा समाज तभी सुन्दर होगा, जब हम कर्तव्य-परायण होंगे। जब हर एक भाई-बहन यह सोचने लगे कि चाहे हमारे अधिकार सुरक्षित हों या न हों, हमें तो अपने कर्तव्य-पालन द्वारा अपने समाज के अधिकारों की रक्षा करनी है। प्रत्येक बहन सोचे कि चाहे हमारा भाई आदर्श हो या न हो, हमें तो आदर्श बहन होना ही चाहिए। प्रत्येक पत्नी सोचे कि पति आदर्श हो या न हो, हमें तो आदर्श पत्नी होना ही चाहिए। प्रत्येक पति यह पत्नी चाहे कर्कशा या कुरूपा क्यों न हो, हमें उसके अधिकारों का अपहरण नहीं करना है। ऐसे सुन्दर भाव यदि हर एक भाई-बहन के मन में आजायें, तो आप देखेंगे कि आपको सरकार की भी आवश्यकता न होगी।

सुन्दर समाज का असली दृश्य क्या है? जहाँ किसी विधान की आवश्यकतान हो,जहाँ बल के द्वारा किसी को बात मनवाने कि आवश्यकता न हो। मुझसे कई मिलने वाले लोग कहते है कि अमुक देश बड़ा ही सुन्दर है,तो मै पूछता हूँ कि क्या उस देश में पुलिस है? क्या उस देश में फ़ौज रखते है? क्या उस देश में सी० आई० डी० है? क्या उस देश में न्यायालय है? जब वे कहते है कि ये सब है। तो मै कहता हूँ कि वहाँ जितना सुन्दर समाज होना चाहिए उतना नहीं है। चाहे वह देश अन्य देशो से अधिक सुन्दर भले ही हो। आप विचार करे कि जिस जिस शहर में ताला लगाना पड़ता है, क्या उसे सुन्दर शहर कहेंगे? शहर में सुन्दर-सुन्दर सड़के हों, सुन्दर-सुन्दर बगीचे हों, रहने के लिये सुन्दर बंगले हों, परन्तु जहाँ रहने वाले सुरक्षित न हों, तो क्या उसे सुन्दर शहर कहेंगे? कभी नहीं। जहाँ दुकानदार को दुकान पर

ताला लगाना पड़ता हो, चोकीदार रखने पड़ते हो, तो क्या आप कहेंगे कि वह हमारा कुटुम्ब, हमारा समाज और हमारा शहर सुन्दर है?नहीं कह सकते।

जहाँ सुन्दरता आ जाती है वहां इन चीजों कि जरुरत नहीं होती।न चोकीदार रखना पड़ता है और न ताला लगाना पड़ता है। सुन्दरता का वास्तविक अर्थ यह है कि हम सब अनेक होते हुए भी एक होकर रहें।

अब प्रश्न होता है कि एक कैसे हों? यद्यपि सभी प्राणी सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में जड़तायुक्त स्वरूप की एकता अनुभव करते हैं। परन्तु उस एकता का कोई महत्व नहीं है। वास्तविक महत्व तो उस एकता का है, जिसमें हम जागृत अवस्था में विविध प्रकार की भिन्नता होते हुए भी एकता का अनुभव करें। वह तभी सम्भव है, जब हम एकमात्र अपना कर्तव्य जाने और उसमें तत्पर हो जाएँ। आज जो हमें हमारे सुधारक अधिकारों का गीत सुनाकर अपने अधिकार सुरक्षित रखने की प्रेरणा करते हैं, यह बात कब तक रहती हैं? जब तक कि सुधारक महोदय किसी पद पर आरूढ़ नहीं हो जाते हैं। पद-प्राप्ति के बाद अधिकार का पाठ पढ़ाने वाले सुधारक महानुभाव हमारे अधिकार भूल जाते हैं और अपने अधिकरों का उपभोग करने लगते हैं।

यदि कोई कहे कि अधिकार का क्या मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है? तो उसका उत्तर यही होगा कि अपने अधिकार की प्रियता से हम यह अनुभव करें कि दूसरों को भी अपना अधिकार प्रिय है और दूसरों की प्रियता की पूर्ति ही मानवता है। जैसे कि हम अपनी प्यास की वेदना के द्वारा दूसरों की प्यास बुझाने का प्रयत्न करते हैं, तो वास्तव में यही मानवता है। यदि कोई यह सन्देह करे कि हम अपने अधिकार न माँगे या प्राप्त अधिकारों की रक्षा न करें, तो हमारा अस्तित्व ही न रहेगा, क्योंकि प्राय: देखने में यही आता है कि सबल निर्बल के अधिकार का अपहरण कर लेते हैं। परन्तु इसी प्रमाद से तो एक वर्ग दूसरे वर्ग को मिटाने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह सन्देह तभी सिद्ध होता, जब कर्तव्य-परायणता की बात किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष से ही कही जाती। जब कर्तव्यपरायणता का पाठ सभी

व्यक्तियों, उपर्युक्त सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

यह पाठ मानवता का पाठ है। यह किसी जाति विशेष का नहीं, किसी वर्ग विशेष का नहीं, किसी दल विशेष का नहीं। यदि कोई यह सन्देह करे कि कर्तव्य की बात सदैव निर्बलों को बताई गई है, सबल निर्बलों के अधिकार का अपहरण करते रहे हैं और उन्हें अपनी खुराक बनाते रहे हैं, उसी का भंयकर परिणाम यह हुआ कि दुखी वर्ग का आकर्षण कर्तव्य की अपेक्षा अधिकार की ओर अधिक हो गया। तो क्या कभी कर्तव्य-शून्य अधिकार सुरक्षित रह सकेगा? कदापि नहीं।

जिस दोष ने दूसरों का अधिकार छोड़ने की भावना जागृत कर दी, क्या उस दोष के रहते हुए हम अपना अधिकार सुरक्षित रख सकेंगे? जिस दोष ने आज पहले वाले सबल को निर्बल बना दिया, क्या उस दोष को हमें अपने पास रखना चाहिये? उस दोष को रखकर क्या कालान्तर में हमारी वही दशा पूर्वजों ने इस दोष को अपनाया? हम लोगों को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि जो दोष गुण के वेष में आता है, वह बड़ा ही भयङ्कर तथा दुखद सिद्ध होता है।

कर्तव्य पर ध्यान न देकर अधिकार-प्राप्ति के लिए मर मिटना गुण के रूप में दोष है। इस अमानवतापूर्ण दोष से बचने के लिए हमें निरन्तर सतर्क अधिकार मिल भी गया, तो हम उसे सुरक्षित न रख सकेंगे, यह निर्विवाद सत्य है। अधिकार वही सुरक्षित रहता है, जो कर्तव्य परायणता से स्वतः प्राप्त होता है। जब वीतराग पुरुषों के द्वारा तथा अपने अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि मानवता अपना लेने पर ही हम सुन्दर बनेंगे और हमारी सुन्दरता से ही सुन्दर समाज का निर्माण होगा, तब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि मानव में मानवता कैसे आये? उसके लिए यह कहना होगा कि हमारा कर्म भाव-रहित न हो और भाव विवेक-शून्य न हो, अर्थात् हमारी भावनाएँ निजविवेक से प्रकाशित रहे और हमारा कम भाव से प्रभावित हो।

यह नियम है कि कर्म में प्रवृत्ति जिस भाव से होती है, कर्म के अन्त में कर्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है। और, फिर भाव विवेक से स्वतः अभेद हो जाता है, अर्थात्

विवेक हमारा जीवन बन जाता है और फिर अविवेक तथा इसके कार्यरूप अनेक विकार सदा के लिए ही मिट जाते हैं। यही वास्तव में मानव-जीवन है, क्योंकि निर्विकार जीवन ही मानव-जीवन है। इस पर यदि विचार करें, तो एक बात बड़े महत्व की प्रतीत होती है कि जब हमें अपने साथी का कोई कार्य ऐसा प्रतीत हो, जो हमें दिखाई देता हो अथवा अनुचित प्रतीत होता हो, तो हम निर्णय को ही सत्य न मान ले, अपितु हम अपने सा, बात जो तुम कह रहे हो, किस भावना से कह रहे हो; औ तुम कह रहे हो वह किस विवेक पर आधारित है? ऐसा पहले हम अपने साथी से पता लगाने का प्रयत्न करें।

अगर वह वास्तव में आपका साथी है तो बतायेगा कि उसने आपके साथ जो कटुता का व्यवहार किया वह अमुक भावना से किया और यदि उस साथी ने सचमुच किसी अशुद्ध भाव से व्यवहार किया होगा, तो या तो वह चुप हो जायेगा या लज्जित हो जायेगा अथवा अपनी बात बदल देगा। वह अपनी कटुता को आपके सामने प्रकट करने में असमर्थ हो जायेगा और आप उसके ही द्वारा उसके सत्य को जान लेगे। परन्तु हम अपने साथी को इतना अवसर ही कहाँ देते हैं?

हमसे प्राय: ऐसी भूल हो ही जाया करती है कि हम अपने विवेक के निर्णय पर ही दूसरे को असत्य जानकर बिगड़ने लगते हैं, क्रोध करने लगते हैं, और जो कहना चाहिए वह भी तथा जो नहीं कहना चाहिए वह भी कहने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा वह साथी हमारे मोहवश, भयवश अथवा अपनी निर्बलता के कारण थोड़ी देर के लिये भले ही चुप हो जाये और हमको राजी करने के लिए जो हम चाहते हों, वही कहने या करने लग जाय, परन्तु उसके मन में हमारे साथ सच्ची एकता न होगी। यह नियम है कि यदि मन में सच्ची एकता न होगी, तो वह एकता कालान्तर में मिट जायगी और आज जो हम एक साथ बैठकर परस्पर में सत्य को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं, सम्भव है कि कल अपने-अपने पक्ष के अभिमान को लेकर आपस में संघर्ष करने लगे।

वास्तव में हमें निष्पक्ष भाव से धैर्यपूर्वक अपने साथी के विवेक का पता लगाना चाहिए और सोचना

चाहिए कि जो कुछ उसने किया है, क्या उसका विवेक भी वही कहता है? यदि उसका कर्म उसके विवेक के विरुद्ध सिद्ध हो जाये, तो भी हम यही कहें कि भाई कोई बात नहीं, भूल हो ही जाती है: परन्तु हम और तुम साथ हैं। ऐसा करने से उसे अपने प्रमाद का ज्ञान हो जाएगा और वह उसे त्याग देगा। यह नियम है कि प्रमाद अपने ही ज्ञान से मिटता है, किसी दूसरे के ज्ञान से नहीं। इस प्रकार सुविधापूर्वक संघर्ष मिट जायेगा और हमारी और हमारे साथी की एकता सुरक्षित हो जायेगी तथा भेद की खाई मिट जायेगी। यदि यह प्रयोग नहीं किया गया और अपने विवेक पर ही यह मान लिया गया कि उसका दोष अवश्य है, तो हमारे और हमारे साथी के बीच एकता कभी नहीं होगी; न आपस में प्रेम का ही उदय होगा।

हमारे और हमारे साथी के हृदय में प्रेम उदय हो और हमारा साथी निर्दोष हो जाय, इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साथी के विवेक से ही उसको उसके अपने प्रमाद का बोध कराने का प्रयत्न करे, अपने विवेक द्वारा अपने साथी के प्रमाद का उसे बोध कराने का प्रयत्न न करें। अपने विवेक द्वारा तो हम केवल अपने ही प्रमाद को मिटाने का प्रयास करें। जब हम अपने विवेक द्वारा अपने प्रमाद को मिटायेंगे, तभी हम निर्दोष होंगे और हमारा साथी भी हमें निर्दोष मान लेगा। यह बड़े महत्व की बात है।

आज हम दूसरों के सर्टिफिकेट पर, अर्थात् दूसरों के आधार पर अपना महत्व आँक लेते हैं और यह समझ लेते हैं कि हम सचमुच ही वैसे बन गये, जैसे कि लोग हमें कहते हैं। परन्तु हमारी यह मान्यता किसी भी समय हमारे निर्बलतापूर्ण चित्र को समाज के सामने प्रकाशित कर देगी। हमें दूसरों की दी हुई महानता से सन्तोष नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपनी दृष्टि में अपने को निर्दोष तथा महान बनाने का अथक प्रयत्न करना चाहिए। यह नियम है कि हम जैसे अपनी दृष्टि में हैं, वैसे ही हम जगत् तथा नियन्ता की दृष्टि में हो जायेंगे। कारण कि, जो बात हम अपने से नहीं छिपा सकते, वह दूसरों से भी नहीं छिपा सकते। हमारी असली दशा के प्रकट होने में कुछ समय अवश्य लग सकता है।

अब आप लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि यदि पर-दोष-दर्शन न करें, तो माता-पिता बालकों का, गुरुजन शिष्यों का, राष्ट्र प्रजा का सुधार कैसे करें? क्योंकि इनमें अपने दोष देखने की सामर्थ्य है ही नहीं। परन्तु, यह सन्देह निर्मूल है। जो जिस अवस्था में होता है, वह उस अवस्था के दोषों को भी जानता है; क्योंकि प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य-मात्र को अपने दोष देखने का विवेक स्वतः प्राप्त है। बालक बालकपन के दोष अवश्य देख लेगा, युवक युवावस्था के दोष अवश्य देख लेगा, विद्यार्थी विद्यार्थी-अवस्था के दोष अवश्य देख लेगा, विद्वान् विद्वता के दोष अवश्य देख लेगा; महाजन और मजदूर भी अपनी-अपनी अवस्था के दोष अवश्य देख लेंगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी-अपनी परिस्थितियों में अपने-अपने दोषों का दर्शन सभी को सम्भव है। आपकी सहायता की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे द्वारा हमारे साथी के प्रति कोई दोषयुक्त व्यवहार न हो। इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम अपने विवेक से अपने साथी के दोष देखें। आप कहेगे कि इस सिद्धान्त के अनुसार तो आपने गुरुजनों, नेताओं और सुधारकों का काम ही समाप्त कर दिया। नेता का काम है कि वह समाज को दोष-दर्शन कराये और उसके मिटाने का उपाय बताये। गुरु का काम भी यही है कि वह अपने शिष्य के दोष-दर्शन कराये और उसे दोष मिटाने का उपाय बताये, जिससे शिष्य दोष-मुक्त हो जाय। शासक भी यही सोचते हैं कि जिन पर वे शासन करते हैं, उनके दोष-दर्शन कराये और बल के द्वारा उनको निर्दोष बनाने का प्रयत्न करें।

शासक, नेता और गुरु में थोड़ा-थोड़ा भेद है। शासक बल के द्वारा, नेता विधान के द्वारा और गुरु ज्ञान के द्वारा सुधार करने का प्रयास करते हैं। यह अन्तर होते हुए भी तीनों ही सुधारने का दावा करते हैं। परन्तु भैया, मानवता तो एक अनूठी प्रेरणा देती है और वह यह कि हमें नेता होना है, तो अपने ही नेता बने, यदि हमें शासन करना है, तो अपने पर ही शासन करें, और यदि गुरु बनने की कामना है, तो अपने ही गुरु बने।

मानवता के इस दृष्टिकोण को जब हम अपनायेंगे, तो हम अपने

को ही अपना शिष्य, और अपने जीवन को ही अपना समाज और अपने चरित्र को ही अपनी प्रजा बना लेंगे। यह नियम है कि जो अपना गुरु बन जाता है, अपना नेता बन जाता है, और अपना शासक हो जाता है, वह सभी का गुरु, शासक और नेता बन जाता है। उसका जीवन ही विधान बन जाता है, जिसकी समाज को माँग है।

अब प्रश्न यह होता है कि हम अपने गुरु, नेता या शासक कैसे बने? भौतिकवाद की दृष्टि से मानव-मात्र को जो विवेक प्राकृतिक नियमानुसार मिला है, आस्तिकवाद की दृष्टि से जो विवेक प्रभु की अहैतुकी कृपा से मिला है और अध्यात्म-वाद की दृष्टि से जो अपनी ही एक विभूति है, वह विवेक ही वास्तव में गुरु, नेता तथा शासक है, जो प्रत्येक भाई-बहन को स्वतः प्राप्त है। पर, खेद तो यह है कि हम उस विवेक का प्रयोग समस्त जीवन पर न करके, समाज पर करने की सोचते हैं। समाज इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर ही विश्वास करता है। वह जैसा देखता है, वैसा बनता है। जिस चरित्र को हम अपने जीवन से नहीं दिखा पाते, केवल समझाकर समाज में उसका प्रचार करना चाहते हैं, अथवा यों कहो कि शासक बनकर बल-प्रयोग से उसे समाज द्वारा मनवाना चाहते हैं अथवा गुरु बनकर समाज के जीवन में उसे ढालना चाहते हैं, यह वास्तव में सम्भव नहीं है।

मानव को विवेक स्वयं 'मानव' होने के लिए मिला है। अत: यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने विवेक से अपने ही दोषों के दर्शन करें और तप, प्रायश्चित एवं प्रार्थना आदि व्रतों द्वारा अपने को निर्दोष बनायें। प्रायश्चित तथा तप द्वारा अपने पर शासन हो सकता है और प्रार्थना द्वारा हम आवश्यक बल प्राप्त कर सकते हैं और शुद्ध संकल्पों का व्रत लेकर हम अपने पर नेतृत्व कर सकते हैं। जिस जीवन से बुरे संकल्प मिट जाते हैं, उस जीवन से समाज में स्वतः शुद्ध संकल्पों का प्रचार हो जाता है। यह नियम है कि संकल्प-शुद्धि से कर्म-शुद्धि स्वतः हो जाती है। शुद्ध संकल्पों का प्रचार हो जाना ही समाज का वास्तविक नेतृत्व है। विवेक का आदर होने लगे, यही वास्तव में गुरुत्व है विवेकी-जनों से ही विवेक के आदर का प्रचार होता है। शुद्ध संकल्प-युक्त जीवन से ही शुद्ध

संकल्प व्यापक हो जाते हैं, और प्रायश्चित तथा तपयुक्त जीवन से ही समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति में अपने पर शासन करने की भावना उत्पन्न हो जाती है।

विवेक-युक्त जीवन ही वास्तव में मानवता है। उसी के आधार पर जब हम अपने को सुन्दर बनाते हैं, तो वहीं वास्तविक व्यक्तिवाद है और जब अपने चरित्र द्वारा मानवता का प्रसार समाज में किया जाता है, तो वही वास्तविक समाजवाद है। उस मानवता को ही विधान का रूप देकर जब बलप्रयोग द्वारा समाज में प्रसार करने का प्रयास किया जाता है तो वही वास्तव में राष्ट्रवाद है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि निज-विवेक के प्रकाश में साधन-युक्त जीवन से निर्दोषता प्राप्त करना ही मानवता है और वही मानवता स्थल-भेद से, कहीं व्यक्तिवाद, कहीं राष्ट्रवाद, कहीं समाजवाद आदि मान्यताओं से नाम तथा आदर पाती है।

मानवता प्राप्त करने में सभी भाई-बहन सर्वथा स्वतन्त्र हैं। हमसे कोई ऐसा कार्य न हो, जिसे हम अपने साथ कराना नहीं चाहते। और जो हम अपने प्रति दूसरों से कराना चाहते हैं, वह हम दूसरों के प्रति करने के लिए सर्वदा उद्यत बने रहे। तभी हम अपने में विद्यमान मानवता को विकसित कर सकेंगे। मानवता विकसित हो जाने पर जीवन की सभी समस्याएँ हल हो जायेगी। अत: मानव को अपने में छिपी हुई मानवता को विकसित करने के लिए सर्वदा अथक प्रयत्न करना चाहिए। मानवता आ जाने पर ही हम सुन्दर होंगे, हमारा समाज और राष्ट्र सुन्दर होगा। मानवता में ही हमारा कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है।

॥ॐ॥

अपना कल्याण चाह-रहित होने में है

(दिनांक 13 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल आपकी सेवा में निवेदन किया गया था कि जब तक हम अपना सुधार न करेंगे, तब तक

सुन्दर समाज का निर्माण न हो सकेगा। अपनी सुन्दरता में ही सुन्दर समाज निहित है, चाहे हम अपने को राष्ट्र के रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय रूप में, समाज के रूप में, व्यक्तिगत जीवन को सामने रखकर अथवा किसी भी दृष्टिकोण से देखें, तो मानना पड़ेगा कि जब तक हम अपने सुधार में रत न होंगे, सुन्दर समाज का निर्णण न होगा।

सुन्दर समाज का निर्माण और अपना कल्याण, ये दोनों ही मानव के उद्देश्य हैं, लक्ष्य हैं। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अपना कल्याण पहले करना होगा अथवा सुन्दर समाज का निर्माण? तो, ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों ही उद्देश्य भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। ज्यों-ज्यों सुन्दर समाज का निर्माण होता जाता है, त्यों-त्यों अपना कल्याण भी होता जाता है ज्यों-ज्यों अपना कल्याण भी होता जाता है, त्यो—त्यो सुन्दर समाज का निर्माण भी होता जाता है। कारण कि, जीवन एक ही है, दो नहीं. समाज और संसार भी एक ही हैं, दो नहीं। जब जीवन एक है, तो अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण एक ही जीवन के दो पहलू हैं। इनमें से हम किसी भी पहलू पर विचार करें या उसको ठीक करे, दूसरा पहलू अपने आप उसके साथ ठीक हो जाता है।

उदाहरणार्थ यदि किसी ने अपने जीवन से दूसरे के अधिकार की रक्षा कर दी, तो इसका परिणाम यह होगा कि वह अपने को अपने उस साथी से मुक्त अनुभव करेगा। यह नियम है कि जिसकी सेवा कर दी जाती है, उसका राग स्वतः मिट जाता है। तो दूसरों के अधिकार की रक्षा से अपने में जो छिपा हुआ राग था, उसकी निवृत्ति हुई। उस राग के निवृत होने पर योग का हो जाना स्वाभाविक है। कारण कि, राग से ही भोग का जन्म होता है और राग-रहित होने से योग स्वतः प्राप्त होता है। इस योग का अर्थ हैं-चित्त-वृत्तियों का सब ओर से हटकर किसी एक ओर लग जाना, अथवा यों कहें कि 'पर' से हटकर 'स्व' में विलीन हो जाना, अथवा यों कहें कि राग से रहित होकर चित्त का वीतराग हो जाना। चित्त की वीतरागता का ही दूसरा नाम योग है।

योग ही कल्पवृक्ष है, अर्थात् योग प्राप्त होने पर हमें वह शक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा

अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। जब चित वीतराग हो जाता है, तब इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, फिर मन बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही दृश्य अर्थात् जिसे हमें 'यह' कहते थे और दर्शन अर्थात् जिसके द्वारा 'यह' की प्रतीति होती थी, वे दोनों अपने में ही अर्थात् द्रष्टा में ही विलीन हो जायेगे और त्रिपुटी का अभाव हो जायेगा। त्रिपुटी का अभाव होते ही चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता स्वतः प्राप्त होगी।

यह नियम है कि जहाँ शान्ति तथा प्रसन्नता आ जाती है, वहाँ निर्वासना स्वतः आ जाती है। कारण कि, शान्ति और प्रसन्नता खिन्नता और नीरसता को खा लेती है। खिन्नता और नीरसता-रहित जीवन वासना-रहित जीवन हो जाता है। यह सभी का अनुभव है कि वासना-रहित जीवन में पराधीनता शेष नहीं और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। बस! यही कल्याण का स्वरूप है। जब तक हमें कुछ प्राप्त करना शेष है, जब तक हम किसी भी अभाव का अनुभव करते हैं, तब तक हमें मानना होगा कि हमारा कल्याण नहीं हुआ; जैसे पेट भर जाने पर भूख की वेदना स्वतः शान्त हो जाती है और फिर न भोजन की ही आवश्यकता रहती है और न उसका चिन्तन ही होता है, वैसे ही अभाव का अभाव होने पर जीवन में स्वतः एक ऐसी अनुपम अलौकिकता आ जाती है कि फिर कुछ करना या पाना शेष नहीं रहता। ऐसे जीवन का नाम ही कल्याणयुक्त जीवन है।

हमारे कल्याण का अर्थ क्या है? हमारे कल्याण का अर्थ यही है कि हमें किसी प्रकार के अभाव का अनुभव न हो। इसके प्राप्त करने में हम और आप पराधीन नहीं हैं। कारण कि, जितने भी अभाव हमारे जीवन में हैं, उन सबका मूल एकमात्र राग है। राग-रहित होने पर किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जाता।

राग-रहित होने के दो उपाय हैं-एक तो यह कि अपने पर दूसरों का जो अधिकार है, उसकी पूर्ति कर दी जाये और दूसरा यह कि अविवेक के कारण दूसरों पर अपना जो अधिकार मान लिया था, उसकी लालसा का त्याग कर दिया जाय। यदि आप विचार करके देखें, तो यह आपको स्वतः अनुभव होगा कि

अधिकार-लालसा भी अपने में किसी अभाव की ही सूचक है औरकुछ नहीं। जब हम किसी पर अपना अधिकार मानते हैं, तब हमारा जो मूल्य है, वह जिस पर हम अपना अधिकार मानते हैं, उससे घट जाता है। कहते तो यह हैं कि हमारा अधिकार ही हमारा अस्तित्व है, परन्तु वास्तव में विचार करके देखें, तो यह सिद्ध हो जायेगा कि अधिकार माँगने वाले का कोई अस्तित्व नहीं होता।

अस्तित्व तो उसका होता है जो अधिकार की पूर्ति करता है, क्योंकि अधिकार-लालसा से ही हम अभाव में आबद्ध हो जाते हैं। अभाव का अस्तित्व कोई भी विचारक स्वीकार नहीं करता, अभाव में अस्तित्व का भास अविचार-सिद्ध ही है। अत: जब कई लोग दूसरों से अधिकार माँगते हैं और अधिकार देने वालों पर शासन करते हैं तथा अपना महत्व भी प्रकाशित करते हैं, तो इसे बड़े आश्चर्य की बात मानना चाहिए, क्योंकि अधिकार-लालसा के द्वारा अपना अस्तित्व खोकर भी वे अपना महत्व प्रकाशित करते हैं। वास्तव में तो वे अक्तित्व होन और अभाव में आबद्ध हो जाते है।

हम अपने अस्तित्व को कैसे जाने और अभाव की वेदना से कैसे मुक्त हो? इसी लालसा का नाम कल्याण की लालसा है। हमारा कल्याण केवल इसी बात में निहित है कि हम अपने सभी अधिकारों का त्याग कर दें। आप कहेगे कि अधिकारों का त्याग करने के पश्चात् तो हमारा जीवन ही न रहेगा। तो भाई! विचार तो करो, जब आपका अस्तित्व दूसरे के कर्तव्य पर निर्भर है, दूसरे की उदारता पर निर्भर है, दूसरे की ईमानदारी पर निर्भर है, तो अस्तित्व आपका सिद्ध हुआ अथवा जिस पर आपका अस्तित्व निर्भर है, उसका? यदि हमारा अस्तित्व तभी रह सकता है, जब हमारे अधिकार सुरक्षित हों, जो दूसरे के कर्तव्य, उदारता और ईमानदारी पर निर्भर हैं, तो इससे यह सिद्ध हुआ कि दूसरे की उदारता, ईमानदारी और कर्तव्य को हम अपना अस्तित्व मानते हैं। किन्तु इससे अपने अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती।

अपना अस्तित्व तभी सिद्ध हो सकता है, जब आपको अपने लिए किसी दूसरे की अपेक्षा न हो। जिसको अपने लिए दूसरे की अपेक्षा

नहीं रहती, वास्तव में उसी का अस्तित्व सिद्ध होता है, और जिसको अपने लिए दूसरे की अपेक्षा रहती है, उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। किन्तु साधारण प्राणी दूसरों के कर्तव्य पर ही अपना अस्तित्व जीवित रखना चाहते हैं।

मानवता हमें एक विचित्र बात बताती है, और वह यह कि हमारे द्वारा भले ही संसार का अस्तित्व सिद्ध हो, किन्तु हमें अपने अस्तित्व के लिए संसार की अपेक्षा नहीं। आप कहेगे कि संसार तो इतना बड़ा है कि हम उसके सामने नहीं के बराबर हैं, फिर भला हमारे द्वारा संसार का अस्तित्व सिद्ध हो और संसार द्वारा हमारा अस्तित्व सिद्ध न हो, यह तो एक पागलपन की बात मालूम होती है। आपका कथन ठीक हैं। लेकिन यह ठीक कब तक? जब तक कि हम राग के शिकार बने हुए हैं। जब तक हमारे जीवन में राग की दासता मौजूद है, तब तक यही ठीक मालूम होगा कि संसार के अस्तित्व से हमारा अस्तित्व है।

परन्तु जिस समय हमारे मन से राग दूर हो जायेगा, उस समय यह स्वतः स्पष्ट हो जायेगा कि हमारे द्वारा संसार का अस्तित्व है। संसार की बड़ी-से-बड़ी वासना हमें उसी समय तक अपनी ओर आकर्षित करती है, जब तक कि हमारे मन में किसी प्रकार का राग है। राग की दृष्टि से ऐसा सोचना ठीक है कि संसार के अस्तित्व पर हमारा अस्तित्व निर्भर है, किन्तु राग-रहित होने पर यह बात न रहेगी और हम स्वयं यह अनुभव करेंगे कि संसार के अस्तित्व है। वह स्वतन्त्र अस्तित्व क्या है? साधन-तत्व। कोई भाई यह न समझ बैठे कि यह स्थूल देह ही साधन-तत्व है। वास्तव में साधन-तत्व का स्वरूप है- जगत् के अधिकारों की रक्षा और भगवत्-विश्वास, सम्बन्ध, प्रीति एवं तत्व-जिज्ञासा।

अब विचार करें कि मानवता क्या हुई? भगवान् की प्रीति, जगत् के अधिकारों की रक्षा तथा तत्व-साक्षात्कार। इसी मानवता को साधन-तत्व कहते हैं। राग-रहित प्रवृत्ति को चाहे आप सदाचार कहे, संसार का अधिकार कहे, धर्म कहे या कर्तव्य कहें, इन्हीं कल्पनाओं तथा मान्यताओं से आप अपने अस्तित्व को प्रकाशित कर सकते हैं।

हमारी साधना की आवश्यकता संसार को सदैव है और हमारी प्रीति भगवान् को भी प्रिय है। अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या हमारी साधना ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु है, जिसकी आवश्यकता भगवान् को भी है और संसार को भी है? नि:सन्देह यही सत्य है। आप विचार करें, क्या भगवान् ने अनेक बार यह नहीं कहा कि मेरी शरण में आओ? शरणागति साधना नहीं, तो क्या है? और क्या संसार आपके सामने नहीं कहता कि हमारे अधिकार की रक्षा करो? अब विचार करो, संसार भी आपके सामने अधिकार की रक्षा के लिए आता है और भगवान भी आपसे कहते हैं कि तू मेरी शरण में आजा।

तात्पर्य क्या है? तुम्हारी माँग संसार को भी है और भगवान को भी। अन्तर केवल इतना है कि संसार को तो तुम्हारी माँग अपनी कामनापूर्ति के लिए है, और भगवान् को तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। कारण कि, वे स्वभाव से ही प्राणी के परम सुहृद हैं। यदि कोई कहे कि जिस संसार को हमारी माँग है, क्या उस संसार की हमें माँग नहीं है? तो उत्तर है, कदापि नहीं। कारण कि, अपने को देह से अतीत अनुभव करने पर किसी को भी संसार की चाह नहीं रहती। अत: यह सिद्ध हुआ कि हमें संसार की चाह नहीं है, किन्तु जब हम अविवेक के कारण देह से मानी हुई एकता स्वीकार कर लेते हैं, तब हमें अपने में संसार की चाह का भास-मात्र होता है, वास्तव में नहीं।

संसार की चाह निवृत्त होने पर अपना अस्तित्व एकमात्र अचाह-युक्त प्रीति ही रह जाती है, जो प्रभु को प्रिय है। यदि हम उसे प्रभु की आवश्यकता कह दे, तो अत्युक्ति न होगी। प्रीति प्रभु को और प्रभु प्रीति को सदैव चाहते हैं। किन्तु प्रीति का स्वरूप वास्तव में चाह-रहित ही है, क्योंकि प्रेम चाह-युक्त नहीं हो सकता। अत: सिद्ध हो जाता है कि हमें वास्तव में अचाह ही होना है।

आप विचार करके देखो तो आपको यह स्पष्ट सिद्ध हो जायेगा कि 'आप' बड़े ही सुन्दर हैं। 'आप' का अर्थ आपका शरीर या 'अहम् भाव नहीं, बल्कि आपमें छिपी हुई मानवता अथवा आपकी साधना है। आपकी साधना का जो समूह है, उसी का नाम मानवता है और उसी का फल

कल्याण है। तो कल्याण का अर्थ क्या हुआ? जिसकी माँग प्रभु को हो और जिसकी माँग संसार को भी हो, जो इतनी प्यारी वस्तु हो कि जिसके लिए संसार तरसता हो और जिसको बिना अपनाये भगवान् भी न रह सकें।

भगवत्-प्रेम के बिना कल्याण बन नहीं सकता। यदि आप आस्तिक दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह आपको मानना ही होगा कि भगवान् को आपकी प्रीति की माँग है। आपकी प्रीति भगवान् को अभीष्ट है और आपके सदाचार, आपके संयम, आपकी सेवा की आवश्यकता संसार को है। इन दोनों दृष्टियों को सामने रखकर आप यह कह सकेंगे कि सदाचार-युक्त जीवन ही संसार को अभीष्ट है। परन्तु इससे आप यह न समझे कि संसार को आपका शरीर अभीष्ट है।

आप जो शरीर को अपना अस्तित्व मानते हैं, यह तो आपका और हमारा अविवेक है। शरीर हमारा अस्तित्व नहीं है। हमारी जो साधना है, हमारा जो आचरण है, वही हमारा अस्तित्व है। शरीर के न रहने पर भी आपका आचरण तथा आपकी साधना एवम् विचारधारा बनी रहेगी और समाज में विधान के रूप में आदर पाती रहेगी। शरीर नहीं रहेगा, बोलने वाली वाणी नहीं रहेगी, पर बोली हुई मधुरता सदैव रहेगी, बोली हुई सत्यता सदैव रहेगी।

संकल्प करने वाला मन न रहेगा, लेकिन शुद्ध संकल्प सदैव रहेगा। विवेक का प्रकाश करने वाली बुद्धि न रहेगी, पर विवेक रहेगा। इस दृष्टिकोण से साधन-तत्व भी नित्य है और साध्य-तत्व भी नित्य है। प्रीति नित्य है, और प्रीतम भी नित्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपका अस्तित्व अजर-अमर होकर रहेगा, क्योंकि उसकी माँग जगत् को है, उसकी माँग प्रभु को है।

आपके कल्याण का अर्थ क्या हुआ? भगवान् के अधिकार की रक्षा, जगत् के अधिकार की रक्षा। जगत् के अधिकार की रक्षा करने से जगत् से मुक्ति और भगवान् के अधिकार की रक्षा करने ने भागवत्-प्राति।

यदि आप गम्भीर दृष्टि से विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का अस्तित्व क्या है? समाज के अधिकारों का समूह। व्यक्ति का जीवन क्या है? जिस जीवन

से सभी के अधिकार सुरक्षित हों, उसी का नाम वास्तव में मानन-जीवन है। मानवता इतना महत्वपूर्ण तत्व है कि जिसकी माँग सदैव सभी को रहती है।

आपका साधन-युक्त जीवन ही आपका अस्तित्व है। किस अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए आप को मानव मान ले और छिपी मानवता को विकसित कर अपने को सुन्दर बना ले।

सुन्दर बनने का अर्थ हो जाता है, अचाह पद। अचाह का अर्थ है-अपनी कोई चाह नहीं रहना। जहाँ अपनी कोई चाह नहीं रहती, वहाँ बन्धन नहीं रहता, पराधीनता नहीं रहती तथा जड़ता नहीं रहती। वहाँ चिन्मयता आ जाती है, स्वतन्त्रता आ जाती है और जीवन में एक ऐसी विलक्षणता आ जाती है, जिसको प्रकट करने के लिए शब्द नहीं हैं, परन्तु उसका अस्तित्व है। उसी जीवन को आप चिन्मय जीवन कह सकते हैं, मानव-जीवन कह सकते हैं।

मानव जीवन उसे कहते हैं जिसमें किसी के अधिकार का अपहरण न हो और जिस जीवन की आवश्यकता सर्वदा सभी को बनी रहे। उसी जीवन का नाम मानव-जीवन है और वह जीवन हम और आप प्राप्त कर सकते हैं। केवल प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। इस सदुपोग का नाम ही किसी ने पुरुषार्थ रख दिया, किसी ने कर्तव्य रख दिया और किसी ने साधना रख दिया। परिस्थिति के सदुपयोग के ही ये सब नाम हैं। यदि हमें अपना कल्याण अभीष्ट है, तो अचाह होना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि चाह की उत्पत्ति कब होती है और क्यों होती है? चाह की उत्पति तब होती है, जब हम अपने को मानव न मानकर, देह मान लेते हैं। आप कहेगे कि देह मानने और मानव मानने में क्या भेद है? इसमें एक भेद है-देह मानकर हम अधिकार-लालसा में आबद्ध होते हैं और मानव मानकर कर्तव्य-पालन में प्रवृत्त होते हैं। जिस समय जीवन में अधिकार लिप्सा दिखाई देती है, उसी समय विचार करना चाहिए कि हम देह हैं या मानव? यदि आपको स्मरण आ जाय कि हम देह नहीं हैं, हम तो मानव हैं, तो आप स्वयं कहने लग जायेगे कि

हमें तो दूसरे के अधिकार की रक्षा करनी है, 'अपने' को कुछ अधिकार लालसा नहीं है।

आप विचार करके देखें, जो रोगी है वह यह चाहता है कि स्वस्थ व्यक्ति उसकी सेवा करें। बेचारा रोगी क्या सुखी होकर सेवा कराना चाहता है? कदापि नहीं। सुखी तो सेवा करता है। आपको मानना पड़ेगा कि सेवा करने वाला तो सुखी सिद्ध होता है, और सेवा कराने वाला दुखी। तो, अधिकार माँगने का अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ अपने को दुखी सिद्ध करना और अधिकार देने का अर्थ क्या हुआ? अपने को सुखी सिद्ध करना। तो आप सोचिये कि क्या हम अपने को दुखी स्वीकार करें या सुखी सिद्ध करें? आपको कहना पड़ेगा कि अपने को दुखी स्वीकार करना किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अपने को सुखी सिद्ध करना ही सबको अभीष्ट है। यह स्वभाव मानव का स्वभाव है।

मानव को तो केवल अपना कर्तव्य दिखाई पड़ता है, अधिकार नहीं। मानवता विकसित होने पर अधिकार-लालसा शेष नहीं रह जाती, और जब अविवेक के कारण मानवता नहीं रह जाती और देहाभिमान जागृत होता है, तब केवल अधिकार ही दिखाई देते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हममें जो अधिकार की लालसा है, वह अपने को देह मानने पर ही होती है है। तो क्या हम देह में आबद्ध होकर रहना पसन्द करेंगे? कदापि नहीं।

किसी से कोई पूछे कि तुम खून में, हड्डियों में, मांस में, मज्जा में, मूत्र में रहना चाहते हो? तो, सभी विचारशील यही कहेगे कि नहीं रहना चाहते। कारण, कि मलिनता किसी को प्रिय नहीं। अब हम स्वयं सोचे कि देह में मलिनता के अतिरिक्त क्या है? तो मानना होगा कि कुछ नहीं। इससे यह हुआ कि हम मलिनता को अपनाकर ही अधिकार-लालसा में आबद्ध, और जिन्हें निर्मलता प्रिय है, वे कर्तव्यपरायण होते हैं। जब हम मल-मूत्र से अलग रहे, तो अधिकार की कौन-सी माँग आती है, आप बताइये? कोई भाई-बहन कि अपने को देह से अलग मानकर आपको कौन-से अधिकार चाहिएँ? मान चाहिए तो देह बनकर, वस्तु चाहिए तो देह बनकर, भोग चाहिए तो देह बनकर, कोई परिस्थति विशेष चाहिए तो देह बनकर, व्यक्ति विशेष की

जरूरत हो तो देह बनकर। तीनों देह से असंग होने पर न किसी व्यक्ति की जरूरत होती है, न किसी अवस्था की और न किसी परिस्थिति की। फिर भला, क्या शेष रह जाता है?

जब अपने को देह से अलग अनुभव करते हैं, तब निर्वासना आ जाती है और जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। देह से अलग होने पर ही निर्वासना पद प्राप्त होता है और प्रेम का उदय होता है। कारण कि, चाह-रहित प्राणी ही प्रेम कर सकता है। जो कुछ नहीं चाहता, वही प्रेम कर सकता है और जो कुछ नहीं चाहता, वही मुक्त हो सकता है। स्वाधीनता तथा प्रेम-पूर्ण जीवन ही कल्याणयुक्त जीवन है। कल्याण का अर्थ है, जहाँ अगाध अनन्त नित-नव रस हो। वही अमर जीवन है। जहाँ देह है, वहीं मृत्यु है। देह से अतीत जीवन तो चिन्मय है और वही अमरत्व है।

देह से अलग होकर कोई वासना उत्पन्न नहीं होती। जहाँ वासना की उत्पत्ति नहीं है, वहाँ स्वाधीनता और मुक्ति होगी और जहाँ स्वाधीनता होगी, वहाँ प्रेम अवश्य होगा। तो भाई! प्रेम रहे, जीवन रहे, स्वाधीनता रहे, इसका नाम हुआ-कल्याण।

जहाँ मृत्यु प्रवेश कर सके, जहाँ पराधीनता आ सके और जहाँ बन्धन हो, इसी का नाम अकल्याण है। तो हमारा कल्याण किस पर निर्भर है? हमारे कर्तव्य और हमारी साधना पर, न कि किसी दूसरे के कर्तव्य पर। यदि कल्याण चाहने वाले भाई-बहन यह सोचते हैं कि हमारा कल्याण किसी और पर निर्भर है, तो मानना पड़ेगा कि वे अपना कल्याण नहीं चाहते। आपका कल्याण तो आप पर ही निर्भर है, अर्थात् आपके साधन पर निर्भर है।

साधना के दो भाग हैं- अचाह होना और दूसरों की हितकारी चाह को पूरा करना। कोई कहे कि यदि हम अचाह रहना चाहते हैं, तो दूसरों की चाह की पूर्ति क्यों करें? तो इसका उत्तर यह है कि आप दूसरों की चाह की पूर्ति इसलिए करें कि आपमें अचाह होने का बल आ जाय। जो दूसरे की चाह की पूर्ति नहीं करता, वह अचाह नहीं रह सकता। जब दूसरे की चाह हमारा जीवन बन जायगी, तभी हम अचाह हो सकते हैं। समाज के अधिकारों के समूह का

नाम ही व्यक्ति का जीवन है। इन अधिकारों की रक्षा कर देना ही अचाह होने का सुगम उपाय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुन्दर समाज के निर्माण में ही हम अचाह होने की योग्यता सम्पन्न कर सकते हैं। सुन्दर समाज का निर्माण तो हमारी वह साधना है, जो हमें अचाह बना दे और अचाह वह साधना है, जो सुन्दर समाज के निर्माण को योग्यता विकसित कर दे। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधना के दो भाग होने पर भी वास्तव ने दोनो एक ही हैँ। इसका विभाजन नहीं हो सकता।

इस दृष्टिकोगा से हमें और आपको अपनी वस्तु-स्थिति पर, अर्थात् अपनी वर्तमान दशा पर विचार करना चाहिए। प्रात:काल से लेकर सायंकाल तक जो प्रवृत्ति हमारे द्वारा होती है, उस प्रवृत्ति से दूसरे के सङ्कल्प की पूर्ति होती है या नहीं, यह देखना चाहिए। यदि हमारी प्रवृत्ति दूसरों के शुद्ध संकल्पों को पूरा करती है, तो हम अवश्य अचाह-पद को प्राप्त कर लेगे और यदि हमारी प्रवृत्ति दूसरों के द्वारा अपने संकल्प पूरे कराने में रत है, तो हम अचाह न हो सकेगे। इस प्रकार अपने कल्याण का साधन यह है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरों का हित निहित हो और किसी का हित न कर सके तो निवृत्ति को अपनाकर चाह से मुक्त हों।

अचाह-पद का अर्थ है - सहज निवृत्ति। सहज निवृत्ति का अर्थ है वृत्ति का स्फुरण न होना और स्फुरण न होने का फल है-अपना प्रेम'। वृत्तियों के स्फुरण अर्थात् "स्व:', 'पर' की और गतिशील होने से ही हम अपने प्रेमास्पद से विमुख होकर संसारोन्मुखी हो जाते है, फिर उसमें आस्था होकर रागी बन जाते है, और रागी बनकर भोगी बन जाते है, फिर भोगी होकर रोगी और रोगी होकर व्यथित हो जाते हैं। इसी का नाम अकल्याण, अमानवता तथा पशुता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि कोई अपने को दूसरे की चाह पूरी करने में निर्बल पाता है, तो फिर उसका कल्याण कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि यदि कोई सचमुच दूसरे की चाह पूरी करने में असमर्थ है, तो उसे अपनी भी कोई चाह नहीं रखनी चाहिए। तब भी साधन-निर्माण हो जायेगा, क्योंकि

चाह-रहित होने से कर्तव्य-परायणता की शक्ति स्वतः आ जाती है। किन्तु, यदि कोई अपनी चाह...पूर्ति की तो आशा करता है और दूसरे की चाह-पूर्ति से निराश रहता है, तो यह उसका प्रमाद है, क्रोध है, द्वेष है, जो उसे कर्तव्यनिष्ठ नहीं होने देता. और यह अकल्याण का हेतु है। जिस अंश में हमारे कर्तव्य से दूसरे की चाह की पूर्ति होती है, उसी अंश में हमारा जीवन उदारता तथा प्रेम से भर जाता है, जो कल्याणा का हेतु है। और जिस अंश में हम अपनी-चाह-पूर्ति की सोचते है, उसी अंश में हम परतन्त्र तथा भोगी हो जाते है, जो अकल्याण का हेतु है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसे आचाह-पद अभीष्ट है, उसके लिए दूसरों की चाह-पूर्ति में और अपनी चाह की आपूर्ति में कोई अन्तर नहीं है। कारण कि, अचाह में जो रस है, वह चाह-पूर्ति में नहीं है। चाह-पूर्ति का रस तो पुन: चाह उत्पन्न करता है, और अचाह होने पर पुन: चाह उत्पन्न न होगी। अचाह होने से कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि चाह-पूर्ति के पश्चात् भी प्राणी उसी दशा में आ जाता है, जो चाह की उत्पति से पूर्व थी। तो फिर चाह-पूर्ति करने का प्रयत्न ही निरर्थक सिद्ध हुआ। इसी रहस्य को जानकर विचारशील दूसरों की चाह पूरी करते हुए भी स्वयं अचाह रहते हैं।

चाह का जन्म अविवेक से होता है। इसी का नाम अमानवता है। अत: अविवेक और अमानवता एक ही बात है। चाह की निवृत्ति विवेक से होती है, और उसी का नाम मानवता है।

जब आप 'अहम् से रहित हो जायेंगे, तो राग न रहेगा। राग के न रहने पर भोग-वासनाएँ मिट जायेंगी, और भोग योग में बदल जायेगा। फिर अध्यात्मवाद का जन्म होगा, जो अमर जीवन प्राप्त कराने में समर्थ है। मानवता आ जाने से ही सुन्दर समाज का निर्माण होगा, जो भौतिकवाद की पराकाष्ठा है। मानवता आ जाने से ही परम प्रेम प्राप्त होगा, जो आस्तिक जीवन है और प्रभु-प्राप्ति का साधन है। अतएव अमर जीवन, सुन्दर समाज का निर्माण तथा अगाध, अनन्त नित-नव-रस मानव को मानवता विकसित होने पर प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई-

बहन को मानव होने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

॥ॐ॥

सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति

(दिनांव 13 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल सेवा में निवेदन किया था कि साधना का सार चाह-रहित होना अथवा समाज की चाह की पूर्ति करना है। अचाह होने के लिये सबसे प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि हम यह जान ले कि चाह की उत्पति का कारण क्या है। चाह की उत्पत्ति का कारण यदि विवेकदृष्टि से देखा जाय, तो एकमात्र अविवेक है। और अविवेक क्या है? अविवेक कहते हैं- विवेक के अनादर को। अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जो विवेक है, उसका हम अनादर करते हैं, अर्थात् जाने हुए को नहीं मानते। इसी का नाम अविवेक है।

किसी भाई से यह कहा जाय कि क्या वह वही है जो कुछ काल पूर्व अमुक स्कूल में हमारे साथ पढ़ता था? तो वह कहेगा, हाँ! मैं वही हूँ, परन्तु अब मैं अमुक पद पर नियुक्त हो गया हूँ और पूछने वाला भी यह कहेगा कि भाई, मैं भी वही हूँ, पर मैं भिखारी बन गया हूँ। दोनों की अवस्था में बड़ा भेद है, किन्तु दोनों के इस ज्ञान में भेद नहीं हैं कि मैं वही हूँ। जो आज एक पद-विशेष पर स्थित है और जो एक दीनता में आबद्ध है, वे दोनों यही जानते हैं कि हम दोनों वही हैं जो पहले जो पहले थे। परिस्तिथि का भेद होने पर भी अपना भेद स्वीकार नहीं करते।

इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि परिस्थिति में और अपने में भिन्नता है। इस भिन्नता को जानकर भी परिस्थिति से अभिन्न रहना अविवेक है। हम जानते हैं कि हम और हमारी अवस्था, और हम और हमारी परिस्थिति तथा हम और हमारी वस्तुएँ परस्पर भिन्न हैं। परन्तु यह जानते हुए भी हम परिस्थिति से ही अपने का मिला लेते हैं। जहाँ हमने अपने को किसी परिस्थिति से मिलाया, वहीं किसी-न-किसी प्रकार की चाह उत्पन्न हुई। इस प्रकार चाह

की उत्पत्ति का मूल कारण निज-विवेक का अनादर ही हुआ।

अब सबसे बड़ा प्रश्न यह आ जाता है कि हम जाने हुए का अनादर क्यों करते हैं? इसका कारण क्या है? इस बारे में यदि आप विचार करे, तो यह विदित होगा कि जाने हुए का अनादर करने में कोई बाह्य हेतु नहीं है कि किसी परिस्थिति ने हमें ऐसा बना दिया कि हम जाने हुए का अनादर करें और न किसी और व्यक्ति ने ऐसा कर दिया कि हम जाने हुए का अनादर करे। जाने हुए के अनादर का एकमात्र कारण परिस्थिति द्वारा सुख लेने की आसक्ति है, और कोई कारण नहीं।

परिस्थिति द्वारा सुख लेने की आसक्ति क्या है? यह मानना होगा कि परिस्थिति में और अपने में हमने जो एकता मान ली है, उस एकता की सत्यता इतनी दृढ़ हो गई है कि हमारी सत्ता से परिस्थिति सत्ता पाकर हम पर ही शासन करने लगी है। परिस्थिति अपनी सत्ता से हम पर शासन नहीं करती, किन्तु सत्ता हमसे लेती है, चेतना हमसे लेती है और हम पर ही शासन करती है। यही कारण है परिस्थितियों में सुख की आसक्ति होने का। यदि हम अपनी सत्ता को परिस्थितियों से असंग कर ले, तो बेचारी परिस्थिति कभी हमें मुँह नहीं दिखाती, न हम पर शासन ही करती है, न हमें कभी दीन या अभिमानी ही बनाती है और न हममें चाह उत्पन्न करती है।

सभी विकार हमारे इस प्रमाद से उत्पन्न हुए हैं कि हमने अपनी सत्ता परिस्थिति को देकर अपने को परिस्थिति का दास बना लिया है। यदि विवेकी साधक परिस्थिति से अपनी सत्ता वापस ले ले, असंग हो जाय, विमुख हो जाय, तो बड़ी सुगमता से अचाह-पद को प्राप्त कर सकता है। अचाह होने पर प्रतिकूल परिस्थिति भी अनुकूलता में बदल जाती है और अनुकूल परिस्थिति से असङ्गता आ जाती है। यह अचाह की महिमा है। इस महिमा पर जिनका विश्वास हो जाता है, अथवा इस महिमा को जो अनुभव कर लेते हैं, वे बड़ी सुगमता से प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों का सदुपयोग कर अपने को परिस्थितियों से असङ्ग कर लेते हैं। परिस्थितियों के सदुपयोग का नाम ही वास्तव में कर्तव्य-परायणता है।

कारण कि, ऐसा कोई कर्तव्य नहीं है, जो किसी परिस्थिति से सम्बन्धित न हो।

अत: हमें अपनी परिस्थिति से भयभीत नहीं होना चाहिए और न उसकी दासता में ही आबद्ध होना चाहिए। न अप्राप्त परिस्थितियों का आह्वान् करना चाहिए और न प्राप्त परिस्थितियों से घृणा करनी चाहिए, चाहे वे देखने में कितनी ही प्रतिकूल हों। हमें प्राप्त परिस्थिति का आदर-पूर्वक स्वागत करते हुए उसका सदुपयोग करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये। इससे हम और आप बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियो की दासता से मुक्त होना ही मुक्ति है।

एक बात बहुत गम्भीरता से विचार करने की यह है कि साधना ही है, साध्य नहीं। यहाँ कुछ जिज्ञासु सोचने लगेगे कि भाई मुक्ति के बाद तो कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता है, फिर यह कैसे मुक्ति भी साधन ही है। आप विचार करें, किसी भूख से पीड़ित प्राणी से पूछे कि भोजन का करना अथवा भूख का दूर होना, ये दो बातें हैं या एक? तो, वह कहेगा- 'जितने-जितने अंश में हम भोजन करते हैं, उतने-उतने अंश में भूख से मुक्ति होती जाती है। भोजन की पूर्णता और भूख से वस्तु हुई। जब उससे पूछा जाये कि भाई, भूख से जो मुक्ति मिली, वह किस लिए? तो वह कहेगा कि तृप्ति के लिए। तो क्या मुक्ति से तृप्ति कोई अलग चीज है? तो कहेगा,यह तो नहीं कह सकता कि मुक्ति और तृप्ति में कितना भेद है? यह अवश्य कह सकता हूं कि मुक्ति के पश्चात् ही तृप्ति होती है।

यह नियम है कि जो जिसके पश्चात् आती है, वह उसी का साध्य होता है और जिसके द्वारा आती है वह साधन होता है। इस दृष्टि से परिस्थिति से मुक्त होना भी एक साधन ही सिद्ध हुआ। परन्तु, जो लोग इसी से सन्तुष्ट हो जाते हैं वे कुछ काल के लिये उसे साध्य मान सकते हैं। जैसे, इच्छित वस्तु मिलने पर कुछ काल के लिए सभी को तृप्ति का अनुभव होता है। परन्तु कालान्तर में फिर एक नई इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार मुक्ति प्राप्त हो जाने पर एक ऐसे अनुपम जीवन का उदय होता है जिसमें न तो किसी प्रकार का अभाव ही है और न चाह की उत्पति ही है। इस प्रकार अचाह पद साधन है नित्य तृप्ति का।

अब विचार यह करना है कि अचाह साधन कब है?-वासनाओं की निवृत्ति में। अचाह साध्य कब है?-लक्ष्य की पूर्ति में। क्योंकि चाह की पूर्ति में भी एक अचाह है और चाह की निवृत्ति में भी एक अचाह है। चाह की निवृत्ति में और पूर्ति में क्या अन्तर है? चाह की निवृत्ति की बात वहीं कही जाती है, जहाँ परिस्थिति से सम्बन्ध रखने वाली चाह की उत्पत्ति हो और चाह की पूर्ति की बात प्राप्ति को चाह की पूर्ति और वासनाओं की निवृत्ति को चाह की निवृत्ति कहेगे। चाह की निवृत्ति और चाह की पूर्ति, ये दोनों एक मालूम होते हुए भी एक बड़ा ही विचित्र भेद रखती हैं। चाह की निवृत्ति में दुख की निवृत्ति निहित है और चाह की पूर्ति में आनन्द की उपलब्धि निहित है।

दु:ख की निवृत्ति और आनन्द की उपलब्धि, इन दोनों को जो मानते हैं, वे चाह की निवृत्ति के साथ-साथ चाह की पूर्ति की भी चर्चा करते हैं और जो केवल दु:ख की निवृत्ति को ही साध्य मानते हैं, वे अचाह-पद को प्राप्त कर मौन हो जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि चाह की निवृत्ति के पश्चात् चाह की पूर्ति नहीं हुई। मिलता क्या है? मिलता वह है, जो सत्य है। सत्य उसे नहीं कहते, जो किसी के न मानने से अथवा किसी के वर्णन न करने से न रहे। सत्य तो उसे कहते हैं, जो आप जाने तो सत्य, न जानें तो सत्य, माने तो सत्य, न माने तो सत्य और उसके सम्बन्ध मे मौन रहे तो सत्य। अत: दु:ख की निवृत्ति के पश्चात् जो उपलब्ध होता है, उसका नाम सत्य है। तो, अन्तर केवल इतना रहा कि जिन्होंने वर्तमान पर ही विचार किया और भविष्य के लिए मौन हो गए, वे तो यही कहेगे कि चाह की निवृत्ति ही जीवन है। और जिन्होंने वर्तमान के परिणामों पर भी विचार किया, वे कहेगे कि चाह की पूर्ति भी जीवन है। अर्थात् दु:ख की निवृत्ति भी जीवन है और आनन्द की उपलब्धि भी जीवन है।

एक बार मैं अपने एक साथी से चर्चा कर रहा था। दूसरे भाई ने कि आपके और उनके विचारों में क्या भेद है? उन्होंने बड़े सुन्दर शब्दों कहा कि मैं तो यह कहता हूँ कि गरमी मिट जायगी और स्वामी जी यह हैं कि ठण्डा बगीचा भी मिल जायगा। और कोई अन्तर नहीं है।

तो, मेरा आग्रह यह नहीं है कि हर एक भाई चाह की निवृत्ति और चाह की पूर्ति दोनों को ही मानें। किन्तु निवेदन यह है कि चाह की निवृत्ति में आपका पुरुषार्थ अपेक्षित है और चाह की निवृत्ति के पश्चात् जिस जीवन से अभिन्नता होती है, उसमें कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं रहता। क्योंकि चाह का समूह जो सीमित अहम् था, वह चाह की निवृत्ति से मिट जाता है। प्रयत्न का जन्म जिस अहम् से होता है, वह अहम् नहीं रहा।

जो अप्रयत्न जीवन है उसकी चर्चा करें, तो कोई विशेषता नहीं आ जाती और न करे तो कोई क्षति नहीं हो जाती। इसलिये अचाह तक तो सब विचारकों का एक मत है और उसके पश्चात् जो अप्रयत्न जीवन है, उसमें अपना-अपना दृष्टिकोण है। कोई मुक्ति के पश्चात् भक्ति मानता है और कोई मुक्ति के पश्चात् मौन हो जाता है। किन्तु मुक्ति तक तो सभी साथ हैं।

अब प्रश्न यह है कि जब अचाह-पद ही मुक्ति-पद है, तो अचाह-पद की प्राप्ति हमें कैसे हो? उसके लिये अभी निवेदन किया कि अपने जाने हुए ज्ञान का आप अनादर न करें। और आप यह जानते हैं कि सब परिस्थितियों में आप एक हैं, सब परिस्थितियों में आप अपरिवर्तनशील हैं। तो अपने अपरिवर्तनशील जीवन को इस परिवर्तनशील जीवन में मिलाकर न देखें, अलग करके अनुभव करें। और उसका अनुभव कल पर न छोड़े, भविष्य पर न छोड़े, वर्तमान में करें। वर्तमान उसको कहते हैं, जिसके लिये लेशमात्र भी भविष्य अपेक्षित न हो।

एक और गहरी बात है कि वर्तमान में जिसका अनुभव होगा, उसके लिये कोई भी प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा। यह बड़ी रहस्यभरी बात है और इसमें बहुत से लोग उलझ जाते हैं। उलझन यह होती है कि प्रयत्न तो उत्पन्न होता है अहम् भाव से और अनुभव होता है, अहम् मिटने से। बोध 'तत्व' है और अहम् 'कृति' है। ज्ञान कृति-रहित है। जो कृति-रहित है, उसे कृति से नहीं प्राप्त कर सकते। कहा यह जाता है कि वर्तमान में अनुभव करें, पर यहाँ 'करें' का अर्थ यत्नसूचक नहीं है। अनुभव के लिये अप्रयत्न ही प्रयत्न है। अप्रयत्न होते ही अहम् मिटने लगता है; गुणों का आश्रय छूटने लगता है। ऐसी दशा में कभी-कभी साधक घबराकर पुन:

अहम् के द्वारा प्रयत्न करके अपने परिस्थिति-जन्य मोह को सुरक्षित रखने लग जाता है, जो वास्तव में प्रमाद है। अत: साधक बड़ी सावधानी से अपने उस जीवन का कि जिसमें परिवर्तन न हुआ है और न होगा, अनुभव किसी कृति द्वारा न करें, प्रयत्न द्वारा न करें, किन्तु अप्रयत्न होकर ही करें।

यदि कोई कहे कि अनुभव करना और अप्रयत्न होना ये दो विरोधी बातें हैं? तो अप्रयत्न होना और अनुभव करना इनमें विरोध नहीं है। अनुभव करना लक्ष्य है, अप्रयत्न साधन है। यह नियम है कि साधन पूर्ण होने पर साध्य से अभिन्न हो जाता है। अत: अप्रयत्न होने पर लक्ष्य से स्वतः अभिन्नता हो जाती हे।

अप्रयत्न होने के लिये अन्त:-बाह्य मौन होना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि अन्त:-बाह्य मौन ही अप्रयत्न है। अन्त:-बाह्य मौन एक ऐसा सुगम, स्वाभाविक और समर्थ साधन है कि जिसके सिद्ध होने पर सबल-से-सबल और निर्बल-से-निर्बल सभी साधक समान हो जाते हैं। बोलने में भेद है, पर न बालने में कोई भेद नहीं। देखने मे भेद है, न देखने में कोई भेद नहीं। सुनने मे भेद है, न सुनने में कोई भेद नहीं। गति में भेद है, गति-रहित होने में कोई भेद नहीं। सोचने-समझने में तथा चिंतन में भेद है, पर उनके न होने में कोई भेद नहीं है। जिस साधन में सभी साधन विलीन हो जाते हैं, उसी को साधन मानना होगा। इस अन्तिम साधन में सभी साधक एक हैं। किन्तु यह साधन किस प्रकार होगा? हमें न देखने के लिये सही देखना होगा, न बोलने के लिए सही बोलना होगा, न सुनने के लिये सही सुनना होगा, न सोचने के लिये सही सोचना होगा।

इसी का नाम है, जो करना चाहिए, उसको करना। यह नियम है कि जो करना चाहिए उसके करने से, न करना स्वतः आ जाता है और फिर उससे उपर्युक्त साधन की सिद्धि हो जाती है। यदि कोई कहे कि बिना सही किये हम 'न करना' प्राप्त कर लेगे, तो यह कभी सम्भव नहीं है। कारण कि, करने का राग सही करने से ही निवृत्ति होता है। सही करने का अर्थ है, जिस प्रवृत्ति से जिनका सम्बन्ध है, उनके अधिकार की रक्षा। जैसे, हम वही बोले, जिससे सुनने वाले का हित तथा प्रसन्नता हो और

अगर हम वैसा न बोल सके, तो बोलने के राग से रहित होकर मौन हो जायें।

एक बार मेरे जीवन में घोर दु:ख हुआ। उस दु:ख से दु:खी होकर सोचने लगा कि मुझे इस अभावयुक्त जीवन को नहीं रखना चाहिये। जिस जीवन की माँग संसार को नहीं है, उस जीवन को रखने से कोई लाभ नहीं। यह नियम है कि यदि दु:खी अपने दु:ख का कारण किसी और को न माने, तो दु:ख दु:खों के प्रमाद का विनाश कर देता है। यह जो हम आज दु:खी होते हैं और हमारा विकास नहीं होता है, उसका कारण एक-मात्र यही है कि हम दु:ख का कारण दूसरों को मानते हैं। यदि हम अपने दु:ख-काल में अपने दु:ख का कारण किसी और को न माने, तो वह हमारा दु:ख हमारे प्रमाद को खा लेता है और जब वह दु:ख प्रमाद को खा लेता है, तो जीवन में एक नवीन आशा का संचार हो जाता है और एक ऐसा पथ दीख जाता है, जो चेतना देता है। दु:खी में कर्तव्य-परायणता का उदय हो जाता है।

जब दु:ख ने मुझ पर कृपा की और मेरे प्रमाद को हर लिया, तब मैं विचार करने लगा कि हे संसार देवता! तुम मुझे इसलिये नहीं चाहते कि मैं तुम्हारे काम नहीं आ सका; पर, तुम भी तो मेरे काम न आ सके। इस विचार के दृढ़ होते ही मुझे अपने में और संसार में समानता का अनुभव होने लगा। उसके होते ही दीनता का दु:ख मिट गया, उसके मिटते ही अभिमान भी गल गया, उसके गलते ही जीवन विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो गया, और फिर जो मेरे बिना रह सकता है, उसके बिना रह सकने का साहस हो गया, जिसने जीवन को साधन-युक्त कर दिया और मैंने यह नियम बना लिया कि उन प्रवृत्तियों का आरम्भ ही न करूंगा जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं है। कुछ काल निवृत्ति में रहने में सर्वहितकारी प्रवृत्ति की शक्ति स्वतः आ जाती है, यह प्राकृतिक नियम है।

अतः जब मैं संसार से विमुख होकर शान्त रहने लगा, तब संसार को स्वतः आवश्यकता होने लगी। किन्तु, जब-जब सम्मान के रस में आबद्ध हुआ, तब-तब संसार मुझसे विमुख होने लगा। मेरा यह अनुभव है कि संसार से सुख लेने की आशा ने ही सदैव दु:ख दिया है और बेचारे

दुःख ने सदैव संसार से निराश होने का पाठ पढ़ाया है, जिससे दुःख-से-दुखी को भी नित्य-चिन्मय आनन्द मिला है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि साधक भयंकर से भयंकर परिस्थिति में भी साधन का निर्माण कर सकता है और साध्य से अभिन्न हो सकता है।

उपर्युक्त पाठ ने बोलने की सामर्थ्य होते हुए भी वाणी को मौन कर दिया, गति रुकने लगी, चञ्चलता स्थिरता में बदलने लगी, और जैसे-जैसे चंचलता स्थिरता में बदलने लगी, वैसे-वैसे छिपे हुए राग की पूर्ति भी होने लगी। अर्थात् जिस दुःख से दुःखी होकर मन संसार से निराश हुआ था, वह दुःख सुख में बदलने लगा। यह मेरा ही अनुभव नहीं है, बहुत-से साधकों का अनुभव है। कारण कि, यह नियम है, कि जिस कठिनाई को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाता है, वह कठिनाई स्वयं हल हो जाती है। शान्तिपूर्वक सहन करने का अर्थ है, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानकर दुःख को सहन कर लेना। सुख आने पर अपने-से दुखियों को बिना किसी अभिमान के वितरण कर देना चाहिये, चूंकि सुख वास्तव में दुखियों की ही धरोहर है, उसे अपना नहीं मानना चाहिये। अन्तर केवल यह है कि आस्तिक उस सुख को प्रभु के नाते दुखियों को भेंट करता है, तत्वज्ञ सर्वात्मभाव से और सेवक विश्व के नाते।

यह नियम है कि जिसके नाते कोई कार्य किया जाता है, कर्ता प्रवृत्ति के अन्त में उसी में विलीन हो जाता है, अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। तो यदि किसी की चाह पूरी कर सकते हैं, तो पूरी करें, किन्तु यह अवश्य देख ले कि जिसकी चाह पूरी करने हम जा रहे हैं, उसमें अपना सुख है, अथवा उसका हित है? यदि उसमें आपको उसका हित दिखाई दे, तो अवश्य पूरा कर दे। यदि उसमें अपना सुख ही दिखाई दे, तो उसे दुःख का आह्वान समझे। यह बड़े ही रहस्य की बात है। जब हम किसी की चाह पूरी करने जायें और सोचे कि उसमें उसका हित निहित है, तो समझना चाहिये कि हम समाज के ऋण से मुक्त होकर आनन्द की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

आनन्द किसको मिलता है? जिसकी प्रवृत्ति दूसरों के हित के लिये हो, और जिसकी निवृत्ति वासना-

रहित हो। दु:ख किसके पास आता है? जिसकी प्रवृत्ति अपने सुख के लिये हो, अथवा जिसकी निवृत्ति वासना-युक्त हो।

यदि आपको दु:ख बुलाना है, तो अपने सुख के लिये प्रवृत्ति कीजिये। यदि आपको आनन्द अपनाना है,तो दुसरो के हित की प्रवृत्ति कीजिये। यदि असमर्थ हैं, तो मौन हो जाइए। ऐसा करने से अहंभाव गल जाएग, और अनन्त चिन्मय नित्य जीवन से अभिन्नता हो जायगी। जहाँ प्रवृत्ति के द्वारा साधन की सुविधा न हो, वहाँ वासना-रहित निवृत्ति अपना लेनी चाहिए। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों दायें-बायें पैर के समान साधन-क्रम हैं। जैसे दोनों पैरों से यात्रा सुगमता-पूर्वक हो जाती है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में हमारी जो साधना-रूप यात्रा है, वह सुगमतापूर्वक पूरी हो जाती है और हम अपने साध्य तक पहँच जाते हैं।

केवल प्रवृत्ति अथवा केवल निवृत्ति के द्वारा ही जो अपने लक्ष्य तक की होती है, जिसमें असफलता की कोई आशा नहीं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति, और वासना-रहित निवृत्ति, ये साधना के मूल हैं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वही कर सकता है, जो यह विश्वास करता है कि विश्व एक जीवन है अथवा यह मानता है कि मेरा व्यक्तिगत जीवन विश्व के अधिकारों का समूह है। अथवा यों कहो कि जो कर्म-विज्ञान के रहस्य को जान लेता है, वह सर्वहितकारी प्रवृत्ति में परायण होता है। कारण कि, यह नियम है कि प्रवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब उस प्रवृत्ति में दूसरों का हित निहित हो और निवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब सभी वस्तुओं, अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन पर विश्वास हो और विवेक-पूर्वक अचाह-पद प्राप्त कर लिया हो।

जो चाह-रहित जीवन पर विश्वास नहीं करते, वे निवृत्ति के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। हाँ, एक बात अवश्य है कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति से वास्तविक निवृत्ति की योग्यता आ जाती है और वास्तविक निवृत्ति से जीवन सर्वहितकारी प्रवृत्ति के योग्य बन जाता है। अत: हम जिस अंश में सुखी हों, उस अंश में सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सुखासक्ति से मुक्त होने का प्रयत्न करें और जिस अंश में दु:खी हों, उस अंश में अचाह

होकर वास्तविक निवृत्ति द्वारा दु:ख के भय से मुक्त होकर अचाह-पद प्राप्त करें। अचाह होने पर भी हम अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं और सुखासक्ति मिट जाने पर भी हम अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं।

अत: सुखासक्ति से मुक्त होकर तथा दु:ख के भय से रहित होकर हम बहुत सुगमतापूर्वक प्रत्येक परिस्थिति में साधन-निर्माण कर विद्यमान मानवता विकसित कर सकते हैं, जिसके आ जाने पर बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर स्वतः हो जाता है। बल का सदुपयोग करने से हम बल की दासता से मुक्त हो जाते हैं, और विवेक का आदर करने से बल के सदुपयोग की योग्यता आ जाती है। बल का सदुपयोग वही कर सकता है, जो बल का दास नहीं है, अपितु उसका स्वामी है। बल का दास तो बेचारा बल के अभिमान में आबद्ध रहता है, जो वास्तव में एक निर्बलता है। बल का सदुपयोग करते समय बल को निर्बलों का अधिकार ही समझना चाहिये, तभी बल की दासता से मुक्त हो सकेंगे।

विवेक का आदर करने पर देहाभिमान मिट जायगा, जिसके मिटते ही भिन्नता मिट जायगी। भिन्नता मिटते ही सब प्रकार के संघर्षों का अन्त हो जायगा और फिर स्नेह की एकता प्राप्त होगी, जो वास्तव में मानवता है। स्नेह कि एकता प्राप्त होने पर वास्तविक निर्दोषिता प्राप्त होती है और निर्दोषिता आ जाने पर एक ऐसे जीवन कि उपलब्धि होती है,जिसके लिए कोई परिस्तिथि अपेक्षित नहीं है, अर्थात् जो सभी परिस्थितियों से अतीत है। बलवान उस जीवन को बल के सदुपयोग से और निर्बल उस जीवन को अन्तर-बाह्य मौन, अचिंतता एवं निवृत्ति से प्राप्त कर सकते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक मानव अपनी योग्यतानुसार साधन-निर्माण करने में सर्वदा स्वतन्त्र है, और यह नियम है कि प्राप्त योग्यतानुसार साधन का निर्माण करने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है।

॥ॐ॥

बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर

(दिनांक 15 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल आपकी सेवा में निवेदन किया था कि अचाह पद प्राप्त होने पर अथवा सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना लेने पर हम अपने को साधन-तत्व से अभिन्न कर सकते हैं। साधन-तत्व से अभिन्न होने पर ही साध्य की उपलब्धि हो सकती है, ऐसा नियम है।

अब विचार यह करना है कि अचाह-पद प्राप्त करने हेतु सर्वहितकारी प्रवृत्ति सुरक्षित रखने के लिये हमें क्या करना है? गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम प्राप्त बल का दुरुपयोग न करें और अपने विवेक का अनादर न करें, तो बड़ी ही सुगमता से अचाह-पद प्राप्त कर सकते हैं और सर्वहितकारी प्रवृत्ति को भी सुरक्षित रख सकते हैं। बल का सदुपयोग और विवेक का आदर अत्यन्त आवश्यक साधन हैं। हमारे जीवन में जितनी भी दुर्बलताएँ हैं, उनका मूल कारण एक-मात्र प्राप्त बल का दुरुपयोग है, और जितनी बेसमझी है, उसका मूल कारण एक-मात्र विवेक का अनादर है।

यदि हमें सभी निर्बलताओं का अन्त करना है, तो बल का सदुपयोग करना होगा और बेसमझी दूर करनी है, तो विवेक का आदर करना होगा। दोष-युक्त प्रवृत्ति बल के दुरुपयोग करने वाले से ही होती है, निर्बल से नहीं। निर्बल तो उसे कहते हैं जो कुछ कर न सके। दोष-युक्त प्रवृत्ति नहीं होती, जो कुछ नहीं जानता। दोष-युक्त प्रवृत्ति उससे होती है,उससे भी नहीं होती, जो कुछ नहीं जानता। दोष-युक्त प्रवृत्ति उससे होती है जो निज-ज्ञान का अनादर करता है। इस दृष्टि से हमारे जीवन में जितने भी दोष हैं, उनका एक-मात्र कारण है-विवेक का अनादर तथा बल दुरुपयोग। बल के दुरुपयोग से केवल हम से ही निर्बल समाज में निर्बलता फैलती है और विवेक से अनादर नहीं आता, बल्कि सारे समाज में बेसमझी फैलती है। अत: बहुत ही सावधानीपूर्वक हमें बल का

सदुपयोग करना है और विवेक का आदर।

बल के सदुपयोग का अर्थ है-हमारा बल किसी और की निर्बलता का हेतु न बन जाय, और विवेक के आदर का अर्थ है-हम अपने को धोखा न दें। झूठ क्या है? जिसे हम स्वय जानते है। सत्य से असत्य की ओर हम तभी जाते है, जब हम अपने को धोखा देते है, और यह नियम है कि जब हम सत्य से असत्य की ओंर जाते हैं, तभी अमरत्व से मृत्यु की ओर भी गति-शील होते है, अर्थात हमारी गति विपरीत हो जाती है। यह विपरीत गति विवेक के अनादर का ही परिणाम है। जब हमसे कोई भूल हो जाती है, तो उसका कारण हम किसी और को मानने लगते है, जो वास्तव में हमारा प्रमाद है।

कोई कहने लगता है, हमारा संस्कार अच्छा नहीं था। कोई कहने लगता है, हमारी परिस्थिति अनुकूल नहीं थी। कोई कहता है, हमको योग्य गुरु नहीँ मिला। कुछ लोग तो यहीं तक कहेगे कि प्रभु ने कृपा नहीं की। अर्थात्, हम अपनी भूल का कारण अपने को न मानकर, दूसरों को मानने लगते है जो मानवता की दृष्टि से सहीं नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि परिस्थिति चाहे जैसी हो, या तो सुखमय होगी या दुखमय। सुखमय परिस्थिति में भी बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर किया जा सकता है और दुखमय परिस्थिति में भी बल का सदुपयोग और विवेक का आदर किया जा सकता है। अत: परिस्थिति का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग तथा विवेक का आदर अथवा अनादर किसी परिस्थिति विशेष पर निर्भर नहीं है, अपितु इसमें मानवता अथवा अमानवता ही हेतु है।

संस्कार जितने भी होते हैं, वे सब हमारे द्वारा ही सत्ता पाते हैं। यदि हम उन्हें स्वीकार न करें अथवा उनका शासन न माने, तो बेचारे संस्कार अपने-आप मिट जाते हैं, अथवा बदल जाते हैं। यदि कोई कहे कि हमें योग्य गुरु नहीं मिला। तो हमें विचार करना चाहिए कि गुरु का काम क्या है? गुरु का काम है-साधक के योग्यतानुसार साधन का निर्माण तथा उसके दोषों का ज्ञान कराना। दोनों बातें प्रत्येक भाई-बहन अपने विवेक के आदर से स्वतः जान सकते हैं। अत: यह कहना भी नहीं बनेगा कि हमें योग्य गुरु नहीं मिला। कोई भी

गुरु और ग्रन्थ हमें ऐसी बात बता ही नहीं सकते, जोकि हमारे विवेक में निहित नहीं है।

आप विचार कीजिये, जिसे हम बुराई कहते हैं, क्या उसका ज्ञान हमें नहीं है? यदि बुराई का ज्ञान न होता, तो हम दूसरों से अपनी भलाई की आशा क्यों करते? भलाई की आशा यह सिद्ध करती है कि हमें भलाई और बुराई का भली-भाँति ज्ञान है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु का बहाना ढूंढ़ना भी निज-विवेक का अनादर ही है। अब रही भगवान् की बात। सो आप विचार करके देखें कि क्या वह भी भगवान् हो सकता है, जो कृपा न करे? यदि भगवान कृपा न करते तो क्या हमें मानव-जीवन मिलता? मानव उसकी हम पर अहैतुकी कृपा है। पर उसका अनुभव उन्हीं उनके दिये हुए बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करने से होता है।

मानव-जीवन साधन-युक्त जीवन है। अत: हमें अपना साधन-निर्माण न करने में अपन्नी भूल माननी चाहिए। इस दृष्टिकोण को अपना लेने पर कुछ भी कहने का साहस नहीं होता और अपनी ओर देखना पड़ता है। हम अपनी ही भूल से प्राप्त बल का दुरुपयोग तथा का अनादर करते हैं। जाने हुए की भूल को ही भूल कहते हैं। भूल क्या है; जब घड़ी की जरूरत हुई, तब उसे मालूम होता है, कि न जाने घड़ी कहाँ है? किन्तु जेब की वस्तु-स्थिति जैसी-की-तैसी रहती है, उस भूल-काल में भी और मिलने पर भी। मिलने पर वह कहने लगता है, भाई! घड़ी तो जेब में ही थी।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भूल उसे कहते हैं, जिसे जानते हैं। किन्तु जानते हुए भी, न जानने जैसी स्थिति हो गई हो। जानते हुए, न जानने जैसी स्थिति का नाम ही वास्तव में भूल है। वह भूल कब तक जीवित रहती है? जब तक हम अपने विवेक का उपयोग अपने पर नहीं करते। जब हम विवेक का उपयोग अपने पर करने लगते हैं और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश में ही करते हैं, तब भूल अपने-आप मिट जाती है। भूल मिटाने का अर्थ है-विवेक का आदर और भूल बनाये रखने का अर्थ है-विवेक का अनादर। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई-बहन अपनी भूल को अपने विवेक से मिटा सकते हैं।

विवेक का आदर जीवन का आदर है। बल का सदुपयोग जीवन का सदुपयोग है। विवेक के आदर के बिना हम कभी अपने जीवन का आदर नहीं कर सकते और बल का सदुपयोग किये बिना हम कभी अपने जीवन का सदुपयोग नहीं कर सकते। अथवा यों कहें कि विवेक का आदर और बल का सदुपयोग ही वास्तव में जीवन है। इससे भिन्न को जीवन नहीं कह सकते, मृत्यु कह सकते हैं। जब हमें जीवन प्राप्त करना है, तो बल के दुरुपयोग का कोई स्थान नहीं है, विवेक के अनादर का कोई स्थान नहीं है। यदि बल का दुरुपयोग न हो, तो बुराई जैसी चीज देखने में नहीं आती और विवेक का अनादर न हो, तो बेसमझी के कहीं दर्शन नहीं होते। बेसमझी वहीं है, जहाँ विवेक का अनादर है। बुराई वहीं है, जहाँ बल का दुरुपयोग है। इस बात को मान लेने के बाद हम और आप एक ऐसे जीवन की ओर अग्रसर होने लगते हैं, जो वास्तव में जीवन है, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का भय नहीं है, अभाव नहीं है। भय का अन्त और अभाव का अभाव करने में साधन-युक्त जीवन ही समर्थ है और साधन का सार है- बल का सदुपयोग और विवेक का आदर।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विवेक का आदर करने में कठिनाई क्या है? कठिनाई यह है कि हम मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार को ही जीवन मान लेते हैं। यदि हम विवेक-पूर्वक मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार से अपने का असंग कर लें, अथवा उसमें जीवन-बुद्धि न रखें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक विवेक का आदर कर सकते हैं।

यदि हम यह जानना चाहे कि हमारा समस्त जीवन, अर्थात् मन, इन्द्रिय आदि का व्यापार विवेक के प्रकाश से प्रकाशित है अथवा नहीं। तो उसकी कसौटी यह होगी कि हम मन, इन्द्रिय आदि से उत्पन्न हुई प्रवृत्तियों को देखें कि क्या वे ही प्रवृत्तियाँ दूसरों के द्वारा अपने प्रति होने पर हमें उन प्रवृत्तियों में अपना हित तथा अपनी प्रियता प्रतीत होती है? यदि नहीं होती, तो जान लेना चाहिए कि अभी मन, इन्द्रिय आदि में अविवेक का अन्धकार विद्यमान है और उसे विवेक के प्रकाश से सदा के लिए मिटाना है।

अविवेक का अन्धकार हमें इन्द्रियों के व्यापार में आबद्ध करता है। इन्द्रियों का व्यापार हमें विषयों में आसक्त करता है। विषयों की आसक्ति हमारे देहाभिमान को पुष्ट करती है और देहाभिमान हमें अमरत्व से मृत्यु की ओर ले जाता है। अत :यदि हम मृत्यु से अमरत्व की ओर जाना चाहते हैं, तो विवेकपूर्वक देहाभिमान का अन्त करना होगा। देहाभिमान का अन्त करने के लिए इन्द्रियों के व्यापार द्वारा जो सुख मिलता है, चित्त के चिन्तन द्वारा जो सुख मिलता है, स्थिरता द्वारा जो सुख मिलता है, इन सुखों की आसक्ति का त्याग करना होगा। ये तीन प्रकार के सुख देहाभिमान के आधार पर ही भोगे जा सकते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख-लोलुपता जब तक जीवन में रहेगी, तब तक देहाभिमान का अन्त न हो सकेगा। और ज्यों-ज्यों सुख-लोलुपता मिटती जायेगी अथवा जीवन की लालसा जागृत होती जायेगी, त्यों-त्यों देहाभिमान अपने-आप मिटता जायेगा। सुख-लोलुपता ने ही हमें देहाभिमान में आबद्ध किया है।

तत्व-जिज्ञासा कहो अथवा मानवता की मांग कहो अथवा प्रिय की लालसा कहो, ये तीनों ही दृष्टि-भेद से भले ही अलग-अलग हों, किन्तु वास्तव में एक हैं। अपने को मानव मानकर जिसे हम मानवता कहते है, जिज्ञासु मानकर उसी को तत्व-जिज्ञासा कहते है, भक्त मानकर उसी को प्रिय की लालसा कहते है और विषयी मानकर उसी को शक्ति कहते हैं। सारांश यह निकला कि आसक्ति को ही प्रिय की लालसा, तत्व-जिज्ञासा अथवा मानवता में परिणत करना हैं। आसक्ति को तत्व-जिज्ञासा, प्रिय की लालसा एबं मानवता में हम तभी परिणत कर सकेगें, जब हृदय सन्देह की वेदना से भरा हो, प्रभु के अति सरल बिश्वास से परिपूर्ण हो एवं निर्दोषता प्रिय हो।

सरल बिश्वास उसे कहते है, जिसमें कोई विकल्प न हो, जो सहज भाव से प्राप्त हो, जिसमे यह विश्वास हो कि प्रभु मेरे है और मैं प्रभु का हूँ। 'वह' कहा है? कैसा है? यह न जानते हुए भी जिसे अपने और प्रभु के नित्य-सम्बन्ध पर विश्वास हो, उसी का नाम सरल विश्वास है। अर्थात्, जो यह मान लेता है कि मैँ प्रभु का हूँ उसकी

आसक्ति प्रिय की लालसा में बदल जाती है। जो अपने जाने हुए सन्देह को सहन नहीं कर सकता, उसी की आसक्ति तत्व-जिज्ञासामे बदल जाती है। सन्देह कुछ न जानने पर नहीं होता और सब कुछ जानने पर भी नहीं होता।

सन्देह की उत्पति तब होती है, जब हम कुछ जानते हो और कुछ' न जानते हो, अर्थात् अधुरी जानकारी हो। सन्देह की वेदना ही तत्व-जिज्ञासा जागृत करती है और तत्व-जिज्ञासा आसक्ति को भस्मीभूत कर देती है। आसक्ति का अन्त होने पर तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति, प्रिय की लालसा की नित...नव जागृति और मानवता की प्राप्ति हो जाती हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी आसक्ति ही हमारे अभीष्ट की प्राप्ति में बाधक है, और कोई नहीं। अतएव हमारे विकास के लिए हमें सबसे पहले अपनी आसक्तियों का ही पता लगा लेना चाहिए आसक्तियों को जानने के लिये हमें अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन करना होगा और वस्तु-स्थिति का अध्ययन करने के लिए जो ज्ञान हमें प्राप्त है, उसके प्रकाश में हमें अपने समग्र जीवन को रखना होगा समग्र जीवन का अर्थ है-अपनी चेष्टाएँ, सङ्कल्प तथा चिन्तन आदि।

ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसके जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का विश्वास न हो, किमी-न-किसी प्रकार का चिन्तन न हो, किमी-न-किसी प्रकार की प्रवृत्ति न हो। जब हमारी सभी चेष्टाएँ, संकल्प तथा चिन्तन निज विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो जाते है तब उनमें शुद्धता आ जाती है।शुद्धता आते ही बुरे संकल्प सदा के लिये मिट जाते है और भले संकल्प स्वतः पूरे हो जाते है, व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है, सार्थक-चिन्तन उदित हो जाता है; दूषित प्रवृत्ति मिट जाती है, शुद्ध प्रवृत्ति उदित हो जाती है; जो विश्वास नहीं करना चाहिये वह मिट जाता है और जो विश्वास होने चाहिए वह हो जाता है। इन सब बातों के समूह का नाम साधन-तत्व है।

साधन-निर्माण के लिये अधिकार-भेद से विश्वास भी अपेक्षित है चिन्तन भी अपेक्षित है, प्रवृत्ति भी अपेक्षित है और सम्बन्ध भी अपेक्षित है। पर, सम्बन्ध किसके साथ हो? विश्वास किस पर हो? चिन्तन किसका हो? प्रवृत्ति कैसी हो? इन्हीं पर विचार

करना है। इन्हीं को देखना है। केवल भगवत्-विश्वास अथवा कर्तव्य-विश्वास ही साधन-रूप विश्वास है। तत्व-चिन्तन अथवा प्रिय-चिन्तन ही सार्थक-चिन्तन है। जिस प्रवृत्ति में दूसरे का हित निहित है, वहीं सार्थक प्रवृत्ति है, सबसे अथवा अपने से अथवा प्रभु से सम्बन्ध जोड़ना ही सार्थक सम्बन्ध है।

इसका यह अर्थ हुआ कि जितनी भी चीजें हमारे जीवन में हैं, वे सब ज्यों-की-त्यों हैं पर, उनके रूप और स्थान बदल गये। स्थान बदलते ही वे साधन-रूप हो गये और साधन-रूप होते ही साधक और साधन में अभिन्नता हो गई तथा साधन से अभिन्नता होते ही साध्य की प्राप्ति हो गई। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम सब साधक बनने में सर्वदा स्वतन्त्र हैं, परतन्त्र नहीं। कारण, कि जिस सामग्री की आवश्यकता साधन में होती है, वह सारी सामग्री हमारे और आपके पास है।

विश्वास वही सुरक्षित रहता है, जिसमें अपनी अनुभूति का विरोध न हो। आज हम अपने विश्वास की खोज करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जागृति तथा स्वप्न की सभी वस्तुएँ गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति में हमें प्रतीत नहीं होतीं। पर हम उस समय दु:ख से रहित होते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हम दु:खी नहीं होते। हमारी यह वाली वस्तुओं के विश्वास को खा लेती है। जिन वस्तुओं की प्रतीती सुषप्ति में ही नहीं रहती, उनका अस्तित्व भला,समाधि और मुक्तिमें कैसे रहेगा?

यघपि विश्वास बड़े ही महत्व की वस्तु है, पर वह भगवान् के प्रति हो, कर्तव्य के प्रति हो, अपने गुरु के प्रति हो अथवा अपने पर हो। इसके अतिरिक्त विश्वास का साधन में कोई स्थान नहीं है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त विश्वासों के अतिरिक्त क्या हम उन वस्तुओं पर जो प्राप्त हैं अथवा निकटवर्ती सम्बन्धियों पर एवं अन्य व्यक्तियों पर विश्वास न करे? तो कहना होगा-'न करें'। तो क्या करें? वस्तुओं का सदुपयोग करें और व्यक्तियों की सेवा करें। आपको जो व्यक्ति मिला है, वह विश्वास करने के वास्तव में एक हैं। अपने को मानव मानकर जिसे हम मानवता कहते हैं, जिज्ञासु मानकर उसी को तत्व-जिज्ञासा कहते हैं, भक्त मानकर उसी को प्रिय। यह निकला

कि आसक्ति को ही प्रिय की लालसा, तत्व-जिज्ञासा अथवा मानवता में परिणत करना है। आसक्ति को तत्व-जिज्ञासा, प्रिय की लालसा एवं मानवता में हम तभी परिणत कर सकेंगे, जब हृदय सन्देह की वेदना से पीड़ित हो, प्रभु के प्रति सरल विश्वास से परिपूर्ण हो एवं निर्दोषता प्रिय हो।

सरल विश्वास उसे कहते है, जिससे कोई विकल्प न हो, जो सहज भाव से प्राप्त हो, जिसमें यह विश्वास हो कि प्रभु मेरे हैं और मैं प्रभु का हूँ। 'वह' कहाँ है? कैसा है? यह न जानते हुए भी जिसे अपने और प्रभु के नित्य-सम्बन्ध पर विश्वास हो, उसी का नाम सरल विश्वास है। अर्थात्, जो यह मान लेता है कि मैं प्रभु का हूँ, उसकी आसक्ति प्रिय की लालसा में बदल जाती है। जो अपने जाने हुए सन्देह को सहन नहीं कर सकता, उसी की आसक्ति तत्व-जिज्ञासा में बदल जाती है। सन्देह कुछ न जानने पर नहीं होता और सब कुछ जानने पर भी नहीं होता।

सन्देह की उत्पति तब होती है, जब हम कुछ जानते हों और कुछ न जानते हों, अर्थात् अधूरी जानकारी में। सन्देह की वेदना ही तत्व-जिज्ञासा जागृत करती है और तत्व-जिज्ञासा आसक्ति को भस्मीभूत कर देती है। आसक्ति का अन्त होने पर तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति, प्रिय की लालसा की नित-नव जागृति और मानवता की प्राप्ति हो जाती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी आसक्ति ही हमारे अभीष्ट की प्राप्ति में बाधक है, और कोई नहीं। अतएव हमारे विकास के लिए हमें सबसे पहले अपनी आसक्तियों का ही पता लगा लेना चाहिए। आसक्तियों को जानने के लिये हमें अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन करना होगा और वस्तु-स्थिति का अध्ययन करने के लिए जो ज्ञान हमें प्राप्त है, उसके प्रकाश में हमें अपने समग्र जीवन को रखना होगा। समग्र जीवन का अर्थ है-अपनी चेष्टाएँ, सङ्कल्प तथा चिन्तन आदि।

ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसके जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का विश्वास न हो, किसी-न-किसी प्रकार का चिन्तन न हो, किसी-न-किसी प्रकार की प्रवृत्ति न हो। जब हमारी सभी चेष्टाएँ संकल्प तथा चिन्तन निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं, तब उनमें

शुद्धता आ जाती है। शुद्धता आते ही बुरे संकल्प सदा के लिये मिट जाते हैं और भले संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं, व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है, सार्थक-चिन्तन उदित हो जाता है; दूषित प्रवृत्ति मिट जाती है, शुद्ध प्रवृत्ति उदित हो जाती है; जो वह हो जाता है। इन सब बातों के समूह का नाम साधन-तत्व है। साधन-निर्माण के लिये अधिकार-भेद से विश्वास भी अपेक्षित है चिन्तन भी अपेक्षित है, प्रवृत्ति भी अपेक्षित है और सम्बन्ध भी अपेक्षित है। पर, सम्बन्ध किसके साथ हो? विश्वास किस पर हो? चिन्तन किसका हो? प्रवृत्ति कैसी हो? इन्हीं पर विचार करना है। इन्हीं को देखना है। केवल भगवत्-विश्वास अथवा कर्तव्य-विश्वास ही साधन-रूप विश्वास है। तत्व-चिन्तन अथवा प्रिय-चिन्तन ही सार्थक-चिन्तन है। जिस प्रवृत्ति में दूसरे का हित निहित है, वहीं सार्थक प्रवृत्ति है, सबसे अथवा अपने से अथवा प्रभु से सम्बन्ध जोड़ना ही सार्थक सम्बन्ध है।

इसका यह अर्थ हुआ कि जितनी भी चीजें हमारे जीवन में हैं, वे सब ज्यों-की-त्यों हैं पर, उनके रूप और स्थान बदल गये। स्थान बदलते ही वे साधन-रूप हो गये और साधन-रूप होते ही साधक और साधन में अभिन्नता हो गई तथा साधन से अभिन्नता होते ही साध्य की प्राप्ति हो गई। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम सब साधक बनने में सर्वदा स्वतन्त्र हैं, परतन्त्र नहीं। कारण, कि जिस सामग्री की आवश्यकता साधन में होती है, वह सारी सामग्री हमारे और आपके पास है।

विश्वास वही सुरक्षित रहता है, जिसमें अपनी अनुभूति का विरोध न हो। आज हम अपने विश्वास की खोज करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जागृति तथा स्वप्न की सभी वस्तुएँ गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति में हमें प्रतीत नहीं होतीं। पर हम उस समय दुःख से रहित होते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हम दुःखी नहीं होते। हमारी यह वाली वस्तुओं के विश्वास को खा लेती है। जिन वस्तुओं की प्रतीत सुषप्ति में ही नहीं रहती, उनका अस्तित्व में कैसे रहेगा?

यघपि विश्वास बड़े ही महत्व की वस्तु है, पर वह भगवान् के प्रति हो, कर्तव्य के प्रति हो, अपने गुरु के प्रति हो अथवा अपने पर हो। इसके अतिरिक्त विश्वास का साधन में

कोई स्थान नहीं है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त विश्वासों के अतिरिक्त क्या हम उन वस्तुओं पर जो प्राप्त हैं अथवा निकटवर्ती सम्बन्धियों पर एवं अन्य व्यक्तियों पर विश्वास न करे? तो कहना होगा-'न करें'। तो क्या करें? वस्तुओं का सदुपयोग करें और व्यक्तियों की सेवा करें। आपको जो व्यक्ति मिला है, वह विश्वास करने के लिए नहीं, सेवा करने के लिए मिला है। आपको जो वस्तुएँ मिली है, वह संग्रह करने के लिये अथवा विश्वास करने के लिए नहीं मिली है। वे सदुपयोग करने के लिये मिली है।

वस्तुओ का सम्बन्ध प्राण तक है, इससे आगे नहीं। प्राण का सम्बन्ध शरीर तक है, इससे आगे नहीं और शरीर का सम्बन्ध मृत्यु से पूर्व तक है, इससे आगे नहीं। आप देखिये, जिस शरीर पर हम विश्वास करते है, उसका जन्म होते ही मृत्यु आरम्भ हो जाती है। जो शरीर निरन्तर कालरूपी अग्नि में जल रहा है, उस पर विश्वास करना क्या सहीं है? इसका अर्थ कोई यह न समझे कि शरीर का नाश कर लिया जाये। क्योकि किसी वस्तु को मिटाने की बात सोचना भी उसके अस्तित्व को स्वीकार करना है और उस वस्तु से द्वेष करना है, जो वास्तव में एक प्रकार का सम्बन्ध है। अत: जो शरीर और वस्तुएं हमें प्राप्त है, उनको मिटाने की न सोचे, उनके सदुपयोग की बात सोचेगे, तो वह सही न होगा और उसका परिणाम मानवता न होकर अमानवता होगा। और वह साधन भी नहीं है। अतः बड़ी ही सावधानी से हमें प्राप्त बल तथा वस्तुओं का सदुपयोग करना है। उस सदुपयोग के लिये अपने ज्ञान के प्रकाश में | अपने जीवन को रखना है।

हमारा वर्तमान जीवन क्या है? कुछ करना, कुछ मानना और कुछ जानना। जो कुछ हम करें, वह विवेक के प्रकाश से प्रकाशित होकर करें। जो कुछ माने वह विवेक के प्रकाश में ही माने और जो कुछ जाने वह स्वयं से जाने। स्वयं से जानने का अर्थ होता है—किसी कारण द्वारा न जानें। बड़ी सूक्ष्म बात है। कारण के द्वारा हम जो कुछ जानते हैं, वह पूरा नहीं जानते। विचार कीजिए, इन्द्रियों द्वारा जिस वस्तु को आप जैसी जानते हैं, वह वास्तव में वैसी ही है क्या?

आपको मानना होगा कि वैसी नहीं है। नेत्र से सूर्य छोटा-सा दिखाई देता है, परन्तु क्या सूर्य छोटा-सा है? कहना होगा, नहीं।

ऐसे ही बुद्धि से जो हम जानते हैं, क्या वह सही जानते हैं? यद्यपि इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि का ज्ञान अधिक सही है, पर वास्तविक ज्ञान तो बुद्धि के मौन होने पर ही होता है, जो विलक्षण है। बुद्धि से जानने का भी जीवन में स्थान है, और इन्द्रियों से जानने का भी जीवन में स्थान है। इन्द्रियों द्वारा जो हम जानते हैं, उससे तो हमें केवल वस्तुओं का उत्पादन कर उपभोग करना है और बुद्धि द्वारा जो कुछ हम जानते हैं, उससे केवल वस्तुओं के सतत् परिवर्तन को जानना है।

वस्तुओं के सतत् परिवर्तन को जानकर हम राग से रहित हो जाते हैं और राग से रहित हो जाने पर बुद्धि की आवश्यकता शेष नहीं रहती। जब बुद्धि का कार्य पूरा हो जाता है, तब वह स्वतः अपने अधिष्ठान में विश्राम पर जाती है, तब हमारा मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर अविषय हो जाती हैं, अर्थात् बुद्धि के सम होते ही निर्विकल्पता, जितेन्द्रियता और समता आ जाती है।

जितेन्द्रियता से चरित्र-निर्माण और निर्विकल्पता से आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होता है, तथा समता से चिर-शान्ति आ जाती है। चिर-शान्ति आ जाने पर हमें स्वाभाविक अमर-जीवन प्राप्त हो जाता है। चरित्र-बल के समान और कोई बल नहीं है। निर्विकल्पता के समान और कोई शक्ति-संचय का साधन नहीं है और समता के समान कोई शान्ति नहीं है। यह सब कुछ मानव-जीवन में ही निहित है। इस जीवन की प्राप्ति के लिये प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के अतिरिक्त किसी अप्राप्त परिस्थिति तथा वस्तु की आवश्यकता नहीं है। यदि वस्तुओं से जितेन्द्रियता प्राप्त होती, तो उन्हें हो जाती, जिनके पास वस्तुओं का संग्रह है और यदि किसी बल-विशेष से प्राप्त होती, तो आज संसार में बल का दुरूपयोग ही क्यों होता? जब यह निश्चित है, कि जितेन्द्रियता किसी वस्तु पर निर्भर नहीं है, किसी बल पर निर्भर नहीं है, तो फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक वस्तु हमारे पास नहीं है, इसलिये

जितेन्द्रियता नहीं आ सकती? जिन साधनों से जितेन्द्रियता प्राप्त होती है, वे साधन मानव-मात्र को प्राप्त हैं।

अब आप प्रश्न कर सकते हैं कि क्या निर्बल इन्द्रिय लोलुप नहीं हो सकता? हाँ, वास्तविक निर्बल में इन्द्रिय-लोलुपता नहीं होती और न बल का सदुपयोग करने वालों में ही होती है। तो इन्द्रिय-लोलुपता पता है किसमें होती है? उसमें जो बल का दुरुपयोग करता है। भाई! आज हमें इस झगड़े में नहीं पड़ना है कि हममें कितना बल है और कितना विवेक। जितना भी बल हमारे पास है, उसका हमें सदुपयोग करना है। ज्यों-ज्यों हम बल का सदुपयोग करते जायेंगे, त्यों-त्यों आवश्यक बल प्राप्त होता जायेगा और अन्त में हम उस प्राप्त बल के अभिमान से भी मुक्त हो जायेगे।

बल के संग्रह-मात्र से कोई बल के अभिमान से मुक्त नहीं हो सकता। प्राप्त बल के सदुपयोग से जब हमें आवश्यक बल मिलेगा, तब हम बल के अभिमान से मुक्त होने के अधिकारी हो जायेंगे। बल के अभिमान से मुक्त होने का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है, जब पहले आवश्यक बल प्राप्त हो। किसी अप्राप्त वस्तु के अभिमान से मुक्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। जो आवश्यक बल है, वह निर्विकल्पता में ही निहित है। निर्विकल्पता बुद्धि की समता में निहित है और बुद्धि की समता विवेक में निहित है।

अत :विवेक से ही हम बुद्धि की समता प्राप्त करें और बुद्धि की समता से मन में निर्विकल्पता प्राप्त करें। मन में निर्विकल्पता आ जाने पर बुरे संकल्प अर्थात् अमानवता के संकल्प मिट जाते हैं और भले संकल्प अर्थात् मानवता के संकल्प पूरे हो जाते हैं। भले संकल्प पूरे होने पर और बुरे संकल्प मिट जाने पर निर्विकल्पता समता में विलीन हो जाती है।

मानवता हमें निर्विकल्पता में आबद्ध रहने के लिये विवश नहीं करती। वह हमें बताती है कि निर्विकल्पता भी एक आवश्यक स्थितिमात्र है। इससे हमें बुद्धि के सम होने की योग्यता प्राप्त होती है। समता से हमें अलौकिक विवेक से अभिन्नता प्राप्त होती है। और इसी अभिन्नता में हमें वास्तविक अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन प्राप्त होता है। उस दिव्य

जीवन का प्राप्त होना ही अपना कल्याण है।

आज जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो जीवन की साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है। यदि हमें जीवन प्राप्त होता, तो जीवन की लालसा न रहती और न किसी प्रकार का भय होता। लालसा अप्राप्त की होती है और भय किसी अभाव में होता है। क्या आज हमारा जीवन लालसा और भय से मुक्त है? यदि नहीं, तो यह मानना ही होगा कि हमें अभी वास्तविक जीवन प्राप्त नहीं हुआ।

यह नियम है कि अप्राप्त की जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है। स्वभावतः अस्वाभाविक इच्छाओं के मिटते ही बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर स्वतः होने लगता है, जो मानव में छिपी हुई मानवता को विकसित करने में समर्थ है। पूर्ण मानवता आ जाने पर ही भक्त को भगवान्, जिज्ञासु को तत्व-ज्ञान, योगी को योग, और भौतिकवादी को विश्व-प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाता है।

अब हमें यही सीखना और सिखाना है कि बल के सदुपयोग और विवेक के आदर द्वारा ही हम लोग अपने में छिपी हुई मानवता को विकसित करने में प्रयत्नशील रहे।

मानव-जीवन में एक बड़ी अलौकिक बात है। वह यह है कि यह ऐसी बात की आशा नहीं दिलाता, जिसे आप वर्तमान में प्राप्त नहीं कर सकते और न किसी ऐसी आशा की ओर ही ले जाता है, जिसकी पूर्ति दूसरों पर निर्भर हो। यदि कोई कहे कि क्या संसार से हमें कुछ नहीं मिल सकता? क्या भगवान् से हमें कुछ नहीं लेना है? तो विचार करो, यह तो प्रश्न तभी उत्पन्न हो सकेगा, जब मानवता से बढ़कर भी और कोई वस्तु हो। मानवता से संसार के तो अधिकार की रक्षा हो जाती है, जो संसार को अभीष्ट है और संसार के पास कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है, जो मानवता के लिये अपेक्षित हो।

अत: यह सिद्ध हो जाता है कि मानवता प्राप्त हो जाने पर संसार से कुछ भी लेने की आवश्यकता नहीं रहती। अब रही भगवान् से लेने की बात, तो वह इसलिये उत्पन्न नहीं होती कि मानवता प्रेम से परिपूर्ण कर देती है। प्रेम ही भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। वही उनका मानव पर अधिकार

है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मानवता सभी के अधिकारों की पूर्ति करती है। जो मानवता अधिकार-पूर्ति में समर्थ है, भला, उसके मिलने पर किसी से कुछ माँगने की बात शेष रहती ही कहाँ है? यद्यपि वह मानवता भगवान् की अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त है।

संसार के अधिकारों की रक्षा का परिणाम यह होता है कि मानवता संसार में विभु हो जाती है और प्रेम का परिणाम यह होता है कि प्रेमी भगवान् से अभिन्न हो जाता है, जो मानव की वास्तविक माँग है और जिसकी उपलब्धि साधन-युक्त जीवन से ही सम्भव है। साधन करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है।

॥ॐ॥

अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति

(दिनांक 16 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल आपकी सेवा में निवेदन किया था कि साधन-युक्त जीवन बनाने के लिए, अथवा यों कहो कि मानवता प्राप्त करने के लिए बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर अनिवार्य है। ऐसा कोई साधन हो ही नहीं सकता, जिसका जन्म विवेक के आदर तथा बल के सदुपयोग से न हो।

जहाँ साधन की चर्चा की जाती है, वहाँ सबसे प्रथम यह आवश्यक होता है कि साधक अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति का निरीक्षण करे, अपने दोष को अपने ज्ञान से सही-सही जाने। अपने दोष का निरीक्षण करने पर हमें अपनी स्वाभाविक आवश्यकता तथा अस्वाभाविक इच्छाओं की जानकारी हो जाती है। स्वाभाविक आवश्यकता उसे कहते हैं, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो किसी प्रकार से मिटाई नहीं जा सकती, उसी का नाम 'आवश्यकता' है। इच्छाएँ अनेक हो सकती हैं: किन्तु आवश्यकता एक ही होती है। जब साधक निज-विवेक के प्रकाश में अपनी वस्तु-स्थिति का अध्ययन कर लेता है, तब उसे अपनी आवश्यकता का बोध हो जाता है। आवश्यकता की जागृति इच्छाओं को मिटाने में समर्थ होती है। आज हमें जो इच्छाएँ तंग

कर रही हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि हम अपनी स्वाभाविक आवश्यकता को भूल जाते हैं। स्वाभाविक आवश्यकता का प्रमाद इच्छाओं को सबल बनाता है।

अब स्वाभाविक आवश्यकता क्या है? किसी से पूछा जाये कि तुम जीवन चाहते हो या मृत्यु? यह कोई न कहेगा कि हम जीवन नहीं चाहते। जीवन की माँग सभी को है। मृत्यु की मांग किसी को भी नहीं है। किसी से पूछा जाये, कि भाई! तुम किसी प्रकार का अभाव चाहते हो या पूर्णता? सभी कहेगे, हमें पूर्णता चाहिये। किसी से कहा जाये कि तुम सन्देह चाहते हो अथवा नि:सन्देहता? सभी कहेगे कि हमें तो नि:सन्देहता चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि नि:सन्देहता की माँग ज्ञान की आवश्यकता, पूर्णता की माँग आनन्द की आवश्यकता और जीवन की माँग अमरता की आवश्यकता सिद्ध करती है। तीनों बातें तीन नहीं हैं।

जिसमें जीवन है, उसी में अमरत्व है, उसी में ज्ञान है और उसी में आनन्द है। कोई यह कहे कि इन तीनों के लिए हमें तीन चीजें अलग-अलग प्राप्त करनी होंगी? तो ऐसी बात नहीं है। जो इन तीनों में-से किसी एक को भी प्राप्त कर लेगा, उसे सभी की प्राप्ति हो जायेगी। कारण कि, सत्य एक है, अनेक नहीं। किन्तु सब मिलेंगे कब? जब हमारी स्वाभाविक आवश्यकता अस्वाभाविक इच्छाओं को खा जायेगी। इससे पूर्व न मिल सकेंगे।

अब विचार यह करना है कि हम इच्छाओं की पूर्ति में स्वाधीन हैं अथवा निवृत्ति की निवृत्ति में? तो यह सभी भाई-बहनों को मान्य होगा कि इच्छाओं की पूर्ति में हम उतने स्वाधीन नहीं हैं, जितने कि इच्छाओं की निवृत्ति में। कारण कि, यह सभी का अनुभव है कि सभी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। पर यह भी सभी का अनुभव है कि सभी इच्छाओं की पूर्ति होने पर भी प्राणी पुन: उसी स्थिति में आ जाता है, जो स्थिति इच्छाओं की उत्पति से पूर्व थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छाओं की पूर्ति का प्रयत्न कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छाओं की पूर्ति एक बीच की अवस्था-मात्र है। जो आदि और अन्त में न हो, केवल मध्य में प्रतीत-मात्र हो, वह अवस्था सुरक्षित नहीं रह सकती।

अत: इच्छा-पूर्ति का सुख सदैव नहीं रह सकता।

यदि विचार-पूर्वक देखें, तो यह सभी को अनुभव होगा कि जिसकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। विनाश का जो क्रम है, वही स्थिति के स्वरूप में प्रतीत होता है। पर, इस रहस्य को वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने उत्पति से पूर्व जो है, उससे अभिन्नता प्राप्त की हो। जीवन वही है, जो उत्पति-विनाश-रहित है और जो उत्पति-विनाश-रहित है, उसे हम प्राप्त नहीं कर सकते-यह कहना न्यायसंगत नहीं मालूम होता; निज-विवेक से सिद्ध नहीं होता।

विवेक-युक्त दृष्टि से तो यही सिद्ध होता है कि जो उत्पति से पूर्व था और जो विनाश के पश्चात् है, उसे साधक सुगमता-पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। कारण कि, प्राप्ति उसी की होती है जो 'है'। जो नहीं है, उसकी प्राप्ति नहीं होती, अपितु प्रतीति होती है। साधारण प्राणी इन्द्रियों के ज्ञान पर ही, जो वास्तव में अल्प-ज्ञान है, पूरा विश्वास करके प्रतीति को प्राप्ति मान लेते हैं, यद्यपि प्रतीति में प्रवृत्ति ही होती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती।

अब प्रश्न यह होता है कि 'है" क्या है? जो उत्पति-विनाश से रहित है अथवा उत्पति-विनाश से पूर्व है। जिससे उत्पति और विनाश प्रकाशित है, उसी को 'है' के अर्थ में लेना चाहिए। 'है' का वर्णन संकेत भाषा से ही सम्भव है। कारण कि, जिन साधनों से हम है' का वर्णन कर सकते हैं, वे सब है' से ही प्रकाशित हैं और 'है' की सत्ता से ही सत्ता पाते हैं। जो साधन जिससे सत्ता पाते हैं, वे उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं? केवल संकेत ही कर सकते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि इच्छाओं की निवृत्ति कैसे हो? इच्छाओं की निवृत्ति के अनेक साधन हैं। परन्तु उन अनेक साधनों में-से आज एक-दो साधनों की ही चर्चा करेंगे, और वह यह है कि यदि हमें अपनी इच्छाओं का अन्त करना है, तो सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं का निरीक्षण करना चाहिये। उत्पन्न हुई इच्छाओं में जो ऐसी इच्छाएँ हों कि जिनका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिनको पूरा किये बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते, जिनकी पूर्ति के साधन प्राप्त हों तथा जिनसे किसी का अहित न हो, उन इच्छाओं की पूर्ति

कर लेनी चाहिये। परन्तु पूरा करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उनकी पूर्ति का जो सुख है वह हमें अभीष्ट नहीं है। कारण, यदि हम इच्छा-पूर्ति का सुख लेते रहेगे, तो पुन: इच्छाएँ उत्पन्न होती रहेगी और यह चक्र चलता ही रहेगा। जिन इच्छाओं में उपर्युक्त चार बातें न घटती हों, उन इच्छाओं का विचारपूर्वक त्याग करना होगा। यह नियम है कि आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति करने पर अनावश्यक इच्छाओं के त्याग का बल स्वतः आ जाता है।

जब हम अपनी इच्छाओं में-से उपर्युक्त चार बातों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं को पूरा कर लेते हैं, और जिनका इन चार बातों से सम्बन्ध नहीं है, उनका जब त्याग कर लेते हैं, तब स्वाभाविक निरिच्छता आ जाती है, अर्थात् इच्छाएँ निवृत्ति हो जाती हैं। यह नियम है कि आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति होने पर मन अमन हो जाता है बुद्धि सम हो जाती है, और इन्द्रियाँ अविषय हो जाती हैं।

ऐसा होने से जीवन अलौकिक विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। यह नियम है कि विवेक का प्रकाश स्वतः साधक का पथ-प्रदर्शन करने लगता है, अर्थात् साधक को स्वतः अपने कर्तव्य का बोध हो जाता है। कर्तव्य उसे नहीं कहते, जिसके करने में कर्ता असमर्थ हो तथा जिसके करने पर सफलता न हो।

कर्तव्य उसे कहते हैं, जो किया जा सके तथा जिससे सफलता अवश्य हो। आज जो हम इच्छाओं में आबद्ध होकर उलझनों में उलझे रहते हैं और इन्द्रियों विषयो में आसक्त रहती है, उसका एक-मात्र कारण यही है कि हम अवश्यक इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त रहती हैं, उसका एक-मात्र कारण यही है कि हम आवश्यक इच्छाओं को पूरा नहीं करते और साथ ही अनावश्यक इच्छाओं का त्याग भी नहीं करते। यह किसी का अनुभव नहीं है कि सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं और यह भी किसी का अनुभव नहीं है कि कोई भी इच्छा पूरी नहीं होती, अर्थात कुछ इच्छाएँ अवश्य पूरी होती हैं।

सभी भाई-बहनों का यह अनुभव है कि बहुत-सी इच्छाएँ ऐसी होती हैं, होती। जानकी पूर्ति होती है, और बहुत-सी इच्छाएँ ऐसी होती है,

जिनकी पूर्ति नहीं होती। इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती, वे हमारे जीवन में केवल इसीलिये हैं कि हमने अपनी वस्तु-स्थिति का अपने विवेक के प्रकाश में अध्ययन नहीं किया।

यह विवेक का काम है कि वह आपको जरूरी और गैर-जरूरी इच्छाओं का बोध करावे। जिस समय हम अपनी जरूरी इच्छाओं को जान लेगे, वे अवश्य पूरी हो जायेंगी और जब जरूरी इच्छाएँ पूरी हो जायेगी, तो गैर-जरूरी इच्छाएँ स्वतः मिट जायेंगी। आगे-पीछे का जो व्यर्थ-चिन्तन होता रहता है, वह मिट जायेगा। कारण कि यह नियम है कि अनावश्यक इच्छाओं के मिटने से व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है। और जब व्यर्थ-चिंतन मिट जाता है, तब सार्थक-चिन्तन स्वतः उदय हो जाता है।

अत: आज हमसे जो तत्व-चिन्तन तथा भगवत्-चिन्तन नहीं होता है, उसका कारण व्यर्थ-चिन्तन का न मिटना है, और कुछ नहीं। यह कठिनाई प्राय: सभी साधकों के सामने है कि चित्त सार्थक-चिन्तन में लगता नहीं और जो करना चाहिये उसे हम कर पाते नहीं। क्या सार्थक-चिन्तन में असमर्थ हैं? कदापि नहीं। निरर्थक-चिन्तन ने ही सार्थक-चिन्तन को उदित नहीं होने दिया।

अब प्रश्न यह होता है कि निरर्थक-चिन्तन क्या है? जिसके लिये कर्म अपेक्षित हो, जिससे देश-काल की दूरी हो, जो उत्पत्ति–विनाश-युक्त हो, जिसमें जड़ता का दोष हो, उसका चिन्तन निरर्थक-चिन्तन है। यदि हम उसका चिन्तन करेगे जिसका चिन्तन नहीं करना चाहिए, तो उससे हमें कोई लाभ न होगा। कारण कि, उसकी प्राप्ति चिन्तन से सम्भव नहीं होगी। हाँ, यह हानि अवश्य होगी कि जिन वस्तुओं का हम चिन्तन करते हैं, उनमें आसक्ति अवश्य हो जायेगी, जिससे सार्थक-चिन्तन करना असम्भव हो जायेगा। इस हानि से बचने के लिए साधकों को उसका चिन्तन नहीं करना चाहिये जिसकी चिन्तन से प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् वस्तुओं का चिन्तन नहीं करना चाहिये।

चिन्तन से उसी की प्राप्ति होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। जिससे केवल मानी हुई एकता है, उसकी प्राप्ति चिन्तन से नहीं होती। अब प्रश्न यह होता है कि

हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता किससे है तथा मानी हुई एकता किंससे है? हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता उसी से हो सकती है, जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, और मानी हुई एकता उसी से हो सकती है जिसकी अस्वाभाविक इच्छाएँ हैं। अर्थात् अमरत्व से जातीय तथा स्वरूप की एकता हो सकती है; क्योंकि उसकी स्वाभाविक आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त शरीरादि वस्तुओं से तो केवल मानी हुई एकता ही सिद्ध हो सकती है, जातीय नहीं। मानी हुई एकता ने ही अस्वाभाविक इच्छाओं को उत्पन्न किया है। इसी कारण उनकी निवृत्ति करने का प्रश्न साधक के सामने उपस्थित है।

अब आप विचार करें, जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब उत्पति विनाश-युक्त हैं, जितने व्यक्ति हैं, वे सब उत्पति-विनाश युक्त हैं, जितनी अवस्थाएँ हैं, वे सब उत्पति-विनाशयुक्त हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिससे देश-काल की दूरी है और जो उत्पति-विनाशयुक्त है, यदि हम उसके चिन्तन का त्याग कर दे, तो यह मानना होगा कि जीवन में किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के चिन्तन की आवश्यकता ही नहीं है। अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जब जीवन में वस्तु-चिन्तन का कोई स्थान ही नहीं है, तो हमें आवश्यक वस्तुएँ कैसे मिलेगी? आप गम्भीरता से विचार करें कि वस्तुएँ चिन्तन करने मात्र से कभी प्राप्त नहीं होतीं।

वस्तुओं की प्राप्ति का सम्बन्ध तो वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग, अर्थात् कर्म से है, चिन्तन से नहीं। यह नियम है कि कर्म का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से होता है और चिन्तन का सम्बन्ध होता है, अप्राप्त परिस्थिति से। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राप्त योग्यतानुसार आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करें, किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करें। इससे यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान में जो बल तथा विवेक आपको प्राप्त है, उसके द्वारा यदि आप सही कर्म करें, तो आवश्यक वस्तु अवश्य मिलेगी, चिन्तन से आपको वस्तु नहीं चिलेगी।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वस्तुएँ तो चिन्तन-मात्र से मिलेगी नहीं, तो फिर चिन्तन से क्या मिलेगा?

चिन्तन से वह मिलेगा, जो उत्पति-विनाश से अतीत है, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो पर-प्रकाश्य नहीं है, अर्थात दिव्य तथा चिन्मय है। उसके मिल जाने पर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहेगा। हम अभाव का अनुभव कब करते हैं? जब हम अपने को वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में आबद्ध कर लेते हैं, जो उत्पति-विनाश-युक्त हैं। अभाव का अभाव करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। कारण कि, जो सभी परिस्थितियों से अतीत जीवन है, उससे अभिन्नता परिस्थितियों से असंग होने पर स्वतः हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। परिस्थितियों से असंग होने के लिए निर्मोहता-पूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य होगा। सार्थक–चिन्तन से निर्मोहता स्वतः प्राप्त होगी।

अत: पूर्णता प्राप्त करने में मानव पराधीन नहीं है। किन्तु हमसे भूल यही होती है कि जिन वस्तुओं का चिन्तन नहीं करना चाहिए, उनके चिन्तन का त्याग नहीं करते और प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग नहीं करते। आज हम सत्य को असत्य के द्वारा खरीदना चाहते हैं। सत्य की प्राप्ति असत्य के द्वारा नहीं होती, अपितु असत्य के त्याग से होती है। असत्य के त्याग का बल सत्य की तीव्र लालसा जागृत होने से अपने-आप आ जाता है अथवा यों कहो कि सत्य का प्रेम असत्य को खा लेता है।

यह नियम है कि सत्य असत्य को मिटाने में समर्थ नहीं है। कारण कि, सत्य तो असत्य को सत्ता देकर प्रकाशित करता है, किन्तु सत्य की लालसा असत्य के मिटाने में तथा सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है। पर इस रहस्य को कोई विरले ही जानते हैं। सत्य की लालसा ही वास्तव में सत्य का चिन्तन है, जो असत्य को असत्य जान लेने पर स्वतः होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चिन्तन किया नहीं जाता, स्वतः होता है। जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं और उसका परिणाम भोग होता है।

अब प्रश्न उपस्थित यह होता है कि परिस्थिति का सदुपयोग क्या है? प्राप्त वस्तुओं तथा योग्यता का सदुपयोग ही परिस्थिति का सदुपयोग है। अब हम निज-विवेक से देखें कि हमारे मन में शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते

हैं अथवा अशुद्ध। यदि शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, तो मिले हुए मन का सदुपयोग हो गया। यदि अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, तो मिले हुए मन का दुरुपयोग हो गया।

यदि हमारी बुद्धि हमारे कर्तव्य तथा दूसरों के अधिकार को जनाती है तथा प्रत्येक वस्तु में सतत् परिवर्तन के दर्शन कराती है, तो समझना चाहिए कि बुद्धि का सदुपयोग हो गया और यदि केवल दूसरे के कर्तव्य और अपने अधिकार का निर्णय करने में ही लगी है, तो समझना चाहिये कि मिली हुई बुद्धि का दुरुपयोग हो गया। यदि प्राप्त वाणी सत्य, हितकारी, मधुर गया और यदि इसके विपरीत बोलती है, तो वाणी का दुरुपयोग हो गया।

यदि शरीर आवश्यक कार्य करने में आलस्य नहीं करता और अनावश्यक कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, तो समझना चाहिये कि शरीर का कार्य जमा रखता है, तो शरीर का दुरुपयोग हो गया। यदि प्राप्त वस्तुएँ व्यक्तियों की रक्षा में व्यय होती हैं, तो समझना चाहिए कि उनका सदुपयोग हो गया और इसके विपरीत केवल अर्थ-संग्रह और उपभोग में ही व्यय होती हैं, तो समझना चाहिए कि दुरुपयोग हो गया।

यह नियम है कि जिन वस्तुओं का हम दुरुपयोग करते हैं, उनकी दासता से मुक्त नहीं हो पाते; अर्थात् उनसे असंग नहीं हो पाते। वस्तुओं से असंगता बिना प्राप्त किये कोई भी वस्तुओं से अतीत दिव्य-चिन्मय और अनन्त जीवन से अभिन्न नहीं हो सकता। यह निर्विवाद सत्य है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम परिस्थिति का सदुपयोग करने में क्यों असमर्थ हैं? इसका एकमात्र कारण है, अलौकिक विवेक अर्थात् निज-ज्ञान का अनादर। यदि कोई कहे कि निज-ज्ञान क्या है? तो कहना होगा कि यदि ज्ञान प्राप्त न होता, तो हम संयोग-वियोग का अनुभव ही नहीं कर सकते थे। निज-ज्ञान वही है, जिससे आप अपने को तथा 'पर' को जानते हैं अथवा यों कहो कि निज-ज्ञान वह है, जिससे निज-ज्ञान को और पर-ज्ञान को जानते हैं। पर-ज्ञान का अर्थ है, बुद्धि का ज्ञान और इन्द्रियों का ज्ञान। जिस प्रकार बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान को जानते हैं, उसी प्रकार निज-ज्ञान से

बुद्ध के ज्ञान को जनाते हैं। इसे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान को ज्ञान से हि जानते है।

अब यदि कोई कहे कि अज्ञान क्या है? तो, कहना होगा कि अल्प-ज्ञान का दूसरा नाम अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। जब प्राणी अल्प-ज्ञान को ही पूरा ज्ञान मान लेता है, तब वह वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिये और वह मानने लगता है, जो नहीं मानना चाहिये। वास्तविक ज्ञान तो अलौकिक है और वह सभी का है अथवा यों कहो कि अपना है। उस ज्ञान से यदि हम सभी संयोगों में वियोग का अनुभव कर ले, तो हमें नित्य-योग प्राप्त हो जायेगा, जो अमर जीवन है। मृत्यु उसी की होती है जिसका वियोग सम्भव है और वियोग उसी का होता है जिससे संयोग स्वीकार किया है। संयोग उसी से स्वीकार करते हैं, जो वास्तव में जीवन नहीं है अथवा यों कहो कि जिससे नित्य-योग नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि नित्य-योग किससे नहीं है? तो, यह कहना होगा कि माने हुए 'मैं' तथा माने हुए 'मेरे' से नित्य-योग नहीं है। यदि माने हुए 'मैं' से नित्य योग होता, तो आज जो अपने को अमुक पद, अमुक मान्यता से प्रकाशित करता है, वही पद बदल जाने पर अथवा मान्यता बदल जाने पर पूर्व मान्यता से प्रकाशित नहीं करता। हाँ, यह अवश्य है कि मान्यता परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य के जिस अर्थ को प्रकाशित करती है, वह अर्थ कर्तव्यपालन की दृष्टि से भले ही मान्य हो, पर वह मान्यता नित्य है-यह मान्य नहीं हो सकता।

यह नियम है कि कर्तव्यपरायण होने पर कर्ता अपने लक्ष्य में विलीन हो जाता है, उसका कोई अलग अस्तित्व शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से भी यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि माना हुआ 'मैं' नित्य नहीं है, किन्तु जिससे वह माना हुआ 'मैं' प्रकाशित होता है, वह अवश्य नित्य है। हाँ, अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि माना हुआ 'मैं' उस नित्य की प्रीति तथा जिज्ञासा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

प्रीति जिसकी होती है, उस प्रीति में सत्ता उसी की होती है जिसकी यह प्रीति है। चाहे उसका नामकरण भले ही अलग हो जाय।

और जिज्ञासा जिसकी होती है, नि:सन्देहता आ जाने पर, उसी से अभिन्न हो जाती है, जिसकी जिज्ञासा थी। इससे यह स्पष्ट हो गया कि माने हुए 'मैं' से नित्ययोग सिद्ध नहीं हो सकता, केवल संयोग की ही स्वीकृति हो सकती है।

यह नियम है कि स्वीकृति मिटाने के लिये कोई अन्य अभ्यास अपेक्षित नही है, केवल अस्वीकृति से ही मिट जाती है। अत: माने हुए 'मैं' के संयोग में वियोग का अनुभव सुगमता-पूर्वक हो सकता है। अथवा जिससे जातीय एकता है, उसकी प्रीति होकर माना हुआ 'मैं' गल जाता है।

अब रही माने हुए 'मेरे' की बात। यह सभी का अनुभव है कि जिस वस्तु को हम अपनी मान लेते हैं, वह दूर हो या समीप उससे संयोग सिद्ध जाता है। हम जिस मकान में रहते हैं वह यदि किराये का हो, तो उससे कभी ममता नहीं होती और न उसका संयोग भासता है, अर्थात् उसमें रहते हुए भी वह अपना नहीं भासता और उससे अलग होने में भी कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु जो मकान हम अपने नाम से बनवा लेते हैं, उससे देश की दूरी होने मे भी संयोग सिद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, उसमें कभी रहने को भी न मिले, तब भी उसका संयोग बना रहता है।

यदि अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन करे, तो यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि जिन वस्तुओं को हमने अपना मान लिया था, यद्यपि आज वे नहीं हैं, तब भी उनका संयोग है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संयोग किसी वस्तु की समीपता तथा दूरी पर निर्भर नहीं है, और न किसी वस्तु के रहने, न रहने पर है। संयोग तो केवल अपना मान लेने पर है।

अपना न मानने का अर्थ कोई यह न समझ जैसे कि जो चीज अपनी नही है, उसका विनाश कर देना चाहिये या उसका दुरुपयोग करना चाहिये और अपनी न मानने का अर्थ यह भी नहीं है कि जो वस्तएँ प्राप्त है, उनका सदुपयोग नहीं करना चाहिये, उन्हें सुरक्षित नहीं रखना चाहिये। अपना न मानने का अर्थ है कि प्राप्त वस्तुओं में मोहपूर्वक आबद्ध नहीं होना चाहिये और उनके रहने पर अभिमान तथा न रहने पर

दुख नहीं होना चाहिये; न उनका चिन्तन होना चाहिये।

यदि निज...ज्ञान के प्रकाश में संयोग में वियोग का अनुभव कर लिया जाये, तो साधक बहुत सुगमतापूर्वक वस्तुओं के वियोग के दुख से व्यर्थ-चिन्तन से, संयोग के सुख की दासता से तथा मिथ्या अभिमान से मुक्त हो जाता है। यह नियम है कि निरभिमानता आते ही समी दोष स्वतः मिट जाते है और जिससे हमारी स्वरूप की तथा जातीय एकता है, उससे अभिन्नता हो जाती है। बस, यहीं नित्ययोग का अर्थ है।

अब विचार कीजिए, जिसे आप 'यह' कहते है, उसे 'मैं' नहीं कह सकते। और जिसे 'मैं' कह सकते है उसे ज्ञान नहीं कह सकते। क्योकिं 'मैं' सीमित है और ज्ञान अनन्त है और 'मैँ' परिवर्तशील है और ज्ञान नित्य है। 'मैं' करण का भले ही ज्ञान हो पर 'मैं' ज्ञान का ज्ञाता नहीं है, क्योकि ज्ञान तो स्वयं अपना ज्ञाता है। अब 'मैं' और 'ज्ञान' का भेद स्पष्ट हो गया। ज्ञान की दृष्टि से 'मैं' भी 'यहीं के अर्थ में आ जाता है, अर्थात् अहंता और ममता दोनो को ही 'यह' के अर्थ में समझना चाहिये।

यह नियम है कि ममता मिटने पर अहंता, और अहंता मिटने पर ममता स्वतः मिट जाती है किन्तु इन दोनो का प्रकाशक जो नित्य...ज्ञान है उसका कभी अभाव नहीं होता। अब यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञान यह और 'मैं' से परे है।

आप विचार करके देखे, शरीर को आप 'यह' कहते हैं। यह जिसके द्वारा कहते है वह आपमें अपना एक ज्ञान है। उस ज्ञान की आकृति का भले ही आपको बोध न हो पर उसकी सत्ता का बोध है। उसकी महिमा का बोध भले ही न हो, पर इस बात का बोध तो है ही कि आप किसी ज्ञान से ही कहते है कि शरीर 'यहीं है अर्थात् शरीर हैं इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी 'यहीं के अन्तर्गत आते है; 'मैं' नहीं कह सकते; 'यह' हैं। मन यह है, बुद्धि यह है।इन सबके व्यापार को भी 'मैं' का व्यापार नहीं कह सकते। इस दृष्टि से यावत् दृश्य 'यह' के अन्तर्गत ही समा जाता है और यह का द्रष्टा दृश्य से सम्बन्धित होकर 'मैं' कहा जाता है। द्रष्टा और दृश्य से सम्बन्ध जोड़ने में केवल राग

ही अपेक्षित है। राग का जन्म अविवेक सिद्ध है।

विवेक जब अविवेक को खा लेता है, तब राग सदा के लिये मिट जाता है। राग के मिटते ही द्रष्टा-पद शेष नहीं रहता और फिर जो नित्य ज्ञान है, वह ज्यों-का-त्यों अपनी महिमा में अपने आपको पाता है अर्थात् उस अनन्त ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यह' और 'मैं' दोनों ही उस अनन्त ज्ञान से प्रकाशित थे। इन दोनों की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी। इस दृष्टि से यह अनन्त उस अनन्त की ही एक अवस्था-मात्र था। यह, यह नियम है कि जिसकी जो अवस्था होती है, उसी में वह विलीन हो जाती है।

दृश्य को देखकर कहते हैं कि यह संसार है। यह बात हम किसी करण से जानते हैं अथवा ज्ञान से? करण से दृश्य को और करण को ज्ञान से जानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि करण में जो ज्ञान है, वह भी अनन्त ज्ञान की झलक है। उस अल्प-ज्ञान से हमने अपने को इतना घुला-मिला लिया है कि हम उस अनन्त ज्ञान की सत्ता को भूल जाते हैं और अपने को ही मान लेते हैं।

यदि 'हम" ज्ञान होता, तो जिज्ञासा किसे होती? अथवा यों कहो कि जिज्ञासु कौन होता? यद्यपि जिज्ञासु का अस्तित्व जिज्ञासा से भिन्न नहीं है और जिज्ञासा उस ज्ञान की लालसा से भिन्न नहीं है। इससे अब यह सिद्ध हुआ कि 'हम' ज्ञान की लालसा है और कुछ नहीं। लालसा पूरी होने पर उससे अभेद हो जाती है, जिसकी वह लालसा थी। इस दृष्टि से उस अनन्त ज्ञान से स्वरूप की एकता है।

जिसे 'मैं-पन' से इतना मोह हो गया हो कि उस अनन्त ज्ञान को 'मैं' में ही विलीन करके कथन करना हो, तो भी कोई आपत्ति नहीं। पर विशेष सुन्दरता तो इसी में प्रतीत होती है कि 'मैं' को उस अनन्त ज्ञान में विलीन कर दिया जाये। इसी कारण किसी-किसी विचारशील ने 'मैं' और 'तू को मिटाकर है' के नाम से कथन किया है और किसी ने 'मैं' को मिटाकर 'तू के नाम से कथन किया है। किसी ने 'तू को मिटाकर 'मैं' के नाम से कथन किया है, और किसी ने 'मैं' को 'तू की प्रीति बनाकर

कथन किया है और किसी किसी ने मौन होकर संकेत किया है।

सच तो यह है कि उस जैसी कोई उपमा हो ही नहीं सकती और जिसकी उपमा नहीं हो सकती, उसका वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु उससे एकता हो सकती है, अथवा यों कहो कि उसकी प्राप्ति हो सकती है। उसकी प्राप्ति ही वास्तव में उसका वर्णन है, जो मानवता से हो सकती है।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनों शरीरों के व्यापार का राग मिट जाने पर देहाभिमानी का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। देह की आसक्ति से ही देह के अभिमानी का भास होता है। देह की आसक्ति मिटते ही देह का अभिमानी उस अनन्त चिन्मय की प्रीति हो जाता है। उस प्रीति से हम अपने को भिन्न नहीं कर सकते और वह नित-नव प्रीति ही मानव की मानवता है। प्रीति उसे नहीं कहते, जो किसी वस्तु, अवस्थादि में आबद्ध हो जाये। और प्रीति उसे भी नहीं कहते जिसके बदले में कुछ लिया जाये। अर्थात् प्रीति अचाह बना देती है; अथवा यों कहो कि सब प्रकार के बन्धनों को खा लेती है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इन्द्रिय तथा बुद्धि का ज्ञान 'ज्ञान' नहीं है? अथवा 'मैं' ज्ञान स्वरूप नहीं हूँ? तो, कहना होगा कि उस अनन्त ज्ञान में तो 'मैं'-'तू लगता ही नहीं। वह तो अनन्त नित्य चिन्मय तत्व ही है। उस तत्व का प्रकाश बुद्धि में आ जाता है, तो वह बुद्धिजन्य ज्ञान बन जाता है। उसका प्रकाश बाद में इन्द्रियों में आ जाता है, तो इन्द्रियजन्य ज्ञान बन जाता है। इन्द्रियों के ज्ञान में आपको सन्देह हो सकता है। बुद्धि के ज्ञान में परिवर्तनशील है। लेकिन जिस ज्ञान से बुद्धि का ज्ञान और इन्द्रियों का ज्ञान प्रकाशित हुआ, उस ज्ञान में सन्देह हो ही नहीं सकता।

अत: नि:सन्देहता, अमरता, पूर्णता तथा आनन्द की हमारी आवश्यकता जो है, उसकी पूर्ति हो सकती है। अत: यह सिद्ध हो जाता है कि नित्य जीवन, नि:सन्देहता और आनन्द प्राप्त करने में मानव सर्वदा स्वतन्त्र है। उसके लिए स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है, जो साधन द्वारा सम्भव है। इतना ही नहीं, इसको आप भविष्य पर भी नहीं छोड़ सकते;

क्योंकि भविष्य पर तो उसे ही छोड़ा जा सकता है, जिससे देश और काल की दूरी हो तथा जो उत्पति और विनाश-युक्त हो। जो जीवन उत्पति-विनाश-रहित है और जिससे देशकाल की भी दूरी नहीं है, उसे तो वर्तमान में ही अप्रयत्न रूपी प्रयत्न से प्राप्त कर सकते हैं। जो साधक यह मानते हैं कि तत्वज्ञान के लिए काल अपेक्षित है, वे तत्वज्ञान की महिमा को ही नहीं जानते। काल की अपेक्षा तो उन वस्तुओं को होती है, जिनका सम्बन्ध भोग से हो। जो नित्य-योग से प्राप्त होता है, उसके लिए तो केवल संयोग में वियोग का अनुभव करना होता है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है, भविष्य से नहीं। तत्व-जिज्ञासा की पूर्ण जागृति ही संयोग में वियोग का अनुभव कराने में समर्थ है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद होती है, उसी प्रकार तत्व-जिज्ञासा की जागृति और तत्वज्ञान की प्राप्ति युगपद् होती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि हम साधारण प्राणियों में तत्व-जिज्ञासा की जागृति कैसे हो? तत्व-जिज्ञासा की जागृति सन्देह की वेदना से होती है और सन्देह की उत्पति अधूरे ज्ञान से होती है। जो कुछ नहीं जानता, उसे भी सन्देह नहीं होता और जो सब कुछ जानता है, उसे भी सन्देह नहीं होता। प्रत्येक भाई-बहन कुछ-न-कुछ जानते हैं और जो कुछ-न-कुछ जानते हैं, उन्हें सन्देह की वेदना होना स्वाभाविक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन तो तत्व-जिज्ञासा की जागृति का प्रतीक ही है। किन्तु प्रमाद-वश प्राणी सुखलोलुपता के कारण तत्व-जिज्ञासा को दबाता रहता है।

अभागे सुख ने ही हमें अपने अभीष्ट तत्व-ज्ञान, भगवत्-प्रेम एवं सद्गति से विमुख किया है। इसी कारण मानव जीवन में सुख के सदुपयोग का स्थान है, उसके भोग का नहीं। सुख का सदुपयोग सुख की आसक्ति को खा लेता है और तत्व-जिज्ञासा को जागृत् कर देता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा यह कहना कि हम साधारण प्राणियों को तत्व-ज्ञान कैसे होगा; प्रभु-प्राप्ति कैसे होगी, चिन्मय आनन्द कैसे मिलेगा! सर्वथा निर्मूल है।

कारण कि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए।

निराश तो उससे होना चाहिये जिससे मानी हुई एकता है। सच तो यह है कि विषयों से मानी हुई एकता और आनन्द से मानी हुई दूरी है। यह नियम है कि मानी हुई एकता मिटने से मानी हुई दूरी स्वतः मिट जाती है। अत: मानी हुई एकता मिटाने में ही मानव का पुरुषार्थ निहित है, जो अस्वीकृतिमात्र से मिट जाती है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानी हुई स्वीकृति हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? उसके लिये कहना होगा कि मानी हुई स्वीकृति का जन्म अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। जब मानव अलौकिक विवेक का आदर करने लगता है, तब अविवेक मिट जाता है। अविवेक के मिटते ही अविवेक का कार्य जो मानी हुई स्वीकृति थी, अस्वीकृति में बदल जाता है। उसके बदलते ही निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, मुदिता आदि दिव्यता से जीवन परिपूर्ण हो जाता है, जो वास्तव में मानवता है। उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से हमें अलौकिक विवेक प्राप्त है, तो फिर मानवता से निराश होने के लिये स्थान ही कहाँ है? पर, आज तो हम मानव की आकृति-मात्र को ही मानव मान लेते हैं। वास्तव में आकृति मानव नहीं है। मानव है-साधनयुक्त जीवन।

यदि हम अपने विवेक का आदर करने लग जायें, तो उस विवेक से जिस साधन का निर्माण होगा, उसका समर्थन सभी ग्रन्थ, सभी सन्त एवं सभी सुधारक करेंगे। क्योंकि विवेक के प्रकाश को ही जब किसी भाषा-विशेष या लिपि विशेष में आबद्ध कर देते हैं, तो वह ग्रन्थ कहलाता है और जब उस विवेक के प्रकाश को किसी के जीवन में देखते हैं, तो उसे सन्त कहने लगते हैं। जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठापन चीनी का रहता है, उसी प्रकार सर्वत्र सत्य और सौन्दर्य विवेक का ही है। अत: हमें और आपको वर्तमान में ही विवेक का आदर कर संयोग में ही वियोग का अनुभव करके आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति कर लेनी चाहिये, जो मानव-जीवन का पुरुषार्थ है।

॥ॐ॥

संयोग में वियोग के दर्शन

(दिनांक 17 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल सेवा में निवेदन किया था कि संयोग में यदि वियोग के दर्शन कर लिए जाये, तो नित्य-योग प्राप्त होता है, जो मानव-मात्र की स्वाभाविक आवश्यकता है। आज सेवा में यह निवेदन करना है कि संयोग क्या है? संयोग है-सुने हुए, माने हुए सम्बन्धों का सद्भाव। जो हमने सुनकर मान लिया और उस पर सदभाव कर लिया, उसी का नाम संयोग है।

अब निवेदन यह करना है कि माना हुआ सम्बन्ध दो प्रकार का होता है, एक-भेदभाव का, दूसरा-अभेद-भाव का। अभेद-भाव का सम्बन्ध उसे हैं, जिससे 'मम' की पुष्टि हो। अहं की पुष्टि सम्बन्ध में सत्यता प्रदान करती है और मम की पुष्टि सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियों में प्रियता प्रदान करती है। अर्थात् जिसे हम अपने को मान लेते हैं, वह हमें सत्य भासता है और जिसे हम अपना मान लेते हैं, वह प्रिय मालूम होता है। तो, सीमित अहंभाव की सत्यता और सीमित प्रियता का जन्म हमारे माने हुए अभेद-भाव और भेद-भाव के सम्बन्ध से हुआ।

अब आप विचार करके देखे जितने भेद उत्पन्न होते है, वे सब सीमित अहं-भाव से और जितने संघर्ष उत्पन्न होते हैं, वे सब सीमित प्यार से। यदि हमारे जीवन में-से सीमित अहं-भाव निकल जाये, जो सभी वासनाएँ मिट जाती हैं और यदि प्यार असीम हो जाये, तो सभी संघर्ष मिट जाते हैं। निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि सभी गुणों को आच्छादित किया है, हमारे माने हुए अहं-भाव की आसक्ति ने। यह अहं रूपी अणु यदि किसी प्रकार टूट जाय, तो हमें अनन्त शक्ति प्राप्त हो जाय, जिसकी समानता संसार की कोई शक्ति नहीं कर सकती। अहं रूपी अणु को तोड़ने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि भेद और अभेद के जो दो सम्बन्ध हैं, उनका विच्छेद कर दिया जाय। इनका विच्छेद करने का उपाय क्या है?

निज-ज्ञान के प्रकाश में सुने हुए तथा माने हुए की खोज करना। अपने को जो मान लिया है, उसकी खोज करें अर्थात् यह कि जो 'मै" अपने को मानता हूँ, वह वास्तव में क्या है? इस प्रकार की खोज करने से आपको यह पता चलेगा कि जिसको आप देखते हैं, सुनते हैं और समझते हैं उसको 'मैं' नहीं कह सकते।

तो फिर 'मैं' किसको कहेगे? आपको पता चलेगा कि 'मैं' किसी स्वीकृति को कहेगे। आपकी स्वीकृति क्या होगी? वह किसी कर्तव्य को जन्म देने वाली मान्यता अथवा पद्धति होगी। जैसे कोई अपने को मनुष्य कहता,तो उसे विचार करना होगा कि मनुष्य मानने से जिस कर्तव्य की प्रेरणा मिलती है, उस कर्तव्य के समूह का नाम ही मनुष्य हुआ, किसी आकृति का नहीं। किन्तु हम कर्तव्य की ओर तो ध्यान नहीं देते और आकृति का अभिमान लेकर परस्पर में संघर्ष करने लगते हैं। इतना ही नहीं, एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार विभिन्न साधन-पद्धतियों का निर्माण जिस कर्तव्य-परायणता के लिये हुआ था, उस कर्तव्य रूपी सत्यता को त्यागकर पद्धतिथो के बाह्य स्वरुप में आबद्ध होकर जो नहीं करना चाहिए वह करने लगते है।

यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए उसे करने से, उससे वन्चित हो जाते है कि जो करना चाहिए। उसका परिणाम यह होता है कि हमें वह नहीं मिलता, जो मिलना चाहिए। उसके न मिलने से हम अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाते है, जो हमें अभीष्ट नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्यपरायणता ही माने हुए अहं में सत्य है, और उसके अतिरिक्त माने हुए अहं का सद्भाव मिथ्या है।

यह बड़े रहस्य की बात है कि कर्तव्य पूरा करने पर कर्ता का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। आप लोग यही आश्चर्य करेगे कि कर्तव्य-पालन से तो कर्ता का अस्तित्व सुदृढ़ रहना चाहिए। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कर्तव्य पूरा होने पर कर्ता की जो आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति हो जाती है और उसकी पूर्ति हो जाने पर कर्ता का अस्तित्व अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है, और फिर किसी

प्रकार का भय तथा अभाव शेष नहीं रहता। जब तक हमें कुछ भी पाने का लालच है तथा मरने का भय है एवं करने की आसक्ति है, तब तक समझना चाहिए कि अभी हमने वह नहीं किया जो करना चाहिए, अर्थात् हम कर्तव्य-परायण नहीं हुए। जो करना चाहिए, उसे पूरा करने पर कर्ता की सत्ता नहीं रहती। यह एक बड़ा भारी सत्य है।

इस सत्य का अनुभव हमें कब होगा? जब हम अपने को अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए निज-विवेक के प्रकाश में जो मान लेते है, उस मान्यता के अनुसार जो विधान है, उस विधान के अनुसार जब हमारा जीवन हो जायेगा, तभी हमें उपयुक्त सत्य का ज्ञान हो सकता है। जो माना हुआ "मैं' था वह तो विधान बनकर अपने उस लक्ष्य में विलीन हो गया, जिसकी उसे आवश्यकता थी। इस बात को ही दुसरे शब्दों में यो कहे कि साधक साधना बनकर साध्य से अभिन्न हो गया'। यह नियम है कि कर्ता कर्तव्य बनकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपने यदि अपने को किसी कर्तव्य-पालन के लिए लगा दिया तो उसके अनुसार कर्तव्य-परायण होकर आप मुक्त कर सकते हैं।

अब आप यह कहें कि जो हमारी स्वीकृति है, उसके अनुसार जो हमें करना चाहिए उसको पूरा करने के लिए हमें साधन ही प्राप्त नहीं हैं इसके लिए हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए। जब स्वीकृति के उसको पूरा करने की सामर्थ्य न हो, तब उसे अपने लक्ष्य तक लिये प्राप्त योग्यतानुसार स्वीकृति को परिवर्तित कर देना चाहिए, जिसके अनुसार वह साधना कर सके। पर, आज तो हम जीवनभर एक ही स्वीकृति में आबद्ध रहते हैं और उसको सत्य मान लेते हैं। न उसको जानना ही चाहते हैं और न उसके अनुसार कर्तव्य-परायण ही होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं हो पाते।

यदि किसी को तत्व-ज्ञान प्राप्त करना है तो जब तक वह अपने को जिज्ञासु न मान लेगा, तब तक न तो तत्व-ज्ञान की साधना में ही उसकी प्रगति होगी और न तत्व-ज्ञान ही प्राप्त होगा। अथवा यदि कोई सरल विश्वासपूर्वक अपने को भगवान् का नहीं मान लेगा, तो उसके हृदय में

भगवत्-प्रेम की अभिव्यक्ति ही न होगी और न भगवत्-प्राप्ति होगी। अथवा जो अपने को सद्भाव-पूर्वक सेवक न मान लेगा, उससे न तो वास्तविक सेवा ही होगी और न उसके स्वार्थ-भाव का अन्त ही होगा। हम इस बात को भूल जाते हैं कि जिस लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं, उसके अनुसार न तो हमारी स्वीकृति होती है और न साधना।

यह नियम है कि लक्ष्य के अनुरूप स्वीकृति होने पर साधक में स्वतः साधन की अभिव्यक्ति होने लगती है। जैसे जिसने अपने को जिज्ञासु मान लिया है, उसमें सन्देह की वेदना तथा तत्व-जिज्ञासा स्वतः जागृत् होगी। जिस काल में तत्व-जिज्ञासा भोग-इच्छाओं को खा लेगी, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जायगी। यह भी सभी का अनुभव है कि जिसे हम अपना मान लेते हैं, उससे राग स्वतः हो जाता है और जिससे हम सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं, उसका राग अपने आप मिट जाता है। राग के मिटते ही अनुराग की अभिव्यक्ति होती है, जो सभी दोषों को मिटाकर भक्त को भगवान् से अभिन्न कर देता है। इसी प्रकार जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके जीवन में दुखियों को देखकर करुणा स्वतः उत्पन्न होती है और वह स्वार्थ-भाव को खाकर उसे सच्चा सेवक बना देती है, अर्थात् उसका जीवन विश्व-प्रेम से भर जाता है।

परन्तु, जब हम प्रमादवश अपने को जिज्ञासु, भक्त तथा सेवक नहीं मानते हैं, तब देह में अपने को आबद्ध कर लेते हैं, अर्थात् अपने को शरीर मान लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि हमारी स्वाभाविक प्रीति तथा जिज्ञासा एवं सेवा की भावना तो दब जाती है और अनेक भोग-इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और हम शरीर के स्वभावानुसार इन्द्रिय-जन्य विषयों में आसक्त हो जाते हैं, जिससे हम कर्तव्यपरायणता से विमुख हो जाते हैं और भोग-वासनाओं की पूर्ति के लिए जो नहीं करना चाहिए वह करने लगते हैं, जिसका भयंकर परिणाम यह होता है कि जीवन राग-द्वेष से भर जाता है, जो वास्तव में अमानवता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि राग-द्वेष की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है? उसके लिए हमें सबसे प्रथम अलौकिक विवेक के प्रकाश में

अपने को तीनों शरीरों से असंग करना होगा, जिसके करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। स्थूल शरीर से असङ्ग होने पर अशुभ कर्म की उत्पति नहीं होती और शुभ कर्म में आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर से असङ्ग होने पर निरर्थक-चिन्तन की उत्पति नहीं होती और सार्थक-चिन्तन में आसक्ति नहीं रहती। और कारण शरीर से असङ्ग होने पर निर्विकल्प स्थिति में आसक्ति नहीं रहती और शरीर का अभिमान नहीं रहता। निरभिमानता आते ही माना हुआ अहं-भाव मिट जाता है और उसके मिटते ही जड़ता से विमुखता हो जाती है, अथवा यों कहो कि चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जो वास्तव में मानवता है।

अब यदि कोई कहे कि अलौकिक विवेक क्या है? तो कहना होगा कि जिस ज्ञान से हम बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि समस्त जीवन के दोषों को जानते हैं, उसके ज्ञान का नाम ही अलौकिक विवेक है। अथवा यों कहो कि जिस ज्ञान से बुद्धि, इन्द्रिय आदि ज्ञान पाते हैं, उस ज्ञान का नाम अलौकिक विवेक है। अथवा यों कहो कि जिससे अल्प-ज्ञान प्रकाशित होता है, वह अलौकिक विवेक है। अलौकिक विवेक किसी कर्म का परिणाम नहीं है; क्योंकि कर्म का जन्म तो बुद्धि-जन्य तथा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से होता है। तो, जो कर्म बुद्धिजन्य ज्ञान का कार्य है, भला वह कहीं अलौकिक विवेक का कारण हो सकता है? कभी नहीं। अलौकिक विवेक तो किसी महान् ने अपनी अहैतुकी कृपा से मानव को साधन-निर्माण करने के लिये प्रदान किया है। इस कारण विवेकयुक्त जीवन को ही मानव-जीवन कहते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि तीनों शरीरों से असंग होने का उपाय क्या है? उसके लिए सबसे प्रथम बुद्धिजन्य ज्ञान से इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर विजय प्राप्त करनी होगी। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान शरीरादि वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन कराता है। उस पर विश्वास करने से प्राणी विषयों में आसक्त हो जाता है, जिससे बेचारा प्राणी पराधीन होकर दीन-हीन हो जाता है। पर, बुद्धिजन्य ज्ञान शरीरादि वस्तुओं में असुन्दरता, सतत् परिवर्तन तथा क्षणभंगुरता आदि दोषों के दर्शन कराता है, जिससे साधक सुगमतापूर्वक विषयों

के राग से मुक्त होकर भोग से योग की ओर अग्रसर होता है।

जैसे, अपने ही शरीर को यदि जब कोई इन्द्रियों के द्वारा देखता है, तब उसे शरीर सत्य भी मालूम होता है और सुन्दर भी। किन्तु उसी शरीर को यदि बुद्धि के ज्ञान से देखने लगे, तो उसे उसके भीतर मल, मूत्र, मज्जा, मांस आदि दुर्गन्धित वस्तुओं का दर्शन होता है, जिससे ऊपर की सुन्दरता मिट जाती है, अथवा यों कहो कि शरीर से अरुचि हो जाती है।

यदि बुद्धि के ज्ञान से दृढ़तापूर्वक शरीर के दर्शन किए जाएँ, तो कोई भी उसे अपने समीप रखना स्वीकार न करेगा, न उसमें रहना पसन्द करेगा। जैसे, यदि किसी से कहा जाय कि स्वर्ण के कलश में मल-मूत्रादि भरकर और रेशम से ढककर क्या उसे अपने पास रखना पसन्द करोगे? तो, सभी भाई-बहन कह देगे, नहीं। फिर हम शरीर को सुन्दर-सुन्दर अलङ्कारों एवं वस्त्रों से सुशोभित क्यों रखते हैं? तो, कहना होगा, बुद्धिजन्य ज्ञान के निरादर से। इसके अर्थ में कोई भाई-बहन यह न समझ ले कि बुद्धिजन्य ज्ञान शरीर को कहीं फेंकने तथा मिटाने के लिए कहता है। ज्ञान किसी को मिटाता नहीं। ज्ञान तो उसकी वास्तविकता के दर्शन कराता है।

शरीर की वास्तविकता के दर्शन होने पर शरीर की ममता का त्याग करने के लिए बुद्धि-जन्य ज्ञान प्रेरणा देता है। शरीर की ममता मिटते ही जाती है, जो योग की रुचि उत्पन्न करने में समर्थ रुचि की पूर्ति करने में प्राणी भले ही पराधीन तथा असमर्थ-हो, क्योंकि इच्छित भोग सभी को सदैव नहीं मिलते हैं। पर योग में कोई भी साधक कभी पराधीन नहीं है। कारण कि, योग की सिद्धि के लिए हमें भोग-वासनाओं से रहित होकर 'पर' से 'स्व' की और गतिशील होना पड़ता है, जिससे वियोग नहीं होता। वियोग उसी से नहीं होता, जो अपने में हो। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि योग प्राप्त करने में पराधीनता नहीं है।

जिस काल में भोग को प्रवृत्ति का पूर्णरूप से त्याग हो जाता है, उसी काल में योग प्राप्त हो जाता है। वैसे तो, भोग के आरम्भ से पूर्व और भोग के अन्त में सभी को योग प्राप्त है। परन्तु भोगकाल के सुख की स्मृति अड़ित हो जाने से जो योग प्राप्त

होता है उसका अनुभव नहीं होता, अर्थात् भोग के अन्त में भी भोग का चिन्तन रहता है। भोग का चिन्तन स्वाभाविक योग में स्थिति नहीं होने देता। इस दृष्टि से भोग-प्रवृत्ति से भी भोग का चिन्तन अधिक भयङ्कर है। यद्यपि किसी को भी भोग के चिन्तन से भोग नहीं मिल जाता, भोग को प्राप्ति के लिये तो कर्म अपेक्षित होता है। कर्म का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से होता है और चिन्तन आगे-पीछे का होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे-पीछे के चिन्तन ने ही हमें स्वाभाविक योग से विमुख किया है। और योग की विमुखता ने ही हमें शक्ति-हीन बनाकर जड़ता में आबद्ध कर दिया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि भोगे हुए सुखों की स्मुति ने हमें जो आगे-पीछे के चिन्तन में आबद्ध कर दिया है, उससे कैसे छुटकारा हो? उसके लिए साधक को योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक वर्तमान कार्य को पवित्र भाव के द्वारा करना होगा और कार्य के अन्त में अपने में छिपी हुई जिज्ञासा तथा प्रिय–लालसा को जागृत करना होगा। कारण कि, चिन्तन-शक्ति हमें तत्व-जिज्ञासा एवं प्रिय-लालसा की ओर अग्रसर होने के लिए है। उसका उपयोग विषयों के चिन्तन में नहीं करना चाहिए।

अब विचार यह करना है कि भोगे हुए सुख की स्मृति क्यों बड़ी होती है? उसके लिए कहना होगा कि हम अपने को भोगी मानकर रहते हैं, इस कारण किये हुए का संस्कार अंकित हो जाता है। यह नियम है कर्ता जैसा अपने को मानता है, वैसा ही बन जाता है, और जो उसका संस्कार अंकित हो जाता है। अंकित संस्कार ही भोगे हुए स्मृति कराने में समर्थ होते हैं। अत: उनके मिटाने के लिये हमें अपने को स्मृति करने में समर्ध होते है। अंतः उनके मिटाने के लिये हमे अपने की भोगी मानकर भोग नहीं करना चाहिए।

जब हम अपने को भोगी न मानकर साधक मान लेंगे, प्रवृत्ति की वास्वविकता का अनुभव हो जायेगा। प्रवृत्ति की वास्तविकता अनुभव निवृत्ति कराने में समर्थ है। यदि हम सुख भोग की वास्तविकता पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छित भोग मिलने से पूर्व हम दुखी थे, और इच्छित भोग भोगने के अन्त

में भी हम दुखी होते हैं। तो, जिस सुख के आरम्भ में दु:ख और अन्त में दुख, उस सुख की लालसा करना कहाँ तक उचित है? तो, कहना होगा कि सुख की लालसा करना भूल है और कुछ नहीं।

अब यदि कोई कहे कि सुख तो इतनी प्रिय वस्तु है कि उससे अरुचि स्वाभाविक नहीं होती। तो कहना होगा कि सुख से अरुचि उन्हें को नहीं होती, जो सुख की वास्तविकता को नहीं जानते, अथवा पाये दु:ख से दुखी नहीं होते। जो हृदय-शील पराये दु:ख से दु:खी होते है, उन्हें सुख जाने की रुचि नहीं होती। उन्हें तो दूसरों को सुख देने की रुचि होती है और जो विचार-शील सुख की वास्तविकता को जान लेते है, वे भी अपने को सुख कीदासता में आबद्ध नहीं करते। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी हृदय-शील एवं बिचार-शील सुख के पीछे नहीं दौड़ता। सुख-भोग की आसक्ति मिटते ही स्थूल शरीर से असंगता आ जाती है। कारण कि,इन्द्रिय-ज़न्य विषयों से अरुचि हो जाती है, और विषय-चिन्तन मिट जाता है।विषय-चिन्तन मिटते ही सार्थक-चिन्तन उदित होता है और सूक्ष्म शरीर से असंग होने की योग्यता आ जाती है।

जिस काल में सार्थक-चिन्तन अचिन्तता में बदल जाता है, उसी काल में साधक सूक्ष्म शरीर से असङ्ग हो जाता है। दीर्घ काल तक अचिन्त्य रहने से, कारण शरीर से असंग करने के लिए स्वय अलौकिक विचार का उदय होता है, जो अविचार को खाकर कारण शरीर से असंग कर देता है। तीनों शरीरों से असंग होते ही अमर जीवन स्वतः प्राप्त होता है, जो मानव-जीवन है।

देहाभिमान गल जाने पर माना हुआ अह-भाव, जो विभिन्न मान्यताओं से प्रतीत होता था, शेष नहीं रहता और जीबन योग, बोध तथा प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। हमारी जो मान्यताएँ साधन-रूप हैँ, वे छिपे हुए राग-द्वेष को मिटाकर हमें निर्मल बना देती है। निर्मलता आते ही जो नहीं करना चाहिए वह मिट जाता है और जो करना चाहिए यह स्वतः होने लगता है। वही मानव की मानवता है। उस मानवता के विकसित करने के लिए हमें माने हुए 'अहं' के अनुसार जो कर्तव्य है, उसे निर्मोहतापूर्वक अभिनय के स्वरूप में विधिवत् कर

देना चाहिए। यह नियम है कि जो प्रवृत्ति अभिनय के रूप में की जाती है, उसमें जीवन-बुद्धि नहीं होती, न कर्तापन ही अंकित होता है और न उस मान्यता में ही सद्भाव होता है। अपितु वह प्रवृत्ति किसी वास्तविकता का अनुभव कराने के लिए होती है। जिस प्रवृत्ति में सद्भाव नहीं होता, उस प्रवृत्ति का राग अंकित नहीं होता और राग-रहित होने पर माने हुए अह-भाव की सत्यता सदा के लिए मिट जाती है। उसके मिटते ही जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है, अभीष्ट है।

अब हमें और आपको अपनी-अपनी दृष्टि से अपने-अपने वर्तमान जीवन का देखना है कि हमने जो मान्यता स्वीकार करके समाज के सामने प्रकाशित की है, क्या हमारा चरित्र उस मान्यता के विधान के अनुरूप है? आज तक किसी ने अपने को समाज के सामने यह प्रकाशित नहीं किया है कि मैं दुराचारी हूँ, चोर हूँ, झूठा हूँ, बेईमान हूँ। तो, फिर इन दोषों के दर्शन हमारा जीवन से समाज को कैसे हुए? तो, मानना होगा कि हमने अपने को जिस मान्यता से समाज के सामने प्रकाशित किया, उस विधान का अनादर किया और केवल देहजनित स्वभाव की आसक्ति का जो वास्तव में पशुता थी, परिचय दिया, जो अमानवता है।

उस अमानवता को मानवता में परिणत करने के लिए प्रत्येक भाई-बहन को अपने-अपने स्थान पर ठीक रहना होगा। अर्थात् डॉक्टर को रोगी के अधिकार की रक्षा, राष्ट्र को प्रजा के अधिकार की रक्षा, एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के अधिकार की रक्षा, एक दल को दूसरे दल के अधिकार की रक्षा, महाजन को मजदूर के अधिकार की रक्षा, शिक्षितों को अशिक्षितों के अधिकार की रक्षा, पति को पत्नी के अधिकार की रक्षा, पिता को पुत्र के अधिकार की रक्षा, मित्र को मित्र के अधिकार की रक्षा, अर्थात् परस्पर में एक-दूसरे के अधिकारों की रक्षा करनी होगी। इससे सभी भाई-बहन अपने-अपने स्वीकार किये हुए बन्धन से सुगमतापूर्वक मुक्त हो जायेंगे और राग-द्वेष भी मिट जायेंगे।

हाँ, एक बात विचारणीय है कि भौतिकवादी अपने कर्तव्य का पालन विश्व-प्रेम की भावना से, अध्यात्मवादी सर्वात्मभाव से और आस्तिकवादी भागवत्-भाव से प्रेरित

होकर करेगा। यह नियम है कि जिस भाव से प्रेरित होकर जो प्रवृत्ति की जाती है, कर्ता उसी भाव में विलीन होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भौतिकवादी सारे विश्व के साथ एकता स्वीकार कर स्वार्थभाव से सुगमता-पूर्वक मुक्त हो जायेगा और उसका जीवन सर्वहितकारी भावना से भर जायेगा। अध्यात्मवादी सभी को अपना स्वरूप जानकर सभी के अधिकार की रक्षा करेगा। उसका परिणाम यह होगा कि वह सभी को अपने में और अपने को सभी में अनुभव कर कृतकृत्य हो जायगा। और आस्तिकवादी का अहं-भाव प्रेमास्पद की प्रीति बनकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जायेगा।

यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय, तो सभी की मान्यता में भेद होने पर भी वास्तविकता में कोई भेद नहीं रहेगा। कारण कि, विश्व-प्रेम भी प्रेम है, आत्मरति भी प्रेम है, और प्रभु-प्रेम भी प्रेम है।' अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रेम से परिपूर्ण जीवन ही मानवता है, जो सभी को अभीष्ट है। अत: साधन-रूप मान्यताओं को कर्तव्य-बुद्धि से अभिनय के स्वरूप में अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार पूरा कर सीमित अहंभाव से मुक्त होने के लिए हम सभी भाई-बहिनों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए और साधन-रहित मान्यताओं को अलौकिक विवेक के प्रकाश से मिटा देना चाहिये। परस्पर मान्यताओं में भेद होने पर भी प्रीति-भेद तथा लक्ष्य-भेद नहीं होना चाहिए। योग्यता-भेद होने के कारण कर्म-भेद, विचारों का भेद, सम्प्रदायों का भेद भले ही बना रहे। पर प्रीति स्वरूप जो मानवता है, उसका भेद नहीं होना चाहिये, क्योंकि मानव-मात्र में मानवता एक है। उसी मानवता को विकसित करने के लिये मानव-जीवन मिला है।

॥ॐ॥

कर्तव्य-परायणता

(दिनांक 18 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल सेवा में निवेदन किया था कि यदि हम निज-ज्ञान के प्रकाश

में अपने माने हुए सम्बन्धों पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सभी सम्बन्ध हमें कर्तव्य-परायणता का पाठ पढ़ाते हैं।

अब विचार यह करना है कि ऐसा कौन-सा सम्बन्ध है, जो हमें कर्तव्य का पाठ पढ़ाता है और ऐसी कौन-सी मान्यता है, जो न तो कर्तव्य का ही पाठ पढ़ाती है और न अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही व्यक्त करती है? जैसे कोई कहे, 'मैं' तो 'मैं' जैसी जीवन में कोई वस्तु प्रत्यक्ष है ही नहीं।

हाँ, यह अवश्य कह सकते हैं। कि 'मैं' का अर्थ है-''यह' को विषय करने वाला। जो 'मैं' 'यह' का विषय करता है, क्या कभी किसी ने उस 'मैं' को 'यह' से भिन्न करके देखा है? तो कहना होगा कि 'यह' का भान तो तब होता है, जब हम अपने को बुद्धि आदि कारणों से मिला लेते हैं। बुद्धि आदि कारणों से हम 'मैं' को तब मिलाते हैं, जब किसी वासना की उत्पत्ति होती है। तो क्या 'मैं' का अर्थ वासनाओं का समूह है? वासनाओं की उत्पति तो केवल अपने को देह मानने पर होती है। तो क्या 'मैं' का अर्थ देह है? यदि 'मैं' का अर्थ देह है, तो 'यह' किसे कहेंगे? अत: देह के साथ 'मैं' को मिलाया नहीं जा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि वासना की उत्पत्ति का कारण अपने को देह मानना है। अपने को देह मानना अविवेक-सिद्ध है, विवेक-सिद्ध नहीं। क्या 'मैं' का अर्थ अविवेक है? यदि कोई अविवेक को ही 'मैं' मान ले, कहना होगा कि अविवेक की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, विवेक के अनादर नाम ही अविवेक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मैं' या तो कर्तव्य विधान का प्रतीक है अथवा कुछ नहीं है।

यदि कोई कहे कि 'मैं' के अर्थ में तो हम बुद्धि आदि यावत् दृश्य प्रकाशक को लेते हैं। तो कहना होगा कि बुद्धि आदि यावत् दृश्य का प्रकाशक तो अनन्त नित्य-ज्ञान है। यदि अनन्त नित्य-ज्ञान को 'मैं' कहेगे, तो 'है' किसको कहा जायेगा? हाँ यह अवश्य है कि जिन्हें 'मै' शब्द से मोह हो गया हो और उसके बिना माने किसी प्रकार सन्तोष न हो, तो 'मैं' का अर्थ होगा-अनन्त नित्य-ज्ञान। इस दृष्टिकोण से भी 'मैं' जैसी कोई सीमित वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। कारण कि, 'मैं' का अर्थ हुआ 'कुछ नहीं", अथवा 'सब कुछ'। 'कुछ नहीं' का अस्तित्व होता नहीं और 'सब कुछ'

को किसी मान्यता में आबद्ध कर सकते नहीं। अत: मान्यता वही सार्थक है, जो साधन रूप हो,उसके अतिरिक्त जो भी मान्यता होगी, वह निरर्थक सिद्ध होगी। हाँ, एक की प्रीति अवश्य है कि 'मैं' को 'है' की जिज्ञासा अथवा 'है' की प्रीति का नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं। पर जिज्ञासा तथा प्रीति में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह जिज्ञासा तथा प्रीति होती है।

अब विचार यह करना है कि इन तीनों भावों में-से वास्तविक क्या है? तो आपको यह स्पष्ट हो जायेगा कि कर्तव्य-परायणता में-से यदि प्रीति निकाल दी जाय, तो कर्तव्य जैसी कोई चीज नहीं रह जाती। इससे यह सिद्ध होता है कि 'मैं' की वास्तविक सत्ता किसी-न-किसी की प्रीति में है। हम जब अपने को कुछ मानते हैं, तो हमारी उस मान्यता में किसी की प्रीति निहित हो जाती है। जैसे, किसी डॉक्टर से पूछा जाय कि तुम वास्तव में कौन हो?-रोगी की प्रीति। इसी प्रकार वकील से पूछा जाय कि तुम कौन हो?-कानून की प्रीति। यदि आप कहें कि डॉक्टर रोगी की प्रीति नहीं है। तो उस समय वह डॉक्टर नहीं है। प्रीति के बदले मे क्या मिलेगा? यह तो प्रीति का स्वभाव नहीं है। यह तो किसी और का स्वभाव है, अर्थात् देह का स्वभाव है।

अपने को देह से मिलते ही कि हुई प्रीति के बदले में कुछ-न-कुछ चाह उत्पन्न हो जाती, जो अविवेक सिद्ध है। कारण कि, प्रीति में जो रस है,वह किसी भोग में नहीं। जिस देह से प्रमादवश हम अपने को मिला लेते है,उस देह की तो वास्तव में स्थिति सिद्ध ही नहीं होती, प्रतीति अवश्य होती है।यदि कोई कहें कि उसे हम छुते है,पकड़ते है,प्यार करते है।कहना होगा कि क्या आप देह से अपने को अलग करके किसी भी देह को छुते पकड़ते, प्यार करते है ?कदापि नहीं।बड़े-से-बड़ा भौतिक विज्ञानी भी देह आदि वस्तुओ कि वास्तविक स्थिति सिद्ध नहीं कर सकता; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे सतत परिवर्तन न हो रहा हो।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तुओं की उत्पति तो होती है। तो मानना होगा कि जिसे आप उत्पत्ति कहते हैं, वही तो किसी का विनाश भी है, क्योंकि किसी का विनाश ही

किसी की उत्पति के स्वरूप में प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विनाश के क्रम को ही उत्पति तथा स्थिति मान लेते हैं। इसी कारण दृश्य में प्रवृत्ति तो होती है, प्राप्ति कुछ नहीं होती। इस दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि जिसकी प्रतीति होती है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती। वास्तव में तो वह प्रतीति किसी और की सत्ता से ही सत्ता वाली होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिस संसार में हमारी प्रवृत्ति होती है, उससे तो हमें बहुत-सी वस्तुएँ मिलती हैं और आप कहते है कि प्राप्ति कुछ नहीं होती। जो ऐसा मानते हैं, उनसे यह पूछा जाय कि भाई, संसार की प्रवृत्ति से ऐसी कौन-सी वस्तु मिली, जिसका सम्बन्ध आपसे है? यदि वे कहे कि मोटर, मकान इत्यादि अनेक भोग्य वस्तुएँ हमें मिलती हैं। तो उनसे यह पूछा जाय कि जो वस्तुएँ आपको मिलती हैं, वे शरीर तक ही पहुँचती हैं, अथवा आपको मिलती हैं? आप कोई ऐसी वस्तु बताएँ, जो देह से अपने को अलग मानने पर आपको मिलती है। यदि वे कहे कि हम अपने को देह से अलग क्यों माने? तो कहना होगा कि देह तो सतत परिवर्तनशील है। तुम्हारा तो कोई अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

अतः यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कोई भी अपने को देह से तादात्मय कर अपनी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता और किसी को भी देह से अलग मानकर अपने लिए संसार से कुछ प्राप्ति नहीं हुआ। तो फिर मानना ही होगा प्रतीति में प्रवृत्ति भी प्रतीति कि ही होती है, किसी और कि नहीं। कारण कि देह आदि भी प्रतीति है समस्त दृश्य भी प्रतीति है। यह प्रतीति जिस अनन्तके प्रकाश से प्रकाशित है तथा जिसकी सत्ता से सत्ता वाली है, हमें और आपको उसी अनन्तसे अभिन्न होना है, अथवा उसकी प्रीति बनकर रहना है।

इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनी-अपनी योग्यता तथा परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण करना है। परन्तु जब हम प्रमादवश अपने को देह मान लेते हैं, तब अनेक प्रकार की चाह में आबद्ध हो जाते हैं। जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न चाह की पूर्ति की आशा होती है, हम उन्हीं के पीछे दौड़ते हैं, उन्ही के दास बन जाते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें प्राप्त करने के लिए वह भी कर

बैठते है, जो नहीं करना चाहिए और अन्त में पराधीनता, जड़ता तथा शक्तिहीनता आदि दोषों को ही पाते हैं, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं हैं। इन दोषों की निवृत्ति के लिए ही हमें साधन-निर्माण करना है।

यदि हम अलौकिक विवेक के प्रकाश में अपने को देह न माने, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक अचाह-पद प्राप्त कर सकते हैं। अचाह-पद प्राप्त करते ही हम समस्त दृश्य से विमुख होकर अनन्त नित्य-चिन्मय परमतत्व के सम्मुख हो जाते है। उनके सम्मुख होते ही सभी दोष, सभी निर्बलताएँ स्वतः मिट जाती है।

यदि कोई साधक अपने को देह से अलग मानने में असमर्थ पाता हो, तो उसे किसी साधनरूप मान्यता को अपनाकर उसके अनुसार जो कर्तव्य हो, उसका पालन करना चाहिए। उसके करने से विषयों का राग निवृत्त हो जायेगा और फिर अपने को देह से अलग मानने की योग्यता आ जायेगी। कारण कि विषयासक्ति के कारण प्राणी अपने को देह में आबद्ध कर लेता है। आप हमें अपना साधन-निर्माण करने में कठिनाई क्यों होती है? इसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने निज-विवेक से सारे संसार को तो जानना चाहते हैं, पर अपनी वस्तुस्थिति को जानने का प्रयत्न नहीं करते। यह नियम है कि अपनी वस्तुस्थिति को जाने बिना कोई अपना साधन-निर्माण कर ही नहीं सकता।

अब यदि हम अपनी वस्तुस्थिति पर विचार करें तो या तो अपने में सतत् परिवर्तन पाते हैं, अथवा मान्यताओं का समूह। हमारी जो मान्यता दूसरों से सम्बन्धित है, उसके अनुसार तो हमें दूसरों के अधिकारों की रक्षा कर देनी चाहिए। पर दूसरों पर जो हमारा अधिकार है, उसकी पूर्ति के लिए हमें आशा नहीं करनी चाहिए। पर दूसरों पर जो हमारा अधिकार है, उसके पूर्ति के लिए हमे आशा सुख नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से हमारी सभी मान्यताएँ साधन बनकर हमें राग से निवृत्त कर देगी जिसने हमें मान्यताओं में आबद्ध कर दिया था। अब रही सतत् परिवर्तन की बात। सतत् परिवर्तन की, वेदना तो हमे परिवर्तन-रहित अनन्त नित्य जीवन की ओर अग्रसर करने में समर्थ होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि

हमारी वस्तुस्थिति या तो तत्व-जिज्ञासा है या समाज के अधिकारों का समूह।

इस वस्तु-स्थिति के ज्ञान का आदर करना ही मानवता है और इसके अतिरिक्त हम जो कुछ मान लेते है, वह अमानवता है। उस अमानवता ने ही हमें कर्तव्य-परायणता, तत्व-जिज्ञासा एवं प्रिय-लालसा से विमुख किया है।

हमारे जीवन में जितने अभाव हैं, वे किसी-न-किसी की प्रीति हैं, जैसे धन का अभाव धन की प्रीति है। प्रीति में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह प्रीति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम जिसे चाहते हैं, उसी की प्रीति बन जाते हैं। परन्तु जब हमारी वह प्रीति किसी वस्तु, अवस्था या परिस्थिति तक ही सीमित हो जाती है, तब उसका नाम प्रीति न रहकर आसक्ति हो जाता है। फिर हम आसक्ति की आपूर्ति तथा पूर्ति में अपने को दुःखी तथा सुखी मानकर दीनता तथा अभिमान में आबद्ध कर लेते हैं। यह हमारा प्रमाद है। उसे मिटाने के लिए हमें अपनी प्रीति को निर्मल करना होगा अर्थात् उसे अनन्त में विलीन करना होगा। पर वह तभी हो सकेगा, जब हम किसी के ऋणी न रहे और ईमानदार बन जायें।

ऋणी न रहने का अर्थ है कि हमारी प्रवृत्तियों से किसी के अधिकारों का अपहरण न हो और ईमानदार होने का अर्थ है कि शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानें। अपना न मानने से कोई क्षति नहीं होती। अथवा यों मान ले कि सेवा करने के लिए तो सभी अपने है और अपने लिए तो केवल वे ही अपने है, जिनके लिए हम सभी वस्तुओ, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से अलग होना चाहते हैं। यदि हम विचार करे, तो यह विदित हो जायेगा कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति अथवा अवस्था हमें कितनी ही प्रिय क्यों न हो, हम उससे अलग होना चाहते है। जैसे, प्रिय-से-प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति को भी गहरी नींद के लिए त्याग देते है, और जागृत की सुषुप्ति के लिए गहरी नीद को भी हम छोड़ देते हैं।

यदि कोई कहे कि क्या जागृति में भी सुषुप्ति होती है? तो, कहना होगा कि हाँ, जागृत में भी स्वप्न और सुषुप्ति होती है। किसी कार्य के करते हुए किसी ऐसी बात की स्मृति आना जिसका सम्बन्ध उस कार्य से

नहीं है, यही जागृत का स्वप्न है। और वर्तमान कार्य से सम्बन्ध न रहे तथा अन्य कार्य की भी स्मृति न आए, यह भीतर-बाहर का मौन ही जागृत की सुषुप्ति है। गहरी नीद में जड़ता का दोष रहता है, और जागृत को सुषप्ति में जड़ता का दोष नहीं रहता। यद्यपि दोनों ही अवस्थाओं में दुख का भास नहीं होता। इसी कारण उस स्थिति में कोई प्रयत्न शेष नहीं रहता। किन्तु अध्यात्म दृष्टि से अप्रयत्न भी एक बड़। भारी प्रयत्न है। उसी अप्रयत्न से जागृत की सुषुप्ति से भी असंगता हो जाती है और फिर साधक अमर जीवन से अभिन्न हो जाता है।

यह सभी भाई-बहनों का अनुभव है कि गहरी नीद में जितना सुख मिलता है, उतना किसी वस्तु या व्यक्ति के संग से नहीं मिलता; तभी तो हम गहरी नीद के लिए सभी वस्तुओं का संग छोड़ते हैं। पर, छोड़ते हुए भी उनसे सम्बन्ध बनाए रखते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि हम एक ओर तो सभी से अलग होते है और सभी की आसक्ति भी रखते हैं। सभी से अलग होने की जो हमारी अनुभूति है, वह हमें वस्तुओं से अतीत के जीबन का संकेत करती है और वस्तु और व्यक्तियों में जो आसक्ति है, वह हमारे माने हुए सम्बन्ध को सिद्ध करती है। सम्बन्ध सुने हुए विश्वास पर जीवित है और अनुभूति निज-ज्ञान पर निर्भर है। सम्बन्ध के अनुसार तो हमें केवल व्यक्तियों की सेबा और वस्तुओ के सदुपयोग की प्रेरणा मिलती है और निज-ज्ञान के प्रकाश से हमें सभी वस्तुओं से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर होने का आदेश मिलता है। उस आदेश की पूर्ति और वस्तुओं का सद्व्यय तथा व्यक्तियों की सेवा करना प्राणी का परम पुरुषार्थ है। वस्तुओं के सदव्यय तथा व्यक्तियों की सेवा को ही कर्तव्य के नाम से कहा जाता है।

इसी बात का भिन्न-भिन्न मत, दल तथा सम्प्रदाय अपनी-अपनी विचार-धारा के नाम से वर्णन करते हैं। प्रत्येक भाई-बहन को अपनी-अपनी विचार-धारा के अनुरूप के प्रकाश में मिले हुए आदेश के अनुसार साधन करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिए। यदि उस विचार-धारा से उदेश्य की पूर्ति नहीं होती, तो मानना होगा कि उस विचार-धारा में कोई त्रुटी अवशय है।

यह नियम है कि उद्देश्य की पूर्ति होने पर सीमित 'अहंभाव' है, शेष नहीं रहता। अहंभाव के मिटते ही अभिन्नता, अर्थात् भेद नहीं रहता। भेद मिटने से प्रीति, जो हमारा स्वभाव है, विभु हो जाती है। प्रीति के विभु होने से सभी संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं और जीवन चिर-शांति तथा स्थायी प्रसन्नता से भर जाता है जो मानव को प्रिय है।

उदेश्य की पूर्ति जिस जीवन से होती है, उसका वर्णन विभिन्न साधक विभिन्न विचारधाराओं को अपनाकर अपनी-अपनी योग्यता, रुचि एवं मान्यता के अनुसार करते हैं। यद्यपि वर्णन-कर्ता जो कुछ भी उसके सम्बन्ध में कहता है, वह भी सत्य है तथापि वह उससे परे भी है; क्योंकि वर्णन करने की क्रिया सीमित है और वह अनन्त है। अनन्त के सम्बन्ध में साधन-बुद्धि से जो कुछ भी कहा जाता है, अपने-अपने स्थान पर ठीक है। पर सिद्धान्त रूप से तो उसकी प्राप्ति होती है, जो वर्णन में नहीं आ सकता। किए हुए वर्णन को पूर्ण मानकर परस्पर विरोध तथा संघर्ष करना अमानवता है, असाधन है। साधन को जीवन बना लेना साधन है।

साधन जीवन हो जाने पर साधन से मोह, तथा साधन का अभिमान शेष नहीं रहता और फिर सभी साधनों का आदर साधक स्वयं करने लगता है, अर्थात् अपने साधन का अनुसरण और दूसरों के साधनों का आदर मानवता है। अपने साधन के प्रति मोह और दूसरों के साधन की निन्दा अमानवता है। यह नियम है कि जो साधन जीवन बन जाता है, उसका प्रचार स्वतः हो जाता है, क्योकि सभी का लक्ष्य एक है और योग्यता-भेद से केवल साधन के बाह्य स्वरूप में भेद है। सत्पुरुषों ने साधन का निर्माण किया है और उस साधन--पद्धति द्वारा समाज की सेवा भी की है। परन्तु उन्होंने अपनी साधना के आधार पर कोई दल अथवा मत नहीं बनाया है। दलों और मतों को तो उनके पीछे चलने वालों ने अपने देहाभिमान के वशीभूत होकर जन्म दिया है।

मानव-जीवन तत्व-जिज्ञासा तथा श्रद्धा का समूह है। तत्वजिज्ञासा हमें सत्य की खोज करने के लिए विवश करती है और श्रद्धा खोज किये हुए सत्य पर अपने का न्यौछावर

करने की प्रेरणा देती है। श्रद्धा ने उस सत्य को अनन्त, अलौकिक दिव्य पुष्टि से विभूषित पाया और जिज्ञासा ने सभी गुणों से अतीत में अपने को विलीन किया। श्रद्धा ने उससे जातीय एकता और जिज्ञासा ने उससे स्वरूप की एकता स्वीकार की। इसी को विश्वासियों ने, अर्थात् जो हृदय-प्रधान साधक थे, उन्होंने सगुण बताया और मस्तिष्क प्रधान साधकों ने गुणातीत, अर्थात् निर्गुण बताया। जिन्होंने सगुण कहा, उन्होंने प्राकृतिक गुण नहीं, वरन् अलौकिक दिव्य पुष्टि की बात कही। और, जिन्होंने निर्गुण कहा, उन्होंने भी प्रकृति के पुष्टि से अतीत कहा।

अपनी-अपनी दृष्टि से तो दोनों ने ठीक ही कहा है। परन्तु जो पुष्टि से अतीत है, उसी में अनन्त गुण हो सकते है, वही गुणों से अतीत हो सकता है। अथवा यों कहों कि वह सब कुछ होने पर भी सबसे परे है। जो सबसे परे है, हमें उसी की खोज करना है और उसी की प्रीति होना है। उसकी खोज करने के लिए अपने को जिनमें रख लिया है, उनसे अलग करना होगा, और अपने में जिनको रख दिया है, उनको निकालना होगा। ऐसा करते ही निर्वासना आयेगी। वासनाओं का अन्त होते ही जिसकी खोज थी, उससे एकता हो जायेगी और समस्त जीवन उसकी प्रीति बन जायेगा। प्रीति से परिपूर्ण जीवन रसमय जीवन है।

यह नियम है कि नीरसता तथा अभाव मिटते ही राग-द्वेष सदा के लिए विदा हो जायेगे। उनके विदा होते ही परस्पर स्नेह की एकता का संचार होगा और फिर व्यक्तिगत जीवन समाज के अधिकारों में विलीन हो जायेगा समाज के अधिकार सुरक्षित होने से सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जायेगा, और अनन्त की प्रीति बन जाने से अपना कल्याण भी हो जायेगा। स्नेह की एकता अपने अधिकार के त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा का पाठ पढाती है। दूसरे के अधिकार की रक्षा से कर्तव्य-परायणता स्वतः आ जाती है, और अपने अधिकार के त्याग से माने हुए सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं। उनके टूटते ही मुक्त जीवन से अभिन्नता हो जाती है, और फिर केवल प्रीति ही प्रीति शेष रह जाती है, जो सर्वत्र-सर्वदा उस अनन्त को रस प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि अनन्त

को प्रेमी बना देती है। यह नियम है कि प्रेम के आदान-प्रदान में नित-नवरस की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, अर्थात् जीवन अखण्ड, अनन्त रस से परिपूर्ण हो जाता है, जो मानव की माँग है।

॥ॐ॥

अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम

(दिनांक 19 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

कल सेवा में निवेदन किया था कि माने हुए अहम् के अनुसार मानवता समाज के अधिकार का समूह है। और, वास्तविक नित्य-सम्बन्ध के अनुसार मानवता उस अनन्त की प्रीति है।

अब विचार यह करना है कि इस मानवता को विकसित करने के लिए हमें सबसे प्रथम क्या करना है? मानवता का विकास जीवन में तभी हो सकेगा, जब हम अपने को निर्दोष तथा निर्भर बना लें। निर्दोष होने का वास्तविक उपाय है, अपने विवेक से अपने पर न्याय करना। किसी को दण्ड देना, संघर्ष करना, किसी का विनाश करना, किसी से द्वेष या घृणा करना,यह सब न्याय का अर्थ नहीं है। न्याय का अर्थ है, जिसके प्रति न्याय किया जाए, उसे उसके दोष के यथार्थ दर्शन करा देना और किसी उपाय विशेष से उस दोष को निवृत्त करा देना, अर्थात् उसे निर्दोष बना देना। जिसके प्रति न्याय किया गया, यदि वह निर्दोष नहीं हुआ, तो समझना चाहिये कि न्यायकर्ता में कोई दोष है, अर्थात् उसके प्रति सही न्याय नहीं किया गया।

अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने को निर्दोष बनाने के लिए अपने प्रति न्याय करना अनिवार्य हो जाता है। कारण कि न्यायाधीश वही है, जो अपने पर न्याय करता है। यदि प्रत्येक भाई-बहन अपने पर न्याय करने लग जायें, तो किसी बाह्य न्यायशाला की अपेक्षा ही नहीं रहती। न्याय करने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि न्यायकर्ता दोष और दोष के कारण को भली-भाँति ज्यों-का-त्यों जान ले, तभी न्याय सही हो सकेगा। अब विचार यह करना है कि

हम अपने दोष तथा उसके कारण को जितना स्पष्ट निज-विवेक से जानते हैं, उतना कोई अन्य हमारे सम्बन्ध में जान ही नहीं सकता। अत: अपने प्रति सही न्याय जितना हम कर सकते हैं, उतना कोई अन्य कदापि नहीं कर सकता। यदि कोई यह कहे कि हमने अपने प्रति पक्षपात कर लिया, तो सही न्याय कैसे होगा? क्योंकि अपने प्रति मोह होना सम्भव है। तो कहना होगा कि न्याय का परिणाम निर्दोषता है। यदि हमारे जीवन में निर्दोषता नहीं आई, तो समझना चाहिये कि हमने अपने प्रति सही न्याय नहीं किया। उसके सही न करने का एक-मात्र कारण निज-विवेक का अनादर ही हो सकता है, जो नहीं करना चाहिए। क्योकि निज-विवेक का अनादर अमानवता है।

प्राकृतिक विधान पर यदि हम विचार करे, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत्-प्रकाशक ने हमें जो अलौकिक विवेक का प्रकाश दिया है, वह इसीलिये दिया है कि हम अपने दोष को जानकर न्यायपूर्वक अपने को निर्दोष बनाएँ। कारण कि, जिन पशु-पक्षी आदि प्राणियों में अलौकिक विवेक जागृत नहीं है, उनको अपने प्रति न्याय नहीं करना पड़ता प्रकृति स्वय उनके प्रति न्याय करती है। अर्थात्, पशु बेचारा बिना भूख नहीं खा सकता, और भूख से अधिक भी नहीं खा सकता, तथा भूख और खाद्य पदार्थ होते हुए भूखा भी नहीं रह सकता। पर मानव इसके विपरीत बिना भूख भी खा लेता है और कभी भूख लगने पर भोजन होते हुए भी नहीं खाता। उस अनन्त ने यह स्वाधीनता मानव को इस कारण दी कि वह मिले हुए विवेक का आदर करे। यह नियम है कि मिली हुई स्वाधीनता तभी सुरक्षित रह सकती है, जब उसका सदुपयोग किया जाय। अत: मानव-जीवन में विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है।

अपने प्रति न्याय वही कर सकेगा, जिसका जीवन व्रत, तप, प्रायश्चित तथा प्रार्थना से युक्त हो। अपने लक्ष्य क्रो प्राप्त करने क्री दृढ़ प्रतिज्ञा का नाम ही व्रत है। उस व्रत को पूरा करने में जो कठिनाइयां आएँ, उन्हें सहर्ष सहन कर लेना ही तप है। की हूई भूल को न दोहराना ही प्रायश्चित है। और यह तभी सम्भव होगा, जब भूल से भोगा हुआ हमारा सुख दुख बन जाय। अपनी

निर्बलताओँ एवं अभावों को मिटाने के लिए परम व्याकुलता को जागृति ही वास्तविक प्रार्थना है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अपने को निर्दोष बनाने के लिए सबसे प्रथम अपने प्रति क्या करना होगा? तो, कहना होगा कि सबसे प्रथम हमे निज-विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को जानना होगा। अपने दोषों को जानना ही अपनी वस्तुस्थिति जानना है। यह नियम है कि दोष मिटाने में वही समर्थ होगा, जो अपने दोष को जान सके। कारण कि अपनी दृष्टि में अपने को दोषी जान लेने पर एक गहरी वेदना उत्पन्न होती है,क्योकि दोष-युक्त जीवन किसी को प्रिय नहीं है।

परन्तु, परदोषदर्शन-रूपी दोष से हम उस उत्पन्न हुई वेदना को दबा देते है और झूठा सन्तोष कर अपने को धोखा दे लेते हैं। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि हम अपने दोषों को जान लेने पर भी निर्दोष नहीं हो पाते। परन्तु, फिर भी प्रमादवश दूसरों से निर्दोष कहलाने की आशा करने लगते हैं। यदि किसी ने अपनी दिया, तो हम उदारता-वश अथवा हमारी वास्तविकता न जानने के कारण हमें भला कह भी मिथ्याभिमान में अपने को आबद्ध कर लेते हैं, जो वास्तव में सभी दोषों का मूल है।

सच तो यह है कि हम अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य तभी पायेंगे, जब निर्दोष हों। और निर्दोष तभी हो सकेगे, जब सत्य का आदर करें। अर्थात, जैसा हम जानते है, वैसा ही माने और जैसा मानते हैं, वैसा ही हमारा जीवन हो। ऐसा होते ही हम बहुत ही सुगमतापूर्वक निर्दोष हो सकते है। जब हम यह जानते है कि कोई हमारा बुरा न चाहे, तो हम दूसरे का बुरा क्यों चाहते है? जब हम यह जानते है कि कोई हमारा अनादर न करे, हमें कोई हानि न पहुँचाए, तो हम किसी का अनादर क्यों करते है, किसी को हानि क्यों पहुँचाते है? ऐसा हमसे तभी होता है, जब हम मिले हुए अलौकिक विवेक का अनादर करते है।

सभी भाईं-बहनों को यह भली-भाँति समझ लेना चहिए कि विवेक हमें निज-दोष के दर्शन कर निर्दोष होने के लिए मिला है। इस दृष्टि से हमारा विवेक ही हमारा राष्ट्र तथा न्यायाधीश है। यह नियम है कि हमें

अपने विवेक-रूपी राष्ट्र के विधान का आदरपूर्वक ईमानदारी से पालन करना चाहिए। अत: जब हम किसी का बुरा नहीं चाहेगे, तब करुणा से द्रवीभूत हो जायेगा, अथवा प्रसन्नता से हृदय भर जाएगा।

यह नियम है कि जिस हृदय में करुणा निवास करती है, उस हृदय में सुख-भोग की आसक्ति नहीं रहती। कारण कि, वह अपने से दुखियों को देखते हुए सुख भोग ही नहीं कर सकता। और जिस हृदय में प्रसन्नता निवास करती है, वह अपने से सुखी को देखकर न तो ईर्ष्या ही करता है और न उसमें कोई चाह ही उत्पन्न होती है। क्योंकि ईर्ष्या तथा चाह की उत्पत्ति स्थायी प्रसन्नता के अभाव में होती है।

इतना ही नहीं, अचाह होते ही दोष अपने आप मिट जाते हैं। कारण कि चाह पूर्ति कि आसक्ति से ही प्राणी वह कर बैठता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। जो नहीं करना चाहिए, उसी का नाम दोष है। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से, जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है, अथवा करने से मुक्त हो जाता है। जैसे, यदि कोई झूठ नहीं बोलता है, तो या तो सत्य बोलेगा, अथवा मौन हो जायेगा।

सत्य बोलने से सुनने वाले के अधिकार की रक्षा होगी और समाज में सत्य बोलने का प्रचार होगा। न बोलने से वाणी की शक्ति मन में विलीन हो जायेगी, और मन के मौन होने से मन की शक्ति बुद्धि में विलीन हो जायेगी। और बुद्धि के मौन होने से बुद्धि की शक्ति उस अनन्त में विलीन हो जायेगी जो उस बुद्धि का प्रकाशक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो होना चाहिये उसके होने से समाज में सुन्दरता आवेगी और न होने से अनन्त से एकता होगी। अत: सही करना अथवा करने से मुक्त होना ही मानवता है।

प्राकृतिक नियमानुसार हमें जो कुछ प्राप्त है, वह विश्व की उदारता ही है। जैसे, सूर्य की उदारता से ही नेत्र देखता है, आकाश की उदारता से ही श्रवण सुनता है, जल की उदारता से ही रसना को रस मिलता है, वृक्ष और पशुओं की उदारता से ही बहुत-सी जीवन की उपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हमारा जीवन किसी की

उदारता पर निर्भर है, तो हमारे द्वारा भी समाज के प्रति उदारता का ही व्यवहार होना चाहिए। पर, आज यह बात हमारे जीवन से चरितार्थ होती है अथवा नहीं, यह अपने विवेक से देखें। यदि होती है, तो हममें मानवता है और यदि नहीं होती है, तो अमानवता है।

व्यक्ति के निर्दोष होने से समाज में निर्दोषता आ जाती है और व्यक्ति के दोषी होने से समाज में दोष आ जाता है। अथवा यों कहो कि अपने प्रति किया हुआ न्याय ही समाज में न्याय का प्रचार करता है अथवा अपने प्रति किया हुआ अन्याय ही समाज में अन्याय का प्रचार करता है। जैसे, किसी को श्रम की आवश्यकता है, किसी को सिक्के तथा वस्तु की। विवेक हमें प्रकाश देता है कि दोनों की आवश्यकता एक है, दोनों को एक-दूसरे के प्रति आदर देना चाहिए। पर, हम ऐसा नहीं करते जिसको सिक्के की आवश्यकता है, उसको नौकर और जिसको श्रम की आवश्यकता है, उसको मालिक मान लेते हैं। श्रम शारीरिक हो या बौद्धिक, श्रम ही है।

इस अन्याय का परिणाम यह होता है कि सिक्के का महत्व बढ़ जाता है, जिससे सही श्रमी नहीं मिलते। सही श्रम न होने से समाज में दरिद्रता फैलती है, जिससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है। यदि हम अपने प्रति न्याय करते और श्रम का सिक्के के समान अथवा उससे अधिक आदर करते, तो श्रम का महत्व बढ़ जाता, जिससे दरिद्रता तथा संघर्ष मिट जाता। सिक्के का महत्व बढ़ने से जीवन में जड़ता आ जाती है, जिससे संग्रह की भावना जागृत होती है। यह नियम है कि जहाँ संग्रह होता है, वहाँ आलस्य, विलास और अभिमान उत्पन्न होता है, जो सब दोषों का मूल है। यदि विवेकपूर्वक देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में सिक्के की तो आवश्यकता ही नहीं है। जीवन में आवश्यकता वस्तुओं की है, जिनका उत्पादन शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम तथा भौतिक जगत् से होता है, सिक्के से नहीं। सिक्का तो आदान-प्रदान का एक माध्यम-मात्र है।

अब विचार यह करना है निजदोष-दर्शन से क्या लाभ होता है और परदोष-दर्शन से क्या हानि होती

है? अपना दोष देखते ही हम अपने को दोष से अलग अनुभव करते हैं। कारण कि, दोष से असंग होने पर ही दोष देखा जा सकता है। किसी दोष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्येक दोष दोषी की सत्ता से ही सत्ता पाता है। जब दोषी निज-विवेक के प्रकाश में अपना दोष देख लेता है, तब बेचारा दोष सत्ता-हीन हो जाता है।

यदि उसको न दोहराया जाए, तो वह सदा के लिए मिट जाता है और उसके मिटते ही निर्दोषिता स्वतः आ जाती है। हम भूल यह करते हैं कि दोष-काल में दोष को नहीं देखते क्योकि दोष-काल में दोष को देख लिया जाय, तो दोष की प्रवृत्ति ही न हो। किन्तु, जब दोष कर चुकते है तब निर्दोष-काल में अपने को दोषी मानकर दोषों का चिन्तन करते रहते है, जिससे पुन: दोष होते रहते है।

दोष को देखना है, अपने में उसकी स्थापना नहीं करनी है, अपितृ दोष देखने के पश्चात् तुरन्त निर्दोषता की स्थापना कर अचिन्त को जाना है और दोष को पुन: न दोहराने का दृढ़ संकल्प करना है। उसके पश्चात् कोई कहे कि तुम दोषी हो, तो प्रसन्नचित होकर कह दो कि अब नहीं हूँ पहले था। अर्थात् भूतकाल के दोष को वर्तमान में मत देखो। यह नियम है कि दोषी-भाव की विस्मृति होने पर निर्दोषता अवश्य आ जायेगी। अत: यह स्पष्ट हो गया कि निज-दोष-दर्शन से ही हम निर्दोष हो सकते है। पर-दोष-दर्शन से दोष करने को अपेक्षा अधिक क्षति होती है। कारण कि, पर-दोष--दर्शन करते ही अपने दोष की वेदना मिट जाती है और जडता तथा मिथ्या अभिमान आ जाता है, जो सभी दोषों का मूल है।

यदि कोई सन्देह करे कि दोष करने से भी पर-दोष-दर्शन बुरा कैसे है? तो, कहना होगा कि जो दोष करता है, वह अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीँ रहता। इससे उसके हृदय में एक व्यथा उत्पन्न होती है और दोष करने में जौ कठिनाइयाँ होती है, उन्हें भी वह सहन करता है और उसके परिणाम को भी जान लेता है। इस सब कारणों पर विचार करने से दोष करने वाला निर्दोष हो सकता है, किन्तु पर-दोष-दर्शन करने वाले को ये सब कठिनाइयाँ नहीं आती, इस कारण वह स्वय दोषी हो जाता है। अत: दोष करने से भी पर-दोष-दर्शन अधिक बडा दोष है।

अब विचार यह करना है कि हम दोषों को अपनाते क्यों हैं? तो कहना होगा कि सुख-लोलुपता में आसक्त होकर। कारण कि, सभी सुखों का जन्म किसी-न-किसी दोष से ही होता है, अथवा यों कहो कि दु:ख से होता है। सुख-लोलुपता का दोष न हो, तो लाभ का सुख नहीं होता और न हानि का दु:ख होता। यदि मोह का दोष न हो, तो न संयोग का सुख होता है और न वियोग का दु:ख होता है।और अभिमान का दोष न हो, तो न सम्मान का सुख होता है और न अपमान का दु:ख होता है, इत्यादि। अत: स्पष्ट हो जाता है कि सुख-दु:ख किसी दोष का ही परिणाम हैं। निर्दोषता आते ही मानव सुख-दु:ख से विमुक्त होकर अनन्त चिन्मय नित्य आनन्द से अभिन्न हो जाता है।

निर्दोष होने के लिए जब यह अनिवार्य हो गया कि हम अपने प्रति न्याय करें,तो यह जानना होगा कि अपने और पराये का भेद क्या है? तो कहना होगा जिसको हम जिस अंश में जितना अपने निकट पाते हैं,उतना ही उसको अपना, और जिसको जिस अंश में जितना अपने निकट पाते हैं, उतना उसको पराया सम्बोधित करेंगे। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि को कुटुम्बीजनोंकि अपेक्षा अपने अधिक निकट पाते है, और नगर कि अपेक्षा पड़ोसियोंको अधिक निकट पाते हैं। अतः हमें सबसे अधिक न्याय अपने मन,बुद्धि आदि के प्रति करना होगा और ज्यों – ज्यों दूरी बढती जायेगी, त्यों-त्यों न्याय प्रेम तथा क्षमा में बदलता जायेगा। क्योंकि न्याय अपने प्रति तथा प्रेम एवं क्षमा दुसरो के प्रति करना है।

यदि हम ऐसा न करेगें, तो न तो निर्दोष हो सकेंगे और न निर्वैर। यदि हमने अपने मन, बुद्धि के प्रति यथार्थ न्याय किया होता, तो आज मन में अशुद्ध संकल्प ही उत्पन्न न होते और न बुद्धि में अविवेक होता। अविवेक के बिना अशुद्ध संकल्पों में प्रवृत्ति न होती और अशुद्ध संकल्पों में प्रवृत्ति के बिना सदाचार दुराचार में न बदलता। दुराचार के बिना समाज में दोषों का प्रसार न होता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम अपने मन, बुद्धि के प्रति न्याय करने लगे, तो हमारा व्यक्तिगत जीवन ही पवित्र न होगा, बल्कि समाज में भी पवित्रता का प्रसार होगा। अत: अपने प्रति न्याय करने में अपना तथा समाज

दोनों का हित निहित है और न करने से दोनों का अहित है, जो अमानवता है।

अब यदि कोई यह कहे कि सुख-दु:ख तो जीवन में स्वभाव से ही उपस्थित हैं। इतना ही नहीं, आज हमारा सुख हमारे लिए बन्धन बन गया है और दु:ख ने हमें भयभीत कर दिया है। तो उसका कारण यह है कि हमने अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम-युक्त भावना से सुख-दु:ख का सदुपयोग नहीं किया। यदि हम सुख का सदुपयोग सेवा, अर्थात् उदारता में और दु:ख का सदुपयोग त्याग, अर्थात् विरक्ति में करने लग जायँ, तो न तो सुख बन्धन का हेतु रहेगा और न दु:ख भय का। सच तो यह है कि सुख-दु:ख भोगने के लिए मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। उनके सदुपयोग में ही मानव का पुरुषार्थ निहित है।

आज हमारे जीवन में जो भूतकाल की स्मृति और भविष्य का चिन्तन है, जिसके कारण हम एक क्षण भी शांति-पूर्वक नहीं रह सकते और जो हमारे लिए वर्तमान अनेक प्रकार के अभावों के दु:खों से अधिक दु:खद हो गया है, उसका कारण एक-मात्र भोगे हुए सुख की दासता और अभुक्त इच्छाओं का दु:ख है। इन्ही से प्राणी व्यर्थ –चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। उससे छुटकारा पाने के लिए हमें अलौकिक विवेक के प्रकाश से अविवेक को मिटाना होगा। उसके मिटते ही शरीर से असंगता आ जायेगी, जो सुख की दासता को खाकर अभुक्त इच्छाओं से मुक्त कर देगी। फिर व्यर्थ-चिन्तन मिट जायेगा और जीवन शांति से भर जायेगा।

यह नियम है कि अपने प्रति न्याय करने से निर्दोषता और दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम करने से निवैरता स्वतः आ जाती है। निर्दोषता से निरभिमानता और निर्वैरता स्वतः आ जाती है। निर्दोषिता से निरभिमानता और निर्वैरता से सभी के प्रति एकता प्राप्त होती है। निरभिमानता आ जाने पर किसी भी दोष की उत्पत्ति नहीं होती और जीवन श्रम, संयम, सदाचार, सेवा तथा त्याग से भरपूर हो जाता है। इतना ही नहीं, जब दोषों की उत्पति नहीं होती, तब गुणों का अभिमान भी गल जाता है। गुण-दोष-रहित जीवन ही वास्तविक मानवता है, जिसको विकसित करने के लिए हमें अपने प्रति न्याय तथा

दूसरों के प्रति क्षमा और प्रेम करना है।

॥ॐ॥

भुक्ति, मुक्ति और भक्ति

(दिनांक 20 अगस्त, 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

मानव-जीवन की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब तीन भागों में विभाजित हैं - (1)भुक्ति, (2) मुक्ति और (3) भक्ति।

भुक्ति का अर्थ है, समाज में यथेष्ठ स्थान पा जाना, अर्थात् हमारे संकल्पों की पूर्ति को समाज अपना संकल्प मानने लगे। अथवा यों कहो कि हमारे जितने भी संकल्प हों, वे समाज के संकल्प बन जाय। समाज उन्हें अपने संकल्प मान ले। इतनी अभिन्नता जब विश्व के साथ हमारी हो जाती है, बस, तभी भोग के सुख की पराकाष्ठा समझनी चाहिये। उच्चकोटि का भोग मिलेगा कब? जब हमारा जीवन श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, पुण्यकर्म तथा तप से युक्त हो जाय।

मानव यहीं सन्तुष्ट नहीं हो जाता, इससे आगे वह स्वाधीनता भी चाहता है। हम और आप जहाँ रहते हों, वहाँ कितनी ही सुन्दर परिस्थिति हो, कितनी ही अनूकलताएँ हों, हम कितने ही सुन्दर कार्य कर रहे हों, मधुर गान सुन रहे हों अथवा गा रहे हों, सुन्दर-सुन्दर बोल रहे हों, अथवा सुन रहे हों, खा रहे हों अथवा खिला रहे हों, फिर भी हम और आप उससे स्वाधीन होना चाहते हैं। उससे ऊपर भी उठना चाहते हैं। यह प्रत्येक का अनुभव है। ऐसी प्रवृत्ति कोई नहीं बता सकता, जिसकी निवृत्ति अभीष्ट न हो। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उत्कृष्टभोग प्राप्त होने पर भी हम स्वाधीनता चाहते है। उसी स्थायी स्वाधीनता का नाम मुक्ति है। मुक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका सम्बन्ध मानव –जीवन से न हो और जिसे हम प्राप्त न कर सके।

स्वाधीनता का अर्थ कोई भाई-बहन मनमानी करने को न मान ले। यह स्वाधीनता का असली अर्थ नहीं है। स्वाधीनता का असली अर्थ – वासनाओं से रहित होना और यदि

कोई संकल्प अनिच्छा से अथवा परेच्छा से पूरा भी हो, तो उस संकल्प –पूर्ति के सुख से असंग बने रहना,अर्थात संकल्प –पूर्ति के सुख में आबद्ध न होना। चाहे पराई इच्छा से हमारे मन कि बात पूरी हो जाय।जब तक हम अपनी इच्छा के पूरा होने का सुख लेते है,तब तक हम स्वाधीन नहीं हैं। परन्तु साधारण लोग अपनी इच्छा-पूर्ति के सुख को ही स्वाधीनता मानते हैं, जो वास्तव में पराधीनता है, क्योंकि इच्छा-पूर्ति का सुख पुन: इच्छाओं को उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के अन्त में प्राणी उसी स्थिति में आ जाता है, जिस स्थिति में इच्छाओं की उत्पति से पूर्व था।

इस दृष्टि से इच्छाओं की पूर्ति का सुख तो केवल दाद की खुजली के समान है और कुछ नहीं। इच्छा-पूर्ति के सुख से दु:ख दब जाता है, मिटता नहीं। इसी कारण सच्ची स्वाधीनता के लिए सर्व इच्छाओं की निवृत्ति करना अनिवार्य हो जाता है। इसी बात को समझने के लिए आप अपने जीवन में देखिए कि कितनी ही अनुकूलताएँ प्राप्त क्यों न हों, किन्तु आप इन अनुकूलताओं से मुक्त भी होना चाहते हैं। आप अपने इस जीवन को उस ओर ले जाना चाहते हैं, जहाँ आपके साथ और कोई चिपका हुआ न हो और न आप ही किसी से चिपके हुए हों। ऐसे जीवन की माँग आपके और हमारे जीवन में है, अर्थात् मानव-जीवन में है। इस मांग की पूर्ति ही स्वाधीनता है, मुक्ति है। वह मुक्ति कब मिलती है? मुक्ति मिलती है, निर्दोषता आ जाने पर। आप कहेंगे, कैसे? आप विचार करें। सुख का जो भोग प्राप्त होता है, उसके भोगने के लिए किसी-न-किसी दोष को अपना लेना अनिवार्य हो जाता है।

क्या कोई ऐसा सुख-भोग है, जिसका सम्बन्ध देह से न हो? क्या अपने को देह मान लेना निर्दोषता है? कदापि नहीं। कारण कि, जो मान्यता निज ज्ञान के विपरित होते है, उसमे निर्दोषता नहीं। जब सब सुख का भोग अपने को देह मानकर ही होता है और अपने को देह मानना अविवेक है। तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अविवेक सभी दोषों का मूल है, उसको है। तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अविवेक सभी दोषों का मूल है, उसको अपना लेने से ही सुख-भोग में प्रवृत्ति होती है। अत: सुख-भोग की

प्रवृत्ति का कारण किसी-न-किसी दोष को अपना लेना ही हुआ। यह नियम है कि जिसे हम 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' नहीं मान सकते। इस दृष्टिकोण से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा समस्त दृश्य 'यह' के अर्थ में आता है, 'मैं' के अर्थ में नहीं। और जब तक 'यह' को 'मैं' नहीं मान लेते, तब तक किसी भी भोग की सिद्धि नहीं होती। 'यह' को 'मैं' मानना प्रमाद है। अत: भोग की प्रवृत्ति प्रमाद से होती है, जो सभी दोषों का मूल है।

अब यदि कहे कि प्रमाद क्या है और कहाँ से आया? तो कहना होगा कि प्रमाद अलौकिक विवेक के अनादर का दूसरा नाम है। वह कहाँ से आया? जहाँ से ज्ञान का अनादर किया। कब से आया? जब से ज्ञान का अनादर किया। कब मिटेगा? जब ज्ञान का आदर करोगे। यह सन्देहकर्ता का ही तो ज्ञान है कि यह में नहीं हो सकता। किसी और ने सिखाया थोड़े ही है। प्रश्नकर्ता स्वय अपने ज्ञान का आदर करे और माने हुए का अनादर करे, अर्थात् अपने को जो देह मान लिया है, सो न माने।

इसमें भले ही मतभेद हो कि 'यह' क्या है? और 'मैं' क्या है? पर 'यह' 'मैं' नहीं है, इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता; क्योंकि यह सभी की अनुभूति है। 'यह' को 'मैं' न मानने पर सभी वासनाओं का त्याग स्वतः जाता है यह का त्याग होते ही सुख-भोग की आसक्ति मिट जाती, जिसके मिटते ही इन्द्रिय-लोलुपता जितेन्द्रियता में, स्वार्थ-भाव सेवा में, त्याग में, द्वेष प्रेम में बदल जाता है और निर्दोषता आते ही इन्द्रियाँ मन में एवं मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। कारण कि, वासना के उत्पत्तिकाल में तो बुद्धि मन में, मन इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ विषयों में विलीन होती हैं, जिसे सुख-भोग कहते हैं और जिसका परिणाम पराधीनता, अर्थात् बन्धन है। और वासना-निवृत्ति काल में भोग 'योग' में बदल जाता है, जिसका परिणाम स्वाधीनता, अर्थात् मुक्ति है।

निर्वासना द्वारा जिस महायोग की प्राप्ति होती है,उसमे निर्विकल्प स्थिति तथा निर्विकल्प बोध दोनों ही प्राप्त होते हैं। यह योग राग-विराग-रहित होने से ही प्राप्त होता है। क्योंकि यह नियम है कि रागरूपी काष्ठ को जलाकर वैराग्यरूपी अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है, अर्थात्

वैराग्य का अभिमान गल जाता है और फिर जीवन राग-विराग-रहित हो जाता है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि योग का अभिमान भी कारण शरीर के सम्बन्ध पर निर्भर रहता है। पर इस महायोग में तो योग है, योगी नहीं। तभी तो इसमें अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है।

जो योग केवल किसी अभ्यास के आधार पर ही प्राप्त होता है, उसमें निर्विकल्प स्थिति होने पर भी निर्विकल्प-बोध नहीं होता है और न योग का अभिमान ही गलता है; क्योंकि कारण शरीर के सम्बन्ध से सीमित अहंभाव जीवित रहता है, जो वास्तव में 'यह' से एक सूक्ष्म सम्बन्ध ही है। प्रत्येक साधक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि कोई अवस्था किसी दूसरी अवस्था की अपेक्षा भले ही उत्कृष्ट हो, पर सभी अवस्थाएँ 'यह' की ही होती हैं, उसकी नहीं जो 'यह' नहीं है। अत: 'यह' से असङ्ग होने के लिये सभी अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा, तभी निर्वासना आयेगी, जो निर्दोषता है, और जिससे स्वतः महायोग की प्राप्ति होती है।

अब यदि कोई कहे कि हम तो भौतिक-वादी हैं, हम ऐसी मुक्ति नहीं चाहते, जो संसार से अतीत है। तो कहना होगा कि आप संसार से अतीत मुक्ति तो नहीं चाहते, पर क्या आप स्वाधीनता भी नहीं चाहते? तो सभी भाई-बहनों को मानना होगा कि स्वाधीनता तो हम सबको प्रिय है। भौतिकवादी की दृष्टि से स्वाधीनता का अर्थ यही हो सकता है कि हम सबके अधिकार सुरक्षित रहे। यह नियम है कि किसी का अधिकार किसी का कर्तव्य होता है। अत: हमारे अधिकारों की रक्षा किसी और के कर्तव्यों पर निर्भर होगी। तो हमारी स्वाधीनता का अर्थ हुआ, दूसरे की कर्तव्य-परायणता। अब यदि हम विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनके द्वारा अधिकारों की रक्षा होती है, वे भले ही स्वाधीन हों, पर जो अपने-अपने अधिकार सुरक्षित करना चाहते हैं, वे तो उनके आधीन हो जाते हैं, जो कर्तव्यनिष्ठ हैं। अत: भौतिकवाद की दृष्टि से भी कर्तव्य-परायणता का दूसरा नाम स्वाधीनता हुआ।

यह नियम है कि कर्तव्य-परायणता आ जाने पर कर्ता अपने

उस उदेश्य विलीन हो जाता है, जो उसका लक्ष्य था। इस दृष्टि से कर्तव्यनिष्ठ की अहंता उनमें विलीन हो जायेगी, जिनके अधिकारों की रक्षा उसके हुई थी। व्यक्ति और समाज का विभाजन हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों की जातीय एकता है। इस दृष्टि से समाज का अधिकार ही व्यक्ति का कर्तव्य है। अत: कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति समाज से अर्थात् 'यह' से अभिन्न हो जायेगा। 'यह' स्वभाव से सतत् परिवर्तनशील है। अतः भौतिकवादी की मुक्ति सतत् परिवर्तनशील में विलीन हो जायेगी। सतत् परिवर्तन का ज्ञान हममें अनन्त नित्य चिन्मय की लालसा जागृत करता है। यह नियम है कि नित्य लालसा उसी की होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। लालसा उसे नहीं जो मिटाई जा सके। जो मिटाई जा सके, उसे तो वासना कहते हैं। नहीं कहते, जिसकी पूर्ति न हो। अत: लालसा की पूर्ति सिद्ध हुआ कि भौतिकवादी को भी कालान्तर में अपनी लालसा की पूर्ति करनी होगी।

हाँ, यह अवश्य है कि स्वाधीनता, अर्थात नित्य मुक्ति कि लालसा वे प्राणी नहीं जान पाते,जो कर्तव्यनिष्ठ नहीं हैं, अर्थात जिन्होंने दूसरों के अधिकार कि रक्षा नहीं कि हैं। अथवा यों कहो कि जो समाज के ऋणीहैं। जो समाज के ऋणी नहीं है, उनमे सभी वस्तुओ, परिस्थियों एवं अवस्थाओ से अतीत जीवन कि लालसा अवश्य जागृत होगी। भौतिक –वाद भी मानव-जीवन का एक अंग है, समस्त जीवन नहीं। यह नियम है कि भौतिकवाद को पराकाष्ठा परम प्रेम प्रदान करने में समर्थ है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

यह सभी को भली-भाँति जान लेना चाहिए कि वास्तविक स्वाधीनता किसी वस्तु या व्यक्ति के द्वारा नहीं मिलती, उसे तो स्वाधीनता का पुजारी स्वयं साधन करके प्राप्त कर सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि स्वाधीनता उसकी निजी विभूति है; क्योंकि उससे उसके स्वरूप की एकता है। स्वाधीनता के अभिलाषी को अपने बन्धनों को जान लेना चाहिये। ऐसा कोई बन्धन नहीं है, जिसे वह स्वयं नहीं जानता। इतना ही नहीं, सच तो यह है कि वह बन्धन के कारण को भी जानता है।

क्या हम उसी में नहीं बँध जाते, जिसे अपना मान लेते हैं? क्या

कोई ऐसा भी बन्धन है, जो बिना ममता के हो गया हो? हम उन्हीं व्यक्ति, वस्तु आदि में बँध जाते हैं, जिन्हें हम अपना मान लेते हैं। वस्तुओं, व्यक्तियों को अपना मान लेने का कारण अल्प-ज्ञान अथवा मिथ्या-ज्ञान को अपना लेना है, जिसका कारण एकमात्र अलौकिक विवेक का अनादर करना है। मिथ्या ज्ञान से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और दोषयुक्त जीवन ही बन्धन का कारण है। जैसे, मोह के दोष से व्यक्तियों का बन्धन, लोभ के दोष से वस्तुओं का बन्धन एवं काम के दोष से अनेक प्रकार के अभावों का बन्धन।

व्यक्ति और वस्तु के बन्धन से रहित होने का अर्थ यह नहीं है कि उनका विनाश किया जाय। वस्तुओं के बन्धन से रहित होकर वस्तुओं का सदुपयोग करना और व्यक्तियों के बन्धन से रहित होकर व्यक्तियों की सेवा करना है। वस्तुओं के सदुपयोग से समाज की दरिद्रता मिट जाती है और अपने में निर्लोभता आ जाती है। व्यक्तियों की सेवा से समाज में स्नेह का संचार हो जाता है और अपने में निर्मोहता आ जाती है। निर्लोभता आ जाने से वस्तुओं से अतीत के जीवन का बोध हो जाता है और निर्मोहता आ जाने से परम प्रेम प्राप्त होता है।

यदि हम अपने बनाए दोषों का अन्त कर दे, तो और कोई हमें दोषी नहीं बना सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम स्वयं ही अपने बन्धन के कारण हैं। समाज हमसे अपने अधिकार की रक्षा चाहता है, चाहे हम उसे अपना मानकर उसके अधिकार की रक्षा करे अथवा बिना माने। अपना मानने से हम बँध जाते हैं और अपना बिना माने मुक्त हो जाते हैं, यह नियम है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार की तो केवल सेवा करनी है और उसको अपना मानने से न तो अपना कोई लाभ होता है और न संसार का। जो संसार की सेवा तो करते हैं, पर उसे अपना नहीं मानते, वे ही मुक्त हैं। संसार भी उन्हीं को आदर देता है और उन्हीं की आवश्यकता अनुभव करता है। जो संसार के अधिकार की रक्षा नहीं करता, उसे संसार कभी नहीं चाहता। संसार की सेवा का अर्थ है-संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार के भेंट कर देना। अथवा यों कहो कि ईमानदार हो जाना, जो वास्तव में मानवता है। कर्तव्यपरायणता तथा

निज-विवेक का आदर ही हमें निर्दोष बनाता है और निर्दोष जीवन ही मुक्त जीवन है।

निर्दोष जीवन प्राप्त करने के लिए हमें सबसे प्रथम इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर बुद्धि-जन्य ज्ञान से विजय प्राप्त करनी होगी। ऐसा करने से राग विराग में और भोग योग में बदल जायेगा और फिर अलौकिक विवेक का, जो निज-ज्ञान है, आदर करने की सामर्थ्य आ जायेगी। अथवा यों कहो कि उससे अभिन्नता हो जायेगी और फिर किसी प्रकार का राग शेष नहीं रहेगा। कारण, कि सभी दोषों का जन्म निज-ज्ञान के अनादर से ही होता है। जैसे, जब तक हम अपने को देह से अभेद नहीं कर लेते तब तक किसी भी वासना का जन्म नहीं होता। यह सभी को मान्य होगा कि वासना-रहित होने पर किसी भी दोष का जन्म सम्भव नहीं है।

देह से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि जिन प्रवृत्तियों के बिना हम किसी भी प्रकार नहीं रह सकते, उन प्रवृत्तियों को साधन-बुद्धि से सही ढंग से करना होगा। साधन-बुद्धि से हमारी प्रवृत्ति तभी हो सकेगी, जब सुख-बुद्धि को त्याग हित-बुद्धि से प्रेरित होकर सभी आवश्यक दैनिक कार्य करें। यह नियम है कि सही प्रवृत्ति से सहज निवृत्ति स्वतः आ जाती है, जिसके आने पर साधक सुगमता-पूर्वक अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है।

सही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का अभिमान गल जाने पर साधक अपने को प्रेमास्पद से अभिन्न पाता है, अथवा यो कहो कि प्रेमास्पद की प्रीति हो जाता है, अर्थात् प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता।

निर्दोषता आने पर निर्वैरता स्वतः आ जाती है। निर्दोषता से मुक्ति और निर्वैरता से भक्ति स्वतः प्राप्त होती है। कारण कि, मुक्त वही है, जिसने सभी माने हुए सम्बन्ध कर्तव्य-परायणता तथा विवेकपूर्वक त्याग कर दिये हैं, अर्थात् समाज के अधिकारों की पूर्ति कर दी है और अपने अधिकार का त्याग कर दिया है। क्योंकि ऐसा करने से अचाह-पद प्राप्त होता है, अर्थात् इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है और फिर कोई बन्धन शेष नहीं रहता।

बन्धन-रहित होते ही समस्त जीवन एकमात्र प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। यह नियम है कि इच्छाओं की निवृत्ति होती है और जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम की प्राप्ति होती है, किन्तु उसकी पूर्ति नहीं होती। इच्छाओं की निवृत्ति से योग, जिज्ञासा की पूर्ति से मुक्ति एवं प्रेम की प्राप्ति से भक्ति स्वतः प्राप्त होती है। योग से सामर्थ्य, मुक्ति से अमर जीवन, भक्ति से अगाध अनन्त–रस पैदा होता है, जो मानवता है।

॥ॐ॥

निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है

(दिनांक 21 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

आपकी सेवा में कल निवेदन किया था कि निर्दोष जीवन ही मुक्त जीवन है और निर्वैर जीवन ही आस्तिक जीवन है अथवा यों कहिये कि मुक्त जीवन ही आस्तिक जीवन हो सकता है; क्योंकि निर्दोषता के बिना निर्वैरता नहीं आती, निर्वैरता के बिना द्वेष की निवृत्ति नहीं होती, द्वेष की निवृत्ति के बिना प्रेम की प्राप्ति नहीं होती और प्रेम की प्राप्ति के बिना भक्ति नहीं होती।

यह सभी को मान्य है कि सभी दोष देहाभिमान से होते हैं। कारण कि, देहाभिमान प्राणी में वासनाएँ उत्पन्न कर देता है। यह नियम है कि वासना-पूर्ति के सुख से राग स्वतः उत्पन्न होता है और उस सुख में जो बाधक होता है, उससे द्वेष हो जाता है। द्वेष प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होने देता, क्योंकि जीवन में निर्वैरता नहीं आती। यदि विवेक के प्रकाश से देहाभिमान मिट जाय, तो सभी दोष मिट जाते हैं और निर्वासना अपने आप आ जाती है और फिर किसी प्रकार का राग शेष नहीं रहता। राग के बिना द्वेष उत्पन्न ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वेष मिटाने के लिए राग का मिटाना अनिवार्य है। इस दृष्टि से जहां निर्दोषता है, वहाँ निर्वैरता है। यह सम्भव ही नहीं हो सकता कि कोई निर्दोष हो और निर्वैर न हो। अथवा यों कहो कि जो मुक्त है, वह भक्त अवश्य है।

प्रेम का प्रादुर्भाव होने के लिए आवश्यकता केवल इसी बात की है कि हृदय में किसी के प्रति किसी भी प्रकार का लेशमात्र भी वैर-भाव न हो। कारण कि, वैर-भाव रहते हुए प्रीति की जागृति हो ही नहीं सकती; क्योंकि जो किसी का भी बुरा चाहता है, वह प्रेम कर ही नहीं सकता। किसी का बुरा वह नहीं चाहता, जो वैर-भाव से रहित हो; क्योंकि वैर-भाव भेद उत्पन्न कर देता है। यह नियम है कि भेद प्राणी को सीमित बना देता है अथवा यों कहो कि उस अनन्त से विमुख कर देता है।

जो सभी को अपना मानता है, उसके जीवन में किसी से भेद उत्पन्न नहीं होता और जो किसी को अपना नहीं मानता उसके जीवन में भी भेद उत्पन्न नहीं होता। जो सभी को अपना मानता है, वह भक्त है और जो किसी को अपना नहीं मानता, वह मुक्त है। यह नियम है कि जो किसी को अपना नहीं मानता, वह सभी को अपना मानता है और जो सभी को अपना मानता है, वह किसी को अपना नहीं मानता। जैसे, यदि हम सभी को अपना मान लें, तो ऐसा कोई क्षण नहीं होगा, जब कि अभावों से हम पीड़ित न हों। पर ऐसा जीवन में तो नहीं होता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी को अपना मान लेने पर कोई अपना नहीं रहता।

यदि कोई किसी को भी अपना नहीं मानें, तो अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भी अपनापन नहीं रहता। ऐसा होने पर भी अपनापन या तो मिट जाता है या विभु हो जाता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी को अपना न मानना अथवा सभी को अपना मानना एक ही बात है। इसी कारण विचारशील सुख-भोग के लिए किसी को अपना नहीं मानते और सेवा करने के लिए सभी को अपना मानते हैं। अपने सुख के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं हैं, यही तो मुक्ति है। और सभी के हित में रति है, यही तो भक्ति है। वह तभी सम्भव है, जब जीवन वासनाओं से रहित हो और निर्वैर हो।

यदि कोई यह पूछे कि मुक्ति तथा भक्ति से हमें विमुख किसने किया है? तो कहना होगा कि जब हम उन्हें अपना मान लेते हैं, जो हमें अपना नहीं मानते, तभी हम मुक्ति तथा भक्ति से विमुख हो जाते

हैं। गहराई से विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुएँ, जिन्हें हम अपना कहते हैं, कभी हमें अपना नहीं कहतीं। क्या कोई भी भाई-बहिन यह कह सकते हैं कि शरीर ने कभी कहा हो कि मैं तुम्हारा हूँ अथवा किसी और वस्तु ने कहा हो कि मैं तुम्हारी हूँ? इतना ही नहीं, समस्त संसार भी, तुम्हारे पास शरीरादि जो वस्तुएँ हैं, भले ही उन्हें अपना कहे पर उन वस्तुओं से अलग तुम्हें कोई अपना नहीं कहता। पर, फिर भी हम शरीरादि वस्तुओं को अपनी मानते हैं। यह हमारी भूल नहीं तो क्या है? इस भूल से ही हम उन्हें अपना नहीं कह सके, जो वास्तव में हमारे अपने हैं, अथवा यों कहो कि जिनसे हमारी स्वरूप की एकता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि हम को हम से अथवा जो हमारे हैं उन से विमुख करने में एक-मात्र हमारा ही प्रमाद कारण है।

यह सभी को मान्य होगा कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि का सम्बन्ध समस्त संसार से हैं; क्योंकि संसार से इनकी जातीय एकता है। जिन वस्तुओं की संसार से जातीय एकता है, यदि उनको उसी की सेवा में समर्पित कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्वैरता प्राप्त हो सकती हैं कारण कि, वैर-भाव तभी उत्पन्न होता है, जब हम संसार को शरीर की सेवा में लगाना चाहते हैं। उसी का दूसरा नाम स्वार्थ-भाव हो जाता है, जो वैर-भाव को पुष्ट करता है। उस स्वार्थ-भाव को मिटाने के लिए ही सेवा-भाव की जागृति करना अनिवार्य हो जाता है। सेवा का अर्थ किसी के अभाव की पूति करना नहीं है। क्योंकि जब समस्त संसार एक व्यक्ति के भी अभाव की पूर्ति नहीं कर सकता, तो बेचारा व्यक्ति संसार के अभाव की पूर्ति कैसे कर सकता है?

सेवा-भाव का अर्थ है-सुख-भोग की आसक्ति का त्याग; प्राप्त योग्यता तथा वस्तुओं आदि का दुखियों को वितरण कर देना अथवा यों कहो कि संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार को वापिस कर देना। ऐसा करते ही साधक सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। और, फिर जो अनन्त सर्वत्र-सर्वदा सभी में विद्यमान् है, उससे अभिन्न हो जाता है अथवा उसकी प्रीति हो जाता है, जो वास्तव में मुक्ति तथा भक्ति है।

यह भली-भांति जान लेने पर कि शरीर से हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता किससे है? इस प्रश्न को हल करने के लिए हमें अलौकिक विवेक के प्रकाश में जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उससे अपने को विमुख करना होगा। स्थूल शरीर से विमुख होते ही अशुभ कर्म की निवृत्ति हो जायगी और शुभ कर्म से उत्पन्न होने वाले सुख की आसक्ति न रहेगी। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से विमुख होते ही निरर्थक-चिन्तन मिट जायगा और सार्थक-चिन्तन अचिन्तता में विलीन हो जायगा। अचिन्तता आते ही कारण शरीर से विमुख होने की शक्ति स्वतः आ जायगी और देहाभिमान अपने आप गल जायगा। फिर जिससे स्वरूप की एकता है, उससे अभिन्नता हो जायगी और जिससे जातीय एकता है, उसकी प्रीति उदय हो जायगी। स्वरूप की एकता से मुक्ति और प्रीति के उदय से भक्ति स्वतः हो जाती है।

अब कोई कहे कि क्या भक्ति और मुक्ति अलग-अलग हैं? तो कहना होगा कि तत्व-रूप से तो दोनों एक हैं, पर दोनों के रस में भेद है। मुक्ति से अखण्ड-एक रस और भक्ति में अखण्ड-अनन्त रस है। क्योंकि मुक्ति तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति से और भक्ति प्रीति से उदय से होती है। यह नियम है कि प्रीति का उदय होता है, किन्तु पूर्ति नहीं होती। इस कारण प्रीति का रस अनन्त है, नित-नव है और तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति होती है, इस कारण मुक्ति का रस अखण्ड-एक रस है। पर यह नियम है कि तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति के बिना प्रीति का उदय ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भोग-इच्छा की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति प्रेम-प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

माने हुए सम्बन्धों का त्याग हो जाने पर नित्य-सम्बन्ध का बोध स्वतः हो जाता है और फिर उसी के नाते प्रत्येक प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। परन्तु प्रवृत्तियों में भेद होने से रस का भेद नहीं होता। कारण, कि परिस्थिति-भेद से प्रवृत्तियों का भेद होना तो अनिवार्य है, किन्तु सभी प्रवृत्तियों के मूल में स्नेह तथा लक्ष्य की एकता है, इस कारण रस में भेद नहीं होता। इतना ही नहीं, सब कुछ होने

पर जो रस रहता है, वही रस कुछ न होने पर भी रहता है। क्योंकि समस्त जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। रस एक-मात्र प्रीति में ही है, किसी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में नहीं है। प्रीति-रहित प्रवृत्ति आसक्ति बन सकती है, रस प्रदान नहीं कर सकती। और प्रीति-रहित निवृत्ति जड़ता तथा अभाव को सिद्ध कर सकती है, रस प्रदान नहीं कर सकती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रीति के बिना प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति निरर्थक ही है। वह अभावसूचक अथवा अनेक बन्धनों का हेतु है, जो वास्तव में अमानवता है।

अब कोई यह कहे कि रस तो सुख-भोग में भी होता है। तो कहना होगा कि सुख-भोग का रस नीरसता, जड़ता तथा शक्तिहीनता आदि दोषों में बदल जाता है और उसका आरम्भ भी किसी नीरसता तथा अभाव से ही होता है। जिसका प्रारम्भ अभाव, जड़ता तथा पराधीनता से होता है और जिसके अन्त में भी अभाव, जड़ता तथा पराधीनता है, केवल मध्यम में ही रस की प्रतीति है, वह वास्तव में रस नहीं है, रस का भास है। कारण कि, इससे वासनापूर्ति की आशा तथा प्रवृत्ति वासना-रहित दशा में बदल जाती है। इस कारण सुख-भोग में रस का भास होता है। यदि वास्तव में रस होता, तो सुख-भोग का अन्त नीरसता में न होता।

गहराई से देखिये कि इच्छपूर्ति में ही सुख मालूम होता है। किन्तु वह कब? जब इच्छा की उत्पत्ति का दुःख हो। इच्छा-पूर्ति-काल में भोक्ता इस इच्छित भोग से उलग हो जाता है, तब उसे सुख प्रतीत होता है। इस प्रकार भोग से असंग होने पर ही सुख सिद्ध हुआ। यदि भोग में सुख होता, तो भोग के अन्त में अभाव शेष न रहता। पर इच्छा-निवृत्ति से जो रस मिलता है, वह पराधीनता को स्वाधीनता में और परिवर्तन को अपरिवर्तन, अर्थात् नित्यता में बदल देता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छाओं की निवृत्ति में जो रस है वह अखण्ड एक रस है। इसी को अमर जीवन तथा मुक्ति कहते हैं। यह सभी का अनुभव है कि भोग-प्रवृत्ति से तो भोगने की शक्ति का ह्रास ही होता है, कुछ प्राप्त नहीं होता। किन्तु भोग प्रवृत्ति से रहित होने पर शक्ति का संचय ही होता है ह्रास नहीं। इसी

कारण सुख-भोग की वासनाओं से रहित होते ही साधक स्वाधीनता तथा पूर्णता का अनुभव करता है, जो अखण्ड एक रस है।

जब हम निर्वैर हो जाते हैं, तब किसी का बुरा नहीं चाहते। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके हृदय में केवल प्रीति की गंगा लहराती है। प्रीति किसी अभ्यास का फल नहीं है, और न किसी तप का फल है। कारण, अभ्यास से तो विपरीत अभ्यास की निवृत्ति होती है कि तप से शक्ति प्राप्त होती है और त्याग से शान्ति मिलती है। परन्तु प्रीति तो एक-मात्र निर्वैरता से ही प्राप्त होती है और निर्वैरता हमें तभी प्राप्त होगी, जब हम किसी को बुरा न समझें, किसी का बुरा न चाहें और किसी के प्रति बुराई न करें, जो वास्तव में मानवता है। निर्वैर होते ही सब मोह-जनित सम्बन्ध मिट जाते हैं और उनके मिटते ही आस्तिक प्राणी के जीवन में अपने प्रभु से नित्य-सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है।

मोह-जनित सम्बन्ध मिटने से मुक्ति और नित्य सम्बन्ध से भक्ति अर्थात् जो शरीरादि किसी को अपना नहीं मानता वह मुक्त और जो प्रभु को अपना मानता है, वह भक्त है। निर्वैरता भौतिकवादी का साध्य है, अध्यात्मवादी की विभूति है तथा आस्तिकवादी की साधना है। यह नियम है कि साधक साधना से अभिन्न होकर ही साध्य को पाता है। अतः हम सभी के लिए निर्वैरता को अपना लेना अनिवार्य हो जाता है, वास्तव में मानवता है।

॥ ॐ॥

मुक्त किससे होना है

(दिनांक 22 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

प्रेम के साम्राज्य में किसी प्रकार की जड़ता नहीं है और न भौतिकता ही है। वह तो दिव्य चिन्मय तत्व है। इस प्रेम युक्त जीवन का नाम ही वास्तव में भक्ति-रस है, जो निर्दोषतापूर्वक निर्वैर होने से सभी को सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सकता है। कारण, कि जिससे अपनी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति में हम सब स्वाधीन हैं और

जिससे मानी हुई एकता है, उससे निवृत्त होने में हम सब स्वाधीन हैं। मानी हुई एकता की जो निवृत्ति है, उसी का नाम वास्तव में मुक्ति है और जातीय एकता की जो प्रीति है, उसी का नाम भक्ति है। जातीय एकता की प्रीति की साधना है-मानी हुई एकता की निवृत्ति। इस दृष्टि से मुक्ति बड़े ही महत्व की वस्तु है।

प्रत्येक साधक को यह भली-भांति समझ लेना चाहिये कि मुक्ति उसी से सम्भव है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है अर्थात् भिन्नता है और प्रीति उसी से सम्भव हे, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो अर्थात् अभिन्नता हो। जिस प्रकार वस्त्रत्व स्त्रत्व से मुक्त नहीं होता, अपितु वस्त्र में जो मलिनता आ जाती है, उसी को भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों से मुक्त किया जाता है, अर्थात् शुद्ध किया जाता है। उसी प्रकार हमने जो अपने में अनेक प्रकार के माने हुए सम्बन्ध स्वीकार कर लिए हैं, यद्यपि उनसे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, हमें अलौकिक विवेक के प्रकाश में उन्हीं से मुक्त होना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अहम् तथा ममरूप जो सम्बन्ध है, उससे मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। मुक्ति के लिए इसके अतिरिक्त और कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं हैं।

जिसकी प्राप्ति सम्बन्ध-विच्छेद करने मात्र से होती है, उसके लिए भविष्य की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कारण कि, भविष्य की आशा उसके लिए की जाती है, जिसके लिए कोई कर्म अपेक्षित हो। यह नियम है कि कर्म उसी के लिये अपेक्षित होता है, जिससे देश-काल की दूरी हो अथवा जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो। मुक्ति किसी ऐसे तत्व की ओर नहीं ले जाती, जो सर्वत्र-सर्वदा न हो अथवा जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता न हो। अतः मुक्ति का अभिलाषी जब मुक्त होना चाहे, तभी हो सकता है। मुक्त होने में कोई भाई-बहिन पराधीन नहीं है। परन्तु बन्धन सुरक्षित रखने में सभी पराधीन हैं। अथवा यों कहो कि बन्धन सुरक्षित रह ही नहीं सकता।

अब यदि कोई यह कहे कि फिर हम लोग मुक्त क्यों नहीं हो जाते? तो कहना होगा कि मुक्त वही नहीं हो पाते, जो मुक्त होना नहीं चाहते। यदि कहा जाय कि स्वाधीनता

स्वभावतः सभी को प्रिय है, अतः मुक्त होना सभी चाहते हैं। यह क्यों न मान लिया जाय? तो कहना होगा कि हम मुक्ति चाहते हुए भी सुख-भोग की आसक्ति को सुरक्षित रखना चाहते हैं। जब तक दो चाह हों, तब तक यह कहना कि हम केवल मुक्ति चाहते हैं, अपने को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब यदि कोई पूछे कि सुख-भोग की लालसा मिटाने का सुगम उपाय क्या है? तो, विचार यह करना होगा कि सुख-भोग की उत्पत्ति कब होती है? यह मानना होगा कि कामना के पूर्तिकाल में ही सुखकी प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त सुख की और कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। कामनापूर्ति का प्रश्न ही तब उत्पन्न होता है, जब कामना की उत्पत्ति हो। सभी कामनाओं का जन्म तब होता है, जब हम इससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, अर्थात् भिन्नता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने से भिन्न है, उससे अभिन्नता स्वीकार कर लेने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। यदि उससे भिन्नता स्वीकार कर ली जाय, तो सभी कामनाएँ स्वतः निवृत्त हो जाती है और फिर कामनापूर्ति, अर्थात् सुख-भोग का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टिकोण से सुख-भोग की लालसा मिटाने का उपाय एक-मात्र कामनाओं की निवृत्ति है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कामनाओं की निवृत्ति का उपाय क्या है? जैसा कि ऊपर कहा गया है, सभी कामनाओं की उत्पत्ति का कारण अविवेक है। अविवेक की निवृत्ति एक-मात्र विवेक के आदर से हो सकती है। परन्तु विवेक का आदर करने की सामर्थ्य उन्हीं प्राणियों में आती है, जो अपना प्राप्त सुख दुखियों की सेवा में लगा देते हैं और अपने सुख को दुखियों की ही देन मानते हैं। कारण, कि अपने से दुःखी को देखकर सभी को सुख प्रतीत होने लगता है। जिसके दर्शनमात्र से ही हम अपने को सुखी मानने लगते हैं, क्या उसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य नहीं है? अर्थात् अवश्य है। यह नियम है कि जिनके द्वारा हमें सुख की प्रतीति हुई अथवा जिनको हमने अपना मान लिया है, यदि प्राप्त सुख के द्वारा उदारतापूर्वक बिना प्रत्युपकार की आशा के उनकी सेवा

कर दी जाय, तो हम बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख की आसक्ति तथा सुख के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं एवं जिनको अपना मान लिया था उनके बन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं।

सुख-भोग की लालसा मिटते ही मुक्ति की अभिलाषा पूर्ण रूप से स्वतः जागृत हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है, अर्थात् एक साथ हो जाती है, उसी प्रकार मुक्ति की अभिलाषा की पूर्ण जागृति तथा बन्धन की निवृत्ति युगपद् होती है, अर्थात् एक साथ हो जाती है।

विजातीय से मुक्त होना ही वास्तव में मुक्ति है, क्योंकि भिन्नता उसी से हो सकती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपने में-से विजातीयता का निकल जाना ही मुक्त हो जाना है।

यह नियम है कि जिससे जितनी अभिन्नता होती है, उससे उतनी ही प्रीति होती है। अतः जिससे पूर्ण अभिन्नता है, उससे ही वास्तविक प्रीति सम्भव है। अर्थात् प्रेम भी भिन्न से नहीं होता और मुक्ति में भिन्न का अस्तित्व ही नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ वास्तविक मुक्ति है, वहीं पूर्ण भक्ति है। भक्ति और मुक्ति का विभाजन नहीं किया जा सकता। उन दोनों में-से किसी एक की प्राप्ति होने पर दोनों की प्राप्ति हो जाती है।

जिन साधकों के जीवन में सन्देह की वेदना होती है, वे जिज्ञासु होते हैं और जो निस्सन्देह होते हैं, वे भक्त होते हैं।

भक्त मानकर चलता है और जिज्ञासु बिना जाने नहीं मानता। दोनों की साधना में भले ही भेद हो, किन्तु साध्य में भेद नहीं होता। क्योंकि सत्य में कल्पना-भेद होने पर भी तत्व-भेद नहीं होता।

प्रत्येक साधक के जीवन में किसी-न-किसी अंश में विश्वास तथा किसी-न-किसी अंश में सन्देह विद्यमान है। परन्तु किसी में विश्वास की प्रधानता रहती है, और किसी में सन्देह की। जिनमें विश्वास की प्रधानता होती है, वे अपने लक्ष्य को मान लेते हैं और जिनमें सन्देह की प्रधानता रहती है, वे अपने लक्ष्य को जानने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

सन्देह की वेदना ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-

त्यों सन्देह-निवृत्ति की शक्ति स्वतः आने लगती है। जिस काल में जिज्ञासु-लेशमात्र भी सन्देह सहन नहीं कर सकता, उसी काल में सन्देह की निवृत्ति हो जाती है।

सन्देह किसी मान्यता पर नहीं होता। सन्देह की उत्पत्ति प्रतीति पर होती है। अतः जिज्ञासु की साधना का आरम्भ- 'यह, जो कुछ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से प्रतीत होता है, क्या हैं?' इससे होता है, अथवा ''मैं'' क्या हूँ, इससे होता है। इन दोनों में-से, अर्थात् 'यह' या 'मैं' किसी भी एक के जान लेने पर दोनों का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन दोनों में प्रथम किसको जानने का प्रयत्न किया जाय? यह प्रत्येक साधक की अपनी रुचि पर निर्भर है कि वह जिस पर चाहे विचार करे। इसके लिए कोई बन्धन नहीं है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि 'यह' के प्रति जो मान्यता है अथवा 'मैं' के प्रति जो मान्यता है, उसका त्याग करना अनिवार्य होगा। कोई भी मान्यता किसी कर्तव्य की सूचक भले ही हो, किन्तु वास्तविकता का बोध कराने में समर्थ नहीं है। जब साधक निज-विवेक के बल से 'यह' और 'मैं' की मान्यता को निकाल देता है, तब 'यह' और 'मैं' का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। कारण कि माने हुए 'मैं' से ही माने हुए 'मेरे' का सम्बन्ध स्थापित होता है। क्योंकि 'अहं' के अनुरूप 'मम्' की प्रतीति होती है और फिर उसी के अनुरूप 'अह' की 'मम्' में प्रवृत्ति होती है, तथा प्रवृत्ति के अनुसार ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है।

राग-द्वेष की दृढ़ता ही अहं और मम् के सम्बन्ध सुरक्षित रखने में समर्थ है। जब राग त्याग से और द्वेष प्रेम से मिट जाता है, तब अहं और मम् का सम्बन्ध शेष नहीं रहता। 'अहं' और 'मम्' का सम्बन्ध टूटते ही जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे अभिन्नता हो जाती है। यही जिज्ञासु की साधना की परावधि है। अथवा यों कहो कि जब जिज्ञासु अलौकिक विवेक के प्रकाश में 'यह' और 'मैं' की मान्यता को अस्वीकार कर देता है, तब निर्वासना और निवृत्ति स्वतः आ जाती है। क्योंकि जब तक हम अपने को कुछ मान नहीं लेते, तब तक वासना की उत्पत्ति ही नहीं होती ओर जब तक किसी को अपना नहीं मान लेते, तब

तक प्रवृत्ति का आरम्भ ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यह' और 'मैं' के प्रति जो मान्यता है, उसके अन्त होने पर निर्वासना तथा निवृत्ति स्वतः आ जाती है, जो जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे अभिन्नता कराने में समर्थ है।

जब विश्वासी साधक अपने अनेक विश्वासों को एक विश्वास में और अनेक सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के चिन्तनों को एक चिन्तन में विलीन कर देता है, तब एक पर ही विश्वास, एक से ही सम्बन्ध और एक ही का चिन्तन स्वतः होने लगता है। अर्थात् प्रेमास्पद से भिन्न किसी अन्य का चिन्तन शेष नहीं रहता।

ज्यों-ज्यों प्रेमास्पद का चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों प्रेमास्पद से भिन्न का अस्तित्व स्वतः मिटता जाता है। क्योंकि एक का स्मरण अन्य का विस्मरण कराने में समर्थ है।

विश्वासी भक्त को 'यह' अर्थात् जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से प्रतीत हो रहा है, वह मेरे प्रभु का हैं, और किसी का नहीं- इस भाव की दृढ़ता होती जाती है। ज्यों-ज्यों इस भाव की दृढ़ता होती जाती है, त्यों-त्यों उसके मन से स्वार्थ-भाव तथा 'यह' का राग मिटता जाता है। जिस काल में स्वार्थभाव तथा 'यह' का राग समाप्त हो जाता है, उसी काल में यह जो कुछ है, उसमें अपने प्रीतम का ही दर्शन होने लगता है। जब प्रीति इतनी बढ़ जाती है कि विश्वासी का अपना अस्तित्व भी प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। अर्थात् जब विश्वासी स्वयं प्रीति हो जाता है, तब उसे प्रीतम से भिन्न और कुछ हैं ही नहीं, ऐसा अनुभव होता है-अर्थात् सर्वत्र प्रीतम ही प्रीतम है। यही भक्ति की साधना की परावधि है।

विजातीयता से मुक्त हो जाना ही मुक्ति और जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे प्रेम ही भक्ति है। विजातीय से सम्बन्ध स्वीकार करने पर ही पराधीनता और अनेक प्रकार के अभाव उत्पन्न होते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करते ही पराधीनता स्वाधीनता में बदल जाती है और सभी अभावों का अभाव हो जाता है। यही मुक्ति है। विजातीय-सम्बन्ध ने जो स्वाभाविक प्रीति को अनेक आसक्तियों में बदल दिया था, वह आसक्ति भी मिट जाती है। उसके

मिटते ही स्वतः प्रेम का उदय होता है, जो वास्तव में भक्ति है। इस दृष्टि से भक्ति और मुक्ति दोनों ही समान हैं। भले ही उन दोनों की साधनाओं में भेद हो। साधना का भेद साधक की दृष्टि से होता है, सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं। भक्ति के द्वारा जिस अनिर्वचनीय सत्य की उपलब्धि होती है, उसमें अनन्त विभूतियाँ हैं। कारण कि, वह अनन्त नित्य चिन्मय है।

साधक उस अनन्त की जिज्ञासा अथवा लालसा उत्पन्न कर अपनी-अपनी योग्यतानुसार साधन द्वारा उससे अभिन्न होते हैं। यह नियम है कि अभिन्नता के बिना न तो प्रेम ही होता है, न स्वरूप की एकता ही होती है। जो लोग यह मानते हैं कि प्रेम परस्पर भेद से होता है, यह बात बाह्य दृष्टि से भले ही प्रतीत होती हो। किन्तु तत्व-दृष्टि से तो प्रेम उसी से होता है, जिससे किसी प्रकार का भेद न हो। भेद से तो न्याय उत्पन्न होता है, प्रेम नहीं। ज्यों-ज्यों भेद गलता जाता है त्यों-त्यों प्रेम प्रकाशित होता जाता है। ज्यों-ज्यों प्रेम प्रकाशित होता जाता है त्यों-त्यों नित-नव रस की वृद्धि होती जाती है। प्रेम के रस में भोग नहीं है, अपितु नित्य योग है। इसी कारण प्रेम की कभी न तो पूर्ति ही होती है और न उसमें कभी व्यवधान ही होता है। यही प्रेम में अलौकिकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति और मुक्ति का विभाजन नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि ज्ञान और प्रेम का विभाजन नहीं हो सकता। ज्ञान प्रेम का पोषक है और प्रेम ज्ञान का पोषक है, क्योंकि यह दोनों किसी एक की ही विभूतियाँ है। जिसमें अनन्त विभूतियाँ हों उसको प्राप्त करने के लिए पहले साधक को अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार किसी एक विभूति का आश्रय लेना पड़ता है। इसी कारण जिज्ञासु 'यह' क्या है? प्रथम इस प्रश्न को हल करता है। इस प्रश्न के हल होते ही वह जो वास्त्व में 'हैं' उसका प्रेम बन जाता है। प्रेमी प्रथम सरल विश्वासपूर्वक अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करता है और उसका प्रेम होकर उसकी वास्तविकता से अभिन्न हो जाता है।

तात्पर्य क्या निकला? भक्त मानकर जानते हैं और जिज्ञासु जान कर मानते हैं। जानने में तत्व का निर्णय निहित है और मानने में प्रेम निहित हैं। चाहे कोई साधन रूप

भक्ति से तत्व-ज्ञान तथा तत्वनिष्ठा प्राप्त करें, चाहे जिज्ञासु तत्वज्ञ होकर प्रेम प्राप्त करें। इन दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल साधकों के एकदेशीय दृष्टिकोण में है। यद्यपि एकदेशीय दृष्टिकोण साधक की दृष्टि से आदरणीय है, परन्तु वह सिद्धान्त नहीं हो सकता। अतः ज्ञान और प्रेम-भक्ति और मुक्ति का विभाजन सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त तो यह है कि चाहे मुक्त होकर भक्त हो अथवा चाहे भक्त होकर मुक्त हो। वास्तविक प्रेमी न तो भोग चाहता है और न मोक्ष। परन्तु यह नियम है कि भोग-वासना का अन्त होने पर बन्धन स्वतः मिट जाता है, क्योंकि उसके अतिरिक्त बन्धन का और कोई कारण ही नहीं है। कारण का नाश होते ही कार्य स्वतः मिट जाता है। अतः प्रेमी के न चाहने पर भी उसकी मोक्ष स्वतः सिद्ध है। उसी प्रकार तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति होने पर जिज्ञासु भले ही प्रेम न चाहे, किन्तु तत्व-ज्ञान होने पर तत्वनिष्ठा स्वाभाविक है। यह हो सकता है कि तत्व-निष्ठा अखण्ड एक रस हो और प्रेम अखण्ड अनन्त रस हो। परन्तु रस का भेद होने पर भी जातीय तथा स्वरूप का भेद नहीं होता।

बहुत से लोग सोचते हैं कि प्रेम द्वैत सूचक है। किन्तु द्वैत में तो न्याय होता है। कोई भी विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकता कि दो होने पर प्रेम हो सकता है। दो में तो न्याय हो सकता है, प्रेम नहीं। क्योंकि प्रेम का उदय वहाँ होता है, जहाँ एक ही दो मालूम होते हों। अर्थात् प्रेम के साम्राज्य में एक ही दो प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार समस्त शरीर से आत्मभाव, अर्थात् एकता का भाव होने पर ही शरीर के प्रत्येक अवयव से कर्म-भेद तथा आकृति-भेद होने पर भी प्रीति समान होती है। उसी प्रकार जिससे अभिन्नता एवं एकता होती है, उसी से प्रेम होता है।

यह सभी का अनुभव है कि अपने को देह मानकर कभी किसी का मन संसार से अलग नहीं हो पाता। कारण, कि शरीर की संसार से जातीय एकता है और गुणों की भिन्नता है, तभी मन संसार का चिन्तन करता है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह न स्वीकार किया जाय, तो मन स्वभाव से ही चिन्तन-रहित हो जाता है और जिससे जातीय तथा स्वरूप

की एकता है, उसमें विलीन हो जाता है। अथवा यों कहो कि उसका प्रेम हो जाता है।

सार यह निकला कि हम जैसा अपने को मान लेते हैं, उसी के अनुरूप मन हो जाता है। जो अपने को देह मानते हैं, उनका मन विश्व-प्रेम में विलीन होता है। जो अपने को जिज्ञासु मानते हैं, उनका तत्व-ज्ञान में प्रेम होता है और जो सरल विश्वासपूर्वक अपने को भक्त मानते हैं, उनका प्रेम अपने प्रेमास्पद में होता है। वास्तव में वह अनन्त ही देहाभिमानी को विश्व के रूप में, जिज्ञासु को तत्व के स्वरूप में एवं प्रेमी को प्रेमास्पद के स्वरूप में प्राप्त होता है।

तत्व-जिज्ञासा देहाभिमान को मिटाकर विषयासक्ति को खा लेती है, जिसके मिटते ही प्रीति स्वतः जागृत होती है। जिज्ञासा प्रीति की जागृति में भी हेतु है और तत्व-साक्षात्कार में भी। इस दृष्टि से तत्व-जिज्ञासा भी प्रीति की पोषक है, नाशक नहीं। प्रीति का आरम्भ चाहे किसी भाव से क्यों न हो, किन्तु प्रीति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों संकोच तथा भेद मिटता जाता है और उत्तरोत्तर आत्मीयता बढ़ती जाती है। आत्मीयता की वृद्धि से ही दास्य भाव सख्य में, सख्य वात्सल्य में और वात्सल्य मधुर भाव में विलीन हो जाता है। प्रेम में भोग नहीं है, इस कारण नित नव रस की वृद्धि ही होती है। उससे उपरति नहीं होती, न कभी पूर्ति होती है। इसी कारण प्रेम का रस अखण्ड तथा अनन्त है।

जब देहाभिमान मिट जाने पर प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है, तब इस सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता कि प्रेम में इन्द्रियजन्य विलास है, जो मोह तथा आसक्ति को उत्पन्न करें। प्रेम के साम्राज्य में जिन भावों को स्वीकार किया जाता है, वे उत्तरोत्तर प्रेम की ही वृद्धि करते हैं। कारण, कि प्रेम अगाध तथा अनन्त है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति कहो अथवा मुक्ति, प्रेम कहो अथवा ज्ञान, ये दोनों ही मानव-जीवन के आवश्यक अंग हैं। ये दो होते हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी दो। दो हैं साधन दृष्टि से और एक है साध्य-दृष्टि से। साधनरूप ज्ञान की परावधि प्रेम में है और साधनरूप

भक्ति की परावधि स्वरूप साक्षात्कार में हैं। कारण, कि जिसे जानते हैं, उससे प्रेम हो जाता है और जिसे मानते हैं, उसे जान लेते हैं।

अनन्त नित्य चिन्मय जीवन की अभिलाषा, अगाध अनन्त प्रेम की लालसा और निर्दोष जीवन की अभीप्सा तथा तत्व-जिज्ञासा मानव में स्वभाव से ही विद्यमान है। जैसे, यदि तुममें कोई दोष हो, तो सभी कहेंगे, तुम दोषी क्यों हो? परन्तु, यदि कोई दोष न हो, तो कोई न कहेगा, निर्दोष क्यों हो? कारण, कि 'क्यों' उसी में लगता है, जो अस्वाभाविक हो।

जो स्वाभाविक है उसमें 'क्यों' नहीं लगता। जैसे, यह कोई न कहेगा कि तुम सत्य क्यों बोलते हों? पर यदिकोई झूठ बोले, तो सभी कहेंगे कि तुम झूठ क्यों बोलते हो? जैसे, यदि कोई श्रमी तथा सदाचारी है, तो उससे कोई नहीं कहेगा कि तुम श्रमी या सदाचारी क्यों हो? किन्तु यदि कोई आलसी तथा दुराचारी हो, तो सभी कहेंगे कि तुम आलसी तथा दुराचारी क्यों हो? यदि कोई प्रसन्न तथा शान्त हो, तो उससे कोई नहीं कहेगा कि तुम प्रसन्न तथा शान्त क्यों हो? और यदि कोई खिन्न तथा अशान्त हो, तो सभी कहेंगे कि तुम खिन्न तथा अशान्त क्यों हो? यदि कोई स्वस्थ तथा सबल हो, तो कोई नहीं कहेगा कि तुम स्वस्थ तथा सबल क्यों हो? और यदि रोगी और निर्बल हो, तो सभी कहेंगे कि तुम रोगी तथा निर्बल क्यों हो? यदि कोई प्रेमी तथा योगी है, तो कोई नहीं कहेगा कि तुम प्रेमी तथा योगी क्यों हो? पर यदि कोई मोही तथा भोगी है, तो सभी कहेंगे कि तुम मोही तथा भोगी क्यों हो?

इससे यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि मानव जीवन में श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, त्याग, निर्दोषता, योग, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति, इत्यादि दिव्यताएं स्वाभाविक है और इसके विपरित जितने दोष हैं, वे सब अस्वाभाविक हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो अपने जीवन में अनेक दोष तथा निर्बलताओं का दर्शन होता है, तो क्या हम मानव नहीं हैं? तो कहना होगा कि साधनरूप मानव तो सभी हैं, लेकिन सिद्धरूप मानव वे ही हैं, जो निर्दोषता तथा निर्वैरतापूर्वक भक्ति, मुक्ति आदि प्राप्त करते हैं। अतः अस्वाभाविकता से स्वाभाविकता की ओर गति-शील

होना ही वास्तविक मानवता हैं, और उसे प्राप्त करना ही मानव का परम पुरूषार्थ है।

॥ॐ॥

कर्ता और कर्म- मान्यता का प्रभाव

(दिनांक 22 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

प्रायः लोग ऐसा मानते हैं कि हम भलाई या बुराई करके भले या बुरे बनते हैं। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव में कर्ता में-से ही कर्म की उत्पत्ति होती है और उस उत्पन्न हुए कर्म से कर्ता की सिद्धि तथा पुष्टि होती है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार कर्ता में कर्म विद्यमान रहता है। कर्ता के शुद्ध होने पर शुद्ध कर्म और कर्ता के अशुद्ध होने पर अशुद्ध कर्म स्वतः होता है।

हम किसी दूसरे के प्रति कोई भलाई तथा बुराई कर ही नहीं सकते, जब तक कि अपने को भला या बुरा न बना लें। जैसे, अपने को चोर मानकर ही चोरी करते हैं और अपने को सत्यवादी मानकर ही सत्य बोलते हैं। हमारे दूषित होने पर ही दुष्कृति और शुद्ध होने पर ही शुद्ध प्रवृत्ति होती है। हमारे दूषित होने से हम जितनी हानि अपने को पहुँचाते हैं, उतनी दूषित कर्म में प्रवृत्त होकर दूसरे को पहुंचा ही नहीं सकते। क्योंकि कर्ता सब कर्म अपने लिए करता है। जब हमने अपने को ही बिगाड़ लिया, तो उस कर्म से हमारा अहित ही हुआ और हमारे कर्म से दूसरे का भी अहित हुआ।

इस दृष्टि से अपना तथा समाज का अहित हुआ। इतना ही नहीं, चोरी द्वारा जिसकी हानि की सम्भावना है, उसकी क्षति की पूर्ति सुगमतापूर्वक हो जाय, परन्तु हमने जो अपने को चोर बना लिया है, उस दूषित 'अहम्' की शुद्धि उस समय तक सम्भव ही नहीं है, जब तक कि विचार की अग्नि से देह का अभिमान भस्म न कर दिया जाय। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम किसी और को कोई हानि पहुँचा ही नहीं सकते, जब तक कि स्वयं का सर्वनाश नहीं कर लेते।

इसी प्रकार जब कोई अपने को उदार मान लेता है, तब उसके द्वारा की हुई उदारता से दूसरों का उतना लाभ नहीं होता, जितना की कर्ता का अपना हित होता है। यह नियम है कि भाव असीम और कर्म सीमित होता है। अतः उदार भाव प्राप्त होने पर कर्ता के जीवन में करुणा और प्रसन्नता स्वतः आ जाती है, अर्थात् दुखियों को देखकर करुणा और सुखियों को देखकर प्रसन्नता होती है।

करुणा राग को खा लेती है और प्रसन्नता चाह तथा ईष्या उत्पन्न नहीं होने देती। राग-रहित होने से अनुराग की जागृति और ईष्या तथा चाह-रहित होने से समता की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। यह सभी को मान्य होगा कि अनुराग नित-नव रस और समता-चिर-शान्ति तथा स्वाधीनता प्रदान करने में समर्थ है। इस प्रकार उदार भाव से कर्ता का जितना हित होता है, उतना हित उदारतायुक्त प्रवृत्ति से दूसरों का नहीं हो सकता।

अब यह देखना है कि हममें बुराई का भाव क्यों उत्पन्न होता है? तो, कहना होगा कि अविवेक के कारण जब हम अपने को देह मान लेते हैं, तब काम की उत्पत्ति होती है, और काम की पूर्ति होने से लोभ और मोह तथा काम की पूर्ति में बाधा उत्पन होने से क्रोध और द्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों से दूषित होकर हम अपने को दोषी मान बैठते हैं और इस मान्यता से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति के द्वारा समाज का अहित करते हैं। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से सर्वांश में कोई कभी दोषी नहीं होता, क्योंकि दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, स्वभावसिद्ध नहीं है। की हुई दोषयुक्त प्रवृत्ति की स्मृति को प्राणी अपने 'अहम्' में स्थापित कर लेता है, जिससे दूषित प्रवृत्ति बार-बार होने लगती है।

यह तो हुई अपने को दोषी मानने की बात। परन्तु इससे भी अधिक दोष दूसरों को दोषी मान लेने में है। क्योंकि दूसरों के दोष का वास्तविक ज्ञान तो हमें होता नहीं। कुछ देखी या सुनी हुई बातों के आधार पर ही दूसरों को दोषी मान लेते हैं। जिसको बुरा मान लेते हैं, उसका बुरा चाहने की भावना स्वतः उत्पन हो जाती है, जो हमें बुरा बनाने में समर्थ है। और हमारी मान्यता से

जिसे हम बुरा मान लेते हैं, उसमें भी बुराई की दृढ़ता होती है।

इस प्रकार हमारे प्रमाद से अपना व दूसरों का अहित ही होता है। बुराई करने में तो कर्ता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जैसे, चोर को चोरी करने में अनेक प्रकार के भय तथा आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। परन्तु किसी व्यक्ति को चोर मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। यह सम्भव है कि बुराई करने वाला भय तथा आपत्तियों से व्यथित होकर अपना सुधार करने में समर्थ हो जाय, परन्तु दूसरे को बुरा मानने वाले का सुधार होना बड़ा कठिन हो जाता है।

दूसरों को दोषी मानने से हमें अपने गुणों का अभिमान हो जाता है, जो सभी बुराइयों का मूल है और जिससे छुटकारा पाना बुराई करने से छुटकारा पाने की अपेक्षा अधिक कठिन है। अतः किसी को बुरा न समझें। यह तभी सम्भव होगा, जब किसी की बुराई न सुनें और न किसी की बुराई करें। इतना ही नहीं, अपनी देखी हुई बुराई पर भी स्थायी भाव न रखें।

यदि कोई स्वयं कहे, तब भी उसको बुरा न समझें और उससे कह दें कि इस समय तो तुम उस बुराई को नहीं कर रहे हो, जो अपने में आरोप करते हो। यदि तुम सचमुच बुराई को 'बुराई' जानते हो, तो उसको न दोहराने का व्रत ले लो। ऐसा करने से बुराई सदा के लिए मिट जायेगी और जो हो चुकी है, उसके संस्कार भी मिट जायेंगे तथा उसका जो कुछ परिणाम है, वह भी दुःख देकर स्वतः मिट जायेगा। क्योंकि दुःख से दुष्कृति और की हुई भूल मिट जाती है तथा भूल पुनः उत्पन्न भी नहीं होती। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि अपना तथा दूसरों का भला चाहते हो, तो किसी का बुरा मत चाहो, किसी को बुरा मत समझो और न किसी की बुराई सुनों और न करो। जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि सर्वाश से सर्वदा कोई बुरा होता नहीं। तो किसी को बुरा मान लेना, असत्य नहीं, तो क्या है? इस असत्य का साधनयुक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस भयंकर दोष से तो सदा के लिए रहित हो जाना चाहिये।

यदि हम अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण चाहत

हैं, तो यह अनिवार्य हो जाता है कि हम दूसरों में तथा अपने में बुराई की स्थापना न करें। तभी बुराई से बच सकेंगे। यह नियम है कि हम प्राणी दूसरों के प्रति जो कुछ करता है, वह कई गुना अधिक होकर उसे स्वयं प्राप्त होता है। जैसे, एक दाना बोने से कई दाने मिलते हैं, वैसे ही हमारे द्वारा जो कुछ होता है, वह कई गुना अधिक होकर हम ही को मिलता है।

यह सभी को मान्य है कि अपना सभी भला चाहते हैं और कर्म-विज्ञान के सिद्धान्त से दूसरों के प्रति की हुई भलाई ही अपने को मिल सकती है। अतः बुराई करने का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यह नियम है कि बुराई को मिटते ही भलाई स्वतः होने लगती है और भलाई होने से अपना भला हो जाता है तथा समाज का हित होता है।

बुराई की जाती है और भलाई स्वतः होती है। यह नियम है कि जो किया जाता है, वह सीमित होता है और जो होता है, वह असीम होता है। इस दृष्टि से बुराई सीमित और भलाई असीम है। क्योंकि बुराई का जन्म अभिमान से होता है और भलाई निरभिमानता से होती है। अभिमान से सीमित-भाव पुष्ट होता है और निरभिमानता से अहंभाव गलकर विमुक्त हो जाता है, अर्थात् जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता, उससे अभिन्न होता है।

अब विचार यह करना है कि अभिमान की उत्पत्ति कब होती है और क्यों? तो कहना होगा कि अभिमान तब होता है जब अपने को किसी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में आबद्ध कर लेते हैं। यह नियम है कि वस्तु आदि में आबद्ध होते ही स्वार्थभाव उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होते ही अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और फिर हम अपने से भिन्न की आवश्यकता अनुभव करने लगते हैं अर्थात् पराधीन हो जाते हैं। फिर अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करने लगते हैं, जो हमें कर्ता बना देती हैं। कर्ता बनते ही की हुई प्रवृत्तियों के संस्कार दृढ़ होने लगते हैं। उन संस्कारों के समूह से ही अभिमानी हो जाते हैं।

कर्तव्य के समूह का नाम ही कर्ता है। कर्तव्य उसे कहते हैं कि जिसके पालन करने से साधक निर्दोष हो जाय। निर्दोष होते ही गुणों का अभिमान गल जाता है और फिर

कर्ता, कर्म तथा उसका फल, ये तीनों अपने लक्ष्य में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है और तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्य-निष्ठ होने पर कर्ता का वास्तविक जीवन से भिन्न कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता।

अभिमान का अन्त करने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि 'करना' 'होने' में विलीन हो जाय। यह तभी सम्भव होगा कि जब साधक अपने अहम्-भाव को उस अनन्त के समर्पण कर अचिन्त तथा अचाह हो जाए। अचाह होते ही 'करना' 'होने' में विलीन हो जाता है और फिर किसी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। अभिमान का अन्त होते ही पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है और फिर साधक की अपने वास्तविक स्वरूप से एकता हो जाती है।

पराधीनता काल में तो केवल वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है, अपना नहीं। जैसे, धन का लोभी अपने को धन के अधीन मानकर अपना अस्तित्व खो देता है और धन के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इसी प्रकार जितनी कामनाएँ उत्पन्न होती है, वे कर्ता के अस्तित्व को सिद्ध न कर इच्छित वस्तु एवं अवस्था आदि के अस्तित्व को सिद्ध तथा दृढ़ करती है।

वास्तव में अस्तित्व तो उसका है कि जिसकी सत्ता से कामनाओं का कर्ता तथा वस्तु, अवस्था आदि प्रकाशित होते हैं। अतः भोग और भोक्ता दोनों ही पर-प्रकाश्य हैं। पर-प्रकाश्य में सत्ता उसी की होती है जिनसे वे प्रकाशित होते हैं। अतः भोग और भोक्ता एक दूसरे को सुरक्षित नहीं रख सकते। इस कारण विवेकी भोग-वासनाओं को त्याग भोग और भोक्ता के प्रकाशक से अभिन्न होने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अतः अपना अस्तित्व तभी सुरक्षित होगा, जब वासनाओं का अत्यन्त अभाव हो। वासनाओं की पूर्ति से किसी का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता।

वासनाओं का अन्त करने के लिए सबसे प्रथम यह अनिवार्य हो जाता है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित तथा प्रसन्नता में निहित हो। ऐसा करने से राग निवृत्त हो जाता

है और फिर अपनी प्रसन्नता के लिए वस्तु, अवस्था आदि की अपेक्षानहीं रहती और न फिर किसी दोष की उत्पत्ति होती है। कारण, कि सभी दोष राग से उत्पन्न होकर राग ही से पुष्ट होते हैं और दोषों के उत्पत्तिकाल में ही गुणों का अभिमान जीवित रहता है। निर्दोषता आने पर गुणों का अभिमान स्वतः गल जाता है और फिर सीमित अहं-भाव मिट जाता है, जिसके मिटते ही मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

अब यदि कोई यह कहे कि दोषों की उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि जब हम प्रमादवश उन्हें अपना मान लेते है, जो हमारे नहीं हैं, अथवा हम उन्हें अपना नहीं मानते, जो हमारे हैं, तभी सभी दोष उत्पन्न होते है। अब विचार यह करना है कि कौन हमारा है, और कौन हमारा नहीं है? जो हमारे बिना रह सकता है और जिसके बिना हम रह सकते हैं, वह हमारा नहीं है। और जिसके बिना हम नहीं रह सकते और जो हमारे बिना नहीं रह सकता, वही हमारा है।

प्रत्येक वस्तु, अवस्था, परिस्थिति हमारे बिना रह सकती है और हम उसके बिना रह सकते हैं। तो फिर उसे अपना मान लेना क्या दोष नहीं है? इस दोष के कारण ही हम वस्तु आदि की दासता में आबद्ध हो जाते हैं। उससे मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि अपने को सभी वस्तु, अवस्था आदि से विमुख कर लिया जाय, उनकी ममता का त्याग कर दिया जाय। ऐसा होते ही हमें अपने में ही अपने वास्तविक जीवन का अनुभव होगा और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहेगा, जो सभी को अभीष्ट है।

अभाव का अभाव होते ही, जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। जो स्वतः होता है उसमें अभिमान न होने के कारण उसके संस्कार अप्रित नहीं होते। जिस प्रवृत्ति के संस्कार अप्रित नहीं होते, वह प्रवृत्ति बन्धन का हेतु नहीं होती। क्योंकि 'होना' एक अपौरुषेय विधान है, व्यक्तिगत अभिमान नहीं। अपौरुषेय विधान में सभी का हित निहित है, किसी का

अहित नहीं। पर, इसका अनुभव अभिमान रहित साधकों को होता है।

हमारी सबसे बड़ी असावधानी यही होती है कि अवस्था को अपना स्वरूप और प्रतीति को यथार्थ मान लेते हैं, जिससे 'अहम्' और 'मम्' की उत्पत्ति हो जाती है जो अनेक विकारों का मूल है। अवस्था स्वरूप नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक अवस्था पर-प्रकाश्य है और स्वरूप स्वयं प्रकाश है तथा प्रतीति यथार्थ नहीं हो सकती, क्योंकि वह सतत् परिवर्तनशील है।

किन्तु 'अहम्' और 'मम्' के कारण प्रतीति में सत्यता और अवस्था में स्वरूप का अभिमान हो जाता है। यह सब असवाधानी का कार्य है, और कुछ नहीं। असावधानी मिटते ही असावधानी का कार्य स्वतः मिट जाता है और फिर अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

यह सभी विचारशीलों को मान्य होगा कि प्रतीति और प्रतीतिकर्ता अथवा यों कहो कि भोग और भोक्ता की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्योंकि जो पर-प्रकाश होते हैं, उनमें सत्ता उसी की होती है, जिससे वे प्रकाशित हैं। इस दृष्टि से समस्त दृश्य उसी की एक अवस्था है, जो अपनी महिमा से आप प्रकाश्य है। वहीं तत्ववेत्ताओं का निजस्वरूप है। समस्त दृश्य उसी की एक अवस्थामात्र है। यह नियम है कि जिसकी जो अवस्था होती है, वह उस अवस्था के बिना भी ज्यों-का-त्यों रह सकता है। किन्तु अवस्था उसके बिना नहीं रह सकती।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उसे कैसे जानें, जिसकी यह अवस्थामात्र है? तो कहना होगा कि जब हम अपने को सभी अवस्थाओं से विमुख कर लेंगे, बस उसी काल में उससे अभिन्न हो जायेंगे, जिसकी यह अवस्था है। कारण, कि 'यह' से विमुख होते ही 'मैं' 'वह' से, जो दृश्य से अतीत है, अभिन्न हो जाता है।

यह नियम है कि असत् से असंग होने पर असत् की प्रतीति होती है और सत् से अभिन्न होने पर सत् की प्राप्ति होती है। अतः जड़वर्ग से, जो पर-प्रकाश्य है, विमुख होकर ही हम अनन्त-नित्य-चिन्मय तत्व से अभिन्न हो सकते हैं।

विमुख होने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है, क्योंकि उसके लिए किसी वस्तु आदि की

अपेक्षा नहीं होती। केवल विमुख होने की लालसा जागृत होते ही विमुख होने की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। अतः यह कहना कि हम चिन्मय जीवन को प्राप्त नहीं कर सकते, प्रमाद-मात्र ही है और कुछ नहीं।

अध्यात्मवाद, अर्थात् विचारमार्ग की दृष्टि से यह जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह उसी की एक अवस्था है, जिससे यह सब कुछ प्रकाशित है। तीव्र जिज्ञासा जागृत होते ही साधक बहुत ही सुगमता पूर्वक अपने चिन्मय जीवन से स्वतः अभिन्न हो जाता है।

आस्तिकवाद, अर्थात् विश्वास मार्ग की दृष्टि से सर्व-समर्थ प्रभु से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करते ही प्रीति उदय होती है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है।

भौतिकवाद, अर्थात् सेवामार्ग की साधना से जब स्वार्थभाव गलित हो जाता है, तब बहुत ही सुगमतापूर्वक निष्कामता प्राप्त कर साधक उस जीवन को प्राप्त कर लेता है, जो सभी वस्तु अवस्था आदि से अतीत है।

यह सभी को मान्य होगा कि योग्यता तथा रुचि का भेद होने पर भी वास्तविक आवश्यकता सभी की एक है। इस दृष्टि से साधन भेद भले ही हो, परन्तु साध्य में कोई भेद नहीं। क्योंकि सत्य एक है, अनेक नहीं, समस्त सृष्टि एक है, अनेक नहीं, जीवन एक है, अनेक नहीं।

उस एक में अनेकता का दर्शन केवल निज-ज्ञान का अनादर करने से ही प्रतीत होता है। विवेकयुक्त जीवन होते ही अनेकता एकता में विलीन हो जाती है और फिर एकमात्र प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता, जो वास्तविक मानव-जीवन है।

॥ ॐ॥

निर्मलता कि प्राप्ति

(दिनांक 24 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

यद्यपि सारे संसार के मनुष्य अपने को मानव ही मानते हैं, और वास्तव में मानवता भी एक ही है,

परन्तु इस मानवता को जब हम अपनी अनेक प्रकार की मान्यताओं में आबद्ध कर लेते हैं, तब स्नेह की एकता, निर्मलता, अभिन्नता आदि दिव्यता से रहित हो जाते हैं, जो वास्तव में अमानवता है।

इस अमानवता से मुक्त होने के लिए निर्मलता की ओर गतिशील होना अनिवार्य है। कारण, कि निर्मलता के बिना कोई मानव 'मानव' नहीं हो सकता। अब विचार यह करना है कि निर्मलता का वास्तविक स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उसका अपने में आरोप कर लेना ही मलिनता है। उस मलिनता का त्याग करना ही वास्तविक निर्मलता है। वहीं वस्त्र निर्मल कहलायेगा, जिसमें वस्त्र से भिन्न और किसी वस्तु का समावेश न हुआ हो। यदि किसी कारण वस्त्र में अन्य वस्तु का समावेश हो गया है, तो उसके निकाल देने पर ही वस्त्र निर्मल हो सकेगा। उसी प्रकार हमारे जीवन में राग-द्वेष आदि का जो समावेश हो गया है, उनके निकालने पर ही हम निर्मल हो सकेंगे।

अब विचार यह करना है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति क्यों होती है? तो, कहना होगा जिससे मानी हुई एकता और जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो, उसी से राग होता है और किसी एक से राग होने पर ही किसी दूसरे से द्वेष होने लगता है। अथवा यों कहो कि जातीय भिन्नता होने पर भी हम किसी को अपना मान लेते हैं तथा 'अपने' को मान लेते हैं। तो इस दृढ़ता से ही राग की उत्पत्ति होती है। इसका जन्म निज-ज्ञान के अनादर से होता है। अर्थात् देह 'मैं' हूँ अथवा देह 'मेरी' है, ऐसी मान्यता ही राग उत्पन्न कर देती है।

यह सभी का अनुभव है कि जिसको हम 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' कहना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को 'यह' कहकर अथवा 'मेरा' कह कर ही सम्बोधन करते हैं। इस अनुभूति के आधार पर शरीर को अपना स्वरूप नहीं कह सकते हैं। जब शरीर के साथ ही 'मैं' पन सिद्ध नहीं हो सकता, तो किसी अन्य के साथ 'मैं' लगाना कहाँ तक सही सिद्ध हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमित

'मैं' और सीमित 'मेरा' ही राग-द्वेष का मूल है, जो वास्तव में अविवेक है।

यद्यपि साधनरूप मान्यता भले ही मान्य हो, क्योंकि साधनरूप मान्यता किसी कर्तव्य का आदेश देती हैं, किन्तु मान्यता को 'मैं' मान लेना किसी को भी मान्य नहीं है। यह नियम है कि कर्तव्य कर्तव्यपालन करने वाले को लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। किन्तु कर्तव्यशून्य मान्यता तो अनर्थ ही सिद्ध करती है, जो अमानवता है। इस दृष्टि से सार्थक मान्यता का अर्थ हुआ-कर्तव्य को प्रकाशित करने वाला विधान।

कर्तव्य का अर्थ है, 'दूसरों के अधिकार की रक्षा'। जिन प्रवृत्तियों से दूसरों के अधिकार की रक्षा नहीं होती, उन प्रवृत्तियों को तो अकर्तव्य ही मानना होगा। इतना ही नहीं, यदि किसी कर्तव्य के नाम पर किसी के अधिकार का अपहरण करके किसी दूसरों के अधिकार की रक्षा की जाय, तो उसे कर्तव्य मानना प्रमाद होगा। वास्तविक कर्तव्य वही है, जिससे किसी का अहित न हो और कर्तव्यपालन करने पर कर्ता अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाय।

राग-द्वेष का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि राग से पराधीनता और द्वेष से ईर्षा आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है। और मानव-जीवन मिला है-निर्दोषता के लिए। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष रहित होने पर ही मानव वास्तविक 'मानव' हो सकता है। अब यदि कोई कहे कि राग के बिना हम अपने प्रियजनों की सेवा कैसे करेंगे? तो कहना होगा कि सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नहीं है, अपितु उदारता की अपेक्षा है। कारण कि, उदारता आ जाने पर पराया दुःख अपना दुःख बन जाता है और फिर अपना सुख वितरण करने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं रहता। इतना ही नहीं, सुख-भोग की आसक्ति का अन्त हो जाता है। यही सेवा की वास्तविक सार्थकता है। सेवा का अन्त किसी वस्तु, पद आदि की प्राप्ति में नहीं है। सेवा का अन्त तो त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में होता है।

यदि हमारी की हुई सेवा हमारे जीवन में पद-लोलुपता तथा जिनकी सेवा की है, उनसे किसी प्रकार की आशा उत्पन्न कर देती है, तो समझना चाहिए कि हमने सेवा के

नाम पर किसी अपने स्वार्थ की ही सिद्धि की है। ऐसी सेवा तो वह बुराई है, जो भलाई का रूप धारण करके आती है। यह नियम है कि जो बुराई 'बुराई' बन कर आती है, वह बड़ी सुगमता से मिट सकती है। किन्तु जो बुराई भलाई का रूप धारण करके आती है, उसका मिटाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। क्योंकि बुराई को 'बुराई' जान लेने पर बुराई स्वतः मिटने लगती है और बुराई को भलाई मान लेने पर बुराई दृढ़ होती है।

वास्तविक सेवा क्रिया-रूप से भले ही सीमित हो, किन्तु भावरूप से असीम ही होती है। क्योंकि सेवा का जन्म ही होता है स्वार्थ भाव के मिट जाने पर, अर्थात् राग-रहित होने पर। जिन साधनों से क्रियारूप सेवा की जाती है, वे सीमित ही होते हैं। इस कारण सेवक का कर्म सीमित होता है। किन्तु जिस सर्वहितकारी सद्भावना से सेवा की जाती है, वह भाव असीम ही होता है। यह नियम है कि जो कर्म जिस भाव से किया जाता है, अन्त में कर्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से सेवक का सीमित कर्म भी सेवक को असीम प्रेम से अभिन्न कर देता है। जिसका हृदय असीम प्रेम से भरपूर है, वह किसी का अहित नहीं चाहता। अतः किसी के विनाश से किसी के विकास का प्रयत्न सेवा नहीं हो सकता। सेवा चाहे एक व्यक्ति की की जाय अथवा समस्त संसार की, उसके फल में कोई अन्तर नहीं होता। क्योंकि सेवा का फल भोग नहीं है। सेवा का फल है-'निर्मलता', जो वास्तव में मानवता है।

निर्मलता आ जाने पर जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही अहं गल जाता है। अहं के गलते ही जीवन विभु हो जाता है, अथवा यों कहो कि बाह्य भेद प्रतीत होते हुए भी अभेद हो जाता है। फिर किसी प्रकार का संघर्ष शेष नहीं रहता। क्योंकि संघर्ष का जन्म भेद-भाव से होता है और भेद का जन्म अहं भाव से होता है। अहंभाव का पोषण राग-द्वेष से होता है, जो वास्तव में मलिनता है।

प्रेम चाहे अपने में हो, किसी प्रतीक विशेष में हो अथवा समस्त विश्व में हो, उससे भेद की उत्पत्ति नहीं होती। भेद की उत्पत्ति तो मोह से होती है, प्रेम से नहीं। मोह एक प्रकार की मलिनता है और प्रेम का प्रादुर्भाव

निर्मलता से होता है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेम मानवता और मोह अमानवता है।

यह नियम है कि प्रेम अनन्त से अभिन्न करता है और मोह सीमित में आबद्ध करता है। सेवा और प्रेम का आरम्भ किसी प्रतीक से क्यों न हो, उसकी पूर्णता अनन्त में ही होती है, जो सभी का सब कुछ है और सभी से अतीत है। उसे किसी मान्यता-विशेष में आबद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु उसकी उपलब्धि सभी मान्यताओं के द्वारा हो सकती है। पर कब? जब मोह की गन्ध न रहे। मोह की उत्पत्ति किसी अन्य से नही, अपने प्रमाद से ही होती है। प्रेम का उदय तब तक नहीं होता, जब तक प्रमाद का अन्त नहीं हो जाता। प्रमाद का अन्त तब तक नहीं होता, जब तक हम किसी से कर्तव्य के नाते कुछ भी लेना चाहते हैं। कर्तव्य ने तो हमें सब कुछ देने का पाठ पढ़ाया है, लेने का नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्यपरायणता हमें मोह का अन्त कर प्रेम प्राप्त कराती हैं जो वास्तव में मानवता है। कर्तव्य-परायणता साधनरूप मानवता है और निर्मलता साध्य-रूप मानवता है।

मानवता विकसित होने पर निर्मलता, एकता और स्नेह से जीवन परिपूर्ण हो जाता है और फिर प्राणी अपने को भले ही भक्त, जिज्ञासु, समाजसेवी आदि भिन्न-भिन्न मान्यताओं के रंग में रंग लें, उससे उसकी तथा समाज की कोई क्षति नहीं होती। कारण, कि मानवता सब प्रकार के संघर्ष तथा स्वार्थभाव का अन्त कर देती है। जिस प्रकार निर्मल वस्त्र पर प्रत्येक रंग सुन्दर लगता है, उसी प्रकार मानवता विकसित होने से मानव किसी मत, सम्प्रदाय, दल आदि में भले ही अपने को रंग ले, पर उससे किसी का अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, उसका अकल्याण भी नहीं होता। उससे तो उसके अपनाये हुए मत, दल आदि शोभा ही पाते हैं, क्योंकि जो स्वयं सुन्दर है, वह सभी को सुन्दर बनाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि जब मानवता एक है, तो फिर मानव-समाज में अनेक मत, दल, सम्प्रदाय आदि की क्या आवश्यकता है? तो, कहना होगा कि दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान योग्यता या रुचि के नहीं होते और न सभी की परिस्थितियाँ में समानता होती है। किन्तु उद्देश्य तथा

आवश्यकता सभी की एक होती है। इस कारण साध्य की एकता होने पर भी साधन में भिन्नता होना जरूरी है। परन्तु साधन को साध्य मान लेना प्रमाद, अर्थात् अमानवता है। यह नियम है कि अपनी योग्यतानुसार साधन करने पर साधक में स्वतः निर्मलता आ जानी चाहिए, जो उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ है।

इस दृष्टि से सभी अपनी-अपनी योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति के अनुरूप अपनाई हुई पद्धति के द्वारा अपने कर्तव्य का पालन कर, अपने को निर्मल बनायें, जिससे सभी के उद्देश्य की, जो सब का एक है, पूर्ति सुगमतापूर्वक हो जाय। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न मत, दल तथा सम्प्रदाय होने से कोई क्षति तो तब होती है, जब हम इन्हें अपने को निर्मल बनाने का साधन न मानकर इनकी ऊपरी मान्यताओं में ही सद्भाव करके भेद उत्पन्न कर लेते हैं, जो संघर्ष का मूल है। जैसे, कुछ लोग अर्थ की एकता होने पर भी भाषा का भेद सहन नहीं कर सकते और परस्पर संघर्ष कर अपनी मानवता खो बैठते हैं।

जिस प्रकार सेवा क्रिया-रूप से सीमित तथा भाव-रूप से असीम होती है, उसी प्रकार प्रेम प्रतीक-रूप से सीमित और भाव-रूप से विभु होताहै। प्रतीक को ही लक्ष्य मानने से तो प्रेम मोह के स्वरूप में प्रतीत होता है। किन्तु प्रतीक में अपने प्रेमास्पद को अनुभव करने से मोह और प्रतीक दोनों ही प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, प्रेमी भी अपने आपे को खो, प्रेम होकर विभु हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेमी, प्रेम तथा प्रेमास्पद तीनों अभिन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार नदी का निर्मल जल किसी गडढ़े में आबद्ध होने से विषैले कीटाणुओं का घर बन जाताहै, उसी प्रकार प्रेम रूपी तत्व किसी वस्तु, एवं व्यक्ति आदि में आबद्ध हो लोभ, मोह आदि का रूप धारण कर अनेक विकार उत्पन्न करता है।

अब विचार यह करना है कि प्रेम किसी प्रतीक में आबद्ध क्यों होता है? तो कहना होगा कि प्रेम का आरम्भ प्रथम प्रेमी की सीमित रुचि के अनुरूप होता है, इस कारण उस अनन्त के प्रेम को प्रेमी एक प्रतीक में देखने लगता है। किन्तु प्रेमास्पद

सर्वकाल में ज्यों-का-त्यों अनन्त ही है। जब प्रेम प्रेमी की परिच्छिन्नता को खा लेता है, तब प्रतीक और प्रेमास्पद का भेद मिट जाता है। कारण, कि प्रतीक का जन्म प्रेमी की सीमित रुचि से हुआ था। यह प्रेम का स्वभाव है कि प्रेम प्रेमी का सर्वस्व हर लेता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमी का विनाश हो जाता है। प्रेम और प्रेमी के बीच में जो दूरी थी, वह मिट जाती है, अर्थात् प्रेमी भी गलकर प्रेम ही हो जाता है। वह प्रेम उस अनन्त का स्वभाव है, और कुछ नहीं और प्रेम प्रेमी की नित नव माँग है, और कुछ नहीं।

उस नित-नव माँग को जब प्रेमी प्रमादवश देहादि से मिला देता है, तब वह आसक्ति के रूप में प्रतीत होती है। जब देहादि से अतीत निजस्वरूप में लगा देता है, तब आत्मरति एवम् तृप्ति आदि के स्वरूप में प्रतीत होती है और जब उस प्रेम की माँग को समस्त दृश्य में मिला देता है, तब वह विश्वप्रेम के रूप में प्रतीत होती है, तथा जब उसको सभी मान्यताओं तथा प्रतीतियों से अतीत से मिला देता है, तब वही प्रभु-प्रेम हो जाती है। परन्तु निर्मलता प्राप्त होने पर प्रेम की माँग किसी में मिला दो, एक ही रहती है। कारण, कि भेद प्रेम की माँग से उत्पन्न नहीं होता, मलिनता से उत्पन्न होता है। प्रेम की माँग अणु-से-अणु के साथ हो अथवा महान्-से-महान् के साथ हो, उसके रस के कोई भेद नहीं होता, क्योंकि प्रेम की माँग स्वभाव से ही रस-रूप है।

निर्मलता आने पर प्रतीक-भेद कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु सभी प्रतीकों में अपना ही प्रतीक दिखने लगता है, क्योंकि प्रेम प्रतीक को सीमित नहीं रहने देता। सीमित करने में तो हमारी परिच्छिन्नता ही हेतु है। ज्यों-ज्यों प्रेम सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों परिच्छिन्नता मिटती जाती है और ज्यों-ज्यों परिच्छिन्नता मिटती जाती है, त्यों-त्यों मलिनता निर्मलता में बदलती जाती है। मनिलता का अन्त होते ही अनेकता एकता में विलीन हो जाती है, अर्थात् अनेक में एक ही दिखाई देता है।

इस दृष्टि से कोई किसी का प्रेमी क्यों न हो, प्रेमी के जीवन में द्रोह के लिए कोई स्थान नहीं रहता, अर्थात् प्रेमी द्रोही हो ही नहीं सकता। भोगी

जब प्रेमी का रूप बना लेता है, तब वह किसी का प्रेमी, किसी का द्रोही बनता है। यद्यपि प्रेम में भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है। प्रेम तो अपना सर्वस्व न्यौछावर करने का ही पाठ पढ़ाता है।

मानवता आ जाने पर निर्मलता, स्नेह और एकता आ जाती है, क्योंकि ये तीनों मानवता के ही विशेषण हैं। मानवता एक है। ऐसा नहीं है कि भौतिकवादी और अध्यात्मवादी की मानवता भिन्न-भिन्न हो। उस मानवता के बिना दूसरों की तो कौन कहें, अपना भी हित नहीं हो सकता। वास्तव में तो जिसमें दूसरों का हित है, उसी में अपना हित है और जिसमें अपना हित है, उसी में दूसरों का हित है। यह सभी को मान्य होगा कि निर्मलता, स्नेह तथा एकता में ही अपना तथा दूसरों का हित है, जो मानवता है।

निर्मलता प्राप्त करने के लिए सेवा अनिवार्य है। सेवा उसी की हो सकती है, जिसकी दी हुई कोई भी वस्तु अपने पास हो। अपने पास जो कुछ है, वह संसार से ही मिला है- यह सभी को मान्य होगा। यहाँ तक कि जिस शरीर को तथा योग्यता को आज हम अपना कहते हैं, वे भी संसार के द्वारा ही मिले हैं। जो वस्तु संसार के द्वारा मिली है, उसे संसार की सेवा में ही लगा देना चाहिए। ऐसा करने से संसार पर कोई अहसान नहीं होता और न अपने में करने का अभिमान ही होना चाहिये, तभी सेवा बन सकेगी।

सेवाका फल भोग नहीं है, अपितु निर्मलता है। निर्मलता आ जाने पर स्नेह की उत्पत्ति स्वाभाविक है। कारण कि, किसी भी एक साधन की पूर्णता, दूसरे साधन की उत्पत्ति हो जाती है और स्नेह की पूर्णता भेद को खा कर एकता में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से निर्मलता प्राप्त होने पर स्नेह तथा एकता भी प्राप्त हो जाती है, अथवा यों कहो कि निर्मलता रूपी भूमि में ही एकता रूपी लता फलती है और स्नेहरूपी फल लगता है, जो स्वभाव से ही सरस तथा मधुर है। उस मधुर फल को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने को निर्दोष बनायें, निर्मल बनाये तथा प्रेमी बनायें। निर्मल बनाने के लिए दूसरों के अधिकार की रक्षा, निर्दोष बनाने के लिए अपने अधिकार का त्याग और

प्रेमी बनाने के लिए अपने आप को मिटाना अनिवार्य है। ऐसा होने पर ही बीजरूप मानवता जो मानव-मात्र में विद्यमान है, विकसित हो सकती है। अतः उसके विकसित करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिये।ॐ।

सुख का उपयोग सेवा है

(दिनांक 25 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

सुख-भोग की आसक्ति में आबद्ध प्राणी वह करने लगता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। कारण, कि सुख का लालच निज-ज्ञान का आदर नहीं होने देता। अकर्तव्य का जन्म एक-मात्र सुख-भोग की दासता से ही होता है। इतना ही नहीं सुख-भोग की सिद्धि ही तब होती है, जब हम प्रमाद आदि किसी-न-किसी दोष को अपनाते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि कामना की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि कामना की उत्पत्ति का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि जब हम अपने को देह मान लेते हैं, अर्थात् शरीर ही 'मैं' हूँ-ऐसा सद्भाव कर लेते हैं अथवा, यों कहो कि जब शरीर से अभेद-भाव की मानी हुई एकता स्वीकार कर लेते हैं, तभी कामनाओं की उत्पत्ति होती है। अपने को देह मान लेना प्रमाद नहीं तो क्या है? अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाद को अपना लेने पर ही सुख-भोग की सिद्धि होती है।

यह नियम है कि कामनापूर्ति का सुख राग उत्पन्न करता है, जिससे पुनः कामना उत्पन्न होती है और प्रमाद भी दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार कामना-उत्पत्ति और पूर्ति का चक्र चलता ही रहता है, अर्थात् दुःख सुख में और सुख-दुःख में बदलता ही रहता है। इतना ही नहीं, कामनापूर्ति-काल में भी जब तक प्राणी उत्कृष्टता की ओर से अपने को विमुख नहीं कर लेता, तब तक सुख की प्रतीति नहीं होती। सुख की वास्तव में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं, केवल प्रतीति है। यदि सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो सुख-भोग के अन्त में किसी प्रकार का अभाव न होता और शक्तिहीनता, जड़ता,

पराधीनता आदि में प्राणी आबद्ध न होता। सच तो यह है कि सुख का लालच ही हमें अनेक बार दुःख में आबद्ध करता है। यदि विवेक-पूर्वक अपने को देह से अतीत के जीवन में प्रतिष्ठित करलें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख की दासता तथा दुःख के भय से मुक्त हो सकते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि सुख का अस्तित्व नहीं है, तो हमें शरीरादि वस्तुओं की प्राप्ति से सुख क्यों होता है? तो कहना होगा कि शरीर आदि वस्तुएँ संसार रूपी सागर की लहरें मात्र हैं। जब हम समस्त संसार को अपना न मानकर केवल उसके कुछ अंश-मात्र को अपना मान लेते हैं, तब उस अंश-मात्र के अभिमान को स्वीकार कर सुख का भोग करते हैं। समस्त संसार की कुछ वस्तुओं को अपना मान लेना, क्या बेईमानी नहीं है? इससे तो यह सिद्ध हुआ कि हम बेईमान होकर सुख भोगते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि हम समस्त संसार को अपना मान लें, तो क्या सुख न होगा? तो कहना होगा कि कदापि नहीं। कारण, कि समस्त संसार तो अनेक प्रकार के अभावों, क्लेशों तथा विपत्तियों से निरन्तर पीड़ित है। तो फिर उसको अपना मान कर कौन सुखी हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं। संसारको अपना मान कर तो संसार से मिली हुई वस्तुओं को अपने-से दुखियों को भेंट कर सकता है, सुख नहीं भोग सकता, जो वास्तव में ईमानदारी है।

हम अपना अस्तित्व खोकर ही शरीर आदि वस्तुओं द्वारा सुख भोगते हैं, अर्थात् जब तक हम वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से अपना मूल्य नहीं घटा लेते हैं, तब तक वे हमें सुखद प्रतीत नहीं होतीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि हम अपना विनाश करके ही सुख की दासता में आबद्ध होते हैं। विनाश का अर्थ है- चिन्मय नित्य जीवन से विमुख होकर जड़ता में आबद्ध होना।

जब तक हम अपने को पराधीन नहीं बना लेते, तब तक भी सुख-भोग की सिद्धि नहीं होती। यद्यपि पराधीनता किसी को अभीष्ट नहीं है, तथापि सुख के लालच ने हमें अपनी नित्य स्वाधीनता से विमुख कर दिया है। सुख की प्रतीति किसी-न-किसी संयोग से होती है। प्रत्येक संयोग स्वभाव से ही वियोग में विलीन

होता है। अतःयह स्पष्ट हो जाता है कि संयोग की दासता ही हमें पराधीन बनाती है और वियोग के भय में आबद्ध करती है। इतना ही नहीं, नित्य-योग से विमुख कर देती है, जो वास्तव में जीवन है।

क्या हम हृदयहीन बिना हुए सुख का भोग कर सकते हैं? कदापि नहीं। सुख-भोग में प्रवृत्ति तभी होती है, जब हम दुखियों की ओर से विमुख हो जाते हैं। दुखियों को बिना अपनाये, क्या हृदय में करुणा उदय हो सकती है? करुणा के बिना, क्या आसक्ति मिट सकती है? अनासक्ति के बिना, क्या कोई उदार हो सकता है? उदारता के बिना, क्या कोई महान् हो सकता है? महानता के बिना, क्या कोई अमरत्व प्रात कर सकता है? कदापि नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई हृदयशील प्राणी सुख नहीं भोग सकता। हाँ, यह अवश्य है कि सुख का सदुपयोग कर सकता है।

सुख का सदुपयोग सेवा है, क्योंकि सेवा के बिना सुख-भोग की आसक्ति मिट नहीं सकती। पर, सेवा वही कर सकता है, जिसका हृदय पराये दुःख से भरा रहे। सेवा का अर्थ किसी का दुःख मिटाना नहीं है, अपितु अपना सुख बाँटना है। सुख के व्यय होने पर राग निवृत्त हो जाता है और हृदय त्याग तथा प्रेम से भर जाता है। त्याग से चिर-शान्ति और प्रेम से अगाध-अनन्त रस स्वतः प्रात होता है, जो मानव की माँग है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख-भोगने से तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और सेवा-द्वारा सुख का सदुपयोग करने से प्राणी का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

सुख का सदुपयोग करने में वे ही समर्थ हो सकते हैं, जो उस दुख को अपना लेते हैं, जिसमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित हो और उस सुख का त्याग कर देते हैं, जिसका जन्म किसी के अहित से हो। अतः हमें सावधानीपूर्वक उस सुख का त्याग करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहना चाहिए, जिससे दूसरों का ह्रास हो और उस दुःख को सहर्ष अपना लेना चाहिये, जिसमें दूसरों का विकास हो।

अब विचार यह करना है कि यह सामर्थ्य कब आयेगी, जिससे हम उस सुख को न अपनायें, जिसमें दूसरों का अहित है, अपितु उस दुख

को अपनायें, जिसमें दूसरों का हित निहित है? तो कहना होगा कि वह सामर्थ्य उन्हीं साधकों में आती है, जिनकी प्रत्येक चेष्टा ज्ञानपूर्वक होती है। ज्ञानपूर्वक की हुई प्रवृत्ति अहित से हित की ओर ले जाती है। यदि हम प्राकृतिक रचना का यथेष्ट अध्ययन करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मेन्द्रियों का उचित कार्य ज्ञानेन्द्रियों के प्रकाश में ही होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ संकल्प के अनुरूप ही कार्य करती हैं, संकल्प में शुद्धता विवेकवती बुद्धि द्वारा आती है और बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त नित्य ज्ञान से ही प्रकाशित होता है। अतः हमारा प्रत्येक कर्म ज्ञान के प्रकाश में ही होना चाहिए।

निज-ज्ञान का आदर करने पर प्रमाद शेष नहीं रहता, उसके मिटते ही हमें अपने कर्तव्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और फिर हम बहुत ही सुगमतापूर्वक वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर सकते हैं। वर्तमान का सुधार होते ही बुरे संकल्प मिट जाते हैं और भले संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं तथा निर्विकल्पता आ जाती है। ज्यों-ज्यों निर्विकल्पता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक शक्ति का विकास और उत्तरोत्तर पवित्रता स्वतः आती जाती है। पूर्ण पवित्रता आ जाने पर प्राप्त शक्ति का सदुपयोग होने लगता है और फिर सभी निर्बलताएँ स्वतः मिटने लगती है, अर्थात् अपने बनाए हुए सभी दोष मिट जाते हैं। निर्दोषता आते ही गुणों का अभिमान भी गल जाता है और फिर सीमित अहम्-भाव शेष नहीं रहता। उसके मिटते ही दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान के सुधार में ही अपना हित निहित है।

पवित्रता आ जाने पर बुराई करने की तो कौन कहे, अपने प्रति होने वाली बुराई के बदले में भी भलाई करने की प्रवृत्ति होती है। इतना ही नहीं, अपने प्रति की गई बुराई को भी वह अपना ही दोष मानता है, दूसरे का नहीं और अपने द्वारा होने वाली भलाई को अपना गुण न मानकर दूसरों का अधिकार ही मानता है। अथवा यों कहो कि अपवित्रता मिट जाने पर बुराई उत्पन्न नहीं होती और भलाई स्वतः होने लगती है। औार फिर समस्त विश्व एक जीवन से भिन्न कुछ नहीं मालूम होता। सेवा, त्याग और प्रेम जीवन हो जाता

है, करना नहीं होता। कारण, कि पवित्रता अनन्त का स्वभाव है, कर्म नहीं। अतः पवित्रता प्राप्त करने के लिए सुख की दासता का त्याग कर वर्तमान का सदुपयोग करना अनिवार्य हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

॥ॐ॥

कर्म, विवेक और विश्वास

(दिनांक 26 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

हमारा जो माना हुआ अहं-भाव है, वह एक प्रकार की भूख है और वह भूख तीन भागों में विभाजित है-या तो हम अपने किसी अधिकार की रक्षा के लिए भूखे हैं, अथवा रस पीने के लिए भूखें हैं, अथवा किसी सन्देह की निवृत्ति के लिए भूखे हैं। ये तीनों प्रकार की भूख मिटाने के लिए मानव मात्र को प्राकृतिक विधान के अनुसार क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति और विवेक-शक्ति मिली है।

मिली हुई शक्ति के सदुपयोग का नाम ही साधन है। साधन उसे ही कहते हैं, जिसके करने में साधक समर्थ हो और कर लेने पर साधक की भूख मिट जाये, अर्थात् वह तृप्त तथा सन्तुष्ट हो जाय। क्रिया-शक्ति का सदुपयोग श्रम, संयम एवं सदाचारपूर्वक दूसरों के अधिकार की रक्षा करने में है, भाव-शक्ति का सदुपयोग हृदय को प्रेम तथा सेवा-भाव से परिपूर्ण करने में है और विवेक-शक्ति का सदुपयोग अविवेक की निवृत्ति तथा निरभिमानता में है। क्रिया-शक्ति का उपयोग तथा सम्बन्ध शरीर से है, भावशक्ति का उपयोग तथा सम्बन्ध हृदय से है और विश्वास से उसकी पुष्टि होती है, तथा विवेक अलौकिक तत्व है, जिसका उपयोग बुद्धि से होता है।

क्रियाशक्ति को विकसित करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साधक श्रम का आदर करें, क्योंकि श्रम से ही संयम का जन्म होता है और उसकी पुष्टि होती है। आलस्य से न तो क्रियाशक्ति का विकास होता है और न जीवन में संयम ही आता है। यह आलस्य का रोग दूसरों पर शासन करने से होता है, अथवा यों कहो कि जड़ता आने से

होता है, या सिक्के का महत्व बढ़ने तथा उसके संग्रह होने से होता है। आलस्य से विलास और विलास से दुराचार में प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत श्रम से संयम और संयम से सदाचार प्राप्त होता है। सदाचार-युक्त जीवन की समाज को सदैव आवश्यकता रहती है।

यह नियम है कि जिसको जिसकी आवश्यकता होती है, वह उसका आदर भी करता है और उसकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता मान लेता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाचार-युक्त जीवन होने पर समाज में व्यक्ति को यथेष्ट स्थान मिलता है और उसके बिना ही माँगे उसके अधिकार सुरक्षित रहते हैं। कारण, कि अधिकार कर्तव्य का दास है। सदाचारी की पहचान यही है कि वह सुख को स्वीकार नहीं करता, जिसका जन्म किसी के दुःख तथा अहित से हो, अपितु उस दुःख को सहर्ष अपना लेता है, जिसका जन्म दूसरों के हित तथा प्रसन्नता से होता हो।

यह प्राकृतिक नियम है कि जिस सुख तथा विकास का जन्म किसी दुःख तथा हास से होता है, वह कालान्तर में घोर दुःख बन जाता है तथा अवनति और ह्रास का कारण हो जाता है। और, जिस दुःख का जन्म दूसरों के हित तथा प्रसन्नता से होता है, वह कालान्तर में चिन्मय आनन्द से अभिन्न कर देता है। इसीलिए सदाचारी उस सुख को नहीं अपनाते, जिससे दूसरों का अहित हो, प्रत्युत उस दुःख को अपना लेते हैं, जिससे दूसरों का हित हो।

यह सभी जानते हैं कि कोई भी मानव विश्वास-रहित नहीं होता। किसी का विश्वास अपने पर, किसी का देहादि भौतिक वस्तुओं पर और किसी का अपने प्रेमास्पद पर होता है। यह नियम है कि जिसका जिस पर विश्वास होता है, उसका उससे सम्बन्ध हो जाता है और जिससे सम्बन्ध होता है, उससे प्रियता स्वतः हो जाती है। जिनका अपने पर विश्वास होता है, उनमें आत्मरति, जिनका विश्वास देहादि भौतिक वस्तुओं पर होता है, उनमें आसक्ति तथा जिनका विश्वास अपने प्रेमास्पद पर होता है, उनमें प्रीति सदा निवास करती है।

आत्मरति से स्वाधीनता, आसक्ति से पराधीनता और प्रीति से नितनव रस स्वतः प्राप्त होता है।

साधनदृष्टि से आत्मविश्वास, भगवद्-विश्वास तथा कर्तव्यविश्वास ही सार्थक सिद्ध होते हैं। आत्म विश्वास से अध्यात्मवादी, भगवत्-विश्वास से आस्तिकवादी और कर्तव्य से भौतिकवादी सन्तुष्ट होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कर्तव्य-विश्वास भौतिकवादी का तो साध्य है और आस्तिकवादी तथा अध्यात्मवादी का साधन है। इन तीनों वादों का समूह मानव-जीवन है।

विवेकशक्ति का सदुपयोग करने पर अविवेक मिट जाता है। अविवेक मिटते ही अचाह-पद प्राप्त होता है। अचाह-पद प्राप्त होते ही निरभिमानता आ जाती है। निरभिमानता आने पर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। और, फिर सर्वात्मभाव, भगवत्-प्रेम तथा विश्वप्रेम स्वतः सिद्ध हो जाता है और किसी प्रकार की भूख शेष नहीं रहती।

भौतिकवादी पहले परिस्थिति का सदुपयोग करता है। यह नियम है कि परिस्थिति का सदुपयोग करने से विवेक जागृत होता है और फिर भावशक्ति स्वतः शुद्ध हो जाती है अर्थात् प्रेम से जीवन परिपूर्ण हो जाता है। अध्यात्मवादी प्रथम निज-ज्ञान का आदर करता है, जिससे मोहरहित हो जाता है और फिर परिस्थिति का सदुपयोग और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। आस्तिकवादी प्रथम अनेक सम्बन्ध और अनेक विश्वास को त्याग, अपने प्रभु से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है और फिर उन्हीं के नाते परिस्थिति का सदुपयोग कर निर्मोहता तथा परम प्रेम प्राप्त कर लेता है।

साधनयुक्त जीवन, अर्थात् मानव-जीवन में तीनों वाद किसी-न-किसी अंश में विद्यमान रहते हैं, क्योंकि कर्तव्यपरायणता, जिज्ञासा तथा प्रेम सभी को अभीष्ट हैं। इतना ही नहीं, कर्तव्यपरायणता के लिए आवश्यक विषय का ज्ञान एवं भाव-शुद्धि अपेक्षित होती है।

इसी प्रकार भाव-शुद्धि के लिए ज्ञान तथा कर्तव्यपरायणता अपेक्षित होती है, क्योंकि कर्तव्यपरायणता के बिना भाव में दृढ़ता नहीं आती। जैसे, कोई सत्यवादी होने का भाव रखता है, तो उसको सत्य बोलना अनिवार्य हो जाता है और सत्य का उसे ज्ञान भी हो

जाता है। विवेकी को भी भाव एवं कर्तव्यपरायणता की अपेक्षा होती है, क्योंकि कर्तव्यपरायणता के बिना राग की निवृत्ति नहीं होती और भाव के बिना निष्ठा नहीं होती।

अन्तर केवल इतना होताहै कि किसी साधक में इन तीनों में से किसी एक की प्रधानता से साधन आरम्भ होता है। परन्तु साधनपरायणता आ जाने पर तीनों का समावेश हो जाता है, क्योंकि समस्त जीवन एक है, अनेक नहीं।

समस्त जीवन साधन बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि जागृति से लेकर सुषुप्ति तक और जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक कार्य सुख-बुद्धि तथा भोग-बुद्धि को त्याग, हित-बुद्धि तथा साधन-बुद्धि से करना चाहिए। पर, यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक कार्य कार्यकुशलता, अर्थात् उसके करने का सही ढंग तथा भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखकर किया जाय। एक कार्य करते समय दूसरे कार्य का चिन्तन न करने से प्राप्त कार्य में पूरी शक्ति लग जाती है।

यह नियम है कि मन जिस कार्य में जितनी एकाग्रता के साथ लग जाता है, उस कार्य के अन्त में अपने-आप उससे पूरा हट जाता है और जब तक दूसरा कार्य प्रारम्भ नहीं होता, उस बीच की अवस्था में योगी को योग, प्रेमी को प्रेम और विचारक को विचार प्राप्त होता है। कार्य के आदि और अन्त में जो स्थिति है, वह साधक की वास्तविक है। स्थिति में एक कार्य पूरा होने पर जब तक दूसरा कार्य आरम्भ नहीं होता, तब तक किसी प्रकार का व्यर्थ-चिन्तन नहीं होना चाहिए। कारण कि व्यर्थ-चिन्तन का साधन-युक्त जीवन में कोई स्थान नहीं है। निर्मोहता-पूर्वक पवित्र भाव से वर्तमान का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

वर्तमान का सदुपयोग करने पर परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और फिर साधक उसी की ओर गतिशील होता है, जो उसका लक्ष्य है। लक्ष्य से देश-काल की दूरी नहीं है। केवल व्यर्थ-चिन्तन का आवरण ही साधक को उससे अभिन्न नहीं होने देता। यदि व्यर्थ-चिन्तन का अन्त कर दिया जाय, तो प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य से अभिन्न हो सकता है।

लक्ष्य वह नहीं हो सकता, जिसका वियोग हो और लक्ष्य वह भी नहीं हो सकता, जिसकी प्राप्ति न हो सके। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति लक्ष्य नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्येक परिस्थिति लक्ष्य-प्राप्ति का साधन हो सकती है। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग अपने लक्ष्य के ही नाते योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक किया जाय। ऐसा करने पर समस्त जीवन साधन बन जायगा।

जब साधक अपनी मान्यता को ही अपना स्वरूप मान लेता है, तब जिज्ञासा दब जाती है और मान्यता ही सत्य प्रतीत होने लगती है। जब साधक विश्वास को व्यक्ति और वस्तुओं में लगा देता है, तब मोह और लोभ में आबद्ध हो जाता है। प्रत्येक साधक कर्तव्य-परायणता को सुख-भोग की साधना मान लेता है, तब राग-द्वेष में फँस जाता है। मान्यता में सत्यता आते ही अविवेक दृढ़ हो जाता है, जो देहादि में अहं बुद्धि स्थापित कर देता है।

अपने को देह मान लेने पर अनेक वस्तुओं तथा व्यक्तियों से सम्बन्ध हो जाता है, जो ममता को दृढ़ कर देता है और फिर स्वार्थयुक्त प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं, जो वास्तव में असाधन है। यदि विवेक से अविवेक का अन्त कर दिया जाय तो साधक तीनो शरीरों से अतीत अपने निज-स्वरूप से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि मृत्यु से अतीत अमर जीवन को प्राप्त कर लेता है।

व्यक्ति और वस्तु विश्वास करने की चीज नहीं है। वस्तुओं का सदुपयोग करना है और व्यक्तियों की सेवा करनी है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक सभी को या तो अपना स्वरूप जाने या सभी में अपना प्रभु देखे अथवा सारा विश्व एक है-ऐसा अनुभव करें।

निर्मोहता, प्रेम तथा कर्तव्यपरायणता अपना लेने पर समस्त जीवन साधन बन जायगा, जिससे सीमित अहं-भाव सदा के लिए मिट जायगा। और फिर शरीर विश्व के काम आ जायगा, हृदय में प्रीति की गंगा लहराएगी और निरभिमानतापूर्वक अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जायेगी, जो मानव का लक्ष्य है।

यद्यपि बीजरूप से तत्वजिज्ञासा तथा प्रेम की लालसा

मानवमात्र में विद्यमान है, परन्तु तत्वजिज्ञासा की जागृति उन्हीं साधकों में होती है, जिन्होंने अपने कर्तव्य से समाज के अधिकारों की रक्षा की हो और उसके बदले में सुख-भोग न किया हो। अथवा उन्हें होती है, जिनके जीवन में अत्यन्त दुःख हो और दुःख से भयभीत होकर हार स्वीकार न की हो, क्योंकि इन दोनों के मोहजनित सम्बन्ध शिथिल हो जाते हैं और सुख-भोग में प्रवृत्ति नहीं रहती।

तत्वजिज्ञासा जागृत होने पर जब साधक उसके बिना किसी प्रकार चैन से नहीं रह सकता, अर्थात् जब वह उसकी वर्तमान समस्या बन जाती है, तब उसकी स्वतः पूर्ति हो जाती है। जैसे, यदि जिज्ञासु को प्यास लगी हो, तो वह पानी पीने से पूर्व अपनी जिज्ञासापूर्ति के लिए अधीर हो जाय।

वर्तमान समस्या उसे कहते हैं, जो सभी प्रवृत्तियों को खा लेती है और जीवन अप्रयत्न हो जाता है। बस, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर जीवन में एक अपूर्व परिवर्तन स्वतः हो जाता है। किसी प्रकार की चाह तथा चिन्तन शेष नहीं रहते। समस्त जीवन ज्ञान तथा प्रेम का प्रतीक हो जाता है।

अप्रयत्न जीवन का अर्थ कोई आलस्य तथा जड़ता न समझ बैठे। आलस्य व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न करता है। जड़ता चेतना-शून्य कर देती है, किन्तु अप्रयत्न जीवन तो सहज निवृत्ति तथा चेतनायुक्त होता है। वह साधक को सत्य के दरवाजे तक पहुँचा देता है। अथवा यों कहो कि सत्य के दरवाजे पर पहुंचने पर ही अप्रयत्न जीवन प्राप्त होता है। उसके पश्चात् सत्य स्वयं अपने को उस पर न्यौछावर कर देता है। असत्य की विमुखता साधक को सत्य के दरवाजे तक पहुंचाने में समर्थ है। यही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है।

यद्यपि साधनयुक्त जीवन में चाह और चिन्तन का कोई स्थान नहीं है, किन्तु व्यर्थ-चिन्तन मिटाने के लिए तत्वचिन्तन तथा भगवच्चिन्तन की चर्चा की जाती है। चाह और चिन्तन का जन्म अविवेक सिद्ध है अथवा यों कहो कि कर्तव्यपरायण न रहने से होता है।

विवेक का आदर करने पर सब प्रकार की चाह तथा चिन्तन मिट जाता है और साधक को स्वतः तत्व-

साक्षात्कार हो जाता है, क्योंकि सत्य से देश-काल की दूरी नहीं है। मोह-जनित सम्बन्ध तथा ममता का त्याग करते ही विषय-चिन्तन मिटकर भगवत्-चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है। जब तक साधक को चिन्तन करना पड़ता है, तब तक उसे समझना चाहिए कि अभी प्रेमास्पद से सरल विश्वास-पूर्वक नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति नहीं हुई।

चिन्तन तथा प्रीति में अन्तर यह है कि चिन्तन उस समय तक होता रहता है, जब तक साधक अचिन्त नहीं हो जाता है। सार्थक-चिन्तन तब तक होता रहता है, जब तक साधक अपने लक्ष्य से किसी प्रकार की दूरी अनुभव करता है। ज्यों-ज्यों दूरी मिटती जाती है, त्यों-त्यों चिन्तन अचिन्तता में बदलता जाता है। पूर्ण अचिन्तता आते ही प्रीति उदय होती है अैर वह स्वभावतः उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। उसके लिए कोई श्रम अपेक्षित नहीं है।

प्रीति उदय होने पर समस्त जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है और फिर किसी प्रकार का अवस्था-भेद होने पर भी रस में भेद नहीं रहता, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति का समान अर्थ हो जाता है, जिसके होते ही समस्त जीवन साधन बन जाता है।

समस्त जीवन साधन बनाने के लिए प्रत्युपकार की आशा के बिना दूसरों के अधिकार की रक्षा और तत्वजिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति करना परम अनिवार्य हो जाता है। यही मानव का परम पुरुषार्थ है।

॥ॐ॥

परिस्थितियाँ

(दिनांक 27 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार साधन करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि सुख-दुःख के आक्रमणों से अपने को उद्विग्न, अर्थात् क्षुब्ध न होने दें। कारण, कि क्षोभयुक्त दशा में किसी को भी अपने कर्तव्य का यथेष्ट ज्ञान सम्भव नहीं है।

अब विचार यह करना है कि हम सुख तथा दुःख के आक्रमणों सेक्षुब्ध क्यों होते हैं? तो, कहना होगा

कि अनुकूलता का लालच और प्रतिकूलता का भय ही हमें क्षुब्ध कर देता है, यद्यपि साधनयुक्त जीवन में किसी प्रकार का लालच तथा भय अपेक्षित नहीं है। कारण, कि लालच के रहते हुए कभी स्वाधीनता का दर्शन नहीं हो सकता तथा भय के रहते हुए कभी चिर-शान्ति नहीं मिल सकती।

यह सभी को मान्य होगा कि पराधीनता तथा अशान्ति किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से लालच तथा भय का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं हैं और न इनकी कोई आवश्यकता ही है; क्योंकि लालचमात्र करने से कोई अनुकूलता आ नहीं जाती और भयभीत होने से कोई प्रतिकूलता मिट नहीं जाती। लालच से तो केवल वस्तु, अवस्था परिस्थिति आदि की दासता ही उत्पन्न होती है, कुछ प्राप्त नहीं होता और भयभीत होने से प्राप्त शक्ति का ह्रास और अविवेक की दृढ़ता होती है, जो अवनति के हेतु हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि जब लालच और भय का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है, तो ये क्यों उत्पन्न होते हैं? तो कहना होगा कि अनुकूलता और प्रतिकूलता का सदुपयोग न करने से लालच तथा भय की उत्पत्ति होती है। वास्तव में अनुकूलता और प्रतिकूलता साधन-सामग्री हैं, और कुछ नहीं किन्तु हम प्रमादवश इन्हें ही जीवन मान लेते हैं। यदि ये जीवन होतीं, तो इनमें सतत् परिवर्तन नहीं होता। किन्तु कोई भी वस्तु, अवस्था या परिस्थिति ऐसी नहीं है, जो निरन्तर कालरूप अग्नि में न जल रही हो, अर्थात् उसका निरन्तर परिवर्तन न हो रहा हो।

परिस्थिति आदि के परिवर्तन का ज्ञान हममें नित्य-जीवन की जिज्ञासा जागृत करता है। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों का साधनयुक्त जीवन में कोई महत्व नहीं है। जब प्रत्येक परिस्थिति साधन-रूप है, तब वर्तमान परिस्थिति का उत्साहपूर्वक तथा आदरपूर्वक सदुपयोग न करना और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करना, कर्तव्य-विमुखता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उस न्याय का आदर करने में ही मानव का हित निहित है। यह नियम है कि न्याय का आदर करने से

निर्दोषता प्राप्त होती है। न्याय को दण्ड तथा दुर्भाग्य मान लेना प्रमाद है और इस मान्यता से कोई हित भी नहीं हो सकता; प्रत्युत, प्राप्त शक्ति का ह्रास ही होता है। न्याय को दुर्भाग्य मानने से आत्मग्लानि और दण्ड मानने से न्याय-कर्ता पर क्रोध उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार परिस्थिति आदि की अनुकूलता से मानव अपने को भाग्यशील और विधान को सुखदाता मान लेता है। यद्यपि प्राकृतिक विधान में प्राणी का वास्तविक हित निहित है और इस दृष्टि से विधान में सुख-दुःख दोनों समान हैं, तथापि सुख-भोग की आसक्ति के कारण प्राणी प्रमादवश अपने को सुख की दासता में आबद्ध करता है और दुःख से भयभीत होने लगता है। यह सभी को मान्य होगा कि ऐसा कोई सुख नहीं है, जिसका जन्म किसी दुःख से न हो और ऐसा भी कोई सुख नहीं है, जिसका दुःख में अन्त न हो। जैसे, भूख का दुःख ही भोजन का सुख और वियोग का दुःख ही संयोग का सुख प्रदान करता है। इसी प्रकार संयोग का सुख वियोग का दुःख और अनुकूलता का सुख प्रतिकूलता का दुःख प्रदान करता है। इतना ही नहीं, सुख से दुःख दबता है, मिटता नहीं और यह नियम है कि दबा हुआ दुःख बढ़ता है, घटता नहीं। इस दृष्टि से दुःख मिटाने के लिए सुख अपेक्षित नहीं है, दुःख बढ़ाने के लिए सुख भले ही अपेक्षित हो।

जो दुःख हमारे न चाहने पर भी आता है, उसकी हमसे सबलता स्वतः सिद्ध हो ही जाती है। इसलिए विचार यह करना चाहिए कि दुःख जिसकी प्रेरणा से आता है, क्या वह हमारा अहित-चिंतक है? कदापि नहीं। क्योंकि पूर्ण कभी अंश का विरोधी अथवा अहितकर हो ही नहीं सकता। अहितकर तो वही होता है, जो अपूर्ण हो।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि दुःख से प्राणी का क्या हित होता है? तो, कहना होगा कि दुःख ही सुख की वासना से मुक्त कर अनन्त-चिन्मय आनन्द से अभिन्न करने में समर्थ है। जिस प्रकार धन की आवश्यकता के अतिरिक्त निर्धनता और कुछ नहीं है, उसी प्रकार आनन्द की आवश्यकता के अतिरिक्त दुःख कुछ नहीं है। आवश्यकता उसे ही कहते हैं, जिसकी निवृत्ति न हो,

अर्थात् जो मिटाई न जा सके, अपितु उसकी पूर्ति अनिवार्य हो।

इस दृष्टि से दुःख सुख की अपेक्षा अधिक महत्व की वस्तु है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दुःख आने पर हम उसे जीवन मान लें। दुःख जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आया है, उसको दुःख के द्वारा प्राप्त करने के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। यह नियम है कि आवश्यकता जिसकी होती है, उससे अभिन्न होने पर वह सदा के लिए मिट जाती है। दुःख भी जिस अनन्त-चिन्मय आनन्द की आवश्यकता है, उससे अभिन्न कर बेचारा सदा के लिए मिट जाता है। इस प्रकार दुःख को महत्व देने का अर्थ यह नहीं है कि मानव दुःख को जीवन मानकर आनन्द से निराश हो जाय। दुःख का महत्व सुखलोलुपता का अन्त करने में हैं।

अनुकूलता तथा सुख का सदुपयोग उदारता तथा सेवा में निहित है और प्रतिकूलता, अर्थात् दुःख का सदुपयोग विरक्ति तथा त्याग में निहित है। उदारता तथा सेवा-भाव जागृत होने पर सुख-लोलुपता स्वतः मिट जाती है। कारण, कि उदारचरित प्राणी किसी दुखी के दुःख को सहन नहीं कर सकता। जिसका हृदय पराये दुःख से दुखी होने लगता है, वह प्राप्त सुख को दुखियों की भेंट कर देता है। ऐसा करते ही साधक सुख की दासता से मुक्त हो जाता है। जो सुख की दासता से मुक्त हो जाता है, वह किसी का बुरा नहीं चाहता। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसका हृदय दुखियों को देखकर करुणा से भर जाता है। करुण-रस सुख भोग के रस को उत्पन्न ही नही होने देता अर्थात् उससे सुख की आसक्ति सदा के लिए मिट जाती है। इसी प्रकार जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसका हृदय सुखियों को देखकर प्रसन्नता से भर जाता है। जिस हृदय में स्थायी प्रसन्नता निवास करती है, उस हृदय में किसी प्रकार की चाह उत्पन्न नहीं होती। कारण, कि चाह की उत्पत्ति खिन्नता में ही होती है। अचाह-पद प्राप्त होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर प्राणी सुख-दुःख के आक्रमणों से क्षुब्ध नहीं होता, अर्थात् उसका जीवन स्थायी प्रसन्नता तथा चिर-शान्ति से भर जाता है।

विरक्ति तथा त्याग आ जाने पर प्रतिकूलता स्वतः अनुकूलता में बदल जाती है। कारण, कि इन्द्रियादि

विषयों से अरुचि ही विरक्ति है और 'अहम्' तथा 'मम्' का त्याग ही त्याग है। इन्द्रियादि विषयों से अरुचि होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती है और फिर मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। मन के विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। उसके सम होते ही अलौकिक विचार स्वतः उदय होता है। अलौकिक विचार अविचार को खाकर अमर जीवन से अभिन्नता प्रदान करता है। अतः दुःख के सदुपयोग से भी प्राणी चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है।

इस दृष्टि से सुख-दुःख दोनों का समान अर्थ हो जाता है। मानव-जीवन सुख-दुःख भोगने के लिए नहीं मिला, अपितु सुख-दुःख का सदुपयोग करने को मिला है। सुख-दुःख का सदुपयोग ही साधन तत्व है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब साधक सुख-दुःखों के आक्रमणों से क्षुब्ध न हो। सुख-दुःख के आक्रमणों से हम क्षुब्ध कब होते हैं? जब सुख-दुःख को जीवन मान लेते हैं। सुख-दुःख को जीवन कब मानते हैं? जब अपने को शरीर से अभेद कर लेते हैं। अपने को शरीर से अभेद कब करने है? जब निज-ज्ञान का अनादर करते हैं।

इस दृष्टि से निज-ज्ञान का अनादर ही सुख-दुःखों के आक्रमणों से भयभीत करने का हेतु हुआ। जो निज-ज्ञान का अनादर नहीं करते हैं, वे किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार नहीं मानते हैं। वे न किसी की उदारता को अपना गुण और न किसी की निर्बलता को अपना बल मानते हैं, अपितु दूसरों के अधिकार को अपना कर्तव्य अवश्य मानते है। जो किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार नहीं मानते, वे कभी क्षुब्ध नहीं होते। जो अपने कर्तव्य से दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हैं, वे कभी पराधीन नहीं होते। जो दूसरे की उदारता को अपना गुण नहीं मानते, वे हृदयहीन नहीं होते अर्थात् उदार बने रहते हैं। और जो किसी की निर्बलता को अपना बल नहीं मानते, वे अभिमान-रहित हो जाते हैं।

उदारता तथा निरभिमानता आने पर भी उद्विग्नता उत्पन्न नहीं होती। अतः उद्विग्नता से बचने के हेतु हमारे लिए कर्तव्य-परायणता, उदारता तथा निरभिमानता को अपना लेना अनिवार्य होगा।

उद्विग्नता मिटाने के लिए सरल होने की अत्यन्त आवश्यकता है। कारण, कि सरलता के बिना मन में उत्पन्न हुए क्षोभ को प्राणी प्रकट नहीं कर पाते। यह नियम है कि दबा हुआ दोष उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। दोषों को शीघ्रातिशीघ्र प्रकट कर देना चाहिये, जिससे वे बड़ी ही सुगमता से निकल जाते हैं। इस दृष्टि से क्षुब्धता को मन में छिपाकर नहीं रखना चाहिए। छिपी हुई क्षुब्धता क्रोधी बना देती है। क्रोधयुक्त जीवन बिना ही अग्नि के प्राणी को भस्म कर देता है। उससे मुक्त होने के लिए उद्वेग से रहित होना परम अनिवार्य है।

यदि आई हुई प्रतिकूलताओं को बिना उद्वेग शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाय, तो कालान्तर में प्रतिकूलताएँ अनुकूलताओं में स्वतः बदल जाती हैं। कारण, कि क्षोभरहित होते ही आवश्यक शक्ति का विकास और दिव्यगुण स्वतः उत्पन्न होते हैं। पर, यह तभी सम्भव होगा, जब साधक प्रतिकूलताओं का अनुकूलताओं के समान आदर करें, उनसे भयभीत न हो जाय। प्रतिकूलताओं का भय प्रतिकूलताओं से भी अधिक भयंकर तथा दुखद है। प्रतिकूलता तो साधक के जीवन में अनुकूलता की दासता मिटाने और तप कराने के लिए आई है और अनुकूलता साधक को उदार बनाने के लिए आई है। ये दोनों दाएँ-बाएँ पैर के समान हैं।

अतः अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। ऐसा जानकर साधक को सर्वदा प्रत्येक परिस्थिति में शान्त तथा क्षोभ-रहित रहना चाहिए। तभी साधन का निर्माण सुगमतापूर्वक हो सकता है।

सच्चा आस्तिक प्रत्येक परिस्थिति में अपने परम प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा का ही अनुभव करता है। यह अनुकूलता में दया और प्रतिकूलता में विशेष कृपा का दर्शन करता है। दया का दर्शन करने से विश्वास में दृढ़ता आती है, और विशेष कृपा का अनुभव करने से प्रेम की जागृत्ति होती है। जब आस्तिक के मन की बात पूरी होती है, तब उसे उसमें अपने प्रभु की दया का दर्शन होता है और जब उसके मन की बात पूरी नहीं होती, तब प्रभु की विशेष कृपा दर्शन होता है। कारण, कि आस्तिक यह भली-भाँति जानता है कि जो बात

मेरे मन की नहीं है, वह मेरे प्यारे के मन की है।

यह नियम है कि जिसके मन की बात पूरी होती है, वह उससे प्रेम करने लगता है जिसने उसके मन की बात पूरी की। अतः आस्तिक को अपनी बात पूरी न होने में विशेष कृपा का अनुभव इस कारण होताहै कि अब मेरे प्यारे ने अपने मन की बात की है, अतः वे मुझसे अवश्य प्रेम करेंगे। प्रेमास्पद का प्रेम ही तो प्रेमी का सर्वस्व है। इस दृष्टि से आस्तिक किसी भी अवस्था में क्षुब्ध नहीं होता।

अध्यात्मवादी की दृष्टि में प्रत्येक परिस्थिति उसी की एक अवस्था है अथवा मायामात्र मिथ्या है। अतः अध्यात्मवादी भी प्रत्येक अवस्था में शान्त रहता है। भौतिकवाद की दृष्टि से भी क्षुब्ध न होना अत्यन्त आवश्यक है। कारण, कि क्षुब्ध न होने से ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधनयुक्त जीवन में क्षुब्ध होने के लिए कोई स्थान ही नहीं हैं।

॥हरिः ॐ॥

भाव – शुद्धि

(दिनांक 28 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

हमारे दैनिक जीवन में भाव-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि उसके बिना कर्म-शुद्धि नहीं हो सकती। कर्म-शुद्धि के बिना जीवन में सच्चरित्रता नहीं आ सकती। तथा सच्चरित्रता के बिना सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव नहीं है और न अपना कल्याण ही हो सकता है। यह नियम है कि प्रत्येक कर्म का जन्म कर्ता के अनुरूप ही होता है और अन्त में कर्म कर्ता को ही पुष्ट करता है। जैसे, अपने को सत्यवादी मान लेने पर ही सत्य बोलने की प्रवृत्ति होती है और सत्य बोलने की प्रवृत्ति से 'मैं' सत्यवादी हूं'-इस भाव की दृढ़ता हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा हम अपने को मान लेते हैं, वैसे ही हमसे कर्म होते हैं और कर्म के अन्त में हम वैसे ही बन जाते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि जब हम अपने में अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ देखते हैं, तो उनके होते

हुए अपने को शुद्ध कैसे मान लें? तो, कहना होगा कि ऐसा कोई व्यक्ति हो नहीं सकता, जो सर्वांश में बुरा हो, जो सर्वदा बुराई ही करता रहता हो। दोष की प्रवृत्ति के पूर्व सभी निर्दोष हैं और दोष की निवृत्ति होने पर सभी निर्दोष हैं। परन्तु, सबसे बड़ी असावधानी यह होती है कि दोष-काल में दोष को देखते नहीं, दोष के अन्त में अपने को दोषी मानते हैं। यदि पुनः दोष को न दोहराया जाय, तो की हुई दुष्कृति अपना फल देकर स्वतः मिट जाती है। किन्तु जब प्राणी अपने को दोषी मान लेता है, तो पुनः दुष्कृति होने लगती है और बार-बार दोषों के दोहराने से अपने को दोषी-भाव में आबद्ध कर लेता है। परन्तु फिर भी निर्दोष होने की लालसा मिटती नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी की निर्दोषता से जातीय एकता है और दोषों से मानी हुई एकता है।

साधनयुक्त जीवन होने से मानी हुई एकता की निवृत्ति और जातीय एकता की प्राप्ति अवश्य हो सकती है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब हम जाने हुए दोषों को त्याग, निर्दोषता की स्थापना कर, अचिन्त हो जायँ, अर्थात् पुनः दोषों का चिन्तन न करें। सर्वांश में दोषों का चिन्तन मिट जाने पर दोषों की उत्पत्ति सम्भव नहीं हैं। पर, यह वे ही साधक कर सकेंगे, जो दोषों को दोहराते नहीं हैं।

अब यदि कोई कहे कि जीवन में दोषों की उत्पत्ति होती ही क्यों है? तो कहना होगा कि निज-विवेक के अनादर से ही दोषों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् जैसा हम जानते हैं, वैसा नहीं मानते और यदि मान भी लेते हैं, तो उसके अनुसार जीवन नहीं बनाते। इसी प्रमाद से दोष उत्पन्न होते हैं।

दोष उसे नहीं कहते, जिसे दोषी स्वयं नहीं जानता। दोष और निर्दोषता का विवेचन निज-ज्ञान के प्रकाश में ही सम्भव है। किसी मान्यता तथा प्रथा के आधार पर निर्दोषता तथा दोष का निर्णय करना वास्तविक निर्णय नहीं है। यह नियम है कि जिस ज्ञान में दोष को 'दोष' जान लेने की सामर्थ्य है, उसी ज्ञान में दोष को मिटाने का उपाय भी विद्यमान है।

अतः निज-ज्ञान के प्रकाश में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को सर्वदा सावधान रहना चाहिए। ऐसा करने से इन्द्रियों में जितेन्द्रियता, मन में शुद्ध

संकल्प तथा निर्विकल्पता एवं बुद्धि में समता स्वतः आ जायगी और फिर जीवन शुद्धता से परिपूर्ण हो जाएगा।

जो मान्यता निज-ज्ञान के विरुद्ध होती हे, वह साधक को अशुद्धता की ओर ले जाती है और जो मान्यता निज-ज्ञान के अनुरूप होती है, वह शुद्धता की ओर ले जाती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि निज-ज्ञान के प्रकाश में ही शुद्धता निवास करती है और यही मानव-जीवन है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ किस-किस भाव से हों, जो हमें शुद्ध बनाने में समर्थ हों? सर्वात्मभाव, अर्थात प्राणी-मात्र में अपने समान प्रीति हो। जिस प्रकार शरीर का प्रत्येक अवयव समान प्रिय होता है। यद्यपि प्रत्येक अवयव की आकृति तथा कर्म में भेद है, किन्तु समस्त शरीर के प्रति आत्मीयता समान होती है।

इस कारण सभी में प्रियता होती है। उसी प्रकार सर्वात्मभाव दृढ़ होने पर प्राणीमात्र से समान प्रीति होती है, जिसके होते ही स्वार्थ भाव मिट जाता है। स्वार्थभाव मिटते ही निर्वासना आ जाती है और फिर जीवन निर्वैरता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। इतना ही नहीं, शरीर आदि वस्तुओं से अतीत नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

सर्वत्र भगवत्भाव आ जाने पर सभी में अपने परम प्रेमास्पद का ही दर्शन होने लगता है और फिर प्रत्येक कार्य प्रेमास्पद की पूजा बन जाता है। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सभी दोष तथा निर्बलताएँ मिटती जाती हैं और फिर समस्त जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रीति ही बन जाता है, जिससे प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ नहीं रहता, अर्थात् प्रीति और प्रीतम का नितनव मिलन रहता है, जो अगाध-अनन्त रस से अभिन्न करने में समर्थ है। सभी अशुद्धियों का मूल स्वार्थभाव है, जो सेवाभाव आने पर ही मिट सकता है।

सेवाभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जताहै, त्यों-त्यों हृदय विश्व-प्रेम, सर्वात्मभाव एवं भगवद्भाव से पूरिपूर्ण होता जाता है। अतः सेवाभाव स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। उसके

बिना जीवन में शुद्धता आना सम्भव नहीं है।

देहाभिमान गल जाने पर भी दोषों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, अर्थात् साधक निज-ज्ञान के प्रकाश में यह अनुभव कर लेता है कि 'देह मैं नहीं हूँ' अथवा 'देह मेरी नहीं है'। उसका 'अहं' और 'मम्' मिट जाता है। 'अहं' के मिटते ही अनन्त नित्य जीवन और 'मम्' के मिटते ही प्रभु-प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है और फिर कुछ करना पाना शेष नहीं रहता।

परन्तु, जब तक देहाभिमान नहीं गलता, तब तक अपने को सदाचारी बनाने के लिए 'मैं सदाचारी हूँ' तथा क्रोध रहित होने के लिए 'मैं क्षमाशील हूँ' एवं झूठ न बोलने के लिए 'मैं सत्यवादी हूँ' इत्यादि शुद्ध मान्यताओं से 'अहं' को परिपूर्ण करना अनिवार्य है, क्योंकि मान्यता दृढ़ होने पर उसके अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है।

यह नियम कि मान्यता के अनुरूप प्रवृत्ति होने पर मान्यता सिद्ध हो जाती है। अब यदि कोई कहे कि दोषयुक्त प्रवृत्ति होते हुए हम अपने में निर्दोषता स्थापित कैसे कर लें? तो कहना होगा कि निर्दोषता की स्थापना करने पर ही निर्दोष प्रवृत्ति होगी। यह नियम है कि पवित्रता स्वीकार करने पर ही पवित्र प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कर्ता के अनुरूप कर्म होता है। अतः कर्ता पहिले पवित्र होगा और पवित्र प्रवृत्ति उसके पश्चात् स्वतः होगी।

अब यदि कोई यह कहे कि अपने को सत्यवादी, सदाचारी, क्षमाशील आदि मान लेने पर अभिमान की वृद्धि होगी। तो कहना होगा कि असत्यवादी, दुराचारी, क्रोधी आदि के अभिमान से तो सत्यवादी, सदाचारी, क्षमाशील आदि का अभिमान श्रेष्ठ तथा हितकर है। कारण, कि अशुद्ध अभिमान से अशुद्ध प्रवृत्ति और शुद्ध अभिमान से शुद्ध प्रवृत्ति होगी। यद्यपि निरभिमानता बड़े ही महत्व की वस्तु है, परन्तु अशुद्ध अभिमान के रहते हुए निरभिमानता नहीं आती। जिस काल में शुद्ध अभिमान अशुद्ध अभिमान को खा लेता है, उसी काल में दोषयुक्त प्रवृत्ति का अन्तः हो जाता है।

यह नियम है कि दोषयुक्त प्रवृत्ति का अन्त होते ही निर्दोषता स्वतः आ जाती है। निर्दोषता जा जाने

पर दोष उत्पन्न नहीं होते और गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता। जब दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं होता, तब निरभिमानता स्वतः आती है। इस दृष्टि से अशुद्धि मिटाने के लिये शुद्ध मान्यताओं को अपना लेना अत्यन्त अनिवार्य है।

शुद्धि-अशुद्धि का द्वन्द्व रहते हुए ही माना हुआ 'अहंभाव' जीवित रहता है। जिस काल में शुद्धता अशुद्धता को खा लेती है, उसी काल में द्वन्द्व मिट जाता है। द्वन्द्व के मिटते ही माना हुआ 'अहं-भाव' अपने आप मिट जाता है और फिर जीवन नित्य-योग तथा बोध एवं प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है।

वर्तमान द्वन्द्वात्मक सीमित अहं-भाव गुण-दोष का समूह है, और कुछ नहीं। दोष अविवेक का कार्य है। जब निज-विवेक अविवेक को खा लेता है, तब सभी दोष मिट जाते हैं। दोष मिटते ही गुण विभु हो जाते हैं। कारण, कि गुण स्वाभाविक हैं। वे किसी व्यक्ति विशेष की उपज नहीं हैं, किन्तु व्यक्तियों की खोज है। खोज से उसी की प्राप्ति होती है, जिसका अस्तित्व खोजकर्ता से पूर्व है।

इस दृष्टि से सभी दिव्य गुण उस अनन्त की महिमा-मात्र है। जब प्राणी अविवेक के कारण अनन्त से विमुख होकर अन्त होने वाली देह से सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब दोषों की उत्पत्ति होती है और देह से विमुख होते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं।

यह आज तक कभी किसी को पता नहीं चला कि इस देह से सम्बन्ध कब जोड़ा था, क्यों जोड़ा था और अनन्त से क्यों विमुख हुए थे और कब विमुख हुए थे? परन्तु, तीनों देहों से विमुख होने पर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है, इस कारण यह मानना पड़ता है कि अनन्त से विमुख हुए थे।

अतः सभी दोषों का मूल अनन्त से विमुखता है। इस मूल दोष के मिटते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। उसके मिटाने के लिए चाहे तो 'देह मैं नहीं हूँ'-इस विवेक को अपनायें, अथवा 'मैं उस अनन्त नित्य का हूँ'- इस विश्वास को अपनायें। अर्थात्, चाहे तो सर्व-समर्थ प्रभु का होकर रहें, अथवा अपने को तीनों देहों से अतीत अनुभव करें।

इन दोनों में-से जो साधना जिसको सुगम हो, वह उसे अपना ले।

जब साधक अपनी स्वीकार की हुई साधना से अभिन्न हो जाता है, तब बहुत ही सुगमतापूर्वक अपने साध्य को प्राप्त कर लेता है। यह निर्विवाद सत्य है।

अतः अपनी-अपनी रुचि, योग्यता तथा विश्वास के अनुसार अपने में सेवक-भाव की स्थापना कर सेवा द्वारा सभी दोषों को मिटा दे, अथवा सर्वात्म-भाव स्वीकार कर सभी दोषों को मिटा दे, अथवा सर्व-समर्थ प्रभु से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर सभी दोषों को मिटा दे और निर्दोष होकर अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण कर कृतकृत्य हो जाए।

॥ॐ॥

अचाह होने का महत्व

(दिनांक 29 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरुप उपस्थित महानुभाव!

विवेकयुक्त जीवन मानव-जीवन है। उसमें चाह तथा व्यर्थ-चिन्तन के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि इन दोनों बातों से न तो अपना कल्याण होता है और न सुन्दर समाज का निर्माण ही। प्रत्येक चाह की उत्पति अविवेक सिद्ध है, अर्थात् निज-ज्ञान के अनादर से होती है। जब तक प्राणी 'यह' को 'मै' स्वीकार नहीं करता, तब तक किसी भी चाह की उत्पति नहीं होती। 'यह' को 'मैं' स्वीकार करना प्राप्त विवेक के अनादर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विवेकयुक्त जीवन में चाह तथा व्यर्थ-चिन्तन का कोई स्थान ही नहीं है।

व्यक्ति, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा सुख लेने की रुचि का ही दूसरा नाम चाह है। तत्व-जिज्ञासा को चाह नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी पूर्ति किसी वस्तु आदि के द्वारा सम्भव नहीं है और प्रेम को भी चाह नहीं कह सकते, क्योंकि प्रेम का उदय ही तब होता है, जब अचाहपद प्राप्त हो जाय। कारण, कि जो कुछ भी चाहता है, वह प्रेम नहीं कर सकता। योग को भी चाह नहीं कह सकते, क्योंकि सब प्रकार की चाह तथा चिन्तन से रहित होने पर ही नित्य-योग सम्भव है।

चाह-रहित होने से शारीरिक तथा सामाजिक सभी समस्याएं हल हो सकती है। निःसन्देह चाह-रहित होने से तो मानव-जीवन की सभी समस्याएँ हल हो सकती है। शारीरिक तथा सामाजिक ऐसी कोई समस्या हो ही नहीं सकती, जो वर्तमान परिस्थिति को सदुपयोग से हल न हो सके। परिस्थिति का सदुपयोग चाह नहीं है, अपितु कर्तव्य-परायणता है।

चाह तो प्राणी को केवल आगे-पीछे के चिन्तन में आबद्ध करती है, किसी समस्या को हल नहीं करती। परिस्थिति का सदुपयोग प्राप्त बल तथा विवेक के द्वारा होता है। यह नियम है कि जो बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं करते, उनकी सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं।

आज जो सामाजिक समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित है, उनके मूल में यही प्रमाद है कि हम बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर करते हुए समस्या हल करने का स्वप्न देखते हैं, जो कभी सम्भव नहीं है। ऐसी कोई निर्बलता नहीं है, जो बल का दुरुपयोग करने से नहीं हुई हो और ऐसा कोई अज्ञान नहीं है, जिसका जन्म निज-ज्ञान के अनादर से न हुआ हो।

यह सभी को मान्य होगा कि निर्बलता तथा अज्ञान के कारण ही समस्याएँ हल नहीं हो पाती हैं। जो वस्तु कर्म से प्राप्त होती है, वह केवल चाह तथा चिन्तनमात्र से प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिए तो उद्योगशील होना होगा। प्रत्येक कर्म की सिद्धि प्राप्त परिस्थिति से होती है, न कि अप्राप्त की चाह से।

अप्राप्त की चाह तो प्राणी को स्वार्थभाव तथा जड़ता में ही आबद्ध करती है। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों हम स्वार्थभाव तथा जड़ता में आबद्ध होते हैं, त्यों-त्यों हम सीमित होकर विनाश की ओर गतिशील होते जाते हैं। यह नियम किसी की कल्पना नहीं है, प्रत्युत प्रकृति का विधान है। मानव की तो केवल खोज-मात्र है। जैसे, अमर बेल जिस वृक्ष पर पड़ जाती है, अपने को पुष्ट बनाने के लिए उसकी खुराक स्वयं खाने लगती है। यहाँ तक कि वह वृक्ष सूख जाता है।

उसका परिणाम यह होता है कि अंत में अमरबेल स्वयं सूर्य के ताप से सूख जाती है, वायु के झकोरों

से उसी वृक्ष की जड़ में गिर जाती है, तथा बरसात के पानी से सड़कर उस वृक्ष की खाद बन जाती है, इससे वह वृक्ष पूर्ववत् हरा-भरा हो जाता है और अमरबेल सदा के लिए मिट जाती है।

यही दशा स्वार्थभाव तथा जड़ता में आबद्ध प्राणियों की प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः हो जाती है। इसके विपरीत पीपल का वृक्ष अपनी छाया में बोये हुए पौधों का पोषण करता है। उसका परिणाम यह होता है कि पीपल का वृक्ष दूसरे पेड़ों पर उग आता है और हरा-भरा बना रहता है। यही दशा स्वार्थभाव से रहित चेतन की ओर गतिशील प्राणियों की होती है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने तथा समाज के लिए यह अनिवार्य है कि स्वार्थभाव को सेवा-भाव में परिणत कर दिया जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी अचाहपद को प्राप्त कर प्राप्त बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने में समर्थ हो।

अब यदि कोई यह कहे कि अचाह हम क्यों नहीं हो पाते? तो कहना होगा कि आज हमें यह विश्वास नहीं रहा कि वस्तु, अवस्था तथा परिस्थितियों से अतीत भी कोई जीवन है। इस प्रमाद का एकमात्र कारण निज-ज्ञान का अनादर है। क्योंकि सतत् परिवर्तनशील, पर-प्रकाश्य वस्तु आदि का ज्ञान तो है, उस ज्ञान में प्रीति तथा उससे अभिन्नता हो जाने पर हमें उस जीवन का अनुभव हो सकता है, जो सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम प्राप्त विवेक का आदर करने लगे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस जीवन को प्राप्त कर सकते है, जो सभी वस्तुओं से अतीत है।

शरीर आदि वस्तुओं से अतीत जीवन प्राप्त करने के लिए हमें प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा करना अनिवार्य होगा, अर्थात् अपने कर्तव्य से दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग करना होगा। ऐसा करते ही शरीरादि वस्तुओं की आसक्ति भी मिट जायगी और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जायेगा।

आसक्ति मिटने से स्वार्थभाव मिट जायगा और सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से निर्वासना आ

जायगी। स्वार्थभाव मिटते ही सेवा-भाव की जागृति और निर्वासना आते ही अमर जीवन की प्राप्ति स्वतः हो जायगी। सेवाभाव की जागृति साधक को अकाम बना देती है और अमर जीवन की प्राप्ति उसको आप्तकाम बना देती है। फिर उसे कुछ करना तथा पाना शेष नहीं रहता अथवा यों कहो कि जीने को आशा तथा मृत्यु का भय शेष नहीं रहता।

अचाह होने से ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति उदय होती है, जो सुन्दर समाज का निर्माण करने में समर्थ है और अचाह होने से ही तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति होती है। कारण, कि चाह रहित होते ही जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता है, उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है और फिर अमर जीवन प्राप्त होता है।

अचाह होने से ही प्रीति उदय होती है, जो प्रेमास्पद को प्रेमी बनाने में समर्थ है। कारण, कि जो साधक भोग तथा मोक्ष नहीं चाहता, उसी को प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम प्राप्त होने पर प्रेमास्पद प्रेमी हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद में केवल प्रेम का ही आदान-प्रदान होता है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रेम के बिना रस की वृद्धि नहीं होती, तत्व-साक्षात्कार के बिना अमरत्व प्राप्त नहीं होता और सर्वहितकारी प्रवृत्ति के बिना सुन्दर समाज का निर्माण तथा विश्व-शान्ति नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि चाह-रहित होने में ही मानव-जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है, जिसके करने में प्रत्येक भाई-बहिन सर्वदा स्वाधीन है, क्योंकि विवेकयुक्त जीवन ही मानव जीवन है।

॥ॐ॥

कर्तव्य-पालन में स्वतन्त्रता

(दिनांक 30 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरुप उपस्थित महानुभाव!

कर्तव्यनिष्ठ जीवन ही मानव-जीवन है। अतः कर्तव्यपालन में प्रत्येक भाई-बहिन प्रत्येक अवस्था

तथा परिस्थिति में सर्वदा स्वाधीन है। कारण, कि कर्तव्य उसे नहीं कह सकते, जिसके करने में साधक असमर्थ हो। क्योंकि किसी को वह नहीं करना है, जिसे वह नहीं कर सकता। जैसे, नेत्र को सही देखना है, सुनना नहीं और श्रवण को ठीक सुनना है, देखना नहीं, इत्यादि। अर्थात् जिसका जो कर्तव्य है, उसे वही करना है और उसके करने से ही कर्ता अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि कर्तव्यपालन का प्रश्न ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिए होता है। जो हमें हमारे लक्ष्य तक न पहुँचा सके, वह हमारा कर्तव्य नहीं हो सकता।

कर्तव्य का निर्णय सत्संग के द्वारा ही सम्भव है और किसी प्रकार नहीं। वह सत्संग चार भागों में विभाजित है-

(१) निज-विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् का त्याग-सत् में प्रतिष्ठित होना ही सर्वोत्कृष्ट सत्संग है। यह नियम है कि असत् का त्याग करते ही सत् का संग स्वतः हो जाता है। असत् को असत् जान लेने पर असत् के त्याग का बल आ जाता है।

(२) सत्पुरुषों के प्रकाश में बैठकर अपने असत् को असत् जानकर उसका त्याग कर सत् का संग प्राप्त करना चाहिए। यदि कोई कहे कि सत्पुरुष कौन है? तो कहना होगा कि जिनमें अपनी बुद्धि से किसी दोष का दर्शन न हो और स्वाभाविक श्रद्धा जागृत हो, अपने लिए वही सत्पुरुष है।

(३) सद्ग्रन्थों के प्रकाश में अपने असत् को देखना और उसका त्याग करना भी सत्संग है।

(४) परस्पर स्नेह तथा सद्भावना के साथ विचार-विनिमय द्वारा अपने असत् को जानना और उसका त्याग कर सत् में परायण होना भी सत्संग है।

कर्तव्य का निर्णय होने पर अपने कर्तव्य के प्रति निःसन्देहता, विश्वास तथा प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है। यह नियम है कि जिस कर्तव्य में निःसन्देहता, विश्वास तथा प्रियता हो जाती है, वह स्वतः होने लगता है, अर्थात् उसके पालन करने में न तो कठिनाई होती है और न अरुचि। यदि अरुचि तथा असमर्थता प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि हम अपनी योग्यतानुसार कर्तव्य का निर्णय नहीं

कर पाये है, अर्थात् कर्तव्य के निर्णय में कोई दोष है।

कर्तव्य-परायण न होने में अपने से भिन्न किसी अन्य को दोषी मान लेना तथा बाधक समझना अपना ही प्रमाद है। इतना ही नहीं, प्राप्त परिस्थिति को कर्तव्य-पालन न करने में हेतु मान लेना भी अपनी ही असावधानी है। कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति में साधक कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। परिस्थिति-भेद से कर्तव्य में भेद हो सकता है। किन्तु हम कर्तव्यपरायण नहीं हो सकते- यह मानना भूल ही है, वास्तविकता नहीं।

समस्त कर्तव्य तीन भागों में विभाजित हो सकते हैं-

(१) समाज के अधिकार की रक्षा, (२) तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति और (३) परम प्रेम की प्राप्ति। समाज के अधिकारों की रक्षा करने से साधक समाज के ऋण से मुक्त हो जाता है और सुन्दर समाज का निमार्ण भी हो जाता है। तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति से भोग-इच्छाओं की निवृत्ति भी होती है और अमरत्व की प्राप्ति भी हो जाती है। अथवा यों कहो कि वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त होती है, जो मानवमात्र को प्रिय है। परम प्रेम की प्राप्ति से नित-नव रस तथा दिव्य-चिन्मय आनन्द से अभिन्नता हो जाती है, जो सभी को अभीष्ट है।

कर्तव्य-परायणता का परिणाम सुख-दुख के भोग में नहीं है, अपितु सुख-दुःख के बन्धन से रहित होकर अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में है, क्योंकि सुख-दुःख का भोग तो पशु-पक्षी आदि अन्य योनियों में भी सम्भव है। मानव-जीवन में तो प्राप्त सुख-दुःख का सदुपयोग करना है, भोग नहीं। यह नियम है कि सुख-दुःख का सदुपयोग करने पर सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है। सुख-दुःख का सदुपयोग उदारता तथा त्याग में निहित है।

कर्तव्यनिष्ठ होने पर जीवन तथा मृत्यु दोनों ही सरस हो जाते है और कर्तव्यच्युत होने पर जीवन नीरस तथा मृत्यु दुःखद एवं भयंकर होती है। कर्तव्यनिष्ठ प्राणी का जीवन इसलिए सरस हो जाता है कि वह त्याग और प्रेम से परिपूर्ण रहता है और निर्मोहता के कारण उसकी मृत्यु सरस हो जाती है। कर्तव्य-च्युत होने से राग-द्वेष के कारण जीवन नीरस हो

जाता है और मोह में आबद्ध होने से मृत्यु भयंकर तथा दुःखद होती है।

विवेकयुक्त जीवन ही कर्तव्यनिष्ठ जीवन है। कारण, कि विवेक का प्रकाश हमें कर्तव्य जानने के लिए ही मिला है। जब हम जानते हैं कि हमारे प्रति कोई बुराई न करे, तो फिर क्या हमें किसी के प्रति बुराई करनी चाहिए। किसी का अनादर करना चाहिए? कदापि नहीं। जो हम अपने प्रति नहीं करना चाहते, उसे दूसरों के प्रति करने की सोचते हैं, यही प्राप्त विवेक का अनादर है, जो वास्तव में अमानवता है। इससे ही हमारा ह्रास तथा अवनति होती है, अथवा यों कहो कि हम अपने लक्ष्य से विमुख हो जाते है। इतना ही नहीं, जो कुछ हम दूसरों के प्रति करते है, वह कई गुणा अधिक होकर हमें ही प्राप्त होता है। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार यदि हम किसी के प्रति बुराई करेंगे, तो हमारा ही बुरा होगा। इस दृष्टि से मानव-जीवन में किसी के प्रति किसी प्रकार की बुराई करने का अधिकार ही नहीं है और दूसरों के प्रति भलाई करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि दूसरों के प्रति की हुई भलाई से ही अपना भला होगा, जो सभी को अभीष्ट है।

कर्तव्यपरायणता हमें अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति और आवश्यक संकल्पों की पूर्ति की प्रेरणा देती है। अब विचार यह करना है कि आवश्यक संकल्प क्या है और अनावश्यक संकल्प क्या है? आवश्यक संकल्प वही है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके करने के साधन प्राप्त हों, जिसके बिना किये किसी भी प्रकार न रह सकते हों एवं जिससे किसी का अहित न हो। इसके विपरीत जो संकल्प है, वह अनावश्यक संकल्प है। यह नियम है कि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति होने पर निर्विकल्पता आ जाती है, जिसके आते ही भोग योग में बदल जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि भोग से शक्ति का ह्रास तथा जड़ता एवं परतन्त्रता ही प्राप्त होती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। योग से शक्ति संचय, स्वाधीनता तथा चेतना प्राप्त होती है, जो सभी को अभीष्ट है। अथवा यों कहो कि योग से आवश्यक शक्ति का विकास होता है, जो कर्तव्यपालन तथा लक्ष्य की प्राप्ति

कराने में समर्थ है। इतना ही नहीं, योग प्राणी को अस्वाभाविकता से स्वाभाविकता की ओर ले जाता है, अर्थात् असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर और अन्धकार से प्रकाश की ओर गति-शील करता है, जिससे प्राणी इच्छाओं की निवृत्ति तथा आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ हो जाता है, जो मानव जीवन का लक्ष्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, अथवा यों कहो कि साधन-सामग्री है। इस दृष्टि से कर्तव्यपरायणता हमें प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का पाठ पढ़ाती है और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग सिखाती है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग तथा अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग होते ही सभी परिस्थितियों से अतीत अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। अतः प्रत्येक भाई-बहिन को प्रत्येक परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग कर अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाना चाहिए।

॥हरिः ॐ॥

पर-दोष-दर्शन

(दिनांक 31 अगस्त 1954)

मेरे निजस्वरुप उपस्थित महानुभाव!

अपने बनाये हुए दोषों का अन्त करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है और यही साधक का परम पुरुषार्थ है। कारण, कि जानने के अनुसार मानने से और मान्यता के अनुरुप करने से अपने बनाये हुए सभी दोष मिट जाते हैं और उनके मिटते ही स्वतः निर्दोषता प्राप्त होती है, जो वास्तविक मानव-जीवन है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम प्राप्त अलौकिक विवेक को ही अपना गुरु, अपना नेता तथा अपना शासक बनायें। अर्थात् निज-ज्ञान का उपयोग किसी और पर न करके अपने ही ऊपर करें। जो विवेक हमें अपने दोष देखने के लिए मिला है, उसे पर-दोष-दर्शन में न लगायें। जो बुद्धि हमें अपने को समझाने के लिए मिली है, उससे अपने को ही समझायें, तभी

हम अपने नेता एवं अपने शासक बन सकेंगे।

अब विचार यह करना है कि पर-दोष-दर्शन से अपनी क्या हानि तथा अहित होता है? तो कहना होगा कि पर-दोष-दर्शन तो दोष करने की अपेक्षा कहीं अधिक दोष है। कारण, कि दोषयुक्त प्रवृत्ति करने पर तो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती है, अर्थात् अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं। किन्तु, पर-दोष-दर्शन में कोई कठिनाई नहीं आती और न कोई भय उत्पन्न होता है, अपितु मिथ्या अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जो सभी दोषों का मूल है।

यह सम्भव है कि किये हुए दोष का प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना आदि उपचारों से निराकरण करके साधक निर्दोष हो सके; पर, पर-दोष-दर्शन रूपी दोष का निराकरण तो उस समय तक सम्भव नहीं है, जब तक कि सदा के लिए पर-दोष-दर्शन का त्याग न कर दिया जाय और जिसको दोषी मान लिया था, उससे अपने को क्षमा न करा लिया जाय और जिसको बुरा समझा है, उसको प्रेम न किया जाय। अर्थात्, जिसके दोषों का दर्शन किया है, उससे क्षमा माँगना तथा उससे प्रेम करना अनिवार्य है। क्षमा माँगने का अर्थ है कि जिस भूल के लिए क्षमा याचना की है, उस भूल को फिर न दोहराया जाय और प्रेम करने का अर्थ है कि जिससे प्रेम किया है, उसके हित के लिए अपना सर्वस्व लगा दिया जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसमें सचमुच दोष है, उसके दोष क्यों न देखें? तो, कहना होगा कि जिनके आप दोष देखते हैं, क्या उनके किये हुए दोष का फल स्वयं भोगने को राजी है? क्या कोई पर-दोष-दर्शी दूसरों के किये हुए दोष को अपने द्वारा मिटा सकता है ? यदि वे दोनों बातें वह नहीं कर सकता, तो उसे किसी के दोष देखने का क्या अधिकार है? अर्थात् कुछ नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि जिसमें किसी को दोष का दर्शन हो, वह उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है। सम्बन्ध-विच्छेद का अर्थ द्वेष नहीं है, घृणा नहीं है। प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद का अर्थ है, उससे विमुख होकर उसे सदा के लिये भूल जाना।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिन्हें हम अपना प्रियजन मानते है, यदि उनमें कोई दोष है, तो क्या

उनके हित के लिये हम उनका भी दोष न देखें? तो, इसका उत्तर यह होगा कि यदि अपने को सब प्रकार से निर्दोष बना लिया है और प्रियजनों के दोष से अपने को घोर दुःख होता है, तो ऐसी दशा में प्रियजनों को निर्दोष बनाने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना होगा। यह नियम है कि जिसके दुःख से हम सचमुच दुखी होते है और उसका हित चाहते हैं; इतना ही नहीं, उसके हित के लिए जो कुछ कर सकते हैं, उससे अपने को बचाते नहीं, तो उसका सुधार अवश्य हो जायगा। ऐसा करना तो पर-दोष-दर्शन नहीं है। यह तो वास्तविक सेवा है। सेवा करने का अधिकार तो सभी को है। पर-दोष-दर्शन का अर्थ है- किसी के दोष को देखकर अपने में गुण का अभिमान करना और दोषी का तिरस्कार करना तथा उसको सदा के लिए दोषी मान लेना, जो वास्तव में प्रमाद है।

जब तक स्वयं दोषी अपना दोष स्वीकार न करें, तब तक किसी में कोई दोष है, यह मानना ही भूल है। क्योंकि दोष वास्तव में वही है, जिसे स्वयं दोषी जानता है। दोष देखने के लिए अपौरुषेय विधान ने मनुष्यमात्र को विवेक दिया है। जो अपने दोष को स्वीकार कर लेता है और उसको पुनः न दोहराने का व्रत लेता है, वह तो बेचारा क्षमा तथा प्रेम का पात्र है। किसी का दोष देखना तथा सुनना एवं किसी को दोषी मानना, ये तीनों ही महान दोष हैं। कारण, कि देखने मात्र से किसी की वास्तविकता का बोध नहीं होता। कभी-कभी तो जैसा हमें दिखाई देता है, वास्तविकता उसके विपरीत होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि देखने तथा सुनने मात्र से ही किसी को दोषी मान लेना न्याय-संगत नहीं है।

अब विचार यह करना है कि क्या कभी कोई दोषी अपना दोष स्वीकार कर सकता है? हाँ, यदि दोषी को यह विश्वास हो जाय कि मुझे क्षमा कर दिया जायगा और मेरा प्यार तथा आदर सुरक्षित रहेगा तथा मेरे सुधार के लिए यथेष्ट सहायता मिलेगी, तो दोषी अवश्य अपना दोष स्वीकार कर लेगा।क्योंकि प्राकृतिक नियमानुसार कभी कोई अपने को दोषी रखना नहीं चाहता। कारण, कि दोषयुक्त जीवन होने पर प्राणी अपनी ही दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। यह नियम है कि जब तक प्राणी अपनी

दृष्टि में अपने को निन्दनिय पाता है, तब तक उसे शान्ति तथा प्रसन्नता नहीं मिलती। अतः अपने को निर्दोष बनाने की लालसा स्वाभाविक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसी के दोष का दशर्न हो ही जाए, तो उसे निर्दोष बनाने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए, जो वास्तव में मानवता है।

अब विचार यह करना है कि हम अपने नेता, अपने गुरु तथा अपने शासक कब हो सकते हैं? तो कहना होगा कि जब हम पर-दोष-दर्शन न करके केवल अपने ही दोष को देखें और उसके मिटाने का उपाय जानकर उसे अपने जीवन में चरितार्थ करें, तभी हम अपने नेता, गुरु तथा शासक हो सकते हैं, नेता उसे कहतें है, जो दोष को देखकर दुखी हो। गुरु उसे कहते हैं, जो दोष मिटाने का उपाय जानता हो और शासक उसे कहते हैं, जो जाने हुए उपाय पर अमल कराने में समर्थ हो। इस दृष्टि से जब हम अपना दोष देखकर घोर दुःखी हो जायेंगे, तभी अपने नेता हो सकेंगे और जब अपने दोष की निवृत्ति का उपाय जान लेंगे और उसको चरितार्थ कर लेंगे, तभी हम अपने गुरु तथा शासक हो सकते हैं।

अपना दोष देखकर उसी को घोर दुःख होता है, जो यह मान लेता है कि मेरे समान और कोई दोषी नहीं है। जब तक अपने समान तथा अपने से अधिक कोई दोषी दिखाई देता है, तब तक दोषयुक्त जीवन का गहरा दुःख नहीं होता। यह नियम है कि गहरा दुःख होने से जीवन बदल जाता है क्योंकि जब दुःख सुख-लोलुपता को खा लेता है, तब सुख-भोग की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और दोषों के मिटते ही निर्दोषता अपने-आप आ जाती है, क्योंकि दोषों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। कारण, कि दोषयुक्त प्रवृत्ति से पूर्व सभी निर्दोष हैं और यदि दोष पुनः न दोहराया जाय, तो भी निर्दोषता आ जाती है।

इस दृष्टि से केवल दोषयुक्त प्रवृत्ति-काल में ही प्राणी दोषी है। उस प्रवृत्ति से पूर्व और अन्त में निर्दोष ही है। हाँ, यह अवश्य है क दुष्कृति का परिणाम जो कुछ है, वह अवश्य कुछ काल भोगना पड़ता है। यह नियम है कि कालान्तर में किए हुए का फल

अपने-आप मिट जाता है अतः दोषों को न दोहराया जाय, तो निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है। अर्थात् दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता। गुण-दोष-रहित होते ही सीमित अहम्-भाव गल जाता है। और फिर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

सभी दोष उसी समय तक जीवित रहते हैं जब तक दोषी का हृदय घोर दुख से भर नहीं जाता। क्योंकि पूर्ण दुःख होने पर प्राणी संसार से निराश हो जाता है और हृदय में स्वतः पतितपावन प्रभु को पुकराने लगता है। बस, उसी काल में दुःखहारी प्रभु उसके दुःख को खा लेते हैं और उसे सदा के लिए निर्दोष बना देते हैं। इतना ही नहीं, अपनी अहैतुकी कृपा से उसे प्रेम-प्रदान करते हैं। जिसके जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके जीवन में भोग, मोक्ष आदि कोई भी कामना शेष नहीं रहती। सर्व कामनाओं से रहित होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेमास्पद की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, जो मानव का लक्ष्य है।

यह नियम है कि जिसने अपने पर अपना नेतृत्व किया तथा जो अपना गुरु तथा अपना शासक बन गया है, उसका संसार पर नेतृत्व स्वतः होने लगता है। कारण, कि उसका जीवन संसार के लिये अनुकरणीय हो जाता है। पर, अपना गुरु तथा अपना शासक वही हो सकता है, जो अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम करने में समर्थ है।

॥ॐ॥

करना और होना

(दिनांक 1 सितम्बर 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

जीवन में दो बातें सभी को अनुभव होती हैं-एक तो 'मैं कर रहा हूँ' और दूसरा 'स्वतः हो रहा है।' इन दोनों का समूह ही मानव-जीवन है।

जीवन को साधनयुक्त बनाने के लिए 'करने' में सावधान और 'होने' में प्रसन्न रहना होगा। 'करने' का जन्म सुख-भोग की रुचि में निहित है और 'होना' अपौरुषेय विधान पर निर्भर है, अथवा यों कहो

कि उस अन्नत की अहैतुकी कृपा का परिचय है, अथवा उस महान् का प्रेम है।

यदि कोई यह कहे कि हम 'करने' और 'होने' का विभाजन कैसे करें? तो कहना होगा कि जो प्रवृत्ति भोगबुद्धि से प्रेरित होकर होती है, उसमें करने का भाव आता है, जैसे 'मैं भोजन करता हूँ', स्वाद के लिए तथा स्वास्थ्य के लिए। भोगबुद्धि का अर्थ है, कुछ पाने की रुचि। किन्तु मिलता है,'होने' के अधीन। जैसे, स्वास्थ्य कब मिलेगा? जब भोजन पचेगा। जैसा कर्तापन भोजन करते समय प्रतीत होता है कि 'मैं भोजन कर रहा हूँ,' वैसा भोजन पचते समय प्रतीत नहीं होता कि 'मैं पचा रहा हूँ'। उसके लिए तो कहना पड़ता है कि 'भोजन पच रहा है'।

इतना ही नहीं, भोजन करते समय यहाँ तक भास रहता है कि अमुक भाग, अर्थात् इतने परिणाम में खा लिया। किन्तु पचते समय यह प्रतीत नहीं होता कि मैंने इतने परिणाम में पचा लिया। यन्त्रों द्वारा कोई डॉक्टर भले ही देखे कि इतना पच गया, अथवा इतना पच रहा है। अर्थात् किये हुए का परिवर्तन 'होने' के अधीन होता है, 'करने' के नहीं।

करने से तो किसी-न-किसी प्रकार के अभिमान का ही जन्म होता है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि जिस क्रिया के साथ अभिमान मिल जाता है, उसका परिणाम अवश्य भोगना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'करना' भोगने में बदलता है, 'होने' में नहीं।

यदि हम यह चाहते है कि किये हुए का परिणाम हमें अवनति की ओर न ले जाय, तो यह अनिवार्य हो जाता है कि हम 'करने' में सावधान रहें और 'होने' में प्रसन्न रहें। 'करने' में सावधान रहने का अर्थ क्या है? तो यही कहना होगा कि जब करने का कोई संकल्प उत्पन्न हो, तब निज-विवेक के प्रकाश में देखो कि किस लक्ष्य के लिए 'करने' की रुचि उत्पन्न हुई है और किस भाव से प्रेरित होकर क्रिया करना चाहते है, तथा उसके करने का ढ़ंग कैसा है? अर्थात् तीन बातों पर दृष्टि रखनी चाहिए- (१) किस लिए कर रहे है? (२) किस भाव से कर रहे हैं और (३) कैसे कर रहे हैं? यदि ये तीनों बातें विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हैं, तो समझना

चाहिए कि हम करने में सावधान हैं। यह नियम है कि जो 'करने' में सावधान है, उसका कभी ह्रास नहीं होगा, अपितु उसका उत्तरोत्तर विकास ही होगा। कारण, कि होनहार में तो सभी का हित निहित है, किसी का ह्रास नहीं। ह्रास का एकमात्र कारण 'करने' में असावधानी ही है, होनहार नहीं।

अब विचार यह करना है कि होनहार क्या है? तो कहना होगा कि जो स्वतः हो रहा है, उसी को होनहार कहते हैं। अब यदि कोई कहे कि स्वतः क्या हो रहा है? तो कहना होगा कि उत्पति, विनाश तथा दुःख एवं सतत् परिवर्तन ही स्वतः हो रहा है।

अब यह विचार करना है कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह किस लिए कर रहे हैं? अर्थात् करने का लक्ष्य क्या है? तो कहना होगा कि सतत् परिवर्तन से अनन्त नित्य की ओर और उत्पति-विनाश से अमरत्व की ओर तथा दुःख से आनन्द की ओर गतिशील होना ही हमारा लक्ष्य है। अतः उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो कुछ कर सकते है, करना है।

यह नियम है कि स्वार्थभाव, अर्थात् सुख-भोग की रुचि से प्रेरित होकर हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम सतत् परिर्वतन, उत्पति-विनाश एवं जड़ता आदि दुखों में ही आबद्ध होना है। किन्तु हमारा लक्ष्य उसके विपरीत अनन्त-नित्य-चिन्मय आनन्दघन की ओर गतिशील होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम स्वार्थभाव को सेवा-भाव में बदल दें। अतः हमें प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा-भाव से करनी होगी।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए सेवा-भाव से तो हमें करना ही है, पर करने का ढ़ंग कैसा हो? तो, कहना होगा कि जो कार्य हमारे सामने उपस्थित है, उसे योग्यता, ईमानदारी, परिश्रम तथा तत्परतापूर्वक करना चाहिए। योग्यता का अर्थ है, जिस कार्य को करना है, उस विषय की पूरी-पूरी जानकारी अर्थात् ज्ञान, विज्ञान एवं कला का समावेश। ईमानदारी का अर्थ है, अपने को पूरा लगा देना तथा श्रम का अर्थ है, यथासमय करना, अर्थात् कार्य को जमा न रखना।

जब हमारी सभी प्रवृत्तियाँ कार्य कुशलता, भाव की पवित्रता तथा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर होने लगती है, तब समझना चाहिए कि, 'करने' में

असावधानी नहीं है। यह नियम है कि जब करने में असावधानी नहीं रहती, तब करने का अभिमान, करने की रुचि एवं करने की आसक्ति तीनों ही दोष मिट जाते है। इन तीनों दोषों की निवृत्ति होते ही कर्तव्य तथा भोक्तृत्व का भाव शेष नहीं रहता और फिर उस जीवन में प्रवेश हो जाता है, जो कुछ न करने से प्राप्त होता है। यह नियम है कि 'करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता, अर्थात् नित्य नहीं है। किन्तु 'कुछ न करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव रहता है, अर्थात् नित्य है। सही करने से गलत करना भी मिट जाता है और 'न करना' भी स्वतः प्राप्त होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'करने' में सदा सावधान रहना चाहिये।

'न करने' का अर्थ आलस्य, व्यर्थ-चिन्तन तथा जड़ता में आबद्ध होना नहीं है। 'न करने' का अर्थ है, निरभिमानतापूर्वक अचाह होना, अथवा यों कहो, सीमित अहम्भाव का शेष न रहना।

अब यदि कोई कहे कि 'करने' में सावधान रहने की बात तो ठीक मालूम होती है। पर जो स्वतः हो रहा है, यदि वह हमारे लिये दुःखद है, तो उसमें हम प्रसन्न कैसे रह सकते है? तो कहना होगा कि दुःख के स्वरूप में जो कुछ हो रहा है, वह 'करने' में जो असावधानी हुई है, उसको न दोहराने का आदेश-मात्र है। अतः उस दुःख में भी हमारा हित ही निहित है। क्योंकि यदि दुःख न होता, तो हमें अपनी असावधानी का बोध ही न होता और हम जड़ता में ही आबद्ध हो जाते। अतः जड़ता से मुक्त करने के लिए ही दुःख के स्वरूप में अहैतुकी कृपा की प्राप्ति हुई है, और कुछ नहीं।

अब यदि कोई कहे कि 'करने' से रहित हो जाने पर हमें क्या मिलता है? तो कहना होगा कि 'करने' का जन्म किसी-न-किसी चाह से ही होता है। 'न करना' उन्हीं को प्राप्त होगा, जो चाह से रहित है और चाह से रहित वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने अपने को सब प्रकार से उस अनन्त के समर्पण कर दिया है।

यह नियम है कि चाह से रहित होते ही साधक चिन्तन से रहित हो जाता है। चिन्तन-रहित होते ही इन्द्रियां अविषय हो जाती है, मन निर्विकल्प हो जाता है और बुद्धि सम

हो जाती है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है और फिर स्वतः विचार का उदय होता है, जो अविचार को खाकर अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देता है और हृदय प्रेम से भर जाता है और फिर नित-नव रस प्राप्त होता है, तथा नीरसता, जड़ता, मृत्यु आदि से छुटकारा मिल जाता है।

आज हम से सबसे बड़ी भूल यही होती है कि हम उन्हें भूल हुए हैं, जो हमारे न चाहने पर भी हमें चाहते हैं, हमारे न जानने पर भी हमें जानते हैं और हमारे न मानने पर भी हमें मानते हैं। जो हमारे प्रेम न करने पर भी प्रेम करते हैं, वे कितने महान् है, कितने उदार हैं, कितने प्रेमी है! यह बात किसी भी भाव तथा भाषा के द्वारा कई कह नहीं सकता। यदि हम अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हम कुछ नहीं करते, तब वे हमें सब कुछ देते हैं। जब हम सही करते हैं, तब भी हमारी उत्तरोत्तर उन्नति होती है और जब हम गलत करते हैं, तब भी वे दुःख के स्वरूप के प्रकट होकर सचेत करते हैं। उनकी अहैतुकी कृपा-शक्ति कितनी उदार है, कितनी महान् है! उसका वर्णन हो नहीं सकता। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसमें उनकी अहैतुकी कृपा सभी का कल्याण कर रही है। इतना ही नहीं, जो कुछ हो रहा है, उसमें उनकी कृपा का नित-नव दर्शन है, नित-नव रस है। पर, इसका अनुभव उन्हीं को होता है, जो होनहार में सदैव प्रसन्न रहते हैं।

जब हम 'करने' में सावधान तथा 'होने' में प्रसन्न रहने लगते हैं, तब हमें उनके मंगलमय विधान का बोध हो जाता है और उनकी अहैतुकी कृपा तथा उनके परम प्रेम पर भरोसा हो जाता है। कारण, कि उनके समान न कोई प्रेमी है और न कृपालु। अतः हमें सब प्रकार से उनका होकर रहने का व्रत ले लेना चाहिए और 'करने' में सावधान तथा 'होने' में सदा प्रसन्न रहना चाहिए। ऐसा होते ही 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जायगा और फिर जीवन प्रीति से भिन्न कुछ न रहेगा, अर्थात् प्रेम और प्रेमास्पद की नित-नव लीला के अगाध-अनन्त रस का आस्वादन होगा, जो मानव की मांग है।

॥ॐ॥

जीवन-विभाजन

(दिनांक 2 सितम्बर 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

साधन-निर्माण करने के लिए दो बातें परमावश्यक हैं, एक तो वर्तमान वस्तु-स्थिति का ज्ञान, दूसरा जीवन-विभाजन। वर्तमान वस्तु-स्थिति के अध्ययन से अपने कर्तव्य का ज्ञान और जीवन-विभाजन से सुन्दर समाज का निर्माण होगा। वर्तमान वस्तुस्थिति के ज्ञान का अर्थ है, साधक को अपनी योग्यता, रूचि और लक्ष्य का यथार्थ बोध हो जाना। साधननिर्माण करने में इन तीनों बातों की परमावश्यकता है। करना वही है, जो साधक कर सकता है। प्रवृत्ति उसी में होती है, जिसमें रूचि हो और प्राप्त वही होता है, जो लक्ष्य हो। जो जो कर सकता है, उसके करने से, करने की शक्ति उसी भाव में विलीन हो जाती है, जो उसका वास्तविक लक्ष्य है। लक्ष्य वही हो सकता है, जिससे कभी च्युत न हो सके और जिसका कभी परिवर्तन न हो एवं जिससे किसी प्रकार की दूरी तथा भेद न रहे अर्थात् जो जीवन हो जाय।

जीवन-विभाजन चार अंगों में हो सकता है-गुणों का विकास, मर्यादित उपभोग, सेवा और त्याग। गुणों के विकास का अर्थ है- ज्ञान, विज्ञान और कलाओं से सुशोभित होना। मर्यादित उपभोग का अर्थ है- जिस विद्यमान राग को साधक विवेक से न मिटा सके, उसके मिटाने के लिए विधान के अनुरूप प्रवृत्त होना। भोग-प्रवृत्ति काल में उत्पन्न हुए स्वार्थभाव, विषय-चिन्तन और इन्द्रिय-लोलुपता को मिटाने के लिए सर्वाहितकारी प्रवृत्ति, सार्थक चिन्तन और जितेन्द्रियता में परायण होना ही सेवा है। सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से सम्बन्ध तथा ममता रहित होना ही त्याग है।

बीज-रूप से मानव-मात्र में श्रम, उत्पादन, बल तथा विवेक विद्यमान है। जीवन में जब तक विवेक का साम्राज्य रहता है, तब तक बल, उत्पादन तथा श्रम का सदुपयोग स्वतः होता रहता है। बल के सदुपयोग से निर्बलता और उत्पादन के सदुपयोग से दरिद्रता एवं श्रम के

सदुपयोग से आलस्य तथा विलास मिट जाने से अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से अपने पर विवेक का ही साम्राज्य रहना चाहिये।

अब यदि कोई कहे कि अपने पर विवेक के साम्राज्य का क्या अर्थ है? तो, कहना होगा कि जो ज्ञान हमें मिला है, उसके प्रकाश में ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की चेष्टा होनी चाहिए। मन में कोई ऐसा सकंल्प न हो, जिसका पूरा करना अपने ज्ञान के विपरीत हो। जैसे, अपना विनाश किसी को प्रिय नहीं और अपना विकास सभी को प्रिय है। इस ज्ञान का आदर करने पर उन सभी सकंल्पों का अन्त हो जाना चाहिए जिसमें किसी का विनाश निहित है, अर्थात् हम किसी का बुरा न चाहें। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसका भला अवश्य होता है। इतना ही नहीं, उसके जीवन से समाज का हित होता है।

जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह सुखियों को देखकर प्रसन्न होने लगता है और दुखियों को देखकर उसका हृदय करुणा से भर जाता है। ज्यों-ज्यों करुणा व्यापक तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग का राग स्वतः मिटता जाता है और फिर साधक वीत-राग होकर योग, बोध तथा प्रेम को प्राप्त हो, कृत-कृत्य हो जाता है। वीतराग होने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी के ऋणी न रहें और हमारी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर न रहे।अब विचार यह करना है कि हम किसके ऋणी है? तो, कहना होगा कि जन्म होते ही हम भोजन देने वालों के, लालन-पालन करने वालों के एवं शिक्षा देने वालों के ऋणी होते हैं।

इस दृष्टि से प्रत्येक में मानव के विकास का आरम्भ शिक्षा से ही होता है अथवा यों कहो कि समाज के द्वारा होता है। इतना ही नहीं, यदि हम गहराई से देखें, तो स्पष्ट हो जाता है कि पशुओं, वृक्षों तथा प्राकृतिक तत्वों द्वारा ही जीवनोपयोगी सामग्री मिलती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति समस्त संसार का ऋणी है। भौतिक वस्तुओं के द्वारा तो प्राणी की रक्षा होती है, शारीरिक श्रम द्वारा लालन-पालन होता है तथा गुरुजनों के द्वारा हमें ज्ञान-विज्ञान और कलादि की शिक्षा मिलती है।

अब विचार यह करना है कि शिक्षित होने की कसौटी क्या है? तो, कहना होगा कि ज्ञान-विज्ञान, कला आदि के द्वारा हम अपने को इतना सुन्दर बना लें कि समाज को हमारी आवश्यकता अनुभव होने लगे। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो समझना चाहिए कि हम अभी शिक्षित नहीं हैं। यह नियम है कि समाज उसी की आवश्यकता अनुभव करता है, जो उसकी आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ हो। जिसे अपनी पूर्ति के लिये ही समाज के पीछे दौड़ना पड़ रहा है, उसे समझना चाहिए कि अभी मेरे जीवन में गुणों का विकास नहीं हुआ।

अब यदि कोई यह कहे कि हम समाज के ऋणी क्यों हैं? लालन-पालन तो हमारे माता-पिता आदि कुटुम्बी जनों द्वारा हुआ, शिक्षा अर्थ के आधार पर हुई एवं प्राकृतिक वस्तुओं पर हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है ही। तो, कहना होगा कि गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी व्यक्ति सर्वांश में समाज में समाज से सम्बन्ध-विच्छेद करके जीवित नहीं रह सकता। जैसे, जिन सड़कों पर तुम चलते हो, वे केवल तुम्हारे माता-पिता, भाई ने नहीं बनवाई हैं। ऐसी अनेक आवश्यक सुविधाएँ हैं जो सामाजिक सहयोग से ही सिद्ध होती हैं।

इतना ही नहीं, जिन्हें तुम अपना कुटुम्बीजन कहते हो, वे भी तो समाज के ही एक अंग हैं। शिक्षा की प्राप्ति भी शिक्षकों के द्वारा होती है, केवल अर्थ से ही नहीं। अर्थ तो केवल परस्पर कार्य चलाने का माध्यम मात्र है। सच तो यह है कि जीवन में अर्थ की अपेक्षा नहीं है, आवश्यक वस्तुओं की अपेक्षा है, जिनका उत्पादन शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक तत्व के द्वारा होता है और शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता शिक्षा के द्वारा प्राप्त होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का महत्व अर्थ से कहीं अधिक है। अथवा यों कहो कि अर्थ शिक्षा को उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु शिक्षा अर्थ को उत्पन्न कर सकती है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि शिक्षा के बिना मानव 'मानव' नहीं है।

अब विचार यह करना है कि शिक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या है? तो, कहना होगा कि समाज की उपयोगिता की सिद्धि जिस योग्यता से

सफल हो, उस योग्यता का नाम शिक्षा है। किसी उपाधि (डिग्री) विशेष से ही शिक्षा नहीं मान लेना चाहिए। शिक्षित व्यक्ति की समाज को आवश्यकता सदा ही रहती है। कारण, कि कर्म करने में कुशलता सभी को अभीष्ट है।

माता-पिता आदि के ऋण से मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि अपने से योग्य सन्तान उत्पन्न करें तथा समाज के बालकों की यथोचित सेवा करें। भोजन देने वालों के ऋण से मुक्त होने के लिए पशु एवं वृक्षादि की यथेष्ट सेवा करना और प्राकृतिक शक्तियों को दूषित न करना अनिवार्य हो जाता है। शिक्षा के ऋण से मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि अपने जीवन का कुछ भाग शारीरीक और बौद्धिक श्रम द्वारा शिक्षा देने में व्यय किया जाय। केवल अर्थ के द्वारा ही कोई शिक्षा से ऋण में मुक्त नहीं हो सकता। कारण, कि नौकर वास्तविक शिक्षक नहीं हो सकता। बड़े-बड़े विद्यालय तथा प्रयोगशाला खोलने-मात्र से भी शिक्षा नहीं हो सकती और यदि कोई आज के युग में अर्थ के बल पर शिक्षित हो भी जाय, तो वह उस शिक्षा का सदुपयोग नहीं कर सकेगा, केवल अर्थ सम्पादन में ही लग जायेगा।

सेवाभाव से प्राप्त शिक्षा सेवक बनाती है और अर्थ के द्वारा प्राप्त शिक्षा लोभी बनाती है। ज्यों-ज्यों समाज में सेवा-भाव की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों सुन्दर समाज का निर्माण होता है और ज्यों-ज्यों समाज में लोभ की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों समाज में दरिद्रता तथा संघर्ष उत्पन्न होता है। यह सभी को मान्य होगा कि शिक्षित व्यक्तियों के सहयोग के बिना समाज में भलाई अथवा बुराई फैल नहीं सकती। भले शिक्षक होने से भलाई फैलेंगी। भले शिक्षक वे ही हो सकेंगे, जिन्होंने सेवा द्वारा शिक्षा प्राप्त की हो और जिन्हे सेवको ने अपने जीवन से शिक्षा दी हो।

यह सभी विचारशीलों को मान्य होगा कि बालकों का सुधार ही समाज का सुधार है। कारण, कि बालक ही भविष्य का राष्ट्र तथा समाज है। बालक का सुधार तभी सम्भव होगा, जब उसे नौकर तथा स्नेह की गोद से मुक्त कर, सत्य की खोज तथा सार्थक चिन्तन करने वाले सेवक की गोद में रख दिया जाय।

कारण, सेवक और बालक का जीवन उपार्जनकाल है, उपभोगकाल नहीं है। यह नियम है कि बालक देखकर बदलते हैं। जब उन्हें सच्चाई, सच्चरित्रता एवं उदारता आदि दिव्य-गुण-सम्पन्न जीवन देखने को मिलेगा, तो वे स्वयं वैसे ही बन जायेंगे। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बालकों के विकास के लिए सच्चे सेवकों का निर्माण अनिवार्य है। सच्चा सेवक वहीं हो सकेगा जो गुणों के विकास तथा मर्यादित उपभोग के पश्चात् जीवन सेवा में व्यतीत करें।

सेवा करने से स्वार्थभाव गल जाता है। स्वार्थभाव गलते ही राग-दोष मिट जाते हैं और जीवन त्याग तथा प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। त्याग से चिर-शान्ति तथा प्रेम से नित-नव-रस स्वतः प्राप्त होता है, जो मानव की वास्तविक माँग है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव हो सकेगी, जब हम वस्तु-विभाजन का व्रत धारण करें। वह तभी सम्भव होगा, जब हम अपनी प्राप्त योग्यता के अनुसार साधन करने में तत्पर हो जाय। कारण, कि साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है।

॥ॐ॥

करो 'सेवा' जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को

(दिनांक 3 सितम्बर 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

साधनयुक्त जीवन में वर्तमान का सबसे सुन्दर उपयोग क्या है? यही, कि यदि कुछ करना चाहते हो, तो सेवा करो। यदि जानना चाहते हो, तो अपने को जानो और यदि मानना चाहते हो, तो प्रभु को मानो। अर्थात् अपने को जानना है, प्रभु को मानना है ओर सेवा करना है।

अपने को तभी जान सकोगे, जब निज-ज्ञान के प्रकाश में देह की वास्तविकता को जान लोगे। देह का वास्तविक ज्ञान होने पर काम का नाश हो जाता है। कारण, कि साधारण ज्ञान से देह में जिस सत्यता, सुन्दरता तथा चेतना का भास होता है, निज-विवेक के प्रकाश में देखने से उसी देह में क्षण-भंगुरता, मलिनता और जड़ता का दर्शन होता है। जिस

प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश विलीन हो जाता है, उसी प्रकार विवेक के प्रकाश में साधारण ज्ञान विलीन हो जाता है और फिर शरीर तथा संसार का वास्तविक स्वरूप, जो सतत् परिवर्तनशील है, प्रत्यक्ष हो जाता है। उसके प्रत्यक्ष होते ही देह 'मैं' नहीं है, इसका बोध हो जाता है। ज्यों-ज्यों यह बोध दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों निर्वासना आती जाती है।

वासनाओं का अन्त होते ही इन्द्रियाँ मन में और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि के सम होते ही भोग योग में विलीन हो जाता है। भोग योग में विलीन होने से आवश्यक शक्ति का विकास होता है, क्योंकि भोग-प्रवृत्ति शक्ति का हास करती है और योग से शक्ति संचित होती है। योग प्राप्त होने पर जिज्ञासु में विचार का उदय होता है, भगवद्-विश्वासी में प्रेम का उदय होता है तथा सेवक में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति तथा निष्कामता आ जाती है। निष्कामता आ जाने पर सेवा स्वतः होने लगती है। विचार का उदय अविचार को खाकर अमर जीवन से अभिन्न कर देता है और प्रेम का उदय नीरसता को खाकर नित-नव, अगाध, अनन्त रस प्रदान करने में समर्थ होता है।

अपने को जानने का अर्थ है- अमर जीवन की प्राप्ति क्योंकि मृत्यु देह का धर्म है, अपना नहीं। देह की तद्रूपता ही काम की जननी है और तत्व-जिज्ञासा ही काम की मृत्यु है।

जानने का जन्म सन्देह से होता है और विश्वास की उत्पत्ति निस्सन्देहता से होती है, अर्थात् संदेह जिज्ञासा जागृत करता है और निस्संदेहता विश्वास उत्पन्न करती है। विश्वास करने योग्य वही है, जिसमें दोष का दर्शन न हो। इस दृष्टि से देहादि वस्तुएँ विश्वास करने योग्य सिद्ध नहीं होतीं। हाँ, यह अवश्य है कि देहादि वस्तुओं का सदुपयोग कर सकते हैं, उन पर विश्वास नहीं कर सकते। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वास करने योग्य एकमात्र सर्व-समर्थ प्रभु ही हैं।

यदि कोई कहे कि जिन प्रभु को हम नहीं जानते, उन पर हम विश्वास कैसे कर लें? तो कहना होगा कि विश्वास न जानने पर ही होता है, जानने पर तो अभिन्नता होती है, विश्वास नहीं। यह नियम है कि जिन

पर हम विश्वास कर लेते हैं, उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है और जिनसे सम्बन्ध हो जाता है, उनसे प्रेम स्वतः हो जाता है। सरल विश्वासपूर्वक नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहता पूर्वक प्रभु के नाते निष्काम भाव से स्वतः होने लगती है। प्रभु के नाते की हुई प्रवृत्ति कर्ता को प्रभु-प्रेम में विलीन कर देती है, अर्थात् उस प्रवृत्ति से कर्ता का अस्तित्व गलकर प्रभु-प्रेम हो जाता है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है।

यह सभी को मान्य होगा कि शरीरादि वस्तुओं की समस्त संसार से जातीय एकता तथा मानी हुई भिन्नता है। मानी हुई भिन्नता ने ही स्वार्थ-भाव उत्पन्न कर दिया है, जिसने संकीर्णता, में आबद्ध कर दिया है। इनसे मुक्त होने के लिए स्वार्थ-भाव का अन्त कर देना अनिवार्य होता है। स्वार्थभाव मिटाने के लिए शरीरादि वस्तुओं की संसार से जातीय एकता स्वीकार करना परम आवश्यक है। अथवा यों कहो कि शरीर आदि वस्तुएँ संसार की हैं, अपनी नहीं। इस वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह नियम है कि जब साधक शरीरादि वस्तुओं को अपनी नहीं मानता, तब उनकी आसक्ति स्वतः मिट जाती है। आसक्ति मिटते ही सर्व हितकारी प्रवृत्ति अपने-आप होने लगती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वार्थभाव को खाकर निष्काम बना देती है। निष्कामता मोह को प्रेम में बदल देती है और शरीरादि से विमुख कर अमर जीवन से अभिन्न कर देती है।

देहादि वस्तुओं के विश्वास ने ही हमें प्रभु-विश्वास से और देह में अहं-बुद्धि ने ही हमें अमर जीवन से विमुख कर दिया है, जो वास्तव में प्रमाद है। देहादि वस्तुओं के विश्वास को मिटाने के लिए यह विचार करना चाहिए कि इन देहादि वस्तुओं की उत्पत्ति किन वस्तुओं से हुई है? जो देह ऊपर से इतनी सुन्दर मालूम होती है, वह भीतर से कैसी है तथा जो देह जीती-जागती-सी दिखाई देती है, उसका अन्त क्या है? इन प्रश्नों का हल साधक को देह से असंग करने में समर्थ है। कारण, कि देह की मलिनता, असुन्दरता और क्षण-भंगुरता विवेकपूर्वक सभी को स्पष्ट है। ऐसा ज्ञान साधक को सदैव स्वाभाविक रहना चाहिए। देह की ममता का त्याग करना है, उससे घृणा

नहीं करना है। उसको अपना स्वरूप नहीं मानना है। उससे अपने को असंग करना है। देह की मलिनता का ज्ञान काम को खा लेता है। देह से असंगता का बोध नित्य-जीवन से अभिन्न करता है।

काम का जन्म अपने को देह मानने से होता है, जो वास्तव में अविवेक है। अविवेक का नाश विवेक से होगा, किसी अन्य अभ्यास से नहीं। विवेक मानव को स्वतः प्राप्त है। उसका अनादर ही अविवेक है, अर्थात् निज-ज्ञान के अनादर का नाम ही अज्ञान है। अज्ञान का और कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह सभी की जानकारी है कि जिसको 'यह' कह कर सम्बोधन करते हैं, उसको 'मैं' नहीं कह सकते। 'यह' उसी को सम्बोधन किया जाता है, जिसको विषय कह सकते हो। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को निज-ज्ञान से विषय करते हैं।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस ज्ञान से शरीरादि को विषय करते हैं, वह ज्ञान शरीर से परे हैं। उस ज्ञान को किसी और करण से नहीं जानते। अर्थात्, ज्ञान से ही ज्ञान को जानते हैं। उस ज्ञान का नाम ही विवेक है। वह ज्ञान भौतिक नहीं है, अलौकिक है। क्योंकि भौतिक पदार्थ पर-प्रकाश्य होते हैं और वह ज्ञान स्वयं प्रकाश है। इसी कारण वह चिन्मय है, जड़ नहीं। उस ज्ञान के प्रकाश में ही यह अनुभव होता है कि देह 'मैं' नहीं है। देह से 'मैं' हटने पर 'मैं' कुछ नहीं है, अथवा चिन्मय है। इसी बात को यों कह सकते हैं कि 'मैं' एक ऐसी विचित्र वस्तु है कि जिसके साथ मिला दो, उस जैसी प्रतीत होने लगती है। देह से अलग होने पर 'मैं' ज्ञान से अभिन्न हो जाता है अर्थात्, तत्व-साक्षात्कार हो जाता है।

तत्व-साक्षात्कार होते ही मन का नाश हो जाता है; कारण, कि किसी प्रकार का राग शेष नहीं रहता। राग-रहित होते ही अनुराग की उत्पत्ति होती है और फिर मन प्रभु का विश्वास तथा प्रेम बन जाता है। जो मन प्रभु का विश्वास तथा प्रेम बन जाता है, वह बन्धन का हेतु नहीं रहता। अथवा यों कहो कि मन प्रीति बन जाता है तथा स्वरूप से अभेद हो जाता है। प्रेमी और तत्वज्ञ दोनों ही बेमन के हो जाते हैं। कारण, कि उनके पास अपना मन नहीं रहता।

अब यदि कोई कहे कि प्रेमी तथा तत्वज्ञ होने पर मन कहाँ चला जाता है? तो, कहना होगा कि जब संसार नहीं था, तब जो था, अथवा जब संसार नहीं रहेगा, तब जो संसार में है और जिसमें संसार है, उसी में प्रेमी का मन प्रीति बन कर निवास करता है और तत्वज्ञ का मन अभिन्न होकर रहता है। यही मन का अपने पास न रहना व नाश होना है। जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलने से एक लालिमा उत्पन्न होती है, जिसे वास्तव में न हल्दी ही कह सकते हैं और न चूना, उसी प्रकार चिन्मय ज्ञान-तत्व तथा पर-प्रकाश्य भौतिक-तत्व का परस्पर संसर्ग होने से मन रूपी विभूति उत्पन्न होती है। उन दोनों की भिन्नता का अनुभव हो जाने पर मन रूपी विभूति योग, प्रेम तथा बोध का साधन बन जाती है।

अतः मानव को मन भोग-प्रवृत्ति के लिए नहीं, अपितु तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति, परम प्रेम की प्राप्ति एवं नित्य-योग के लिए मिला है। देहादि वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर देह-विश्वास मिट जाता है और भगवद्विश्वास उत्पन्न होता है तथा देहादि वस्तुओं के सदुपयोग से जीवन श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, त्याग आदि से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेम प्राप्त हो जाता है। प्रेम का उदय होने पर प्रेमास्पद स्वयं प्रेमी को अपना लेता है और विचार का उदय होने पर तत्व-जिज्ञासा तत्व से अभिन्न हो जाती है। वास्तव में तो वह अनन्त ही साधक की रुचि तथा योग्यतानुसार विचार तथा प्रेम के स्वरूप में प्रकट होता है। यह उस महान् की अहैतुकी कृपा है।

साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की प्राप्ति उस अनन्त की अनुपम, अनिर्वचनीय, अहैतुकी कृपा है। उस कृपा का आदरपूर्वक सदुपयोग करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है।

॥ॐ॥

निर्भयता की प्राप्ति

(दिनांक 4 सितम्बर 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

सब प्रकार के भय का जन्म अकर्तव्य तथा अविवेक से ही होता है। अर्थात्, जो करना चाहिए उसके न करने से अथवा जो नहीं करना चाहिए उसके करने से और निज-ज्ञान के अनादर से ही सब प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि देहाभिमान के बिना किसी भी प्रकार का भय हो ही नहीं सकता और देहाभिमान की उत्पत्ति एकमात्र निज-ज्ञान के अनादर से ही होती है। देहाभिमान के गल जाने पर निर्वासना आ जाती है और निर्वासना आ जाने पर सब प्रकार के भय स्वतः मिट जाते हैं। अब यदि कोई कहे कि देहाभिमान क्या है? तो, कहना होगा कि अपने को देह मानना और देह को अपनी मानना ही देहाभिमान है। जब हम अपने का देह मान लेते हैं अथवा देह को अपनी मान लेते हैं, तभी वासनाओं की उत्पत्ति होती है। कारण, कि ऐसी कोई वासना हो ही नहीं सकती, जिसका जन्म देह में अहं-बुद्धि से न हो।

भय दो प्रकार से प्रतीत होता है। एक तो अपने में से और दूसरा समाज आदि की ओर से। जो भय अपने में उत्पन्न होता है, जैसे मृत्यु, परिवर्तन, अभावादि का भय, उसका एकमात्र कारण अविवेक है और कुछ नहीं। जो भय बाहर से आते हुए प्रतीत होते हैं, उनका एकमात्र कारण है-कर्तव्यपरायण न होना अथवा वह करना जो नहीं करना चाहिए, अर्थात् समाज के सामने हमने अपने को जिस मान्यता के आधार पर प्रकाशित किया है, उस मान्यता के अनुरूप जो विधान है, उसका यथावत् पालन न करना अथवा उसके विपरीत करना हमें भय प्रदान करता है।

यह सभी को मान्य होगा कि किसी भाई-बहिन ने समाज के समक्ष अपने को दुराचारी मिथ्यावादी वंचक आदि मान्यताओं से प्रकाशित नहीं किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन की कोई ऐसी मान्यता

नहीं है, जो साधन-रूप न हो, अर्थात् जिस मान्यता का विधान अपने को सुन्दर बनाने और समाज के अधिकार की रक्षा में हेतु न हो। अतः अपने को असुन्दर बनाने वालों और समाज का अहित करने वाली चेष्टाएँ जिन मान्यताओं से होती है, उन मान्यताओं का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब यदि कोई कहे कि दोषयुक्त मान्यता तो दोषयुक्त प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। तो ऐसा कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि कर्ता के अनुरूप ही कर्म होता है। कर्म तो केवल कर्ता की मान्यता में दृढ़ता उत्पन्न करता है। जैसे अपने को चोर मान लेने पर ही चोरी में प्रवृत्ति होती है। चोरी रूपी कर्म से 'मैं चोर हूँ,' इस मान्यता की दृढ़ता ही होती है। यदि चोरी करने से पूर्व अपने को चोर नहीं माना होता, तो चोरी में प्रवृत्ति कदापि नहीं होती।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि साधन-रूप मान्यताएँ तो अपनी संस्कृति, मत, सम्प्रदाय आदि से हमें प्राप्त हुई। किन्तु असाधन रूप मान्यताओं की उत्पत्ति कैसे हुई? जब-जब जीवन में श्रम और संयम का आदर घटता है और आलस्य तथा विलास की रुचि बढ़ती है, तब-तब दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। आलस्य की उत्पत्ति यथेष्ट विश्राम न मिलने से होती है और विलास का जन्म होता है, जीवन में नीरसता तथा खिन्नता बढ़ जाने से और इन दोनों की उत्पत्ति होती है, देह से अतीत जीवन पर विश्वास तथा उसका अनुभव न होने से।

अलौकिक विवेक के प्रकाश में जब हम 'यह' को 'यह' अनुभव कर लेते हैं, उसमें 'मैं' नहीं मिलाते, तब स्वभाविक विश्राम प्राप्त होता है कुछ काल उसमें निवास करने से स्वाभाविक श्रम की रुचि तथा संयम प्राप्त होता है। संयम से आवश्यक शक्ति का विकास और श्रम से वर्तमान कार्य सुन्दरतापूर्वक स्वतः होने लगता है, जो वास्तव में कर्तव्यपरायणता है। जो कार्य सुन्दरतापूर्वक होने लगता है, उससे समाज के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं। कारण, कि समाज के अधिकार का समूह ही व्यक्ति का जीवन है।

जब हमारे जीवन से दूसरों के अधिकार सुरक्षित होने लगते हैं, तब वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग

हो जाता है। यह नियम है कि वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश करने की सामर्थ्य प्रदान करता है अथवा उत्कृष्ट परिस्थिति को प्राप्त कराता है। हम चाहे किसी भी पद्धति, संस्कृति, मत आदि को मानते हों, यदि हमारे जीवन से वर्तमान के सदुपयोग द्वारा समाज के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, तो हम बड़ी ही सुगमता से बाहर से आने वाले जो भय हैं, उनसे मुक्त हो सकते हैं।

कर्तव्यनिष्ठ जीवन ही मानव-जीवन है। अतः साधक प्रत्येक दशा में अपने कर्तव्य का पालन कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक दशा कर्तव्य का क्षेत्र है और कुछ नही। अब यदि कोई यह कहे कि हम तो इतने असमर्थ हैं कि कुछ कर ही नहीं सकते। तो कहना होगा कि कुछ न करना अकर्तव्य नहीं है। किन्तु जिस दशा में जो करना चाहिए, उसके विपरित करना अकर्तव्य है। जैसे कोई इतना दुर्बल है कि बोल नहीं सकता, तो न बोलना अकर्तव्य नहीं है, किन्तु मिथ्या बोलना अकर्तव्य है। इसी प्रकार किसी संकल्प का न करना कोई अकर्तव्य नहीं है, किन्तु बुरे संकल्प करना अकर्तव्य है। इतना ही नहीं, सब कुछ करने का फल भी न करना ही होता है। तो जो कुछ नहीं कर सकता, उससे कोई क्षति नहीं होती, प्रत्युत उत्कृष्ट जीवन में प्रवेश होता है।

अनादर का भय जीवन में तभी तक बना रहता है, जब तक हम अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं होते। हम अपनी दृष्टि में तब तक आदर के योग्य नहीं होते, जब तक अपने बनाये हुए दोषों का अन्त नहीं कर देते। जैसा जानते हैं, वैसा न मानना और जो मान लिया, उस मान्यता के विधान के अनुरूप कर्तव्यनिष्ठ न होना ही अपना बनाया हुआ दोष है।

अपने बनाए हुए दोषों का अन्त हो जाने पर दोषों को प्रकट करने में कोई भय नहीं होता और समाज भी उसका अनादर नहीं करता, क्योंकि वर्तमान की निर्दोषता समाज की आवश्यकता बन जाती है। इतना ही नहीं, उसके पूर्व-दोषों को जानकर और आदर बढ़ जाता है, क्योंकि दोषयुक्त प्राणियों को उसके जीवन से निर्दोष होने के लिए प्रकाश मिलता है और उसमें दोषयुक्त

प्राणियों को प्यार देने की सामर्थ्य आ जाती है। उससे वृथा घृणा नहीं होती, क्योंकि वह यह भली भाँति जानता है कि आज यह बेचारा जिस अवस्था में है, उस अवस्था में कभी मैं भी था।

अब यदि कोई कहे कि बाहर से आने वाले भय तो कर्तव्यनिष्ठ होने से मिट सकते हैं, किन्तु अपने में उत्पन्न हुए भय, जैसे, मृत्यु का भय, होनहार का भय, दैव का भय कैसे मिट सकते हैं? तो कहना होगा कि यदि प्राणों के रहते हुए ही भोग-इच्छाओं का अन्त हो जाय और तत्व-जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा की पूर्ति हो जाय, तो देह की आवश्यकता ही शेष नहीं रहती है। अतः मृत्यु का भय स्वतः मिट जाता है।

अब रही होनहार तथा दैव की बात। होनहार का भय उन्हीं को होता है, जो संयोग की दासता तथा वियोग के भय से पीड़ित हैं। विवेकपूर्वक नित्य-योग प्राप्त करने से होनहार का भय मिट जाता है। 'दैव' भोगी के लिए भले ही न्यायकर्ता हो, परन्तु विवेकी तथा कर्तव्यनिष्ठ के लिए तो उदार तथा प्रेमी है, अथवा यों कहो कि भयहारी तथा दुखहारी अथवा कहो आनन्ददाता है।

भय तो वही देता है, जो स्वयं भयभीत हो। पर, उस अनन्त में तो किसी प्रकार का भय नहीं, फिर भला वह किसी को भय दे ही कैसे सकता है? उस पर भी यदि किसी को उस अनन्त से भय लगता है, तो उसकी निवृत्ति केवल इतना मानने मात्र से हो जाती है कि 'मैं उनका हूं'।

यह नियम है कि जो जिसका हो जाता है, वह उससे प्यार ही पाता है, भय नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्यनिष्ठ होने से बाहर से आने वाले भय और विवेकयुक्त होने से अपने में उत्पन्न होने वाले भय तथा सरल विश्वासपूर्वक प्रभु के समर्पण होने से सब प्रकार के भय मिट जाते हैं।

॥ॐ॥

स्वाभाविक आवश्यकता कि सहज पूर्ति

(दिनांक 5 सितम्बर 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

मानव मात्र को नित-नव रस, अमरत्व, एवं सामर्थ्य की

आवश्यकता स्वाभाविक है। स्वाभाविक आश्यकता उसी की होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः हमारी जो स्वाभाविक आवश्यकता है उसकी पूर्ति और आस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है। ऐसा तभी सम्भव है, जब 'पर' से विमुख होकर जो नित्य-प्राप्त है, उसका बोध हो, अथवा उससे प्रीति हो।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो नित्य-प्राप्त है उसका बोध क्यों नहीं होता? उससे प्रीति क्यों नहीं होती? तो, कहना होगा कि 'पर' की ओर गतिशील होने से ही, जो नित्य-प्राप्त है, उससे दूरी प्रतीत होने लगती है। यद्यपि नित्य-प्राप्त से देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है, तथापि प्रमादवश हम उसे अपने से दूर मान लेते हैं कारण, कि प्रतीति की ओर गतिशील हो जाते हैं। प्रतीतिकी ओर प्रवृत्ति तो होती है, पर उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतीति की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी प्रतीति कैसे होती है? तो कहना होगा कि अल्प ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मान लेने से उस अनन्त-नित्य सत्ता में ही राग के अनुरूप प्रतीति होती है। जिस काल में वैराग्य राग को खाकर स्वयं विलीन हो जाता है, उसी काल में अनन्त, चिन्मय तत्व से अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् उसका बोध हो जाता है और फिर प्रतीति में सर्वत्र उस अनन्त का ही दर्शन होने लगता है, जो नित्य-प्राप्त में प्रीति उत्पन्न करने में समर्थ हैं। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञान विज्ञान में और प्रीति प्रियतम में विलीन होती जाती है। अथवा यों कहो कि जिस प्रकार नदी समुद्र से अभिन्न होने पर भी गतिशील रहती है, उसी प्रकार प्रीति प्रियतम से अभिन्न रहने पर भी नित-नव रहती है। इसी कारण प्रीति नित-नव रस प्रदान करती है। नित नवरस की न तो पूर्ति होती है और न अभाव। इस विलक्षणता से ही प्रीति प्रियतम को और प्रियतम प्रीति को नित्य प्रिय है।

अल्प ज्ञान में सद्भाव होने से राग की उत्पत्ति होती है और निज-विवेक से वैराग्य का उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश स्वयं विलीन हो जाता है, उसी प्रकार वैराग्य में राग विलीन हो

जाता है। अथवा यों कहो कि इन्द्रियों का ज्ञान निज-ज्ञान में विलीन हो जाता है और फिर भोग-वासना की प्रवृत्ति और योग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

योग का वास्तविक अर्थ है, 'पर' से विमुख होकर 'स्व' में स्थित होना, अथवा यों कहो कि विषयों से विमुख होकर जो अपने अत्यन्त निकट है, उससे तद्रूप होना। यह नियम है कि अत्यन्त निकट से मिलने के लिए कोई करण अपेक्षित नहीं होता, उसके लिए प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। जिसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता, उसकी नित्य-प्राप्ति सिद्ध होती है।

प्राप्त की प्रीति और अप्राप्त की विमुखता ही नित्य-योग प्राप्त कराने में समर्थ है। अप्राप्त की विमुखता का अर्थ है, संयोग से वियोग का अनुभव। यदि संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर लिया जाय, तो संयोग की दासता और वियोग का भय मिट जाता है जिसके मिटते ही अपने ही में अपने प्रियतम का बोध होता है अर्थात् अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। इस जीवन का नाम ही अमर जीवन है।

अप्राप्त की विमुखता अमर जीवन से अभिन्न करती है और नित्य-प्राप्त की प्रीति प्रेमास्पद का प्रेम प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रेमी और प्रेमास्पद में निरन्तर प्रेम का ही आदान-प्रदान रहता है। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रेमी और प्रेमास्पद में किसी प्रकार का भेद न रहे, अर्थात् एक होकर दो हों। तभी परस्पर प्रेम की क्रीड़ा होती है। यह सभी को मान्य होगा कि भेद मिटाने में विवेक ही समर्थ है और मोह की निवृत्ति में भी विवेक ही समर्थ है। मोह की निवृत्ति होने पर प्रेम का उदय और अविवेक मिटाने पर ही स्वरूप की एकता होती है। इस दृष्टि से निज-विवेक का आदर स्परूप से एकता और प्रेम के उदय का हेतु है।

विवेक का आदर जड़ता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न करता है और असत् का त्याग सत् से अभिन्न करता है। यह नियम है कि असत् से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही दुःख सदा के लिए आनन्द में विलीन हो जाता है। आनन्द का अर्थ है, जिसका कभी त्याग न हो सके। जिसका त्याग नहीं हो सकता, वही

सत् है और जो अपने को आप प्रकाशित करे, वही चित् है।

तीनों विशेषण किसी एक में ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि जो सर्वदा-सर्वत्र है, वही सत् है। उसका त्याग हो ही नहीं सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता, उसी में अपार आनन्द है और सत् अपने को प्रकाशित करने में आप ही समर्थ है। अतः वही चित् है। इस दृष्टि से सत् में ही चित् तथा आनन्द की सिद्धि होती है। जिस प्रकार असत् में ही जड़ता तथा दुःख की प्रतीति है, उसी प्रकार सत् में ही चित् और आनन्द की अनुभूति है। अनुभूति का अर्थ यह नहीं है कि ये तीनों किसी और से प्रकाशित हैं, क्योंकि स्वयं प्रकाश कभी दो हो नहीं सकते।

अब विचार यह करना है कि प्रेम का वास्तविक स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि प्रेम में किसी प्रकार की चाह तथा भोग की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि चाह तथा भोग से अहंभाव की पुष्टि होती है। अहंभाव की पुष्टि से भेद उत्पन्न होता है और भेद से ही अनेक प्रकार के राग-द्वेष तथा वासनायें उत्पन्न होती हैं। किन्तु, जब विचार की अग्नि अहंभाव को भस्म कर देती है, तब स्वतः प्रेम की गंगा लहराने लगती है।

इतना ही नहीं, अहंभाव के मिटते ही निर्गुण का बोध और प्रेम का उदय स्वतः सिद्ध है। यह प्रेम की महिमा है कि निर्गुण में अनन्त दिव्य गुणों का दर्शन होता है और यह ज्ञान की महिमा है कि अनन्त गुणों में निर्गुण का बोध होता है। इस दृष्टि से किसी एक में ही निर्गुण तथा सगुण का समावेश है। अतः प्रेम और ज्ञान में स्वरूप से भेद नहीं है, केवल रस का भेद है, क्योंकि सभी का लक्ष्य एक है, तत्व एक है, दो नहीं।

यदि ज्ञान दो को एक करने में समर्थ है, तो प्रेम एक को दो करने में समर्थ है। एक में दो और दो में एक, यह उस अनन्त में ही है, किसी अन्य में नहीं। अतः योग, ज्ञान और प्रेम उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं और कुछ नहीं। योग के बिना सामर्थ्य, ज्ञान के बिना जीवन और प्रेम के बिना आनन्द की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः मानव-मात्र को योग, ज्ञान तथा प्रेम प्राप्त करना अनिवार्य है। इन तीनों में से किसी एक की पूर्णता तीनों की पूर्णता हो जाती है। इन तीनों के स्वरूप में भेद नहीं है, केवल साधन-

भेद है। साधन-भेद होने पर भी प्रीति तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है। अतः हम सब किसी भी साधना को अपनाकर अपने को साधन से अभिन्न कर साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्ति सभी की एक है, क्योंकि हम सब की आवश्यकता एक है।

सारांश यह निकला कि प्रत्येक साधक की योग्यता एवं रुचि के अनुसार साधन में भेद होने पर भी परस्पर प्रीति तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है, जो वास्तव में मानवता है।

॥ॐ॥

चरित्र – निर्माण

(दिनांक 6 सितम्बर 1954)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

चरित्र-निर्माण मानव-जीवन में एक महान् बल है। उसकी आवश्यकता मानव-मात्र को है। उसके बिना मानव 'मानव' नहीं हो सकता। वीतराग होने में ही चरित्र-निर्माण की पराकाष्ठा है और वीतराग होने में ही पूर्ण मानवता का विकास है। चरित्र-निर्माण में ही अपना कल्याण तथा समाज का हित निहित है। इस दृष्टि से चरित्र-निर्माण जीवन का आवश्यक अंग है।

चरित्र-निर्माण वास्तव में अन्तःप्रेरणा है, क्योंकि किसी को भी चरित्रहीन की आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से समाज को एक-मात्र चरित्रवान् व्यक्ति की ही आवश्यकता है। इतना ही नहीं, अपनी निर्बलताएँ मिटाने में भी सच्चरित्रता ही समर्थ है।

चरित्र को सुरक्षित रखने के लिए सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, किन्तु चरित्र किसी के बदले में नहीं दिया जा सकता। अतः चरित्र का महत्व शरीरादि सभी वस्तुओं से अधिक है। चरित्र-निर्माण करने में जितेन्द्रियता अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि इन्द्रिय-लोलुपता के कारण ही हम चरित्र-हीन हो जाते हैं। भुक्त इच्छाओं के रस की स्मृति और अभुक्त इच्छाओं की आशा ही इन्द्रिय-लोलुपता को पुष्ट करती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन में उत्पन्न हुई नीरसता को दबाने तथा भुलाने के लिये प्राणी इन्द्रिय-लोलुपता का आश्रय लेता है। यद्यपि नीरसता

मिटाने के लिये नित-नव-रस की आवश्यकता है, चरित्र-हीनता की नहीं। नित-नव-रस की प्राप्ति प्रीति से होती है, किसी सुख-भोग से नहीं। प्रीति की प्राप्ति अचाह से होती है,किसी राग से नहीं। अचाह-पद की प्राप्ति विवेक से होती है, जो मानव-मात्र में विद्यमान है।

उस विद्यमान विवेक के प्रकाश में ही अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति देखना है। ऐसा करने से हमें अपनी निर्बलताओं का तथा अपने बनाये हुए दोषों का ज्ञान हो जायेगा। अपनी निर्बलता का ज्ञान वेदना जाग्रत् करने में समर्थ है। यदि उस वेदना को परदोष-दर्शन से दबाया न जाय, तो वेदना भी स्वतः दोषों को भस्मीभूत कर निर्दोषता की स्थापना में समर्थ हो जाती है और फिर निर्दोषता दोषों को उत्पन्न नहीं होने देती। इस दृष्टि से वेदना और दोषों का न दोहराना ही निर्दोष बनाने का मुख्य हेतु है।

वेदना और दुःख में अन्तर है। वेदना अभाव मिटाने की पीड़ा है, अथवा यों कहो कि वेदना मानव की वास्तविक भूख है। दुःख के दो रूप, एक तो सुख-भोग की आशा और दूसरा सब प्रकार के अभाव का अभाव करने की अभिलाषा। दुःख का बाह्य रूप पूर्ण दुःख नहीं है। दुःख का आन्तरिक रूप जो वेदना के रूप में जाग्रत् होता है, मानव के विकास की भूमि है। यह भूमि सुरक्षित तभी रह सकती है, जब हम अपने लक्ष्य से निराश न हों।

वेदना जाग्रत् होने पर एक आन्तरिक गहरी माँग उत्पन्न होती है, जो वास्तव में प्रार्थना है। प्रार्थी उस अनन्त को भले ही न माने अथवा न जाने, तो भी वह अनन्त अपनी अहैतुकी कृपा से प्रार्थी की प्रार्थना की पूर्ति कर देता है, किन्तु अपने को प्रकट नहीं करता। यह उस अनन्त की महिमा है, और कुछ नहीं। यदि प्राणी व्यथित हृदय से उन्हें पुकारे तो उसे सबकुछ मिल सकता है। इस दृष्टि से अपने को निर्दोष बनाने में प्रार्थना का मुख्य स्थान है। वह प्रार्थना सजीव तभी होती है, जब की हुई भूल को न दोहरा कर प्रायश्चित्तपूर्वक प्रार्थना की जाय। यदि किसी की प्रार्थना पर विश्वास न हो, तो कहना होगा कि जिस प्रकार प्यास का लगना ही पानी का माँगना है, उसी प्रकार अभाव की वेदना ही प्रार्थना है। प्रार्थना का अर्थ दीनता तथा

पराधीनता नहीं है, प्रत्युत अपनी वास्तविक आवश्यकता की जागृति है, अथवा यों कहो कि जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्रीति है।

चरित्र-निर्माण के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम विवेक तथा न्याय का प्रयोग अपने पर तथा विश्वास, क्षमा और प्रेम का उपयोग दूसरों पर करें। विवेक से दोष का ज्ञान होगा और न्याय से निर्दोषता की स्थापना होगी। न्याय वही सार्थक होता है, जो अपने पर किया जाय।न्याय का अर्थ दण्ड देना नहीं, अपितु सुधार करना है। अतः अपना सुधार करना ही अपने प्रति न्याय करना है। ज्यों-ज्यों अपना सुधार होता जाता है, त्यों-त्यों न्याय प्रेम में, क्रोध क्षमा में, अविश्वास विश्वास में, वैर-भाव निर्वैरता में और भिन्नता एकता में बदलते जाते हैं। जो अपने प्रति न्याय नहीं करता, वह दूसरों के प्रति प्रेम नहीं कर सकता।

प्रेम को विकसित करने के लिये अपने प्रति न्याय करना अनिवार्य है। वास्तविक न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि दोष का यथार्थ ज्ञान हो। जितना ज्ञान हमें अपने दोष का होता है, उतना अन्य के दोष का नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तविक न्याय अपने पर ही किया जा सकता है, दूसरों पर नहीं। दूसरों से तो प्रेम किया जा सकता है अथवा दूसरों को क्षमा किया जा सकता है। क्षमा और प्रेम, निर्वैरता और अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। निर्वैरता हमें निर्भय बना देती है और अभिन्नता नीरसता का अन्त कर सरस बना देती है, जो सभी को अभीष्ट है।

चरित्र-निर्माण के लिये हमें इन्द्रिय-लोलुपता को जितेन्द्रियता में, स्वार्थ-भाव को सेवा में तथा विषय-चिन्तन को भगवच्चिन्तन में परिवर्तित करना तथा असत् को असत् जानकर सत् की खोज करना अनिवार्य हो जाता है। यह नियम है कि सत् की खोज असत् को खा कर सत् से अभिन्न कर देती है। सत् स्वयं तो असत् का प्रकाशक है, विनाशक नहीं, किन्तु सत् की खोज असत् की विनाशक है। इस दृष्टि से सत् की खोज सत् से भी अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि सत् की खोज ही सत् के अभिलाषी को सत् से अभिन्न कर देती है। परन्तु, व्यर्थ-चिन्तन की आसक्ति सत् की खोज जागृत् नहीं

होने देती। सत् की खोज जागृत् करने के लिए व्यर्थ-चिन्तन को सार्थक-चिन्तन में अर्थात् वस्तु आदि के चिन्तन को भगवच्चिन्तन में बदलना अनिवार्य होगा। व्यर्थ-चिन्तन को सार्थक-चिन्तन में परिवर्तित करने के लिये स्वार्थ-भाव तथा इन्द्रिय-लोलुपता को सेवा-भाव तथा जितेन्द्रियता में बदलना होगा, तभी हम अपना निर्माण कर सकेंगे।

अपने निर्माण को सुरक्षित रखने के लिये अक्रोध, हृदयशीलता एवं निरभिमानता अत्यन्त आवश्यक है। क्रोध-रहित होने के लिए यह अनिवार्य होगा कि हम दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें। अपितु दूसरों के अधिकार को अपना कर्तव्य मानें, क्योंकि यदि किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार मानने लगे, तो उसकी पूर्ति में राग तथा आपूर्ति में क्रोध उत्पन्न होगा। क्रोध सभी दिव्य गुणों को भस्मीभूत कर देता है। अतः क्रोध रहित होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें। हृदयशील रहने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अपने प्रति होने वाली उदारता को अपना गुण न मानें, अपितु जिसने उदारता की है, उसकी महानता जानें। ऐसा करने से हृदयशीलता सुरक्षित रहेगी। हृदयशीलता सुरक्षित रहने से परस्पर स्नेह की वृद्धि होगी, जो विकास का मूल है। वह विकास तभी सुरक्षित रह सकेगा, जब किसी की निर्बलता को अपना बल न मान लिया जाय। जब हम प्रमादवश किसी की निर्बलता को अपना बल मान लेते हैं, तब अभिमान में आबद्ध हो जाते हैं, जो ह्रास का मूल है।

अपने निर्माण के लिए कर्म-शुद्धि का जीवन में मुख्य स्थान है। पर, वह तभी सम्भव होगा, जब हमारी सभी प्रवृत्तियाँ तथा सम्बन्ध शुद्धभाव से भावित हों, अर्थात् हम सभी को अपना कुटुम्ब जानें। इतना ही नहीं, कर्म का भेद होने पर भी प्रीति का भेद न हो। कर्म की भिन्नता तो अनिवार्य है, क्योंकि योग्यता तथा मान्यता का भेद है। परन्तु स्नेह की भिन्नता महान् दोष है। उसका अन्त किये बिना सच्चरित्रता सम्भव नहीं है। स्नेह की भिन्नता मिटाने के लिए हमें सभी के प्रति परिवार के समान ही सद्भाव रखना तथा सम्बोधन करना होगा। यह सभी को मान्य होगा कि

भाव के अनुरूप सम्बोधन करने से भाव में दृढ़ता आ जाती है। भाव के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के अनुरूप ही कर्ता का स्वरूप हो जाता है, अर्थात् जीवन पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है। अतः बाह्य भेद होने पर भी आन्तरिक एकता सुरक्षित रखना चरित्रवान होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि सच्चरित्रता सुरक्षित रखने के लिए हृदय सर्वदा असीम स्नेह से भरा रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने निकटवर्तियों की क्रियात्मक रूप से यथाशक्ति सेवा करने के लिए सर्वदा उद्यत रहें। कारण, कि सेवा स्वार्थ को खाकर स्नेह की वृद्धि करने में समर्थ है। अतः स्नेह को सुदृढ़ तथा विभु करने के लिए प्राप्त सुख का सद्व्यय, निर्मोहतापूर्वेक कर्तव्य बुद्धि से करते रहना चाहिए, जो वास्तव में सेवा है।

सेवा करने की योग्यता तभी आती है, जब हम स्वावलम्बी हों और स्वावलम्बी वे ही हो सकते हैं, जिनका आहार-विहार सुख-लोलुपता को त्याग शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक हित की भावना से हो। सुख और हित में बड़ा भेद है। सुख की आसक्ति हमें पराधीन तथा निर्बल बनाती है और हित हमें स्वाधीन तथा सबल बनाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति में सुख-बुद्धि का त्याग और हित-बुद्धि की स्थापना करना अनिवार्य है। सुखकर प्रवृत्ति से चरित्रहीनता तथा हितकर प्रवृत्ति से सच्चरित्रता स्वतः आ जाती है। कारण कि सुख हमें आलस्य तथा विलास की ओर और हित हमें श्रम तथा संयम की ओर गतिशील करता है। सुख से दुख दब जाता है और हित से दुःख मिट जाता है। दुख मिटाना सभी को अभीष्ट है। अतः सुख, लोलुपता को त्याग सर्वहितकारी भावना से प्रत्येक प्रवृत्ति करना चाहिए, जो चरित्र-निर्माण के लिए महामन्त्र है।

अपने को सुन्दर बनाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि शरीर श्रमी हो; कारण, कि शरीर के श्रमी होने से आवश्यक कार्य पूरे हो जाते हैं। और अनावश्यक कार्य मिट जाते हैं। अनावश्यक कार्य मिटते ही मन संयमी हो जाता है, मन के संयमी होने पर बुरे संकल्प मिट जाते हैं और भले संकल्प पूरे हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों संयम सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों शुद्ध संकल्पों की पूर्ति का

सुख मिटता जाता है। संकल्पपूर्ति का सुख मिटते ही निर्विकल्पता आ जाती है। मन के निर्विकल्प होने पर स्वतः विचार का उदय होता है और फिर बुद्धि विवेकवती हो जाती है। विवेकवती बुद्धि वासनाओं के मिटाने में समर्थ है। वासनाओं के मिटते ही हृदय अनुरागी हो जाता है।

यह नियम है कि अनुराग अहंभाव को अभिमान शून्य कर देता है, क्योंकि अनुराग का प्रादुर्भाव होते ही किसी प्रकार की चाह शेष नहीं रहती। अचाह हो जाने पर अहंभाव स्वतः गल जाता है। अहं भाव के गलते ही जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती और हृदय अनुरागी एवं अहं अभिमान शून्य करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है।

अपनी सुन्दरता सुरक्षित रखने के लिए यह सभी को मान्य होगा कि सत्य को जीवन में सभी से उत्कृष्ट स्थान दिया जाय। यह तभी सम्भव होगा, कि जब हम अपने को सिक्के की दासता से मुक्त कर सकें। सिक्के की दासता ने ही आलस्य, विलास तथा अभिमान को जन्म दिया है, जिससे चरित्र-हीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला, जो सुन्दरता को सुरक्षित नहीं रहने देती। यद्यपि सिक्के का जीवन में कोई विशेष मूल्य नहीं है। वह केवल आदान-प्रदान का साधन, अर्थात् माध्यम मात्र है। इस दृष्टि से सिक्का वस्तु उत्पादन का साधन मात्र है और कुछ नहीं। वस्तु का उत्पादन सिक्के को संग्रह करने के लिए नहीं है, प्रत्युत व्यक्तियों की रक्षा के लिये है और व्यक्ति का जीवन विवेकपूर्वक सत्य को प्राप्त करने के लिए है। कारण, कि असत् का त्याग और सत् की प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है। इस दृष्टि से सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक, एवं विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना अनिवार्य है, जो चरित्र- निर्माण में हेतु है। इतना ही नहीं, सच्चरित्र होने के लिये व्यर्थ-चिन्तन का त्याग एवं वर्तमान का सदुपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान के सदुपयोग का अर्थ है, सुख-दुःख का सदुपयोग और व्यर्थ-चिन्तन के त्याग का अर्थ है, सार्थक-चिन्तन, अर्थात् तत्व चिन्तन एवं भगवच्चिन्तन का उदय होना। सुख का सदुपयोग उदारता और

दुःख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता आ जाने पर प्राणी सुख-भोग के बन्धन से मुक्त हो जाता है और विरक्ति आ जाने पर आत्मानुरक्ति अथवा परम प्रेम की जागृति स्वतः होती है, जिसके होने से जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से सम्पन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि सब प्रकार के अभावों का अभाव होकर पूर्ण हो जाता है अथवा कहो कि जीवन जड़ता, पराधीनता, शक्ति-हीनता आदि दोषों से रहित होकर अनन्त-नित्य चिन्मय परम-तत्व से अभिन्न हो जाता है, जो मानव का उद्देश्य है। अतः चरित्र-निर्माण करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि चरित्र-निर्माण के लिए ही मानव-जीवन मिला है।

सुख-दुःख का सदुपयोग साधन का मूल है। वह तभी सम्भव होगा, जब सुख-दुःख को जीवन न मानकर उसे साधन-सामग्री जान लिया जाय। मानव-जीवन में सुख-दुःख के उपभोग का कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि सुख-दुःख तो पशु-पक्षी आदि भी भोगते हैं। मानव-जीवन तो सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त होकर पवित्र प्रेम तथा अमर-जीवन की प्राप्ति के लिए मिला है। वास्तव में ऐसा साधन-युक्त जीवन ही मानव-जीवन है।

॥ॐ॥

ॐ आनन्द। ॐ आनन्द। ॐ आनन्द॥

मानव–दर्शन

मानव की अपनी बात है, वह कुछ जानता है, कुछ मानता है और कुछ करता है। उसकी जानकारी, मान्यता एवं उसके कर्मों में जब तक सामञ्जस्य नहीं आता, तब तक उसका जीवन सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से भरा रहता है। परन्तु जब सामञ्जस्य हो जाता है, तब विकास की ओर प्रगति होती है। मानव विकास का अभिलाषी है। अतः उसको अपनी जानकारी, मान्यता एवं अपने कर्मों में सामञ्जस्य रखना अनिवार्य है। यह मानव-दर्शन है।

मानव जीवन की समस्या, मानव–दर्शन का महत्व

प्रत्येक मानव में तीन बातें है– जानना, मानना और करना। जब तक इन तीनो का सामञ्जस्य रहता है, तब तक मानव उत्तरोत्तर विकास की ओर बढ़ता रहता है। जब इस सामञ्जस्य में असन्तुलन आ जाता है, तब मानव पराधीनता, अभाव आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि मानव अपने जाने हुए का आदर करें। जाने हुए के प्रभाव से ही किए हुए के प्रभाव का नाश होता है, जिसके होते ही करने का राग मिट जाता है। राग–रहित होते ही सेवा, त्याग, प्रेम आदि दिव्यता की जीवन में अभिव्यक्ति स्वतः होती है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो मानव निज–विवेक का आदर नहीं कर सकता, वह सद्ग्रन्थों एवं गुरुजनों से प्राप्त प्रकाश का भी आदर नहीं कर सकता। इस कारण प्रत्येक मानव को निज–विवेक का आदर करना अनिवार्य है।

सुने हुए में आस्था होती है और जाने हुए का अनुभव होता है। अनुभव विकल्प–रहित होता है। देखे हुए में, अर्थात् प्रतीति में ममता, कामना एवं तादात्म्य होता है। इस दृष्टि से देखे हुए में और जाने हुए में बड़ा भेद है। जाना हुआ दर्शन है, देखा हुआ नहीं।

मानव जो भी जानता है उसका यदि अनादर न करे, तो वह ममता, कामना और तादात्म्य से रहित हो सकता है, ममता, कामना और तादात्म्य के रहते हुए किसी भी मानव को निर्विकारता, परमशान्ति तथा अपरिच्छिन्नता प्राप्त नहीं होती और इनके प्राप्त बिना हुए अभाव का अभाव सम्भव नहीं है। इस कारण मानव को अपने दर्शन में अविचल आस्था करना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि मानव का अपना दर्शन क्या है? दर्शन का अर्थ है– जानना, अर्थात् हम जो जानते हैं। इसके लिए किसी अन्य के सहयोग की अपेक्षा न होगी, अपितु अपने ही द्वारा अपनी जानकारी का अनुभव करना होगा। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपना अनुभव और अपनी जानकारी भिन्न-भिन्न वस्तु हैं? कदापि नहीं। तो फिर अपनी

जानकारी के अनुभव का अर्थ क्या होगा? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जाने हुए का, सुने हुए अथवा किए हुए के आधार पर अनादर न करें। यही अपनी जानकारी का अनुभव है। जिस प्रकार यह सभी को मान्य है कि जिस किसी के पास जा कुछ वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के रूप में प्राप्त है, वह उसका अपना व्यक्तिगत नहीं है, फिर भी मिले हुए में ममता कर लेना अपनी जानकारी का अनादर करना है। जानकारी का अनादर करने से जानकारी का प्रभाव अपने पर नहीं रहता। जब जाने हुए का प्रभाव नहीं रहता, तब भूलजनित अनेकों दोष उत्पन्न होते हैं। उन दोषों का अन्त करने के लिए प्रत्येक मानव को अपने जाने हुए का आदर करना अनिवार्य है। देखे हुए और जाने हुए में एक बड़ा भेद है। देखना किसी करण की अपेक्षा से होता है, पर जानना किसी करण की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु अपने ही द्वारा स्वयं जाना जाता है।

प्रत्येक मानव को वह प्रकाश प्राप्त है, जिसके आश्रित वह इन्द्रिय–दृष्टि से देखता है। देखना प्रवृत्ति है, जानना प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु मानव प्रमादवश देखने और जानने को समान मान लेता है। 'देखा हुआ जाना हुआ है'–यह निर्विवाद नहीं है। जो वस्तु जैसी दिखाई देती है, वह वैसी ही है, यह स्वीकार करना भूल है। इस कारण प्रत्येक मानव को इस गम्भीर समस्या पर विचार करना होगा कि वह जानता क्या है? और देखता क्याहै? उस पर देखे हुए का प्रभाव है अथवा जाने हुए का? जब तक जीवन में देखे हुए का प्रभाव रहता है, जब तक वह स्वाधीनता से पराधीनता की ओर, चेतना से जड़ता की ओर एवं असीम से सीमित की ओर गतिशील रहता है। परन्तु ज्यों–ज्यों जाने हुए का प्रभाव स्थायी होता जाता है, त्यों–त्यों देखे हुए का प्रभाव मिटता जाता है। सर्वांश में देखे हुए का प्रभाव मिटते ही स्वतः प्रत्येक मानव स्वाधीन, चिन्मय एवं असीम जीवन से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक मानव जब तक निज–दर्शन, अर्थात् अपने जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नहीं होगा, तब तक वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं होगी। अतः मानव–दर्शन के अपनाने

में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

मानव–दर्शन की आवश्यकता–

प्रत्येक मानव का अपना एक स्वतन्त्र दर्शन है। परन्तु दार्शनिको के दृष्टिकोण को अपनाना आस्था है, दर्शन नहीं है। आस्था विकल्प रहित होने से दर्शन के समान ही प्रतीत होती है, यद्यपि वह दर्शन नहीं होती। दर्शन में आस्था की अपेक्षा नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रत्येक मानव अपने दर्शन का आदर पूर्वक अनुसरण करें। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरों का दर्शन, दर्शन नहीं है। दर्शन तो अनेक हैं, पर जीवन एक है, अर्थात् एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेकों दृष्टिकोण हैं। लक्ष्य की एकता से सभी दार्शनिक एक हैं, किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन रूप दर्शन भिन्न-भिन्न है। भिन्न-भिन्न दर्शन होने पर भी उनका मूल प्रकाशक एक है। देखे हुए का निर्णय देखने की शक्ति के द्वारा नहीं होता, अपितु उसी प्राप्त प्रकाश के द्वारा होता है, जिसकी सत्ता से देखने की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। प्रत्येक मानव को मुख्यतः दो दृष्टियाँ प्राप्त हैं–इन्द्रिय–दृष्टि और बुद्धि–दृष्टि। दृष्टि दो हैं और दृश्य एक है। जिसमें देखने की रुचि है वही मानव है और जिसके प्रकाश में देखता है वही समस्त दर्शनों का आधार है, आश्रय है। देखने का प्रभाव उसी पर होता है, जिसमें देखने की रुचि है। देखने कीरुचि प्रकाशक में नहीं होती, अपितु उसी में होती है, जो अपने में इन्द्रिय–दृष्टि तथा बुद्धि–दृष्टि को आरोपित करता है। जिसने दृष्टियों को अपनाया है, उसी में देखने की रुचि है और वही मानव का अस्तित्व है। जो प्रकाश दृष्टियों को सत्ता देता है,उसी प्रकाश से दृश्य भी सत्ता पाता है। दृश्य और देखने की शक्ति तथा देखने का भोक्ता, इन तीनों में गुणों की भिन्नता भले ही हो, पर जातीय एकता है; कारण, कि जातीय एकता के बिना देखने की रुचि, देखने की सामर्थ्य तथा देखने की प्रवृत्ति सिद्ध ही नहीं होती।

इन्द्रिय–दृष्टि का प्रभाव देखने की रुचि को पोषित करता है, अर्थात् अनेक बार देखने पर भी देखने का राग नष्ट नहीं होता। परन्तु बुद्धि–दृष्टि का प्रभाव इन्द्रिय–दृष्टि के प्रभाव को नष्ट कर देता है। और फिर

देखने की रुचि जिज्ञासा के रूप में परिणत हो जाती है। जो देखता था, वह अब जिज्ञासु होने से, देखे हुए की वास्तविकता का अनुभव करने के लिए तत्पर होता है, अर्थात् राग–रहित होते ही देखे हुए की वास्तविकता का बोध स्वतः हो जाता है, जो वास्तविक दर्शन है। जिसके होते ही देखे हुए की ममता, कामना तथा उसके तादात्म्य का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही निर्विकारता, परमशान्ति एवं असीम, अनन्त नित्य, चिन्मय–जीवन से अभिन्नता स्वतः होती है। जो मानव मात्र का अपना लक्ष्य है। इस दृष्टि से दर्शन बड़े ही महत्व की वस्तु है। परन्तु दृष्टियों के द्वारा जिस दर्शन की अनुभूति होती है, वह व्यक्तिगत दृष्टिकोण होने से साधन रूप तो है, पर वास्तविक दर्शन नहीं है। वास्तविक दर्शन की प्राप्ति होती है; और साधन रूप दर्शन का वर्णन होता है। इस कारण सभी दार्शनिकों के दर्शन का आदर करते हुए, प्रत्येक मानव को अपने दर्शन का अनुसरण करना है।

जब तक मानव देखे हुए का सुख भोगता रहता है, तब तक उसमें जिज्ञासा उदित नहीं होती। देखे हुए के परिणाम का प्रभाव होने पर देखने की रुचि शिथिल हो जाती है, जिसके होते ही जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा के सबल तथा स्थायी होने से देखने की कामना और देखे हुए दृश्य की ममता का नाश हो जाता है। कामना का नाश होते ही परम शान्ति और ममता का अन्त होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है; और फिर स्वतः विचार का उदय होता है, जो दृश्य की वास्तविकता का बोध कराने में समर्थ है। बस, यही विचार–पथ है।

किसी का बोध किसी की आस्था भले ही हो, पर बोध में आस्था और आस्था में बोध को सम्मिलित करना जिज्ञासा और आस्था को दूषित करना है। जिज्ञासा की जागृति सन्देह की वेदना में निहित है। सन्देह–काल में आस्था का भार जिज्ञासु पर लाद देना जिज्ञासा को निर्जीव बनाना है। सन्देह रहते हुए आस्था सजीव नहीं होती और जिज्ञासु को आस्था में आबद्ध करने का प्रयास करना जिज्ञासु के लिए हितकर नहीं है। उसी प्रकार आस्था में विचार लगाना विश्वास–पथ के साधक के साथ घोर अन्याय है। अतः सन्देह की वेदना के

आधार पर जिज्ञासु में तीव्र जिज्ञासा जगने दो, तभी वह अपने दर्शन द्वारा वास्तविक दर्शन से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो सकेगा। जिज्ञासा सदैव देखे हुए के प्रति होती है। और आस्था उसमें हो सकती है। जिसको इन्द्रिय–दृष्टि तथा बुद्धि–दृष्टि से नहीं देखा है, अपितु आस्थावान् महापुरुषें से सुना है। सुने हुए में आत्मीयता हो सकती है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। विचार तो अपने पर अथवा अपने देखे हुए पर ही हो सकता है; कारण, कि बुद्धि–दृष्टि तथा इन्द्रिय–दृष्टि को बुद्धि–ज्ञान तथा इन्द्रिय–ज्ञान भी कहते हैं जो अल्प ज्ञान है। अल्पज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, अपितु अधूरा ज्ञान है। अधूरे ज्ञान को 'ज्ञान' मान लेने से, देखे हुए का प्रभाव अंकित हो जाता है, जो वास्तविकता से विमुख करने में हेतु है। इस दृष्टि से दृष्टि और प्रकाश में भेद स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रकाश जिसका है, उसमें तो आस्था हो सकती है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। अतः मानव प्राप्त प्रकाश के द्वारा देखे हुए पर विचार करे। देखे हुए पर विचार करने से दृश्य की वास्तविकता का बोध होगा, जिसके होते ही देखने की रुचि नाश होगी और फिर दृष्टियाँ अपने उद्गम में विलीन होंगी। दृष्टियों के विलीन होते ही देखने का राग जिसमें था वह, और दृष्टि एवं दृश्य–ये तीनों ही अपने आश्रय में विलीन होकर प्राप्त प्रकाश के द्वारा उस प्रकाशक से अभिन्न हो जायेंगे। फिर स्वतः वास्तविक दर्शन की अभिव्यक्ति होगी, जो निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। निस्सन्देहता और आस्था–इन दोनों का स्वयप एक है। जिज्ञासु सन्देह–रहित होकर, आस्थावान् होता है और विश्वासी विश्वासपात्र की प्रीति होकर, निस्सन्देह होता है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्ये मानव में किसी न किसी रूप में, किसी न किसी के प्रति आस्था भी होती है। मानव–जीवन में जाने हुए के समान ही आस्था का भी स्थान है, पर विवेक–विरोधी आस्था सर्वथा त्याज्य है। यह आवश्यक नहीं है कि आस्था विवेक में समर्थित हो, पर यह आवश्यक है कि आस्था में विवेक का विरोध न हो। विवेक–विरोधी आस्था देखे हुए में ममता, कामना तथा तादात्म्य उत्पन्न करती है, जो सर्वदा अहितकर है। आस्था वही साधन रूप

है, जो किसी दृष्टि का आश्रय नहीं रखती, अपितु किसी आस्थावान् की देन है। अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। बिना देखे हुए की आत्मीयता, देखे हुए की ममता का नाश कर, आस्थावान् को प्रियता प्रदानकरती है। प्रियता स्वभाव से ही रस–रूप होने से नीरतसा का सर्वांश में अन्त करने में समर्थ है। नीरसता का अन्त होते ही, निष्कामता, निर्ममता स्वतः जाग्रत होती है। कारण, कि समस्त कामनाओं का उद्गम नीरतसा में ही है। इस दृष्टि से प्रियता के जाग्रत होने पर भी देखे हुए का प्रभाव सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही अनेकता एकता में, भिन्नता अभिन्नता में विलीन हो जाती है और फिर आस्था–पथ का पथिक भी उसी परम तत्व को प्राप्त होता है, जिसे जिज्ञासु ने विचार–पथ से प्राप्त किया था। जिज्ञासा और आस्था का फल समान होने पर भी जिज्ञासा में आस्था को और आस्था में जिज्ञासा को मिलाने से न तो तीव्र जिज्ञासा ही होती है और न अविचल आस्था ही। तीव्र जिज्ञासा के बिना निष्कामता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है और निष्कामता के बिना जिसमें देखने की रुचि है, उसमें तथा दृष्टि एवं दृष्य–इन तीनों में एकता नहीं होती, जिसके बिना हुए, समता नहीं आती। समता के बिना, योग तथा बोध की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण जिज्ञासा में आस्था मिलना भूल है। निस्सन्देहता की माँग और सन्देह की वेदना से ही जिज्ञासा तीव्र होती है। तीव्र जिज्ञासा स्वतः कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं की निवृत्ति और विचार का उदय युग–पद् हैं। विचार का उदय होते ही स्वतः बोध होता है, जो वास्तविक दर्शन है।

अविचल आस्था निस्सन्देहता से ही पुष्ट होती है। निस्सन्देहता में सन्देह को जगाने का प्रयास आस्था में विकल्प करना है। आस्था सदैव बिना देखे में होती है। जो दृष्टिगोचर नहीं हुआ, उस पर विचार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आस्था करे अथवा न करें, इसमें मानव स्वाधीन है। पर आस्था में विकल्प करना असावधानी के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं है। विकल्प–रहित आस्था ही श्रद्धा, विश्वास की जननी है। श्रद्धा, विश्वास से ही आत्मीयता जाग्रत होती है। अतः

आस्था में सन्देह करना आस्था को निर्जीव बनाना है। इस दृष्टि से जिज्ञासा और आस्था दोनों ही स्वतन्त्र पथ है। देखे हुए पर विचार और बिना देखे पर आस्था हो सकती है। देखे हुए में विश्वास और बिना देखे हुए पर विचार करना विश्वास और विचार का दुरुपयोग है।

प्रतीति जिसमें है, जिसकी है और जिसके द्वारा है–इन तीनों में गुणों की भिन्नता होने पर जातीय तथा स्वरूप की एकता है। यदि ऐसा न होता, तो जो प्रतीति–कर्ता है, उसकी प्रतीति में ममता तथा कामना न होती। कामना जिसकी है वह, और जिसमें है वह–इन दोनों में किसी–न–किसी प्रकार की एकता तथा भिन्ननता है। यह सभी को विदित है कि सभी कामनायें किसी की पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी हुई। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कामना की पूर्ति कामना के अधीन नहीं है, अपितु किसी विधान के अधीन है। इतना हीं नही, कामना–आपूर्ति और पूर्ति– इन दोनों का परिणाम भी एक ही है। कामना–आपूर्तिकाल में जो पराधीनता भासती है, वही पराधीनता कामना–पूर्तिकाल में भी ज्यों की त्यों रहती है। अतः कामना–पूर्ति, आपूर्ति का परिणाम समान है। किन्तु कामना–पूर्ति को महत्व देना और आपूर्ति से क्षुब्ध होना पराधीनता–जनित सुख–लोलुपता को जीवित रखना है, जो वास्तव में भूल है। दर्शन से भूल का नाश होता है, वस्तुस्थिति का नहीं है। भूल का नाश होते ही स्वतः सजगता प्राप्त होती है, जो विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार वस्तुस्थिति सतत परिवर्तनशील है। उत्पत्ति और विनाश का क्रम ही स्थिति के रूप में प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखा हुआ वैसा नहीं है, जैसा दिखाई देता है। देखे हुए में सन्देह होते ही जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो दर्शन का मूल है।

देखे हुए का स्वतन्त्र अस्तित्व न होने पर भी देखे हुए का उपयोग करने की रुचि मानव में विद्यमान हैं उस रुचि की पूर्ति होने पर ही करने का राग नाश होता है, जिसके होते ही अकर्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और स्वभाव से ही कर्तव्य–परायणता आ जाती है, जिसके आते ही मिले हुए का सदुपयोग और पारस्परिक एकता तथा स्नेह सुरक्षित रहता है, जो विकास का मूल है। इस

दृष्टि से जो करना चाहिए, उसके करने की अभिरुचि भी मानव में विद्यमान है। अब विचार यह करना है कि करना क्या है? सामर्थ्य और विवेक जिस कार्य के समर्थक हैं, वही करना है। सामर्थ्य–विरोधी कार्य कोई कर नहीं सकता और विवेक–विरोधी कार्य मानव को करना नहीं चाहिए। जो नहीं कर सकते उसके, और जो नहीं करना चाहिए उसके, न करने से, जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से कर्तव्यपरायणता सहज तथा स्वभाविक है।

मानव-दर्शन के आधार पर जानना है, मानना तथा करना–इन तीनों का उपयोग वास्तविक जीवन की प्राप्ति में ही है। जाने हुए का प्रभाव और मिले हुए का सदुपयोग तथा जिसे देखा नहीं है, उसकी आस्था प्रत्येक मानव के लिए साधन रूप है। इनमें से किसी एक को अपना लेने पर क्रमशः सभी स्वतः आ जाते हैं; कारण, कि जीवन एक है। परिस्थिति–भेद से इनमें से किसी एक को अपनाना आवश्यक है। किसको क्या अपनाना है, इसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता है। व्यक्तिगत स्वाधीनता का अनुसरण करने पर सभी साधनों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। इस दृष्टि से साधन अनेक और साध्य एक है। प्रत्येक मानव 'साधक' है। साधक होने से उसका कोई साध्य है और उस पर कोई दायित्व है। दायित्व को पूरा करने पर साध्य से अभिन्नता होती है। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व वही है, जो स्वाधीनता पूर्वक पूरा किया जा सकता है। दायित्व को पूरा करने में कोई असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपने दर्शन को आदर पूर्वक अपनाये। जानने, मानने तथा करने की शक्ति साधन–सामग्री है, समष्टि शक्तियों से निर्मित है, व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। परन्तु उसके सदुपयोग में मानव का अधिकार है, उसकी ममता में नहीं। ममता तादात्म्य को जन्म देती है और सदुपयोग से स्वतः असंगता प्राप्त होती हे। तादात्म्य परिच्छिन्नता, जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध करता है और असंगता असीम, अनन्त तथा चिन्मय–जीवन से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से तादात्म्य का नाश तथा असंगता की अभिव्यक्ति

वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है।

मानव–दर्शन की आवश्यकता इसलिए है कि मानव मिले हुए में ममता न करें और न उसका दुरुपयोग ही। निर्मम होकर मिले हुए का सदुपयोग कर्तव्य–विज्ञान है। कर्तव्यपरायणता योग–विज्ञान की जननी है। योग–विज्ञान सामर्थ्य का स्त्रोत है। सामर्थ्य से ही स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता स्वतः चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से निर्मम होकर मिले हुए का प्रादुर्भाव होता है। निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से परम–शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। निर्विकारता एवं शान्ति में रमण न करने से असंगता–पूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। जब मानव को प्राप्त स्वाधीनता भी सन्तुष्ट नहीं कर पाती, तब उसकी अहैतुकी कृपा से, जिसे देखा नहीं है उसके प्रति स्वतः प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जो वास्तविक जीवन है। निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम–ये सब एक ही धातु से निर्मित हैं, अर्थात् इन सब का आश्रय और प्रकाशक कोई एक ही है। उसी में अविचल आस्था होती है।

यह सभी के मान्य होगा कि जाने हुए का प्रभाव ही मिले हुए की ममता के त्याग में हेतु है। निर्मम होने पर ही निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। निष्कामता से ही परम–शान्ति और शान्ति में रमण न करने से असंगता–पूर्वक स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता में सन्तुष्ट न रहने से अगाध, अनन्त, नित–नव प्रियता उदित होती है। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव ही समस्त साधनों की भूमि है।

जिसने अहैतुकी कृपा से प्रेरित हो, मानव–जीवन का निर्माण किया है, उसने आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु ऐसे अनुपम ढंग से प्रदान की है कि मिला हुआ मानव को अपना ही मालूम होता है। यद्यपि कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, परन्तु उस दाता की यह महिमा है कि मिला हुआ अपना जैसा ही लगता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मिले हुए में ममता की जाय, उसका सदुपयोग न किया जाय दाता की अनुपम उदारता का आदर न किया जाय। जिसने सब कुछ दिया है, उसमें अविचल आस्था अनिवार्य

है। आस्था श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। इस दृष्टि से आस्था बड़े ही महत्व की वस्तु है। पर उसका उपयोग देखी हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में करना भूल है। परिस्थिति आदि में आस्था करने से परिस्थितियों से तादात्म्य हो जायेगा, जो विनाश का मूल है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि आस्था एकमात्र उसी में करनी है, जिसे देखा नहीं है। अतः जाने हुए का प्रभाव, मिले हुए का निर्ममता तथा निष्कामता पूर्वक सदुपयोग एवं उसमें आस्था, जिसे देखा नहीं है, मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव निज-दर्शन में विकल्प न करे।

स्वभाव से ही प्रत्येक मानव में करने, जानने तथा मानने की माँग है और किसी न किसी रूप में जानते, मानते तथा करते भी है। किन्तु विचार यह करना है कि जो जानना चाहिए वही जानते हैं? जो मानना चाहिए वही मानते हैं? और जो करना चाहिए वही करते हैं क्या? यदि वही जानते, मानते, और करते हैं, तो फिर मानव-जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं रहना चाहिए। परन्तु वर्तमान वस्तुस्थिति में अभाव है। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक मानव अपने ही द्वारा इस बात का अनुभव करे कि वह क्या जानता, मानता तथा करता है? अर्थात् अपना निरीक्षण करने पर ही मानव को मानव-दर्शन का स्पष्ट बोध होगा, जिसके होते ही बड़ी सुगमता पूर्वक वास्तविक-जीवन की प्राप्ति होगी। यह निर्विवाद है कारण, कि मानव-जीवन का जो उद्देश्य है, उसकी पूर्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है। पराधीनता एक-मात्र तभी तक जीवित है, जब तक मानव-दर्शन से अपरिचित है।

अपने को प्रतीति और स्वीकृति के रूप में भी जानते हैं। पर यह जाना मानव-दर्शन से समर्थित नहीं है, अपितु इन्द्रियों के द्वारा जो सुना है, उसी को मान लिया है। सुना हुआ विश्वास हो सकता है, ज्ञान नहीं। अपने सम्बन्ध में अपने ही द्वारा जानना होगा। सुना हुआ जानना नहीं हो सकता। अब अपने सम्बन्ध में अपने द्वारा क्या जानते हैं? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी स्वीकृति तथा प्रतीति का अर्थ 'मैं नहीं है। समस्त प्रतीतियाँ

"यह" कर के विदित होती हैं। "यह" को ही "मैं" मान लेना जानना नहीं है, अपितु भूल है। इस भूल को 'भूल' न मानने पर शरीर में अहम्-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, जिसके उत्पन्न होते ही अनेकों विकार उत्पन्न होते हैं, जिनके होते ही अनेक प्रकार की पराधीनताओं, जड़ता और अभाव में मानव आबद्ध हो जाता है। पराधीनता तथा अभाव आदि की वेदना इस भूल को मिटाने की प्रेरणा देती हे। और फिर मानव प्राप्त प्रकाश में जब अपने सम्बन्ध में खोज करता है, तब उसे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि प्रतीति 'मैं' नहीं हूँ, अर्थात् शरीर मैं नहीं हूँ। शरीर में अहम्-बुद्धि रहती है, तब मम-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यह जानना भी भूल से रहित नहीं है; कारण, कि शरीर सृष्टि रूप सागर की एक बूँद के तुल्य है। जब सागर व्यक्तिगत नहीं है, तो भला उसकी बूँद अपनी कैसे हो सकती है? अतः शरीर की ममता भी भूल ही है। इस भूल को, 'भूल' जानते ही यह स्वतः अनुभव होता है कि न तो शरीर 'मैं' हूँ, और न वह मेरा है। इस अनुभव से यह तो स्पष्ट नहीं होता है कि 'मैं क्या हूँ? यही विदित होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ और वह मेरा नहीं है। केवल भूल से ही शरीर में अहम् तथा मम-बुद्धि उत्पन्न हो गई है।

प्राकृतिक नियमानुसार उत्पत्ति का विनाश अपने आप होता है। और भूल को 'भूल' जान लेने पर भूल सदैव के लिए नशा हो जाती है। इस भूल के नाश होते ही निष्कामता, निर्विकारता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही वह विचार स्वतः जाग्रत होता है, जो अविचार का अन्त कर मानव को वास्तविकता से अभिन्न कर देता है। अतः यह समस्या हल हो जाती है कि 'मैं' मानव–दर्शन की दृष्टि से क्या है। उसका वर्णन एक-मात्र संकेत-भाषा से ही सम्भव है। कारण, कि जन कारणों के द्वारा वर्णन किया जाता है, वे 'यह' के ही रूप हैं। 'यह' और 'मैं' की भिन्नता होने पर 'यह' के द्वारा 'मैं' के ही रूप हैं। 'यह' और 'मैं' की भिन्नता होने पर 'यह' के द्वारा 'मैं' का स्पष्ट वर्णन सम्भव नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने को अपना बोध नहीं होता। बोध होता है, पर वर्णन संकेत-मात्र ही सम्भव है। इस दृष्टि से 'मैं' की वास्तविकता का बोध स्वयं द्वारा स्वयं को ही होता है।

जिस प्रकार प्रतीति 'मैं' से भिन्न है, उसी प्रकार समस्त स्वीकृतियाँ भी 'मैं' से भिन्न हैं; कारण, कि 'मैं' एक और स्वीकृतियाँ अनेक, अर्थात् एक ही 'मैं' में अनेक स्वीकृतियों का आरोप है और प्रत्येक स्वीकृति किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है, अर्थात् स्वीकृति के अनुरूप कुछ न कुछ करने की बात उत्पन्न होती है, यद्यपि करने का सम्बन्ध सदैव 'पर' के प्रति है, 'स्व' के नहीं। इस दृष्टि से स्वीकृति स्वरूप नहीं है, अपितु मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के उपयोग की प्रतीक-मात्र है। जो 'मैं' नहीं है, 'मेरा' नहीं है, उसी का उपयोग विश्व के प्रति करने के लिए स्वीकृति एक प्रतीक-मात्र है। यह निमय है कि पवित्रता पूर्वक स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति होने पर स्वीकृति 'प्रवृत्ति' होकर, 'पर' की सेवा में विलीन हो जाती है। अतः स्वीकृतियों को भी 'मैं' मानना भूल ही है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव करने के राग, पाने के लालच और जीने की आशा से रहित हो जाता है; कारण, कि पाने के प्रलोभन में पराधीनता की व्यथाऔर जीने के प्रलोभन में मृत्यु का भय तथा करने के राग में श्रमित होकर असमर्थ होने की वेदना सतत विद्यमान रहती है, जो मानव की माँग नहीं है। इस कारण सजगता पूर्वक कर्तव्यपरायणता द्वारा करने के राग से और निष्कामता पूर्वक पाने के प्रलोभन से तथा देहाभिमान से रहित होकर मृत्यु के भय से मुक्त होना अनिवार्य हो जाता है।

प्रतीति तथा स्वीकृतियों से रहित जो है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है, अर्थात् वह निर्विकार है। निर्विकारता मानव की माँग है। अतः अपने द्वारा अपनी खोज करने पर निर्विकारता से अभिन्नता स्वतः हो जाती है और 'मैं' का अस्तित्व एक-मात्र उसी का प्रेम हो जाता है। 'प्रेम', 'प्रेमास्पद' से विभाजित नहीं होता। प्रेम स्वभाव से ही क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है और सदा उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। इतना ही नहीं, प्रेम, प्रेमास्पद के तुल्य अनन्त ही है।

'मैं' की खोज करते-करते जिससे अभिन्नता हुई, वास्तव में वही आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पात्र है। पर मानव उसमें आस्था न करके, प्रतीति और स्वीकृतियों में आस्था कर बैठता

है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रतीति के अनुरूप प्रवृत्ति होती है, पर प्राप्ति नहीं होती और स्वीकृति का भास तो होता है, पर बोध नहीं होता। जो प्राप्ति तथा बोध से रहित है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस भूल का अन्त किये बिना, मानव न तो जाने हुए का आदर ही कर पाता है और न उसकी श्रद्धास्पद में श्रद्धा ही होती है। जाने हुए का अनादर करने से अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों की उत्पत्ति होती है और श्रद्धास्पद में श्रद्धा न होने से ममता, कामना तथा तादात्म्य की उत्पत्ति हो जाती है, जो विनाश का मूल है।

जाने हुए का आदर किये बिना, मिली हुई वस्तु, योग्यता सामर्थ्य का सदुपयोग सम्भव नहीं है; कारण, कि जो सामग्री विश्व की सेवा के लिए मिली थी, जो हुए का अनादर करने पर उस सामग्री के द्वारा मानव अपना-सम्पादन करने लगता है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार सुख के भोगी को दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है, परन्तु जाने हुए के अनादर से सेवा को न करके, मानव सुख-लोलुपता में आबद्ध हो जाता है, जो दुःख का मूल है। अतः मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का निर्ममता, निष्कामता पूर्वक विश्व-सेवा में व्यय करना अनिवार्य है; कारण, कि शरीर आदि वस्तुओं की विश्व से जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओं का उपयोग एक मात्र 'पर-सेवा' में विलीन हो जाता है और फिर यह भूल नहीं रहती कि वह किया जो नहीं करना था, अपितु वही किया जो करना चाहिए। अर्थात् अकर्तव्य को त्याग, कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होने पर मानव करने के राग से रहित हो जाता है, और स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण हेने लगता है। इस दृष्टि से जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने में ही, जो करना चाहिए वह निहित है। कर्तव्य की स्मृति तथा कर्तव्यपरायणता जाने हुए के आदर में ही निहित है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन मानव-मात्र के लिए हितकर है, अर्थात् जाने हुये के अनुरूप प्रवृत्ति ही सहज निवृत्ति की जननी है। सहज-निवृत्ति मानव को योग से अभिन्न कर देती है। कर्तव्यपरायणता की परावधि कर्ता को योग से अभिन्न करती है। योग का सम्पादन होने पर पराधीनता

'स्वाधीनता' में विलीन होती है। पराधीनता का सर्वांश में अन्त होने पर स्वतः चिन्मय-नित्य जीवन से अभिन्नता होती है।

जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा नहीं होती और पूरी जानकारी होने पर भी जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासा सदैव अधूरी जानकारी में होती है। अधूरी जानकारी अल्पज्ञान है और उसी को अज्ञान कहते हैं, अर्थात् करण-सापेक्ष अनुभूति अल्प-ज्ञान है अथवा यों कहो कि देखे हुए को ज्ञान मानना अल्प-ज्ञान है। जगत् की प्रतीति और अपनेपन का भास प्रत्येक मानव में स्वभाव से है। किन्तु जगत् की जैसी प्रतीति है, क्या वही जगत् की वास्तविकता है? यदि, है तो अल्प-ज्ञान कैसा? यदि नहीं है, तो उसे अज्ञान के अतिरिक्त और क्या कह सकते है? उसी अज्ञान से जिज्ञासा जाग्रत होती है, उसी की कामना होती है। कामना रहते हुए इच्छित वस्तु की वास्तविकता का अनुभव नहीं होता। अतः प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव करने के लिए उसे असंग होना अनिवार्य है, जो एक-मात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है। प्रतीति से असंग होने पर प्रतीति के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध नहीं होता और प्रतीति का संग करने से प्रतीति अपने पर शासन करने लगती है, अर्थात् प्रतीति के प्रभाव से मानव प्रभावित हो, पराधीनता में आबद्ध हो जाता है। प्रतीति के आकर्षण ने ही पराधीनता, परिच्छिन्नता आदि विकारों में आबद्ध किया है। प्रतीति का आकर्षण उसी समय तक जीवित रहता है, जिस समय तक मानव प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव नहीं करता। प्रतीति जिन कारणों की अपेक्षा रखती है, वे करण भी प्रतीति के अन्तर्गत ही हैं। अतः प्रतीति के द्वारा प्रतीति की वास्तविकता का बोध सम्भव नहीं है। इस कारण इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि के द्वारा प्रतीति की वास्तविकता का ज्ञान सम्भव नहीं है। इस कारण देखना ज्ञान नहीं है। ज्ञान किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता। करण की अपेक्षा तो देखने के लिए होती है, जो एक-मात्र ममता तथा कामना के रहते हुए ही रहती है।

यह सभी को विदित है कि कामना की पूर्ति और आपूर्ति दोनों ही अवस्थायें पराधीनता तथा अभाव में आबद्ध रखती है। इस अनुभव का

आदर करते ही निष्कामता स्वभाव से ही प्रिय हो जाती है। निष्कामता को अपना लेने पर किसी भी कारण की अपेक्षा नहीं रहती। अतः दोनों ही दृष्टियाँ निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर अपने मूल उद्गम में विलीन हो जाती हैं और फिर प्रतीति की वास्तविकता का बोध कराने के लिए विचार का उदय स्वतः होता है, जो अविचार-जन्य अल्प-ज्ञान का अन्त कर, वास्तविकता से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव कर सकता है। प्रतीति की जिज्ञासा पूरी होने पर जिज्ञासु का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता; कारण, कि 'जिज्ञासु' जिज्ञासा' होकर वास्तविकता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से 'यह' के ज्ञान में ही 'मैं' का ज्ञान है और 'मैं' के ज्ञान में ही 'यह' का ज्ञान है। 'यह' और 'मैं' की भिन्नता वास्तविक भिन्नता नहीं है, अर्थात् जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता है। 'यह' की ममता तथा कामना ने ही 'मैं' को जीवित रखा है। ममता और कामना का अन्त होते ही 'यह' और 'मैं' दोनों ही 'है' में विलीन होते हैं, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिसकी प्रतीति है उसकी प्राप्ति नहीं है। इस दृष्टि से प्रतीति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी ममता, कामना तथा उससे तादात्म्य स्वीकार करना अभाव में भाव-बुद्धि स्थापित करना है, जो भ्रम-मूलक है, अर्थात् 'नहीं' में है-बुद्धि स्वीकार करना है, 'है' की विस्मृति और 'नहीं' की स्वीकृति को पोषित करना है। स्वीकृति-मात्र से जिसकी प्रतीति होती है, वह अस्वीकृति से नहीं रहती। अस्वीकृति-मात्र से जिसकी प्राप्ति होती है, वह अस्वीकृति से नहीं रहती। अस्वीकृति-मात्र से जिसकी निवृत्ति है, किसी भी प्रवत्ति से उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में प्रत्येक व्यक्ति असमर्थ तथा अभाव का ही अनुभव करता है। किन्तु प्रवृत्ति-जनित सुखाशक्ति बेचारे मानव में कृतत्व तथा भोक्तृत्व को उत्पन्न-जनित सुखासक्ति बेचारे मानव में कर्तव्य तथा भोक्तृत्व को उत्पन्न करती है। प्रवृत्ति-जनित आसक्ति ही प्रतीति का आकर्षण है। प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव प्रतीति के आकर्षण को नष्ट कर देता है। आकर्षण का नाश होते ही स्वतः

सहज-निवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। सहज-निवृत्ति स्वतः मानव को असीम, अनन्त-नित्य सौन्दर्य से अभिन्न करती है, जो मानव की वास्तविक माँग है।

मानव-दर्शन मानव की वास्तविक माँग से निराश नहीं होने देता और न कामनाओं की आशा रहने देता है, अपितु निष्कामतापूर्वक वास्तविक माँग की पूर्ति करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को निज-ज्ञान का आदर करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब देखे हुए के प्रति जिज्ञासा जाग्रत हो, अर्थात् देखने और जानने का जो भेद है, वह स्पष्ट विदित हो जाए।

देखा हुआ ज्ञान नहीं है, वह तो किसी राग का परिणाम है। राग-रहित हुए बिना वास्तविकता का बोध नहीं होता। अतः राग-रहित होने के प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव और निवृत्ति की महिमा में आस्था अत्यन्त आवश्यक है। ज्यों-ज्यों सहजनिवृत्ति की महिमा सबल होती है, त्यों-त्यों प्रवृत्ति स्वतः निवृत्ति में विलीन होती जाती है और ज्यों-ज्यों प्रवृत्ति के परिणाम का प्रभाव होता जाता है, त्यों-त्यों स्वतः सहज-निवृत्ति सबल तथा स्थायी होती जाती है। प्रवृत्ति का महत्व केवल 'पर-सेवा' में है। कोई भी प्रवृत्ति अपने लिए उपयोगी नहीं है। सेवा अनेकता में एकता का बोध कराती हे। और सहज-निवृत्ति 'एक ही अनेक है'–इसका परिचय देती है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही साधनरूप है। निर्विकल्प अवस्था सामर्थ्य की जननी है और निर्विकल्प-बोध दर्शन की पराकाष्ठा है। निर्विकल्प अवस्था सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ है; कारण, कि इसी अवस्था में दुःख की निवृत्ति और शन्ति का प्रादुर्भाव होता है। पर यह भी अवस्था होने पर-प्रकाश्य है। इस कारण निर्विकल्प अवस्था सभी अवस्थाओं में उत्कृष्ट होने पर भी चिन्मय नहीं है। क्रियाशीलता, जड़ता, निरर्थक-चिन्तन, सार्थक-चिन्तन आदि अवस्थाओं से निर्विकल्प अवस्था श्रेष्ठ है। निर्विकल्प अवस्था का सम्पादन होने पर विचार का उदय, प्रीति की जागृति तथा आवश्यक सामर्थ्य शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। अनावश्क कार्य का त्याग और फलाशक्ति–रहित आवश्यक कार्य की पूर्ति होने पर निर्विकल्प अवस्था स्वतः प्राप्त होती है। फलासक्ति के रहते हुए

कृतत्व का अभिमान तथा करने का राग निवृत्त नहीं होता, जिसके बिना निवृत्त हुए, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति नहीं होती। इस कारण मानव प्रत्येक प्रवृत्ति फलासक्ति-रहित होनी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव अपने लक्ष्य से अपरिचित न रहे, अपितु लक्ष्य के लिए ही समस्त चेष्टाएँ करें। जब अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही लक्ष्य में विलीन होती है, जब प्रवृत्ति और निवृत्ति समान फलवती होती हैं। केवल प्रवृत्ति और निवृत्त् का चित्र ही भिन्न होता है। वास्तविकता की दृष्टि से दोनों ही अवस्थायें हैं। अवस्थाओं का तादात्म्य परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। इस कारण सभी अवस्थाओं से असंग होना अनिवार्य है। निर्विकल्प अवस्था से असंग होने पर ही निर्विकल्प बोध होता है, जो दर्शन की पराकाष्ठा है। निर्विकल्प बोध में सन्देह की उत्पत्ति नहीं होती; कारण, कि निर्विकल्प बोध में वास्तविकता से अभिन्नता हो जाती है। बोध रहता है, बोधवान नहीं। जब तक यह भासित होता है कि 'मैं बोधवान हूँ।', तब तक किसी-न-किसी अंश में बोध से भिन्नता है। भिन्नता भेद को पुष्ट कर, परिच्छिन्नता में आबद्ध करती है। निर्विकल्प बोध में ही अगाध प्रियता का प्रादुर्भाव होता है और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही नहीं रहती। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं। प्रीति ही में प्रीतम का नित्य-वास है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव सभी अवस्थाओं से अतीत, अभिमान-शून्य हो जाता है। निरभिमानता के बिना अहम् भाव रूप अणु का अन्त नहीं होता, जिसके बिना हुए नित-नव प्रियता जाग्रत नहीं होती। प्रियता की जागृति में ही रस की अभिव्यक्ति है। रस की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता है, जो मानव की वास्तविक माँग है। रस और सुख में बड़ा भेद है। रस से अरुचि नहीं होती और न रस की क्षति, निवृत्ति तथा पूर्ति ही होती है, अपितु रस की नित-नव वृद्धि होती है। इस दृष्टि से रस अनन्त है। सुख के भोग में मानव श्रमित हो असमर्थता, अभाव एंव पराधीनता में आबद्ध होता है। पर रस की अभिव्यक्ति में श्रम, पराधीनता आदि की गन्ध भी नहीं है। रस की भूख बढ़ने पर ही सुखासक्ति का नाश होता है। सुखासक्ति का नाश होते ही रस की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। रस अनन्त का स्वभाव

है और मानव की माँग है। रस की माँग से निराश होना घोर प्रमाद है। सुख की आशा करना भूल है। नित–नव रस की उत्पकण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे; यही मानव के प्रयास की पराविध है। रस से मानव की जातीय तथा स्वरूप की एकता है और सुख से मानव की केवल मानी हुई एकता है, वास्तविक नहीं; कारण, कि सुख की उत्पत्ति दुःख तथा पराधीनता से ही होती है। जिसका मूल दुःख तथा पराधीनता है, उसे जातीय एकता हो नहीं सकती। जिससे जातीय नहीं है, उसकी आशा करना और जिससे जातीय एकता है, उससे निराश होना- इससे बढ़कर और कोई भारी भूल नहीं है। भूल का अन्त करने के लिए ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव का निर्माण हुआ है। इस कारण सुख की आशा का त्याग तथा रस की उत्कट लालसा जाग्रत करने में ही मानव के दायित्व की परावधि है। दायित्व पूरा किये बिना, माँग की पूर्ति सम्भव नहीं है। दायित्व पूरा करने में असमर्थता तथा पराधीनता स्वीकार करना मानव का अपना अनाया हुआ दोष है। दायित्व पूरा करने की अभिरूचि तीव्र होने पर दायित्व पूरा करने में असमर्थता तथा पराधीनता नहीं रहती; कारण, कि वास्तविक प्रार्थना स्वतः पूरी हो जाती है। जिनकी अगाध करुणा से प्रार्थना पूरी होती है, वे सदैव अपने हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने विचार पूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्य का अन्त कर दिया है।

प्रत्येक मानव को यह विदित ही है, कि इन्द्रिय-जन्य तथा बुद्धि-जन्य प्रतीति में सतत परिवर्तन तथा गतिशीलता है। सतत परिवर्तन होने के कारण प्रतीति की स्थिति नहीं है। जिस प्रतीति की स्थिति ही नहीं है, उस प्रतीति के अस्तित्व को प्रतीति के रूप में स्वीकार करना, जाने हुए का अनादर है। निज-ज्ञान का अनादर करते ही प्रतीति से ममता उत्पन्न हो जाती है। ममता उत्पन्न होते ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनापूर्ति-आपूर्ति का सुख-दुःख भोगते-भोगते प्रतीति से तादात्म्य हो जाता है और फिर भोक्ता और भोग्य– ये दोनों ही प्रतीति की अवस्थायें भासने लगती हैं। किन्तु भोग के परिणाम का प्रभाव जब भोक्ता पर होता है, तब वह अपने में भोक्ता-भाव का त्याग कर, जिज्ञासु-भाव की

स्थापना कर लेता है, अर्थात् जो अपने को भोक्ता अनुभव करता था, वह प्रतीति की वास्तविकता जानने के लिए आकुल हो जाता है। प्रतीति की जिज्ञासा प्रतीति की स्थिति की सत्यता को खा लेती है। प्रतीति की स्थिति अस्वीकार करते ही प्रतीति से दृष्टि हट जाती है और अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही प्रतीति प्रतीति के साधन और प्रतीति-कर्ता, इन तीनों में एकता हो जाती है। यह एकता भी एक अवस्था ही है, बोध नहीं। इस अवस्था में विषमता नहीं रहती, अशान्ति नहीं रहती और न दुःख ही शेष रहता है। परन्तु इस अवस्था का तादात्म्य भी बोध नहीं है। इस अवस्था में रमण न करने से अभिन्नता होती है। और फिर निर्विकल्प बोध हो जाता है। निर्विकल्प बोध में ही नित्य-जागृति है, अर्थात् अवस्थान्तर सतत होता रहता है, किन्तु उससे तादात्म्य नहीं रहता। तादात्म्य मिटते ही असीम, अनन्त, चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है और फिर अहं-भाव रूप बणु स्वयं गल जाता है, जिसके गलते ही योग, बोध, प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जो मानव की वास्तविक माँग है। योग, बोध और प्रेम विभूतियाँ हैं उस असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय तत्व की। समस्त विश्व स्वभाव से ही उसकी ओर गतिशील है।

मानव की अभिन्नता योग, बोध, प्रेम से होती है। योग, बोध प्रेम जिसकी विभूतियाँ है, वह तो स्वतः सिद्ध है। उसमें आस्था की जाती है, उसकी प्राप्ति होती है, किन्तु उसका वर्णन सम्भव नहीं है।

भूल-जनित आसक्ति आदि दोषों की उत्पत्ति एकमात्र निज-ज्ञान के अनादर में ही निहित है। मानव-दर्शन, अर्थात् मानव का अपना अनुभव भूल-रहित होने की प्रेरणा देता है। भूल को 'भूल' जानते ही भूल मिट जाती है, जिसके मिटते ही भूल-जनित दोष सदा के लिए नाश हो जाते हैं और फिर अपने आप योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग सामर्थ्य का, बोध चिन्मयता का तथा प्रेम रस का प्रतीक है। अतः योग, बोध, और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही असमर्थता, जड़ता एवं नीरसता का अन्त निहित है। असमर्थता, जड़ता तथा नीरसता किसी भी मानव को स्वभाव से रुचिकर तथा अभीष्ट नहीं है। जो रुचिकर नहीं है, उसका त्याग

और जो अभीष्ट नहीं है, उसे असंगता स्वतः हो जाती है। त्याग से परम-शान्ति और असंगता से चिन्मयता और नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है, जो मानवमात्र को स्वभाव से प्रिय है।

प्रियता जिसमें जाग्रत होती है, उसे अपने से अभिन्न कर लेती है और जिसके प्रति होती है, उसे रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रेम और प्रेमास्पद से किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं है। भिन्नता के रहते हुए प्रियता जाग्रत ही नहीं होती। अतः प्रियता अभिन्नता से ही साध्य है। वास्तविकता के बोध में भी अभिन्नता ही हेतु है; कारण, कि सत् से अभिन्नता होने पर ही सत् का बोध होता है। असत् से असंग होने पर असत् की निवृत्ति होती है। असत् का तादात्म्य ही असत् को जीवित रखता है और सत् की अभिन्नता ही सत् के बोध में हेतु है। असत् की असंगता ही सत् की अभिन्नता में परिणत होती है।

किसी प्रकार की दूरी रहने पर नित्य-योग की अभिव्यक्ति नहीं होती। दूरी रहते हुए तो संयोग तथा भोग ही सम्भव है। यह सभी को विदित है कि संयोग 'वियोग' में बदल जाता है और भोग का परिणाम रोग तथा शोक ही है। भोग के परिणाम का प्रभाव भोग-जनित सुख-लोलुपता को नष्ट कर देता है, जिसके नाश होते ही भोग की रुचि योग की लालसा में परिणत हो जाती है। योग की उत्कट लालसा दूरी तथा भेद को खा लेती है। इस दृष्टि से नित्य-योग की अभिव्यक्ति भी अभिन्नता से ही साध्य है। अतः योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति भेद और भिन्नता के अन्त में ही निहित है। योग, बोध तथा प्रेम के रस में भले ही भेद हो, पर इन तीनों में स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से किसी भी एक की प्राप्ति में तीनों ही की प्राप्ति होती है। परन्तु योग का अभिमान रहते हुए, बोध नहीं होता और बोध का अभिमान रहते हुए, प्रेम नहीं होता, अर्थात् व्यक्तिगत सुख के लिए सम्पादित योग तथा बोध अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता को जाग्रत नहीं होने देते। परन्तु जिसकी अहैतुकी कृपा से योग, बोध प्राप्त करने की सामर्थ्य मिली, वह अपनी कृपा से आप मोहित हो, योग, बोध के अभिमान को नष्ट कर, अपनी अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता से अभिन्न कर देता है। भिन्नता के रहते हुए जो प्रियता है, वह वास्तव में प्रियता नहीं

है; कारण, कि उस प्रियता में अपने अस्तित्व को बनाये रखने का प्रलोभन रहता है। प्रियता के आरम्भ में भले ही भिन्नता प्रतीत हो, किन्तु ज्यों-ज्यों प्रियता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यो-त्यो भिन्नता स्वतः मिटती जाती है। भिन्नता मिटने पर प्रियता उत्तरोत्तर गाढ़ ही होती रहती है, अर्थात् अनन्त की प्रियता भी अनन्त ही है।

योग में शान्त, बोध में अखण्ड और प्रियता में अनन्त रस है। शान्त और अखण्ड रस के आश्रित अहम्-भाव रूपी अणु जीवित रहता है। इसी कारण न तो मानव को शान्ति में रमण करना है और न स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट रहना है; किन्तु शान्ति तथा स्वाधीनता को प्राप्त अवश्य करना है। शान्त् की अभिव्यक्ति निर्ममता तथा निष्कामता में निहित है और असंगता से अखण्ड रस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु जब असंगता अभिन्नता में परिणमत हो जाती है तब एकमात्र अगाधप्रियता ही रह जाती है। अनन्त की प्रियता अनन्त के लिए रस-रूप है। भिन्नता के रहते हुए, प्रीति अपने लिए रस-रूप है। इस दृष्टि से मानव सभी के लिए उपयोग सिद्ध होता है। यह मानव की महिमा उन्हीं की देन है। अतः अपने में अपना कुछ न होने पर भी मानव सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। पर यह रहस्य तभी स्वष्ट होता है, जब मानव निज-ज्ञान का आदर करते हुए ममता, कामना तथा तादात्म्य से रहित हो जाय अथवा यों कहो कि कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता से युक्त हो जाय।

जाने हुए के प्रभाव में ही कर्तव्यपरायणता निहित है। कर्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए और आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। कर्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता साधन है। साधन की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब मानव प्राप्त प्रकाश में अपने जाने हुए असत् का त्याग करें। असत् के त्याग में असत् का ज्ञान ही हेतु है। भूल-जनित वेदना से जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति असत् की कामना को नाश करती है। कामनाओं का अन्त होते ही असत् से असंगता प्राप्त होती है, जो असत् के ज्ञान में हेतु है। असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति युगपत् हैं। इस दृष्टि से

सन्देह-जनित वेदना में ही जिज्ञासा की जागृति तथा पूर्ति निहित है। सन्देह रहित हुए बिना, चैन से रहना भूल है। सन्देह की निवृत्ति वर्तमान की वस्तु है; कारण, कि विचार से साध्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष होती है उसके लिए भविष्य की आशा हो सकती है। किन्तु जिसकी उपलब्धि विचारसाध्य है, उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन मानव के सर्वतोमुखी विकास में समर्थ है। अपने दर्शन का अनादर करना अपने ही द्वारा विनाश करना है। अपने दर्शन के आदर में ही जीवन है। इस दृष्टि से दर्शन बड़े ही महत्व की वस्तु है।

असत् का विवेचन

असत् की अनुभूति-जनित वेदना सत् की जिज्ञासा जाग्रत करती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों असत् का आकर्षण मिटता जाता है। ज्यों-ज्यों असत् का आकर्षण मिटता जाता है, त्यों-त्यों सत् की खोज की अभिरुचि बढ़ती जाती है। इस दृष्टि से 'असत्' की अनुभूति बड़े ही महत्व की वस्तु है। असत् को 'असत्' जाने लेने पर भी असत् का तादात्म्य उस समय तक जीवित रहता है, जब तक मानव सत् की खोज को जीवन का सर्वोत्कृष्ट प्रथम प्रश्न नहीं बना लेता। सत् की खोज वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए किसी अभ्यास विशेष की अपेक्षा नहीं है, अपितु असत् से असंग होना ही सत् की खोज को सजीव बनाना है। असत् से असंग होने के लिए असत् का ज्ञान ही एक-मात्र उपाय है। असत् का ज्ञान प्राप्त प्रकाश से ही साध्य है। पर उस प्रकाश का आदर करने के लिए इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि के सम्बन्ध में यथेष्ट विचार करना होगा। प्रत्येक दृष्टि किसी न किसी प्रकाश के आश्रित रहती है। दृष्टि प्रकाश नहीं है। जो प्रकाश नहीं है, उसका उपयोग कर सकते हैं। किन्तु उसके प्रभाव से प्रभावित नहीं होना है। इन्द्रिय-दृष्टि का समुचित उपयोग करने पर भी मानव को उसके प्रभाव से मुक्त होना है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव असत् से तादात्म्य करा देता है। इस कारण उसके प्रभाव का अन्त करना अनिवार्य है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग

करते हुए भी सत्य के जिज्ञासु को इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित होना है। वह तभी सम्भव होगा, जब आदरपूर्वक निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव को अपनाये। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव स्वतः मिटता जाता है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव सर्वांश में मिट जाने पर बुद्धि-दृष्टि स्वतः सम हो जाती है। फिर जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। इस कारण सत्य की खोज करने के लिए प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

असत् के ज्ञान में ही असत् की निवृत्ति तथा सत् की प्राप्ति निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने असत् का अनुभव कर असत् स असंगता प्राप्त की है। सत् की जिज्ञासा असत् से असंग होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। इस दृष्टि से असत् की असंगता ही सत् से अभिन्न करने में हेतु है।

असत् में असत् से असंग होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता और सत् में सत् से अभिन्न होने की माँग नहीं होती। असत् से असंग और सत् से अभिन्न होने की माँग न तो असत् में है और न सत् में। अपितु जिसने असत् से तादात्म्य स्वीकार किया है, उसी में असत् से असंग और सत् से अभिन्न होने की माँग हैं। जिसमें यह माँग है, वह स्वयं न असत् है और न सत कारण कि असत् में असत् की ममता और सत् में सत् की जिज्ञासा नहीं होती। सिजमें असत् की ममता और सत् की जिज्ञासा है, वह असत् और सत् दोनों से ही विलक्षण है और वही मानव है। इस दृष्टि से मानव स्वयं न जड़ तत्व है और न चेतन। पर वह अपने को जिससे मिला लेता है, उसी के स्वभाव को अपने में आरोपित कर लेता है। असत् से तद्रूप होने पर भी सत् की जिज्ञासा नाश नहीं होती। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव की असत् से जातीय एकता नहीं है। जिससे जातीय एकता नहीं है, उससे असंग होना सहज तथा स्वाभाविक है। इस दृष्टि से असत् से असंग न होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। असत् से जातीय एकता नहीं है, यह मानवमात्र का अपना अनुभव है। अपने अनुभव का आदर न करना अपने विनाश का मूल है। निज-अनुभव का आदर करते ही

निर्ममता तथा निष्कामता स्वतः आ जायगी और फिर निर्विकारता तथा परम शान्ति के साम्राज्य में स्वतः प्रवेश होगा, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

प्रतीति की ममता और उसका तादात्म्य असत् का आकर्षण उत्पन्न करता है और असत् के आकर्षण से ही भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का जन्म होता है। यद्यपि प्रवृत्तियों के परिणाम में असमर्थता और अभाव के अतिरिक्त किसी भी मानव को कुछ नहीं प्राप्त होता, परन्तु मानव अपने इस अनुभव का आदर नहीं करता। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः निवृत्ति में विलीन होती हैं। किन्तु प्रवृत्ति-जनित आसक्ति निवृत्ति में प्रवृत्ति की रुचि तो उत्पन्न कर देती है। अनेक बार असमर्थता एवं अभाव से पीड़ित होने पर भी मानव सहज निवृत्ति को सुरक्षित रखने का अथक प्रयास नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि प्रवृत्ति काल में भी पराधीनता और असमर्थता काल में भी पराधीनता से पीड़ित होता है। पराधीनता की पीड़ा जब असह्य होने लगती है, तब प्रवृत्ति की रुचि नाश हो जाती है। जिसके नाश होते ही अपने आप आने वाली निवृत्ति सुरक्षित होने लगती है। ज्यों-ज्यों निवृत्ति स्थायी होने लगती है, त्यों-त्यों स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने की सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती हैं। जिस प्रकार असत् के आकर्षण से अनेक प्रवृत्तियाँ पोषित होती हैं, उसी प्रकार निवृत्ति में सत्य की जिज्ञासा से प्रेरित होकर मानव की प्रगति स्वाधीनता के साम्राज्य में होती है। इस दृष्टि से निवृत्ति के सुरक्षित होने मात्र से ही असत् की असंगता और सत् की प्राप्ति होती है। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति में ही प्रवृत्ति का उपयोग है। संकल्प-पूर्ति मात्र से किसी को स्वाधीनता नहीं मिलती। इस कारण संकल्प-पूर्ति और आपूर्ति दोनों ही परिस्थितियों का उपयोग एकमात्र-संकल्प निवृत्ति में ही है। इस मंगलमय विधान का आदर करने पर सुखी और दुःखी दोनों ही बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाने हुए असत् से अंसग हो सकते हैं। असत् की अनुभूति के आदर में ही असत् से असंग और सत् से अभिन्न होने की सामर्थ्य निहित है। असत् की अनुभूति असत् से तादात्म्य नहीं रहने देती,

अपितु सत् की उत्कट जिज्ञासा जाग्रत करती है। असत् का तादात्म्य एकमात्र असत् की अनुभूति न होने में ही है।

असत् से तादात्म्य होने पर भी बीजरूप से सत् की जिज्ञासा मानवमात्र में विद्यमान रहती है। यदि ऐसा न होता, तो असत् की अनुभूति का प्रश्न ही उत्पन्न न होता और असत् की अनुभूति बिना हुए, सत् की खोज ही उत्पन्न न होती। इस कारण बीज रूप से विद्यमान सत् की जिज्ञासा को जाग्रत करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब मानव अपनी वास्तविक माँग से निराश न हो, अपितु उसकी वास्तविक माँग की पूर्ति की उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यही सुगम उपाय है असत् की अनुभूति तथा असत् से असंग होने का। असत् की अनुभूति जिसे होती है, वही सत् का जिज्ञासु है। सत् के जिज्ञासु में असत् का आकर्षण शेष नहीं रहता। परन्तु जब एक सत् की जिज्ञासा सर्वांश में जाग्रत नहीं होती, तब तक अंश रूप से असत् का आकर्षण और सत् की जिज्ञासा, दोनों ही किसी एक में ही विद्यमान रहते हैं। बस, यही मानव का अस्तित्व है। असत् के आकर्षण का नाश करने का दायित्व मानव पर है। मंगलमय विधान से दायित्व को पूरा करने की सामर्थ्य प्रत्येक मानव को स्वतः प्राप्त है। परन्तु जब मानव प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करता, तब अपने को दायित्व पूरा करने में असमर्थ पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व को पूरा करने में ही माँग की पूर्ति निहित है।

दायित्व पूरा करने में शिथिलता क्यों? असावधानी क्यों? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जो माँग वर्तमान में पूरी हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि माँग शिथिल हो जाती है। वास्तविक माँग की शिथिलता असत् के आकर्षण को पोषित करती रहती है। असत् का आकर्षण जितना मधुर प्रतीत होता है, उतनी मधुरता असत् की ओर गतिशील होने में नहीं है। प्रवृत्ति की रुचि जितनी आकर्षक है, उतनी प्रवृत्ति नहीं। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति का आरम्भ होते ही शनैः-शनैः प्रवृत्ति की मधुरता मिटती जाती हैं और मानव असमर्थता में आबद्ध होता जाता है।

असमर्थता तथा अभाव की असह्य वेदना असत् के आकर्षण का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से असह्य वेदना ही विकास की भूमि हैं मानव अपने अनुभव का अनादर कर उस वेदना को तीव्र नहीं होने देता और प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता से वास्तविक माँग को शिथिल करता रहता है। प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता से देहाभिमान पुष्ट होता है, जिसके होने से मानव असत् से तद्रूप हो जाता है और सत् की जिज्ञासा शिथिल हो जाती है। ऐसी दशा में मानव दायित्व पूरा करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। यह असमर्थता प्राकृतिक नहीं है, अपितु मानव की भूल उत्पन्न हुई है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि दायित्व पूरा करने में मानव अपनी भूल से ही अपने को असमर्थ बनाता है और वास्तविक माँग की पूर्ति से निराश होने लगता है। जिससे निराश नहीं होना चाहिए, उससे निराश होने पर उन आशाओं का जन्म हो जाता है, जिनसे निराश होना अनिवार्य है। अब विचार यह करना है किन-किन आशाओं से निराश होना अनिवार्य है? जो आशायें मानव को पराधीनता से आबद्ध करती हैं, उनका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब वास्तविक माँग की उत्कट लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। वास्तविक मांग वही है, जिसकी पूर्ति स्वाधीनता पूर्वक हो सकती है। स्वाधीनता की प्राप्ति भी स्वाधीनता पूर्वक ही होती है। यदि मानव उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर दे, तो पराधीनता से सम्पादित होती है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस उपाय की प्राप्ति हो जाती है, जिससे मानव स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है।

स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता प्राप्त करने में जो असमर्थता तथा पराधीनता भासित होती है, वह वास्तव में असत् के आकर्षण का ही परिणाम है। असत् का आकर्षण असत् से तद्रूप होने पर ही होता है। असत् का तादात्म्य सत् की उत्कट लालसा से ही मिट सकता है, जिसके मिटते ही असत् का आकर्षण शेष नहीं रहता। असत् के आकर्षण का नाश और सत् में आत्मीयता युगपत है। यह सभी को विदित है कि आत्मीयता प्रियता की जननी है। सत् की प्रियता असत् की आसक्ति को

खाकर मानव को सत् से अभिन्न करती है। सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं। सत् की प्रियता ही एकमात्र असत् की नाशक है, जो सत् की आत्मीयता से ही साध्य है। जिसमें असत् का आकर्षण अंकित रहता है, उसी में सत् की प्रियता जाग्रत होती है, जो असत् के आकर्षण का विनाश कर मानव को सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से सत् से आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है। जिसका आकर्षण पराधीनता में आबद्ध करता है, वही वास्तव में असत् है; कारण, कि पराधीनता किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं। किन्तु पराधीनता-जनित सुख की प्रतीति सुख के प्रलोभन की पुष्टि कर मानव को सुख की दासता में और दुःख के भय में आबद्ध कर देती है। यद्यपि सुख स्वभाव से प्रिय प्रतीत होता है, परन्तु उसका स्थायी न रहना मानव में सुख की दासता से रहित होने की प्रेरणा देता है। इस कारण पराधीनता-जनित सुख का मानव-जीवन में कोई विशेष स्थान नहीं है। स्वाभाविक माँग स्वाधीनता-जनित अविचल, असीम रस की है। इस माँग की पूर्ति एक-मात्र असत् से असंग होने में ही निहित है, जो असत् को 'असत्' अनुभव करने से ही साध्य है।

कैसा अनुपम मंगलमय विधान है कि पराधीनताजनित सुख-लोलुपता का नाश करने के लिए स्वभाव से ही पराधीनता-जनित सुख चाहते हुए भी नहीं रहता है। पराधीनता-जनित सुख की कामना के कारण ही मानव में पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है, बस, यही असत् का संग है। असत् के संग से ही जीवन में अनेकों दोष उत्पन्न होते है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार दोष उत्पन्न होने पर भी निर्दोषता की माँग रहती है। निर्दोषता की माँग में ही निर्दोषता का अस्तित्व सिद्ध है। यदि उसका अस्तित्व न होता, तो उसकी माँग ही न होती। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्दोषता को प्राप्त किये बिना ही, उसके अस्तित्व को स्वीकार कर, उसके गीत गाएँ। 'दोष-युक्त जीवन नहीं चाहिए'–यह मानव की वास्तविक माँग है। जिसे प्राप्त करना है, उसका प्रलोभन भी कुछ अर्थ नहीं रखता और जिसको नाश करना है, उसका प्रलोभन भी कुछ अर्थ नहीं रखता। इस दृष्टि से प्रलोभन-रहित होना अनिवार्य है। प्रलोभन के आश्रय

से ही वह जीवित रहता है।, जो न असत् है और न सत्।

असत् और सत् से रहित वही है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह असत् से मिलकर असत् और सत् से मिलकर सत् जैसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति ही असत् और सत् के अस्तित्व को भासित कराती है। यद्यपि मानव को असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति अभीष्ट है, परन्तु असत् और सत् का भास असत् की ममता और सत् की जिज्ञासा को जीवित रखता है। सत् असत् का प्रकाश है। असत् सत् के प्रकाश से ही भासित है। असत् की ममता से सत् की माँग शिथिल हो जाती है। उसक परिणाम यह होता है कि जो वास्तव में सर्वकाल में नहीं है, उसका भी अस्तित्व मानव में अंकित हो जाता है, जिसके होते ही मानव स्वाधीनता से विमुख हो, पराधीनता में ही जीवन मान लेता है, जो वास्तव में भूल है।

असत् के अस्तित्व की स्वीकृति ही असत् को जीवित रखती है। सत् की तीव्र जिज्ञासा असत् के अस्तित्व को स्वीकृति का नाश करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सत् की जिज्ञासा बड़े ही महत्व की वस्तु है। असत् की ममता के समान और कोई जड़ता नहीं है और सत् की जिज्ञासा के तुल्य और कोई सजगता नहीं है। ज्यों-ज्यों सजगता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों जड़ता स्वतः मिटती जाती है। इस दृष्टि से सजगता बड़े ही महत्व की वस्तु है, जो एकमात्र सत् की तीव्र जिज्ञासा से ही साध्य है। सत् की जिज्ञासा असत् के तादात्म्य को नष्ट कर मानव, को सत् से अभिन्न कर देती है। इस कारण असत् की अनुभूति तथा सत् की खोज मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। असत् की अनुभूति के बिना सत् की खोज उदित नहीं होती और सत् की खोज बिना किये, असत् की निवृत्ति नहीं होती। असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति उसी प्रकार युग-पत् है, जिस प्रकार सूर्य का उदय, अन्धकार की निवृत्ति एंव प्रकाश की प्राप्ति।

शरीर में अहम् तथा मम बुद्धि स्वीकार करना प्राप्त विवेक के विरुद्ध है। जो स्वीकृति विवेक-विरोधी है, वह असत् है। असत् को 'असत्' जान लेने पर भी यदि उसका त्याग नहीं किया जाय, तो असत् के संग से अनेक विकार स्वतः उत्पन्न

होते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार विकार-युक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। जिसकी माँग व्यक्ति तथा समाज को नहीं है, उसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस कारण असत् ही अनुभूति का सदुपयोग एकमात्र असत् के त्याग में ही है। असत् का त्याग मानव अपने द्वारा कर सकता है; कारण, कि स्वीकृति का अस्वीकृति-पूर्वक अन्त करना प्रत्येक मानव के लिए सहज तथा स्वभाविक है। अपनी स्वीकृति ही अपने को पराधीन बनाती है। असत् में स्वयं पराधीन बनाने की सामर्थ्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि पराधीनता एकमात्र अपने में अपनी असावधानी से ही उत्पन्न हुई है। पराधीन होने के वेदना में स्वाधीनता की माँग स्वतः उदित होती है। पराधीनता उसी समय तक जीवित है, जब तक मानव उसे स्वीकार करता है। यद्यपि स्वभाव से पराधीनता प्रिय नहीं है, परन्तु प्रमादवश मानव पराधीनता में ही स्वाधीनता का आरोप कर लेता है। यह सभी को मान्य होगा कि कामनाओं का उद्गम अविवेक-सिद्ध है और कामना-पूर्ति में किसी-न-किसी रूप से पराधीनता में ही आबद्ध होना होता है, किन्तु प्रमादवश मानव कामना-पूर्ति में स्वाधीनता का आरोप कर लेता है। यह कैसी विडम्बना है कि यद्यपि कामना-पूर्ति में घोर पराधीनता है, परन्तु वह स्वाधीनता जैसी भासित होती है। यह असत् के संग का ही परिणाम है। कामना-पूर्ति काल में तो पराधीनता की अनुभूति पराधीनता के रूप में ही होती है, पर कामना-पूर्ति काल में पराधीनता स्वाधीनता के रूप में प्रतीत होने लगती है। जब पराधीनता 'पराधीनता' के रूप में प्रतीत होती है, जब उससे रहित होना बहुत ही सहज है, किन्तु जो पराधीनता 'स्वाधीनता' के रूप में प्रतीत होती है, उसका अन्त करना दुष्कर हो जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि पराधीनता 'पराधीनता' नहीं है। कामना पूर्ति-आपूर्ति, दोनों ही अवस्थाओं में पराधीनता ज्यों-की-त्यों विद्यमान है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने असत् की अनुभूति होने पर सत् की खोज की है। असत् को 'असत्' जानकर ही दुरुपयोग है। जिस प्रकाश में असत् की अनुभूति होती है, वह प्रकाश भले

ही सत् है और असत् को प्रकाशित करता है; किन्तु सत् की खोज के लिए अर्थ प्रयत्नशील होना अनिवार्य है। सत् की खोज-मात्र से असत् का तादात्म्य नष्ट हो जाता है, जिसके होते ही असत् से असंगता स्वतः हो जाती है। असत् की असंगता में ही सत् से अभिन्नता होती है। इस कारण प्रत्येक मानव को सावधानीपूर्वक अपनी अनुभूति का सतत सदुपयोग करते रहना अनिवार्य है।

सत् की खोज तभी सम्भव है, जब असत् का संग असह्य हो जाय और सत् की प्रियता सतत जाग्रत रहे। प्राकृतिक नियमानुसार प्रियता समस्त आसक्तियों को नाश करने में समर्थ है। अतः सत् की प्रियता में ही असत् की आसक्तियों का नाश निहित है। आसक्ति मानव को पराधीनता में आबद्ध करती है और प्रियता स्वाधीनता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से सत् की प्रियता से असत् की आसक्ति का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है। आसक्ति सदैव असत् में ही होती है और प्रियता सदैव उसी में होती है, जो अविनाशी है, अर्थात् जिससे देशकाल की दूरी नहीं है, अपितु जो सर्वत्र ज्यों-का-त्यों सदैव विद्यमान है। जो मौजूद, अर्थात् नित्य प्राप्त है, वह ही सत् है और उसी की माँग है। जिसकी प्रतीति हो और प्राप्ति न हो, वही असत् है। उसकी ममता, कामना तथा उससे तादात्म्य स्वीकार करना सत् से विमुख हो, असत् का संग करना है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

असत् की निन्दा करना और उसकी चर्चा करना, उससे सम्बन्ध जोड़ना है। असत् के सम्बन्ध से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इस कारण असत् जानकर उससे विमुख होना है। असत् की विमुखता स्वतः सत् का संग करा देती है। सत् के संग से सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। इस दृष्टि से असत् की निन्दा नहीं करनी है, अपितु असत् को 'असत्' जानकर उससे विमुख होना है। असत् से विमुख होने के लिए असत् की कामना का त्याग अनिवार्य है, जो एकमात्र सत् की प्रियता से ही साध्य है। स्वाधीनता का पुजारी सत् की प्रियता के बिना किसी प्रकार भी रह नहीं सकता। सत् की प्रियता उन्हीं प्राणियों को नहीं भाती, जो पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करते हैं।

यद्यपि पराधीनता के समान और कोई बन्धन नहीं है, परन्तु पराधीनता-जनित सुखलोलुपता पराधीनता की पीड़ा को तीव्र नहीं होने देती। पराधीनता की पीड़ा से ही स्वाधीनता की माँग जाग्रत होती है। इस दृष्टि से पराधीनता की पीड़ा विकास का मूल है। पराधीनता को बनाये रखना और स्वाधीनता से निराश होना, मानव-जीवन का घोर अपमान है। मानव-दर्शन की दृष्टि से पराधीनता का अन्त तथा स्वाधीनता की प्राप्ति ही मानव की वास्तविक मांग है। पराधीनता प्रत्येक प्राणी को जड़ता तथा अभाव में आबद्ध करती है, जो किसी भी मानव को कभी भी अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सर्वप्रथम अनुभूति पराधीनता की ही होती है, किन्तु बीज रूप से स्वाधीनता की माँग भी विद्यमान रहती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब पराधीनता जनित पीड़ा स्वाधीनता की उत्कट लालसा जाग्रत कर देती है। स्वाधीनता से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। सर्वतोमुखी विकास स्वाधीनता के साम्राज्य में ही है। स्वाधीनता के बिना, न तो सर्व दुःखों की निवृत्ति ही होती है और न परिच्छिन्नता का ही नाश होता है। इतना ही नहीं, प्रीति की जागृति भी एकमात्र स्वाधीनता से ही साध्य है। इस दृष्टि से स्वाधीनता बड़े ही महत्व की वस्तु है। स्वाधीनता की प्राप्ति किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के आश्रित नहीं है और न किसी प्रकार के श्रम से ही साध्य है। इसी कारण मानव-मात्र स्वाधीनता प्राप्त करने में सर्वदा स्वाधीन है। अतः स्वाधीनता की तीव्र लालसा जाग्रत करना अनिवार्य है। इतना ही नहीं, स्वाधीनता की माँग स्वाधीनता से अभिन्न करने में समर्थ है। कितने आश्चर्य की बात है कि जिसकी उपलब्धि माँग-मात्र से ही सम्भव है, उससे मानव निराश हो जाता है, पराधीनता में आबद्ध रहता है और अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश कर बैठता है।

स्वाधीनता की माँग असत् की ममता तथा कामना एवं तादात्म्य का अन्त करने में समर्थ है। स्वाधीनता की माँग असत् की अनुभूति, सत् की खोज तथा सत् की प्राप्ति में हेतु है।

अचाह, अप्रयत्न और अभिन्नता आदि दिव्य गुण स्वाधीनता के पुजारी में स्वतः अभिव्यक्त होते

हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने सहज भाव से अपनी वास्तविक माँग का अनुभव किया है। वास्तविक माँग प्रत्येक मानव में विद्यमान है। असत् के तादात्म्य से उत्पन्न हुई कामनाओं से वास्तविक माँग ढक जाती है, मिटती नहीं। पराधीनता-जनित पीड़ा कामनाओं का अन्त कर वास्तविक माँग को जाग्रत कर देती है, जो विकास का मूल है।

मैं का विवेचन

'मैं' का भास तथा 'यह' की प्रतीति मानव-मात्र को स्वभाव से होती है। पर उसका अर्थ यह नहीं है कि भास-मात्र से ही 'मैं' की वास्तविकता का परिचय होता हैं। 'मैं' का भास होने पर भी 'मैं' क्या है? यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है। अपने सम्बन्ध में दूसरों के द्वारा जो कुछ सुना है, वह 'मैं' की वास्तविकता का परिचय नहीं है। ऐसी दशा में अपने सम्बन्ध में अपना क्या निर्णय है? इसका स्पष्टीकरण करना अनिवार्य है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति–तीनों ही अवस्थाओं में 'मैं' का भास है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'मैं' कोई ऐसी वस्तु है, जो अवस्थाओं से विलक्षण है। अवस्थाओं की प्रतीति है और 'मैं' का भास है। अवस्थाओं से तादात्म्य रखते हुए 'मैं' का बोध सम्भव नहीं है। जाग्रत और स्वप्न के सम्बन्ध में से मानव अपने को सुखी और दुःखी का भोग दृश्य के सम्बन्ध से सिद्ध होता है। सुषुप्ति में सुख–दुःख का भास नहीं है। इससे यह मानना ही पड़ता है कि प्रतीति, अर्थात् दृश्य से असंग होने पर ही 'मैं' की वास्तविकता का अनुभव हो सकता है। अर्थात् जब तक जाग्रत में सुषुप्तिवत् न हो जाएँ, तब तक 'मैं' के सम्बन्ध में कुछ भी अनुभव सम्भव नहीं है। जाग्रत में सुषुप्तिवत् होने के लिए क्रियाशीलता तथा चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी समभव होगा, जब जिज्ञासा-पूर्ति के लिए वर्तमान कर्तव्यकर्म विधिवत, फलासक्ति–रहित पूरा कर दिया जाय। ऐसा करने से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों का त्याग करने की सामर्थ्य आ जायगी। आवश्यक संकल्प की

पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु हैं और संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग उत्पन्न न हो, तब मानव राग-रहित होकर जाग्रत में ही सुषुप्ति का अनुभव कर सकता है। जाग्रत-सुषुप्ति में जड़ता का दोष नहीं रहता और सुषुप्ति के समान दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। जाग्रत में जब दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता, तब स्वतः 'मैं' क्या हूँ? यह प्रश्न हल हो जाता है। 'मैं' का वर्णन किसी करण, अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है; कारण, कि यह सब तो दृश्य ही हैं। दृश्य के सहयोग से उसका वर्णन नहीं हो सकता, जिसको दृश्य की प्रतीति है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होने परही अपने द्वारा अपना परिचय होता है।, बस, यही 'मैं' क्या हूँ? इस प्रश्न को हल करने का उपाय है।

'यह' करके जिसको सम्बोधन करते हैं, उसे 'मैं' नहीं कह सकते। इस दृष्टि से कोई भी दृश्य 'मैं' नहीं है। 'वह' करके जिसमें आस्था करते हैं, उसे भी 'मैं' कहना भूल है। 'यह' और 'वह' से विलक्षण 'मैं' हो सकता है– यह भी अनुमान मात्र है, अनुभव नहीं। अब विचार यह करना है कि 'यह' की ममता तथा 'उसकी' जिज्ञासा क्या 'यह' में हो सकती है? कदापि नहीं। 'यह' की ममता तथा'यह' की जिज्ञासा जिसमें है, क्या उसे 'वह' कह सकते हैं? नहीं। इस दृष्टि से 'यह' और 'वह' से रहित 'मैं' होना चाहिए। पर अब भी स्पष्ट बोध नहीं हुआ कि 'मैं' क्या है? आस्था और बोध में भेद है। आस्था में बोध का आरोप करना ज्ञान नहीं है और बोध में आस्था करना आस्था नहीं है। आस्था उसमें होती, है जिसका बोध नहीं है। अर्थात् सुने हुए में आस्था होती है, जाने हुए में नहीं। जाने हुए में न तो आस्था होती है और न सन्देह ही। सन्देह देखे हुए में होता है, बोध जाने हुए का होता है और आस्था सुने हुए में होती हैं 'मैं' देखा हुआ नहीं है। अतः 'मै के प्रति सन्देह भी नहीं होता और उसका बोध भी नहीं। 'मैं' किसी अन्य के द्वारा सुना भी नहीं है। उसका तो भास है। इस दृष्टि से किसी आस्था के आधार पर 'मैं' का निर्णय देना 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है और प्रतीति का आश्रय लेकर 'मैं' का विवेचन करना 'मैं' का बोध नहीं है।

'मैं' के ही द्वारा 'मै।' की खोज करना 'मैं' के परिचय में हेतु है।

प्रतीत होने वाला 'यह' और सुना हुआ 'वह'– इन दोनों का सम्बन्ध किसमें हैं? क्या उसे 'मैं' नहीं कह सकते? परन्तु ऐसा करने से भी तो 'मैं' के कार्य का परिचय होता है, स्वरूप का नहीं। कार्य कर्ता का विशेषण भले ही हो, पर स्वरूप नहीं है। 'यह' की प्रतीति में 'यह' का राग हेतु है और 'वह' की आस्था में 'वह' की माँग हेतु है। राग-रहित होने पर 'यह' से असंगता स्वतः होती है, जिसके होते ही 'वह' से अभिन्नता भी होती है। जिसने रागपूर्वक 'यह' से तादात्म्य स्वीकार किया था, उसी ने असंगतापूर्वक 'वह' से अभिन्नता प्राप्त की। 'यह' की आसक्ति और 'वह' की अनुरक्ति किसी एक ही में है। क्या उसी का नाम 'मैं' है? यदि यह मान लिया जाय, तो आसक्ति की तो निवृत्ति होती और अनुरक्ति की जागृति। आसक्ति रहते हुए अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती और अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति नहीं रहती। आसक्ति के रहते हुए अनुरक्ति की माँग भले ही रहे, पर अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती। अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति का लेश भी नहीं रहता, अर्थात् आसक्ति के अभाव में ही अनुरक्ति की जागृति है। क्या अनुरक्ति आसक्ति के समान नाशवान है? क्या अनुरक्ति में भी आसक्ति के समान पराधीनता, जड़ता तथा अभाव है? कदापि नहीं। अनुरक्ति अविनाशी है और जड़ता, पराधीनता, अभाव से रहित है। आसक्ति का परिणाम किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। इस कारण आसक्ति के नाश का प्रश्न मानव-मात्र में है। आसक्ति का मूल दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार कर, उसमें सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना है। दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय होते ही दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर आसक्ति 'विरक्ति' के रूप में परिणत हो जाती है।

आसक्ति दृश्य की रुचि को जीवित रखती है और विरक्ति दृश्य से अरुचि उत्पन्न करती है। अरुचि रुचि को खाकर स्वतः अनुरक्ति से अभिन्न कर देती है। रुचि और अरुचि द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस प्रकार

अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर स्वतः शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विरक्ति आसक्ति का अत्यन्त अभाव कर, स्वयं अनुरक्ति से अभिन्न हो जाती है। अनुरक्ति द्वन्द्वात्मक नहीं है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही सीमित अहम्भाव को जीवित रखती है, जिसके रहते हुए समस्या हल नहीं होती कि 'मैं' क्या है? अनुरक्ति के प्रादुर्भाव में ही द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश है? जिसके होते ही 'मैं' क्या है? यह प्रश्न स्वतः हल हो जाता है। 'यह' से परे 'मैं' है, यह 'मैं' का परिचय नहीं है। 'मैं' के प्रति इतना मोह हो गया है कि उसको अस्वीकार करना बड़ा ही भय उत्पन्न करता है। इस भय से बचने के लिए मानव यह स्वीकार कर लेता है कि मैं शरीर आदि दृश्य से अतीत हूँ। किसी की वास्तविकता का बोध तभी सम्भव होगा, जब उसके प्रति राग तथा द्वेष लेश–मात्र भी न हो। 'मैं' के न होने की बात सुनकर जो भय उत्पन्न होता है, यह 'मैं' का राग है और इस प्रश्न को हल किये बिना चैन से रहना, 'मैं' के प्रति द्वेष है। राग और द्वेष दोनों ही सम्बन्ध पुष्ट करते हैं। सम्बन्ध के रहते हुए बोध सम्भव नहीं है; कारण, कि सम्बन्ध स्वयं अस्तित्व के रूप में भासित होने लगता है। इसी कारण 'यह' के सम्बन्ध में 'मैं' 'यह' जैसा प्रतीत होता है और 'मैं' अपने में 'यह' की आसक्ति अनुभव करता है और 'वह' से सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'मैं', 'वह' जैसा तथा 'वह' की अनुरक्ति अनुभव करता है। 'यह' और 'वह' दोनों में यदि एकता स्वीकार की जाय, तो दो स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकते। 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय, तो स्वीकृति के कारण 'यह' की प्रतीति भले ही हो, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती। जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसका न तो स्वतन्त्र अस्तित्व ही होता है और न वह अपने को अपने आप प्रकाशित ही करता है। इस दृष्टि से 'यह' के अस्तित्व को स्वीकार करना 'यह' की आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आसक्ति जीवन नहीं है, अपितु पराधीनता, जड़ता तथा अभाव की जननी है, जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अतः 'यह' की सत्ता स्वीकार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यदि आस्था के आधार पर 'वह' की सत्ता स्वीकार कर ली जाय,

तो 'यह' की आसक्ति का अन्त होते ही 'वह' की अनुरक्ति स्वतः जाग्रत होती है। आसक्ति और अनुरक्ति में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को जन्म देती है और अनुरक्ति जिसके प्रति होती है, उसके लिएरस-रूप होती है। इस दृष्टि से अनुरक्ति का बड़ा ही महत्त्व है। आसक्ति का अत्यन्त अभाव बिना हुए अनुरक्ति के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। इस कारण आसक्ति का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र विरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति घृणा नहीं है, अपितु पराधीनता का अन्त करने में साधनरूप है। इस दृष्टि से विरक्ति-पूर्वक ही अनुरक्ति प्राप्त होती है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति-इनसे जिसका सम्बन्ध है, वह 'यह' और 'वह' से रहित है। संकेत भाषा में आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति 'मैं' का कार्य है, 'मैं' नहीं; कारण, कि आसक्ति ने उससे भिन्न का अनुभव ही नहीं किया, जिसकी वह अनुरक्ति है। अतः 'मैं' अनुरक्ति से अभिन्न हो, अनन्त को रस प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार 'मैं' आसक्ति से युक्त होकर पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध होता है, उसी प्रकार 'मैं' विरक्ति से अभिन्न होकर, अपने ही में सन्तुष्ट होता है और अनुरक्ति से अभिन्न होने पर 'मैं' अनन्त को रस प्रदान करताहै। इस दृष्टि से 'मैं' के सम्बन्ध में जितना कहा जाय, कम है; जो 'कुछ नहीं' होकर 'सब कुछ' है और 'सब कुछ' होकर 'कुछ नहीं' है। यही 'मै।' की विलक्षणता है।

यह नियम है कि जो कुछ नहीं होता, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की सीमा, नाप-तौल नहीं है, वह सभी से अभिन्न हो सकता है और उसमें सभी की स्थापना हो सकती है। इसी कारण अहम् में शरीर-भाव, जीव-भाव, ब्रह्म-भाव आदि की स्थापना हो सकती है। क्योंकि यदि 'मैं' कोई ऐसा पदार्थ होता, जिसका विवेचन बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव होता है, तो उसमें किसी और की स्थापना सम्भव न होती। किन्तु अहम् में ही जगत् का बीज, तत्व की जिज्ञासा और अनन्त की प्रियता विद्यमान है। ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त होने पर अहम् में जगत् का बीज शेष नहीं रहता, अर्थात् अहम् का दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता।

इतना ही नहीं, दृश्य अहम् में विलीन हो जाता है और फिर तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रीति की जागृति स्वतः हो जाती है। प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। दूरी के नाश में ही योग की और भेद के नाश में ही बोध की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से योग, बोध और प्रेम अहम् के ही रूपान्तर हैं, अर्थात् अहम योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है। अहम् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हैं।, अपितु ममता, जिज्ञासा एवं आस्था की स्वीकृति जिससे भासित होती है, वही अहम् है। ममता का नाश, जिज्ञासा की पूर्ति और आस्था में आत्मीयता होने पर एक–मात्र प्रेम–तत्व ही शेष रहता है। प्रीति में अस्तित्व उसी का है, जिसकी वह प्रीति है। प्रीति सतत् गतिशील तत्व है– 'यह' की ओर गति होने पर आसक्ति के रूप में भासती है, 'यह' से विमुख होने पर विरक्ति तथा 'वह' की ओर गतिशील होने पर अनुरक्ति होती है। यदि प्रतीति का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो आसक्ति 'विरक्ति' में परिणत न होती। और यदि कोई स्वतन्त्र सत्ता न होती, तो विरक्ति अनुरक्ति' में परिणत न होती। पर मानव-दर्शन से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति विरक्ति में और विरक्ति अनुरक्ति में परिणत होती है। सर्वांश में आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति का भास होता है और विरक्ति की पूर्णता होते ही अनुरक्ति का प्रादुर्भाव होता है, आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति उसी समय तक अलग-अलग प्रतीत होती है, जिस समय तक सर्वांश में आसक्ति का नाश नहीं होता। पराधीनता-जनित वेदना आसक्ति के नाश में हेतु है। आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वाधीनता की जननी है। विरक्ति की पूर्णता स्वाधीनता-जनित रस में सन्तुष्ट नहीं रहने देती। बस, उसी काल में विरक्ति स्वतः अनन्त की अनुरक्ति हो, अनन्त को रस प्रदान करती है। आसक्ति सुख-लोलुपता और विरक्ति स्वाधीनता में परिणत होती है। किन्तु स्वाधीनता-जनित रस अखण्ड होने पर भी नित-नव नहीं है। नित-नव रस की भूख ज्यों -ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाधीनता-जनित रस में असंगता होती जाती है। असंगता की पूर्णता स्वतः प्रीति में परिणत होती है। इस

दृष्टि से मानव की पूर्णता एकमात्र प्रीति से अभिन्न होने में ही है। आसक्ति का नाश होते ही शान्ति, शक्ति, मुक्ति स्वतः प्राप्त होती हैं, किन्तु शक्ति, मुक्ति आदि का आश्रय अहम् को परिच्छिन्नता के रूप में जीवित रखता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता और उसके नाश हुए बिना, नित-नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। यद्यपि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता स्वभाव से ही प्रिय हैं, पर प्रियता का रस ऐसा विलक्षण है कि उसके लिए स्वाधीनता आदि का न्यौछावर करना सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। अशान्ति की व्यथा मिटाने में शान्ति और असमर्थता की वेदना को मिटाने में शक्ति एवं पराधीनता की पीड़ा के नाश में स्वाधीनता बड़े ही महत्व की वस्तु है। मानव बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि से अपने को अशान्ति, असमर्थता एवं पराधीनता में आबद्ध पाता है। इस कारण शान्ति, सामर्थ्य ओर स्वाधीनता को महत्व देता है। वास्तव में तो शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता स्वतः प्रीति में परिणत होती हैं; कारण, कि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता में 'निज-रस' है। निज-रस में सन्तुष्ट हो जाना, अपनेपन को जीवित रखना है। अपनापन कितना ही महान् क्यों न हो, किन्तु उसमें किसी न किसी रूप में परिच्छिन्नता रहती है। जो यह अनुभव करता था कि 'मैं अशान्त हूँ' 'मैं असमर्थ हूँ', वही अनुभव करता है कि 'मैं शान्त हूँ', 'समर्थ हूँ, 'स्वाधीन हूँ। पराधीनता आदि दोषों की अपेक्षा स्वाधीनता आदि बड़े ही महत्व की वस्तुएँ हैं, परन्तु 'मैं स्वाधीन हूँ'– इस प्रकार की सीमा तो रहती ही है। परिच्छिन्नता रहते हुए किसी न किसी प्रकार की माँग रहती ही है, जिसके रहते हुए पूर्णता कैसी? प्रीति का प्रादुर्भाव होने पर माँग का अन्त हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव की पूर्णता है। यह मानव का अपना दर्शन है।

अपने में ब्रह्मभाव की स्थापना साधन-रूप है, किन्तु क्या ब्रह्म ने ब्रह्मभाव की स्थापना की? यह भ्रम कि 'मैं' पहले ब्रह्म था, अब नहीं हूँ। किन्तु जब मुझे किसी ने स्मरण दिलाया, तब मुझे यह अनुभव हुआ कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। तो क्या ब्रह्म की विस्मृति हुई और फिर ब्रह्म ने ही

मुझसे भिन्न होकर मुझे ब्रह्म की स्मृति दिलाई? यदि ब्रह्म का यह अपमान अभीष्ट है, तब तो यह मानना उचित ही है कि मैं ब्रह्म हूँ, पर भूल से अपने को जीवन मानता था। माया और अविद्या ने मुझे भुला दिया, अर्थात् माया और अविद्या ब्रह्म से सबल हो गई। 'मैं' क्या हूँ? इसका उत्तर आस्था के आधार पर देना दर्शन नहीं है। दर्शन में आस्था अपेक्षित नहीं है। दर्शनका प्रादुर्भाव सन्देह की वेदना से होता है। सन्देह की वेदना जिसमें होती है, वह मानव है और उसी में आसक्ति, जिज्ञासा तथा आस्था है। आसक्ति प्रमाद-जनित है, इस कारण उसकी पूर्ति होती है। सन्देह की वेदना को देख, जिज्ञासा की पूर्ति के लिए विचार के स्वरूप में किसी की अहैतुकी कृपा अवतरित होती है, जो अविचार का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान कर स्वतः विलीन हो जाती है। निस्सदेहता की प्राप्ति में ही दर्शन की पूर्णता है। निस्सन्देहता स्वतः प्रीति प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है। सन्देह के रहते हुए प्रीति जाग्रत नहीं होती। सन्देह अपनी ही भूल से होता है। भूल अविवेक-सिद्ध है। अतः जाने हुए का अनादर करने से भूल उत्पन्न होती है। मानव-दर्शन यह प्रेरणा देता है कि अपने जाने हुए का प्रभाव अपना लेना अनिवार्य है। जाने हुए का प्रभाव न तो प्रतीत होने वाले दृश्य में अहम्-बुद्धि को जन्म देता है और न स्वीकृतियों में ही अहम्-बुद्धि होने देता है। जाने हुए का प्रभाव प्रतीति से असंग कर, जो 'है' उससे अभिन्न करता है। अभिन्नता में ही अगाध, अनन्त प्रियता है। प्रतीति की आसक्ति जिसमें भासित है, उसी में आगध प्रियता की माँग है। आसक्ति के नाश में माँग की पूर्ति स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से अगाध प्रियता ही 'मैं' का वास्तविक स्वरूप है। प्रियता का क्रियात्मक रूप 'सेवा' है और विवेकात्मक रूप 'त्याग' है, अर्थात् स्थान भेद से प्रीति ही सेवा, त्याग तथा प्रेम के रूप में है। सेवा जगत् के लिए, त्याग अपने लिए एवं प्रेम अनन्त के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

अनन्त से अभेद-भाव स्वीकार करने पर भी अनन्त की प्रियता ही वास्तविक एकता प्रदान करती है। प्रतीति से असंगता विचार-साध्य है। सन्देह की वेदना से विचार

स्वतः अवतरित होता है। 'यह' जिसकी कृपा है, 'मैं' उसी की प्रीति है और उसी की स्वतन्त्र सत्ता है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उसी में आस्था करनी है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उस पर विचार करना है। प्रतीति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः उस पर विचार करना है। वह तभी सम्भव होगा, जब प्रतीति की ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त कर दिया जाय। ममता के नाश से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्वतः आ जाती है। निष्कामता असंगता की जननी है। और असंगता से तादात्म्य स्वतः नष्ट हो जाता है। जिसके होते ही असत् की निवृत्ति एवं सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

जिसका बोध नहीं है अपितु सुना है, उसकी आस्था यद्यपि दर्शन नहीं है, परन्तु साधन रूप अवश्यक है। जो जाना हुआ नहीं है, उसी से आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक भेद अथवा भाव से सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति बोध, प्राप्ति तथा प्रियता प्रदानकरती है। विस्मृति से दूरी, भेद तथा भिन्नता होती है। सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्मृति उदित होती है और विस्मृति नष्ट होती है। प्रतीति-जनित सुख-लोलुपता के रहते हुए, 'है' से सम्बन्ध स्वीकार करना सम्भव नहीं है; कारण, कि 'नहीं' मैं 'हैं'–बुद्धि स्वीकार करने से ही, 'है' से विमुखता होती है। 'नहीं' को 'नहीं' जान लेने पर 'नहीं' की निवृत्ति और 'हैं' में आत्मीयता बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाग्रत होती है, जो स्मृति में हेतु हैं।

आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक की हुई स्वीकृति साधन-रूप होने से मान्य है, किन्तु उसे बोध मानना आस्था को ही बोध कहना है। बोध किसी की अपेक्षा से नहीं होता; कारण, कि बोध जिसका होता है और जिसे होता है उसमें भेद नहीं रहता, अर्थात् बोध के लिए जाने हुए का आदर ही एकमात्र सहयोगी साधन है।

मानव में बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा देखे हुए का प्रभाव अंकित है। उस प्रभाव के रहते हुए सुने हुए में अविचल आस्था सम्भव नहीं है। अतः जाने हुए के प्रभाव से जब देखे हुए का प्रभाव नाश हो जाता है, तब स्वभाव से ही निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता आ जाती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ

है। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव में ही दर्शन निहित है।

जिस प्रवृत्ति तथा स्वीकृति के मूल में दार्शनिक भित्ति नहीं होती, वह प्रवृत्ति तथा स्वीकृति साधन-रूप नहीं है। अतः प्रत्येक मानव को निज-विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करना अनिवार्य है कि प्रवृत्तियों तथा स्वीकृतियों के मूल में जो न हुए का अनादर तो नहीं है? जाने हुए का अनादर करने पर वास्तविकता से परिचित होना सम्भव नहीं है, जिसके बिना हुए निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति नहीं होती। सन्देह-युक्त दशा में मानव न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर पाता है और न परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न ही होता है। इसकारण निस्सन्देहता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब किसी भी प्रकार जाने हुए का अनादर न किया जाय। जाने हुए के प्रभाव में ही निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुख विकास का मूल है।

देखा हुआ यद्यपि ज्ञान जैसा प्रतीत होता है, परन्तु वह ज्ञान नहीं है; कारण, कि देखने में करण की अपेक्षा होती है। किसी करण द्वारा 'मैं' का बोध नहीं होता करण के द्वारा तो केवल 'यह' के सम्बन्ध में ही खोज होती है। 'मैं' का अनुभव करने के लिए 'यह' से असहयोग करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता से ही साध्य है। निर्ममता, निष्कामता किसी प्रवृत्ति से साध्य नहीं है; कारण, कि प्रत्येक प्रवृत्ति मिले हुए के सहयोग से ही सम्भव है। जिससे निर्मम तथा निष्काम होना है, उसके सहयोग का त्याग आवश्यक है। इस दृष्टि से निर्ममता तथा निष्कामता विचार से ही साध्य है। विचारपूर्वक ममता तथा कामनाओं का त्याग करने पर असंगता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही तादात्म्य का अन्त हो जाता है। तादात्म्य के नाश में ही वास्तविक बोध की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण बोध 'विचार' से ही साध्य है, आस्था से नहीं। आस्था स्वयं स्वतन्त्र पथ है, उसके लिए विचार अपेक्षित नहीं है और विचार स्वतन्त्र पथ है, उसके लिए आस्था अपेक्षित नहीं है। इन दोनों का मिलाना इन दोनों की वास्तविकता से अपरिचित होना है। विचार असत् की निवृत्ति में हेतु है;

कारण, कि असत् की प्रतीति अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय अविचार का अन्त कर, स्वतः अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से विचार वास्तविकता के बोध के लिए साधन-रूप है। बोध होने पर अविचार की उत्पत्ति नहीं होती और विचार का भास नहीं होता। विचार का भास अविचार के रहते हुए ही है। 'मैं विचारक हूँ–यह भास अविचार काल में ही है। वास्तव में तो 'मैं'–रहित विचार ही विचार है, जो अविचार का अन्त करने में समर्थ है। श्रद्धा, विश्वापूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने पर तो एकमात्र प्रियता ही शेष रहती है। परन्तु मुझमें आस्था है–यह भास तभी तक होता है, जब तक प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती। आत्मीयता की प्राप्ति के लिए आस्था, श्रद्धा, विश्वास विलीन हो जाते हैं और आत्मीयता अगाध प्रियता में है। जब तक आस्था श्रद्धा में, श्रद्धा विश्वास में और विश्वास आत्मीयता में एवं आत्मीयता प्रियता में परिणत नहीं होती, तब तक यह भास होता है कि–मुझमें आस्था है; मैं विश्वास पथ का साधक हूँ, परन्तु जब प्रियता से भिन्न कुछ नहीं रहता, तब मुझमें प्रेम है–यह भास भी नहीं होता। पर प्रेम है-यही शेष रहता है। बोध और प्रेम इन दोनों में स्वरूप की एकता है, किन्तु रस में भेद है। बोध का रस अखण्ड और प्रेम का अनन्त है। जीवन की माँग अनन्त रस की है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। साधन–रूप प्रेम बोध में विलीन होता है और साधन-रूप बोध प्रेम में विलीन होता है। साध्य-रूप बोध और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः बोध में प्रेम और प्रेम में बोध ओत-प्रोत हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने आस्था से प्रियता और विचार से बोध प्राप्त किया है। साधन की ममता भी साधन में आसक्ति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत साधन की आसक्ति अन्य साधन की विरोधी है। इस दृष्टि से साधन जीवन हो, किन्तु साधन की आसक्ति का नाश एकमात्र वास्तविकता से परिचित होने में ही निहित है। इस कारण मानव-दर्शन का आदर करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

अपना वास्तविक परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। पराश्रय का त्याग होने पर अपने द्वारा अपना

परिचय स्वतः हो जाता है। पराश्रय से तादात्म्य होने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है कामनाओं की उत्पत्ति प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है और फिर मानव 'अपने' को अथवा 'पर' को वास्तविक रूप से जान नहीं पाता। उसका परिणाम यह होता है कि देखे हुए में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्जवलित होती है, जो किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। इस दृष्टि से पराश्रय के त्याग में ही वास्तविकता का बोध सम्भव है। पराश्रय का त्याग तभी सम्भव होगा, जब पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर दिया जाय और पराधीनता असह्य हो जाय, अर्थात् स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार न रह सके। स्वाधीनता की उत्कट लालसा स्वतः निर्ममता, निष्कामता प्रदान करती है। निष्कामता- जनित शान्ति में और निर्ममता-जनित निर्विकारता में भी आबद्ध नहीं होना है, अर्थात् शान्ति मे रमण नहीं करना है और न व्यक्तिगत गुणों का भोग करना है। शान्ति में रमण तथा गुणों का भोग न करने से स्वतः स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। यद्यपि शान्ति बड़ी ही मधुर है, परन्तु उसमें रमण करने में असंगता प्राप्त नहीं होती और असंगता के बिना, वास्तविकता से अभिन्नता सम्भव नहीं है। निर्विकारता के समान और कोई सौन्दर्य नहीं है। किन्तु निर्विकारता को अपने मे आरोप करने से व्यक्तित्व का मोह पीडित होता है, जो असीम, अनन्त जीवन से अभिन्न नहीं होने देता। यद्यपि सुन्दर व्यक्तित्व की माँग सभी को रहती है, परन्तु व्यक्तित्व का अभिमान भेद तथा भिन्नता उत्पन्न करता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से पराश्रय का त्याग वही कर सकता है, जिसने अपने को शान्ति तथा निर्विकारता से असंग करने का प्रयास किया है। असंगता सीमित, परिवर्तनशील सौन्दर्य से आकर्षित न होने पर ही सम्भव होती है, अर्थात् अनन्त-नित्य सौन्दर्य की उत्कट लालसा में ही असंगता निहित है। असंगता प्राप्त करने के लिए शरीर, इन्दिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग को लेश-मात्र भी अपेक्षा नहीं है, अपितु इनसे असहयोग करने पर अपने आप अपने में असंगता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव

स्वाधीनतापूर्वक असंग हो सकता है और असंगता ही एकमात्र अपने वास्तविक परिचय से समर्थ है। असत् से असंग होने पर ही असत् का परिचय तथा उसकी निवृत्ति एवं सत् से अभिन्नता होती है। स्वाधीनता की तीव्र लालसा असत् के सग-जनित कामनाओं को नाश कर देती है और फिर बडी ही सुगमतापूर्वक असत् की असंगता प्राप्त होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से वास्तविक मांग को जागृति में ही अपना वास्तविक परिचय निहित है। पर यह रहस्य है ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने अपने सम्बन्ध ने अपने ही द्वारा खोज की है। अपने द्वारा अपनी खोज न करने के समान और कोई असावधानी नहीं है। असावधानी बनाये रखना अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान करना है। अत: मै क्या हूँ ?' इस सम्बन्ध में अपने को ही खोज करना है। 'मैं' की खोज करने में जब प्राप्त इन्दिय, मन, बुद्धि आदि निकटवर्ती ही समर्थ नहीं हैं, तो फिर किसी अन्य के द्वारा 'मैं' की उक्ति हो सकती है,- ऐसा सोचने के समान और कोई भूल नहीं है।

"पर के द्वारा "स्व" का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। "स्व" के द्वारा ही अपना परिचय सम्भव है। 'पर से विमुख होते ही 'स्व' के द्वारा 'स्व' की खोज करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। 'पर' के सहयोग से एकमात्र 'पर' के सम्बन्ध में ही प्रयास हो सकता है। इन्द्रिय-जन्य प्रतीति पर बुद्धि-जन्य दृष्टि का प्रभाव हो सकता है। किन्तु 'स्व' की ओर गतिशील होते ही बेचारी बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही स्वयं 'स्व' से विचार का उदय होता है, जो 'मैं' की वास्तविकता के परिचय में हेतु है। बुद्धि-दृष्टि का प्रयोग एकमात्र इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के नाश में है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही दृश्य की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर इन्द्रिय दृष्टि स्वतः मन में और मन निर्बिकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि की समता यद्यपि सामर्थ्य की प्रतीक है; कारण, कि बुद्धि के सम होने पर ही भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है, परन्तु बुद्धि बेचारी 'स्व' के सम्बन्ध ने कुछ नहीं जानती। इस कारण

अपना परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। 'पर' के द्वारा अपने सम्बन्ध में अनेक स्वीकृतियाँ स्वीकार कीं और प्रत्येक स्वीकृति ने किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह सभी को मान्य होगा कि प्रवृत्ति में प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता की दासता और परिणाम में अभाव ही सिध्द हुआ। इस दृष्टि से प्रवृत्ति द्वारा न तो मानव अपने को ही जान सका और न पराधीनता, अभाव एवं असमर्थता से भिन्न कुछ पा सका। इस दृष्टि से स्वीकृति 'स्वरूप' नहीं है अपितु किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है।

स्वीकृतियों में सन्देह होने पर ही जिज्ञासा की जागृति होती है। जिज्ञासा की जागृति समस्त स्वीकृतियों का अन्त कर सभी वस्तु अवस्था, परिस्थितियों से विमुख कर देती है और फिर स्वतः 'स्व' में ही विचार का उदय होता है. जो जिज्ञासा-पूर्ति में समर्थ है।

जो स्वीकृतियाँ प्रतीति, अर्थात् दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती हैं वे या तो काम की जननी है अथवा कर्तव्य की प्रतीक है। कर्तव्य-परायणता विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। किन्तु यदि 'पर' से सुख की आशा की, तो पुनः नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्तव्य को प्रेरित करने वाली स्वीकृतियों का कर्तव्य-निष्ठ होकर अन्त करना अनिवार्य है। अपने को शरीर मानने वाली स्वीकृति काम की जननी है। अतः अपने में से देह-भाव का अन्त कर, निष्काम होना अनिवार्य है। निष्काम बिना हुए, 'पर' से सुख की आशा का नाश नहीं होता और उसका नाश हुए बिना नवीन राग की निवृत्ति नहीं होती। रागरहित होने पर ही स्वीकृतियों से रहित होने की सामर्थ्य आती है। अर्थात् स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि नहीं रहती। राग ही एकमात्र स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि जीवित नहीं रहती। राग ही एकमात्र स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि जीवित रखता है। राग भूल से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि भूल है। भूल-जनित वेदना जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जागृति भूल-जनित सुख-लोलुपता के मिटाने में समर्थ है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा स्वतः तीव्र हो जाती है। तीव्र जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है। इस दृष्टि से जिज्ञासा-पूर्ति में काम अपेक्षित

नहीं हे। जब तक सर्वांश में जिज्ञसा जाग्रत नहीं होती, तभी तक वास्तविकता से अभिन्न होने में भविष्य की आशा रहती है। वास्तविकता के परिचय के लिए भविष्य की आशा जिज्ञासा को शिथिल करती है। जिज्ञासा की शिथिलता जिज्ञासापूर्ति में विघ्न है। जिज्ञासा जो 'है' उसका बोध कराती है, किसी अप्राप्त की प्राप्ति में हेतु नहीं है। जो प्राप्त है, उसके परिचय के लिए क्या भविष्य की आशा भारी भूल नहीं है? अवश्य है। 'है' का परिचय किसी श्रम से भी साध्य नहीं है; कारण, कि श्रम के द्वारा उसी को जाना जाता है, जिससे देश, काल आदि की दूरी हो। जो देश, काल आदि की दूरी से रहित है, उसका परिचय श्रम-रहित होने पर ही सम्भव है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम भले ही अपेक्षित हो, किन्तु वास्तविकता से परिचित होने के लिए श्रम की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तीव्र जिज्ञासा से जब कामनाओं का नाश हो जाता है, तब स्वतः मानव श्रम-रहित होता है। विश्राम की भूमि में स्वतः विचार का अवतरण होता है, जो वास्तविकता के बोध में समर्थ है।

श्रम-रहित होने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु सहज निवृत्ति है। यह सभी को मान्य है कि प्रवृत्ति से सामर्थ्य का व्यय और निवृत्ति से सामर्थ्य का सम्पादन होता है। अतः श्रम-रहित होते ही सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कामनाओं के रहते हुए प्राप्त सामर्थ्य की गति दृश्य की ओर होती है और निष्काम होते ही गति 'स्व' की ओर होती है, जो 'स्व' के बोध में हेतु है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा समस्त दृश्य को 'मैं' नहीं कह सकते; कारण, कि जिसको 'यह' कह कर जानते तथा सम्बोधन करते हैं, उसको 'मैं' मान लेना, भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिसे न तो इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टिसे देखा है और न अपने द्वारा अनुभव किया है, अपितु सुना है, उसको भी 'मैं' नहीं कह सकते। अर्थात् सुना हुआ आत्मा और परमात्मा तथा देखा हुआ शरीर और जगत्-इन दोनों को ही 'मैं' नहीं कह सकते। पर अपने में शरीर आदि की ममता, आत्मा की जिज्ञासा एवं परमात्मा की लालसा अवश्य है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि 'मैं' न तो पर-प्रकाश्य जड़ है और न चेतन, पर यह ऐसा विलक्षण है कि जिससे मिला दो, उस-जैसा ही प्रतीत होने लगता है। किसी की वास्तविकता को जानने के लिए उसे सभी से अलग करना अनिवार्य है। अतः अपने को यदि जड़ चेतन से न मिलाया जाय, तभी अपना वास्तविक परिचय हो सकता है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के त्याग से जड़ से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। जड़ से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर 'में जड़ नहीं हूँ',–यह अनुभव स्वतः हो जाता है। पर 'मैं क्या हूँ? यह स्पष्ट नहीं होता है। इस दशा में मानव शरीर अधीर होकर श्रवण के आधार पर अपने को आत्मा, ब्रह्म आदि मान लेता है। अविचल आस्था होने से यह अनुभव होता है कि यह मेरा ज्ञान है। एक बार मान लेने पर भी बार-बार मनन करना इस कारण अपेक्षित हो जाता है कि कहीं पूर्व स्वीकृति पुनः न आ जाय। अब विचार यह करना है कि सुने हुए का मनन क्या आस्था की दृढ़ता के अतिरिक्त कुछ और है? अर्थात् कुछ नहीं। जो आस्था से साध्य है, क्या वह बोधहै? यदि बोध है, तो आत्मा ने अपने में अनात्म-भाव को क्यों स्वीकार किया? अर्थात् चेतन तत्व ने जड़ से तादात्म्य क्यों स्वीकार किया? क्या चिन्मय तत्व में भी विस्मृति का दोष हो सकता है? यदि हो सकता है, तो चिन्मय कैसा ? पर अपने से अपने को इतना मोह हो गया कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यदि मैं जड़ नहीं हूँ, तो चेतन हूँ। चेतन सदैव चेतन है, और जड़ सदैव जड़ है। जड़ और चेतन का मिलन सम्भव नहीं है; कारण, कि दो विरोधी सत्तायें आपस में कभी नहीं मिलतीं। अतः यह मान लेना भी भ्रममूलक ही है कि जड़-चेतन के मिलने से ऐसी चीज उत्पन्न हुई, जो न जड़ है और न चेतन, वही 'मैं' है।

जब जड़-चेतन का मिलन ही नहीं है, तब उसके मिलने से जो उत्पन्न हुआ, वह 'मैं' है–यह भी भूल ही है। 'मैं' जड़ नहीं है, यह विवेक-सिद्ध है। 'मैं' चेतन है- यह आस्थापूर्वक भले ही मान लिया जाय, पर बोध नहीं है। किसी का बोध किसी की आस्था हो सकती है, पर यह विचार-पथ नहीं है। विचार-पथ की दृष्टि से 'मैं' का अर्थ न तो देखा हुआ 'यह' है और न सुना हुआ 'वह'। 'यह' की आसक्ति और जिज्ञासा तथा

प्रियता जिसमे है, वही 'मैं' है। आसक्ति का नाश तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर एकमात्र अगाध प्रियता ही शेष रहती है। इस दृष्टि से 'मैं' का वास्तविक स्वरूप एकमात्र अगाध, अनन्त, नितनव प्रियता है।

'मैं' की अन्तिम परिणति अगाध प्रियता में ही होती है। यह मानव का अपना दर्शन है; कारण, कि 'यह' की ममता करके, जो आसक्ति उत्पन्न हो गई थी, वह स्वाधीनता की लालसा के आधार पर नाश हो गई, जिसके होते ही पराधीनता मिट गई और 'मैं' स्वाधीन हूँ–यह बोध हो गया। पर जिसकी अहैतुकी कृपा से आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य मिली थी, उसको भूल जाना और उसके स्थान पर'मैं' की ही स्थापना कर लेना, यह कहाँ तक युक्तियुक्त है? 'हैं' की उदारता के दुरुपयोग के अतिरिक्त इसे और क्या कहेंगे ? कि जिसने स्वाधीनता प्रदान की, उसको भूल गए और 'है' के स्थान पर 'मैं' की स्थापना कर दी। 'है' की तो यह महिमा है कि वह सभी को सत्ता देता है और अपनाता है। इसी कारण 'मैं' को स्वीकार करने पर 'मैं' ही सत्य मालूम होता है और 'यह' को स्वीकार करने पर 'यह' सत्य मालूम होता है। जिससे 'यह' और 'मैं' की सत्यता प्रकाशित होती है, उसमें प्रियता ही 'मैं' की वास्तविकता है। परन्तु प्रियता स्वंय अपने ही में 'हैं' को विलीन कर ले, इससे 'है' में कोई क्षति नहीं होती; क्योंकि 'है' स्वभाव से ही अनन्त है। परन्तु 'है' की स्वतः होती है, जो मानव की वास्तविक माँग है।

यदि कोई यह स्वीकार करे कि 'यह' और 'वह' को अपने में विलीन करना है, अर्थात् 'यह' और 'वह' की ही अभिव्यक्ति है, तो इसमें भी 'है' को कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु 'मैं' और 'यह' की परिच्छिन्नता तो स्पष्ट ही विदित है। क्या परिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति अनन्त हो सकती है? कदापि नहीं। परिच्छिन्नता 'है' की ही एक अवस्था मात्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं; कारण, कि 'है' अपने और अपने से भिन्न के प्रकाशन में समर्थ है। पर-प्रकाश्य की अभिव्यक्ति स्वयं-पकाश नहीं हो सकती। स्वंय-प्रकाश की एक अवस्था पर-प्रकाश्य भी हो सकती है। अतः 'यह' और 'मैं' को 'है' में विलीन करना अधिक युक्ति-युक्त तथा स्पष्ट है, जो एकमात्र विरक्ति

तथा अनुरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति 'यह' को 'मैं' में और अनुरक्ति 'मैं' को 'है' से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अगाध-प्रियता ही 'मैं' की अन्तिम परिणति है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जगत् को 'मैं' की आवश्यकता नहीं है और 'मैं' को जगत् की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मानव विवेक पूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर यह सिद्ध नहीं कर सकता कि उसे जगत् की माँग है और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रूप में प्राप्त हैं, उसी की जगत् आवश्यकता अनुभव करता है। वस्तु आदि से रहित 'मैं' की आवश्यकता जगत् को नही है। इससे यह स्पष्ट विदित होताहै कि 'मैं' की जातीय एकता 'वह' के साथ और मानी हुई एकता जगत् के साथ है। यदि मानव जगत् से मिली हुई वस्तु को जगत् को भेंट कर दें, तो जगत् को फिर और कुछ नहीं चाहिए। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से रहित जो 'मैं' का भास है, वह तो एकमात्र 'वह', जो देखा हुआ नहीं है, उसी की प्रीति है। इसी कारण अगाधप्रियता ही 'मैं' का स्वरूप है।

'यह' की ममता के कारण 'मैं' पराधीनता में आबद्ध होता है और निष्कामता, निर्ममता आदि के द्वारा 'मैं' पराधीनता-रहित होता है और 'वह' की आत्मीयता-पूर्वक 'मैं' अगाध प्रियता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि अभिन्नता उसीसे होती है, जिससे स्वरूप की एकता हो। आसक्ति से अभिन्नता कभी नहीं होती। इससे यह स्पष्ट विदित है कि 'यह' से 'मै।' की केवल मानी हुई एकता है, जो भूल-जनित है। पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वाधीनता की लालसा आसक्ति को विरक्ति में परिणत करती है। परन्तु केवल विरक्ति मात्र से सन्तुष्टि नहीं होती। इससे यह विदित होता है कि विरक्ति जब तक अनुरक्ति से अभिन्न नहीं होती, तब तक मानव कृतकृत्य नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि अगाध प्रियता से ही 'मैं' की वास्तविक एकता है।

आसक्ति, परिच्छिन्नता और प्रियता के अतिरिक्त 'मैं' के सम्बन्ध में किसी की कोई अनुभूति ही नहीं है।

'यह' की ममता, कामना करके, 'मैं' पराधीन हूँ, मुझ में अनेक आसक्तियाँ हैं'– यही अनुभूति होती है। इस अनुभूति का कारण नाश होने पर, अर्थात् निर्ममता, निष्कामता अपना लेने पर, 'मैं पराधीन हूँ, मुझ में लोभ, मोह आदि विकार है'– यह अनुभूति शेष नहीं रहती। पराधीनता आदि का आरोप अपने में एकमात्र भूल-जनित है। भूल-जनित प्रतीति को वास्तविकता नहीं कह सकते। अतः आसक्ति 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है। निर्ममता, निष्कामता से उदित शान्ति, निर्विकारता तथा स्वाधीनता-यह साधन-जनित अनुभूति है। साधन-जनित अनुभूति का महत्व उसी समय तक जीवित रहता है, जिस समय तक किसी न किसी अंश में असाधन है। जिस प्रकार काष्ठ का अत्यन्त अभाव होने पर प्रज्वलित अग्नि शेष नहीं रहती, उसी प्रकार असाधन का अत्यन्त अभाव होने पर साधन-जनित निर्विकारता, समता, स्वाधीनता आदि की अनुभूति तथा भास शेष नहीं रहता, अर्थात् दोष का नाश और गुणों का अभिमान गल जाने पर एकमात्र अनन्त की प्रियता ही शेष रहती है, जो अनन्त से अभिन्न ही है। अतः 'मैं' की वास्तविकता का परिचय अगाध, अनन्त, नितनव प्रियता से भिन्न नहीं है।

भोग में आबद्ध मानव मोक्ष के महत्व को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से मुक्ति 'भुक्ति' की पीड़ से बचाने का उपाय है और कुछ नहीं। भुक्ति की सुख-लोलुपता पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध करती है। इस कारण सखु-लोलुपता त्याज्य है और मुक्ति मानव को शान्ति, स्वाधीनता आदि में आबद्ध करती है। अतः सुख-लोलुपता की दासता से रहित होने के लिए मुक्ति की महिमा है। वास्तव में तो मुक्ति प्रीति की जननी है; कारण, कि जिसे कुछ नहीं चाहिए और जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं है, अर्थात् जिसकी शरीर आदि वस्तुओं में ममता नहीं है, वही अनन्त में आत्मीयता स्वीकार कर सकता है। आत्मीयता से ही अगाध प्रियता जाग्रत होती है, जो अनन्त को रस देने में समर्थ है। इस दृष्टि से 'मैं' अनन्त की भोग्य सामग्री है और कुछ नहीं है। किन्तु जब 'मैं' स्वयं अपने को भोग-वासना में आबद्ध कर लेता है, तब पराधीनता की पीड़ा से रहित होने के

लिए मोक्ष की आवश्यकता अनुभव करता है। मुमुक्षुता भोग-वासनाओं का अन्त कर पराधीनता से रहित करने में समर्थ है। पराधीनता का नाश होने पर ही 'मैं' अनन्त की भोग्य वस्तु ही रह जाता है, जो एकमात्र अगाध-प्रियता से भिन्न कुछ नहीं है।

अपना अनुभव अपने लिए हितकर है। पर यदि उसका आदर न किया जाय, तो अपने विकास के लिए दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु अन्त में वही स्वीकार करना पड़ता है, जो अपना अनुभव है। इस दृष्टि से मानवमात्र को मानव-दर्शन का आदर करना अनिवार्य है। अपनी दशा और अपनी माँग अपने से अपरिचित नहीं है। अपनी दशा पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक नियमानुसार ऐसी कोई उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि है ही नहीं, जिसके बिना मानव न रह सके और जो मानव के बिना न रह सके। यह नियम है कि जिसके बिना अल्प से अल्प काल रह सकते हैं, उसके बिना सदैव रह सकते हैं। सदैव उसी के साथ रह सकते हैं, जो सदैव है। जो कभी है और कभी नहीं, उसके साथ सदैव रहने का निर्णय अपने आप को धोखा देना है, अर्थात् अपने अनुभव का अनादर करना है, जो विनाश का मूल है। जो कभी है, कभी नहीं है, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं, किन्तु उसको अपना नहीं मान सकते। अतः प्राप्त वस्तुओं का ममता-रहित सद्व्ययय और प्राणियों की सेवा सम्भव है और यही सृष्टि में रहने की सर्वोत्कृष्ट कला है। इस कला से मानव में यह सामर्थ्य आ जाती हैं कि वह उनके बिना रह सकता है, जो उसके बिना रह सकते हैं। इस दर्शन के आधार पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्ति पूर्वक उस वास्तविकता का बोध होता है, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, अर्थात् जो उसका अपनाहै और अपना होने से अपने को अत्यन्त प्रिय है। मानव अपने दर्शन का अनादर करने से ही अपने प्रिय से विमुख हो, अनेक प्रकार की नीरसताओं में आबद्ध हो जाता है। यह उसकी अपनी ही भूल का परिणाम है। दर्शन की परावधि भूल के अभाव में है।

'मैं' स्वभाव से तो सत्-पथ का यात्री है, पर प्रमादवश असत् की

ओर गतिशील होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। अभाव-जनित वेदना से पीड़ित मानव अपने जाने हुए असत् से विमुख होता है। विमुख होते ही सत्-पथ में प्रीति स्वतः होती है। इस राह में श्रम की गन्ध भी नहीं है और बे-साथी और बे-सामान के ही इस पथ में गमन होता है। यह कैसी अलौकिक बात है कि गति है, पर श्रम नहीं! अर्थात् श्रम-रहित होते ही 'मैं' स्वयं उस वास्तविकता से अभिन्न होता है, जिसमें अभाव, पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि विकारों की गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से 'मैं' की कितनी महिमा है! पर बेचारा मानव अपने दर्शन का अनादर कर, अपनी महिमा को भूल जाताहै। इसके भूलते ही उसमें उत्पन्न हुई उन वस्तुओं की, जिनमें स्थायित्व की गन्ध भी नहीं है, अपितु सतत परिवर्तन है, महिमा अंकित हो जाती है, जिसके होते ही राग उत्पन्न होता है। राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं, जिसके होते ही वास्तविकता का पुजारी घोर आपत्तियों में आबद्ध हो जाता है। पर वास्तविकता से जातीय एकता होने के कारण आपत्तियों में आबद्ध होने पर भी वास्तविकता की लालसा बीज रूप से विद्यमान रहती ही है। ज्यों - ज्यों आपत्ति-जनित पीड़ा सबल होती जाती है त्यों-त्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाताहै और ज्यों-ज्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों वास्तविकता की माँग सबल होती जाती है। जब वह माँग वर्तमान की माँग हो जाती है, तब असत् के संग का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही सत् का पथ स्वतः खुल जाता है और फिर वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है।

ममता तथा जिज्ञासा दोनों ही मानव में विद्यमान हैं, और इन दोनों के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव का भास है। मानव-दर्शन ममता के नाश में समर्थ है। ममता का नाश होने पर जिज्ञासा की पूर्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से ममता और जिज्ञासा, दोनों ही शेष नहीं रहतीं। ममता के नाश से निर्विकारता और जिज्ञासा-पूर्ति से निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है। सन्देह-रहित निर्विकार जीवन की प्राप्ति मानवमात्र के लिए सम्भव है। उससे निराश होना अपनी ही भूल है। अपनी भूल से ही अपना विनाश है। इसकारण मानव-

जीवन में भूल को बनाये रखने का कोई स्थान नहीं है। भूल का अन्त करने के लिए भूल को 'भूल' जान लेना अनिवार्य है, जो एकमात्र निज-अनुभव के आदर में ही निहित है। भूल का ज्ञान किसी अन्य के ज्ञानसे नहीं होता, अपितु निज-ज्ञान से ही मानव अपनी भूल को जानता है। भूल का ज्ञान और उसका नाश युगपत् है।

शरीर आदि उत्पन्न हुई वस्तुओं में ममता भूल-जनित है। पर यह भूल क्यों हुई? इस प्रश्न का उत्तर भूल का अन्त होने पर ही सम्भव है। जिसकी उत्पत्ति का अपने को ज्ञान नहीं है, उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा, जब उत्पत्ति अपने कारण में लीन हो जाय। अर्थात् उत्पत्ति का नाश होने पर ही उत्पत्ति के कारण का बोध होगा। अतः भूल का नाश होने पर ही, भूल क्यों उत्पन्न हुई? इसका बोध होगा। कार्य के रहते हुए कारण की स्वीकृति तो होती है, किन्तु कारण का परिचय नहीं होता। यही कारण है कि भूल के रहते हुए मानव यह अनुभव नहीं कर पाता कि भूल क्यों हुई? भूल को 'भूल- जानने के लिए ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव को विवेकरूपी प्रकाश मिला है। जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से वर्तमान वस्तुस्थिति को देखता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि ममता, कामना तथा तादात्म्य वास्तविक नहीं है, अपितु भूल-जनित हैं। जो वास्तविक नहीं है, उसका त्याग तथा नाश सम्भव है। ममता तथा कामना का त्याग करने पर तादात्म्य स्वतः नाश होता है। तादात्म्य का नाश होते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य और सीमित-अहम् भाव में आरोपित स्वीकृतियाँ 'मैं' का वास्तविक परिचय नहीं है, अर्थात् प्रतीति और स्वीकृति 'मैं' नहीं है। जब प्रतीति और स्वीकृतियों में 'मै' का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जब 'मैं' एकमात्र किसी की माँग, किसी की खोज अथवा किसी की प्रियता के रूप में ही भासित होता है। दुःख-निवृत्ति, परमशान्ति एवं स्वाधीनता की माँग तथा वास्तविकता की खोज और जो 'है', उसी की प्रियता 'मैं' के स्वरूप में शेष रहती है। निर्ममता तथा निष्कामता से दुःख-निवृत्ति, शान्ति तथा स्वाधीनता की माँग पूरी हो जाती है और तादात्म्य का नाश होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि

असीम, अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन है और अन्त में 'मैं' उसी 'है' की अगाध प्रियता है।

यह मानव-मात्र को विदित है कि सर्वप्रथम भास अहम् के रूप में ही होता है और फिर मम का। अहम् और मम-इन दोनों में किसी-न-किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता अवश्य है। यदि ऐसा न होता, तो अहम् की प्रवृत्ति मम की ओर न होती; कारण, कि एकता तथा भिन्नता के बिना पारस्परिक सम्बन्ध ही नहीं होता। 'मम' करके जिसे सम्बोधन करते हैं, उससे अहम् की किसी-न-किसी अंश में एकता अवश्य है। परन्तु मम की ओर गति होने पर परिणाम में अभाव ही अनुभव होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उस दृश्य का, जिसको अपना माना था अथवा जिसकी कामना की थी, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। प्रतीति हो, प्रवृत्ति हो, किन्तु प्राप्ति न हो– उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पर फिर भी प्रतीति होती है। यदि अहम्, अर्थात् अपने में मम की जाति की कोई भी वस्तु न होती, तो मम का आकर्षण ही न होता। मम का आकर्षण यह सिद्ध करता है कि अहम् में कोई-न-कोई तथ्य मम की जाति का है। इस समस्या पर विचार करने से यह विदित होता है कि जब मानव अपने को मिले हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, तब उसे अपने में देह-भाव भासित होता है। उसी भास के कारण प्रतीति का आकर्षण होता है। प्रवृत्ति के अन्त में अभाव-जनित अनुभूति प्रवृत्ति को निवृत्ति में परिणित कर देती है। सहज-निवृत्ति स्वतः, शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि में अहम्-बुद्धि नहीं रहने देती। और जब स्पष्ट अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अहम् नहीं है, तब प्रतीति का आकर्षण नहीं रहता, अर्थात् निष्कामता उदित होती है। निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर देहाभिमान स्वतः गल जाता है और फिर एकमात्र 'यह' से अतीत की खोज जाग्रत होती है, जो उससे, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, अभिन्न कर देती है। मम का आकर्षण और वास्तविकता की खोज अहम् रूपी अणु में विद्यमान है। प्रतीति के

आकर्षण का अन्त होते ही अहंता वास्तविकता की खोज होकर वास्तविकता से अभिन्न होती है। अर्थात् प्रतीति की कामना मिट कर, सत् की जिज्ञासा में परिणत होती है। सत् की जिज्ञासा स्वतः सत् से अभिन्न होती है। सत् की अभिन्नता सत् में प्रियता प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रतीति की ममता ही सत् की जिज्ञासा और सत् की जिज्ञासा ही सत् की अभिन्नता और सत् की प्रियता में परिणत होती है। प्रतीति भी उसी समय तक जीवित रहती है, जिस समय तक मानव प्रवृत्ति के परिणाम से प्रभावित नहीं होता। प्रवृत्ति का आरम्भ काल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में तो अभाव ही शेष रहता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम अपने में देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक-सिद्ध है। प्राप्त विवेक का अनादर ही अविवेक है। इस दृष्टि से अपनी भूल ही एकमात्र प्रवृत्तियों का स्त्रोत है। प्रवृत्तियों का परिणाम असह्य होने से अपने में स्वयं वास्तविकता से भी 'मैं' की एकता है। प्रतीति से अहम् की भूल-जनित एकता है और वास्तविकता से वास्तविक एकता है। जिससे वास्तविक एकता है, उसमें आत्मीयता स्वतः सिद्ध है और जिससे भूल-जनित एकता है, उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। ममता के त्याग से आत्मीयता में सजीवता आती है। ममता के रहते हुए आत्मीयता सजीव नहीं होती, जिसके बिना हुए प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती। ममता-जनित आसक्ति पराधीनता में आबद्ध करती है और आत्मीयता से उदित प्रियता पराधीनता में आबद्ध करती है और आत्मीयता से उदित प्रियता पराधीनता की तो कौन कहे, स्वाधीनता में भी रमण नहीं करने देती, अपितु जो 'है' उसके लिए रसरूप सिद्ध होती है। यह आत्मीयता की महिमा है। परन्तु जब जब ममता-जनित आसक्ति का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता, जब तक आत्मीयता की महिमा का बोध नहीं होता। इस दृष्टि से अहम् से ममता का मिटा देना अनिवार्य है

मम का अन्त होते ही अहम् स्वतः तत्व की जिज्ञासा तथा वास्तविकता की प्रियता में परिणत हो जाता है, अर्थात् अहम् और मम मिट कर प्रेम और प्रेमास्पद ही शेष रहता

है, प्रेमी नहीं रहता। प्रेमी-रहित ही वास्तविक प्रेम है। प्रेम का प्रादुर्भाव ही सर्वतोमुखी विकास है। इसका अर्थ यह है कि प्रेम ही प्रेमास्पद है। प्रेम, प्रेमास्पद का स्वभाव और मानव की माँग है। अहंता और ममता-जनित परिच्छिन्नता तथा आसक्ति का अभाव होने पर ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम किसी करण की अपेक्षा नहीं रखता, इस कारण प्रेम से पराधीनता नहीं है। प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर कुछ भी करना तथा पाना शेष नहीं रहता। इस कारण प्रेम की अभिव्यक्ति में ही चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता है। पर प्रेम-तत्व विश्राम तथा स्वाधीनता में आबद्ध नहीं होता। जिस प्रकार फल की वाटिका का मूल्य चुकाने पर वाटिका की छाया, सुगन्धि स्वतः प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर चि-विश्राम तथा स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। प्रेम प्रेमास्पद को रस प्रदान करता है और विश्राम तथा स्वाधीनता अपने लिए उपयोग होती है। किन्तु प्रेम के पुजारी में अपने लिए कुछ भी पाना नहीं रहता। इस कारण विश्राम तथा स्वाधीनता स्वतः प्रेम से अभिन्न होती है। विश्राम तथा स्वाधीनता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है। प्रेम में ही प्रेमास्पद का नित्य वास है और प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

जब यह स्पष्ट विदित ही है कि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु एक गति है, जो प्रतीति के रूप में भासती है। प्रतीति का आकर्षण नाश होते ही प्रतीति स्वयं उसमें विलीन होती है, जिसकी वह प्रतीति है। जब प्रतीति अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, तब अहम् स्वयं गति होकर उससे अभिन्न होता है, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से अहम् और मम का सदा के लिए अन्त हो जाता है और उसके नाश में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रतीति का आकर्षण शेष नहीं रहता। प्रतीति का आकर्षण रहने पर तो उसी की ओर गति रहती है, जिसका अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से प्रतीति के आकर्षण में ही अभाव की अनुभूति है। अभाव स्वभाव से किसी भी मानव को अभीष्ट

नहीं है। अभाव की भूमि में ही पूर्णता की माँग जाग्रत होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने समर्थ है।

नहीं को 'नहीं' अनुभव करने पर ही 'है' की माँग और असत् को 'असत्' जान लेने पर ही सत् की जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं, जब देखे हुए का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, तब सुने हुए में आस्था होती है। बस, यही आस्तिक दर्शन का उद्गम है।

यद्यपि आस्था की माँग मानवमात्र में स्वभाव-सिद्ध है, किन्तु इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि के आधार पर मानव सृष्टि में आस्था स्वीकार करता है। परन्तु प्रवृत्तियों के परिणाम पर जब विचार करता है, तो उसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसकी ओर दोड़ते हों और न पकड़ पाते हों और अन्त में असमर्थता का अनुभव करते हों, वही संसार है। जिसकी प्राप्ति ही नहीं है, उसकी आस्था कुछ अर्थ नहीं रखती, अर्थात् सृष्टि की सत्ता को स्वीकार करना भ्रममूलक ही है। पर जब मानव दृश्य से विमुख हो, अपने ही में सन्तुष्ट होता है, तब बह अपनी आस्था स्वीकार करता है और फिर उसे समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था भासित होती है, अर्थात् जो सभी अवस्थाओं से अतीत है, वही सभी अवस्थाओं में है। पर अवस्था-जनित तादात्म्य परिच्छिन्नता में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए, भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। भेद भय को और भिन्नता संघर्ष को जन्म देती है, अर्थात् भिन्नता से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष में आबद्ध मानव पराधीनता एवं क्षोभ में आबद्ध रहता है। पराधीनता चिन्मय जीवन से और क्षोभ समता से अभिन्न नहीं होने देता। इस दृष्टि से राग-द्वेष युक्त वस्तु स्थिति किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। परन्तु भेद और भिन्नता के रहते हुए राग-द्वेष का अन्त सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता किसी को भी अभीष्ट नहीं है, उसका अन्त करना अनिवार्य है। परिच्छिन्नता का नाश निराश्रय तथा अप्रयत्न के बिना सम्भव नहीं है। वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय मिटने पर निष्कामता तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है और फिर अप्रयत्न होने पर ही परिच्छिन्नता का नाश होता है। इस दृष्टि से अहम् से अतीत की आस्था ही वास्तविक आस्था है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट

होता है, जब 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता का बोध हो। इन दोनों में से किसी एक की वास्तविकता का परिचय होने पर दोनों ही का स्पष्ट बोध हो जाता है।

दृश्य का राग जिसमें है, वह 'मैं' दृश्य की ही जाति का है। राग-रहित होने पर समस्त दृश्य अपने अधिष्ठान से अभिन्न हो जाता है; कारण, कि राग के होते हुए दृष्टि दृश्य से विमुख नहीं होती और उसके बिना हुए दृष्टि अपने उद्गम में विलीन नहीं होती। जब दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, तब उसकी गति उसकी ओर होती है, जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। उसे कोई भले ही अहम् के रूप में अनुभव करे, किन्तु अहम् भी वास्तव में उसी की एक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से सभी में सत्ता रूप से वही है, जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में किसी प्रकार की एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता नहीं हो सकती। उसमें एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता का आरोप करना कर्ता का ही चमत्कार है। वह वास्तविकता नहीं है। वास्तविकता का परिचय तो अहम् और मम के नाश में ही निहित है। राग-रहित भूमि में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है; कारण, कि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय, प्रीति की जागृति राग-रहित होने से स्वतः होती है। अपने में अपना करके कुछ भी मानने पर कोई भी मानव किसी भी प्रकार राग-रहित नहीं हो सकता और उसके बिना हुए, वास्तविकता का बोध नहीं होता। इस कारण राग का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र दृश्य के यथार्थ ज्ञान से ही सम्भव है। दृश्य की वास्तविकता का परिचय दृश्य से विमुख होने पर ही होता है। दृश्य की विमुखता एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है।

देखे हुए और किए हुए का प्रभाव जब तक अंकित है, तब तक स्वाभाविकता में प्रतिष्ठा नहीं होती और उसके बिना हुए, वास्तविकता का परिचय नहीं होता, अर्थात् निस्सन्देहता नहीं आती। देखा हुआ मिला नहीं, किया हुआ रहा नहीं, किन्तु उसकी स्मृति-मात्र अंकित है। यदि कुछ काल के लिए देखना और करना बन्द कर दिया जाय, अर्थात् न देखने और न करने को अपना लिया जाय, तो भूतकाल से देखे हुए और

किए हुए का जो प्रभाव अंकित है, वह स्वतः प्रकट होगा। उस दृश्य से सहयोग तथा तादात्म्य स्वीकार न करने पर, उत्पन्न हुआ चिन्तन अपने आप मिट जायगा और फिर स्वतः स्वाभाविकता के साम्राज्य में प्रवेश होगा। जिसके होते ही वास्तविकता से अभिन्नता प्राप्त होती है और फिर मानव स्वतः निस्सन्देह हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि किए हुए का परिणाम जो कुछ भी हो, पर वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह जीवन नहीं है अर्थात् वह लक्ष्य नहीं है। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति में 'किया हुआ' हेतु नहीं है। करने का सम्बन्ध परहित में भले ही हो, पर उससे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। पर फिर भी मानव में करने का राग है। करने के राग की निवृत्ति मात्र के लिए ही करना है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब कर्म सामग्री तथा कार्य-क्षेत्र में ममता न रहे और न फलासक्ति ही। निर्ममता तथा फलासक्ति-रहित प्रवृत्ति से ही सहज-निवृत्ति आती है, जो स्वाभाविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। अस्वाभाविकता ने ही पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में मानव को आबद्ध किया है। इस कारण से अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र अचाह तथा अप्रयत्न होने से ही साध्य है। चाह-रहित होते ही स्वतः वर्तमान कार्य पूरा करने की सामर्थ्य आती है। चाह-युक्त मानव वर्तमान कार्य को विधिवत् नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कार्य करते रहने पर भी करने का राग नाश नहीं होता, जो अवनति का मूल है। करने का राग रहते हुए अप्रयत्न होना सम्भव नहीं है। और अप्रयत्न हुए बिना, सीमित अहम्भाव का नाश नहीं होता; उसके बिना हुए भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। भेद तथा भिन्नता के रहते हुए वास्तविकता से अभिन्नता नहीं होती। वास्तविकता से अभिन्नता बिना हुए वास्विकता का बोध सम्भव नहीं है; कारण, कि प्रतीति से विमुख हुए बिना दृश्य की यथार्थता स्पष्ट नहीं होती और 'है' से अभिन्न हुए बिना 'है' का बोध नहीं होता। इस दृष्टि से 'यह' के परिचय में ही 'मैं' का परिचय और 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता के अनुभव में ही 'है' की प्राप्ति है, 'है' का बोध और 'है' की प्रियता निहित है।

अस्वाभाविकता सम्भव में असम्भव ओर असम्भव में सम्भव का भास कराती है। इस दृष्टि से अस्वाभाविकता के रहते हुए जो सम्भव है, उसमें आस्था नहीं होती और जो असम्भव है, उससे मानव निराश नहीं होता। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि न तो अपने जाने हुए का प्रभाव ही अपने पर होता है और न सुने हुए में अविचल आस्था ही होती है और न जो कर सकते हैं और करना चाहिए, उसे कर ही पाते हैं। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है। 'है' की प्राप्ति और 'नहीं' की निवृत्ति सम्भव है। 'नहीं' की प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं और जो 'है' उसकी प्राप्ति होती है, प्रतीति नहीं। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि दृश्य से विमुख हुए बिना, नित्य-प्राप्त में आस्था ही नहीं होती। जिसमें आस्था नहीं होती, उसकी प्रियता जाग्रत नहीं होती और प्रियता के बिना दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। दूरी के नाश में ही योग और भेद के नाश में ही बोध तथा भिन्नता के नाश में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति आत्मीयता से ही साधक है।

दृश्य का राग, जो दृश्य से विमुख नहीं होने देता, किसमें है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दृश्य का राग दृश्य में नहीं हो सकता और न दृश्य के प्रकाशक में है। दृश्य का राग उसी में है, जिसने दृश्य में ममता और दृश्य की कामना स्वीकार की है। उसका नाम अहम् हो सकता है; कारण, कि अहम् के बिना मम और मम के बिना कामना उत्पन्न ही नहीं होती। इस दृष्टि से अहम् और मम की वास्तविकता का दर्शन किए बिना, दृश्य से विमुख होना सम्भव नहीं है। जिसमें दृश्य की ममता तथा कामना है, उसी में जिज्ञासा भी है और उसी की कोई माँग भी है। ममता, कामना, जिज्ञासा और माँग जिसमें है, वही अपने को 'मैं' कह कर सम्बोधित करता है। ममता, कामना के नाश में ही जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य है और निस्सन्देह होने में ही अविचल आस्था तथा आत्मीयता है। आत्मीयता में ही अगाध, अनन्त, नित, नव प्रियता की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'मैं'

वही है, जो दायित्व पूरा कर सकता है और जिसकी माँग पूरी होती है। ममता, कामना के त्याग का दायित्व उस पर है। दायित्व पूरा करते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है, अर्थात् काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम की प्राप्ति जिसको होती है, वही 'मैं' है।

अब यदि कोई यह कहे कि मुझे दृश्य का राग अभीष्ट नहीं है, अतः ममता, कामना, तादात्म्य के त्याग से निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छिन्नता से अभिन्न होना है। क्या जिससे अभिन्न होना है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है? यदि है, तो 'मैं' उसकी प्रियता से भिन्न कुछ और है? प्रियता में अस्तित्व किसका होता है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रियता जिसकी है, उसमें अस्तित्व उसी का है। अपना अस्तित्व स्वीकार करके प्रियता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, अपितु जिसने निर्विकारता आदि से, अर्थात् अपनी माँग से भिन्न अपना अस्तित्व स्वीकार किया, उसमें आसक्ति हो सकती है, प्रियता नहीं। आसक्त, 'आसक्ति' से भिन्न भी रहता है, किन्तु प्रियता जिसमें होते है, उसका अस्तित्व प्रियता से भिन्न नहीं है। आसक्ति और प्रियता में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति उसको अपने से अभिन्न नहीं कर पाती, जिसमें आसक्ति है और जिसके प्रति आसक्ति होती है, उसके काम नहीं आ पाती कारण, कि आसक्ति भोग की जननी है। कोई भी भोक्ता भोग्य वस्तु के काम नहीं आता, अपितु भोक्ता के द्वारा भोग्य वस्तु का विनाश ही होता है। किन्तु प्रियता जिसके प्रति होती है, उसके लिए रसरूप होती है और उसका विनाश नहीं करती, अपितु प्रियता अपने को ही प्रियतम से अभिन्न करती है। अतः आसक्ति और प्रियता का भेद स्पष्ट होने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि सर्वांश में आसक्ति का नाश होने पर भोक्ता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, अपितु जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसकी प्रियता रहती है। स्वतन्त्र तथा अविनाशी एवं अनन्त और चिन्मय की प्रियता भी उसी की जाति की है, पर उसका कोई अपना करके अस्तित्व नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि समस्त दृश्य की ममता, कामना एवं तादात्म्य के कारण मुझ में जड़ता,

पराधीनता, अभाव आदि दोषों की उत्पत्ति हो गई थी। पर जब विवेक पूर्वक ममता, कामना, तादात्म्य का अन्त कर दिया, तब 'मैं' स्वयं निर्विकार, शान्त, स्वाधीन तथा अपरिच्छिन्न हो गया। अब विचार यह करना है कि यदि निर्विकारता, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता आदि तुम्हीं सब थे, तो तुमने ममता, कामना आदि विकारों को क्या स्वीकार किया? क्या यह कभी सम्भव है कि कोई स्वाधीन होते हुए पराधीनता, चिन्मय होते हुए जड़ता, पूर्ण होते हुए अभाव, परमशान्त होते हुए अशान्ति और अपरिच्छिन्न होते हुए परिच्छिन्नता को अपनाये? कदापि नहीं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसमें आसक्ति आदि दोष हैं, वह उसकी जाति का है, जिसकी उसने आसक्ति स्वीकार की थी। आसक्ति और आसक्त-पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतः आसक्ति और आसक्त, इन दोनों का ही अभाव है। यदि यह स्वीकार न किया जाय, तो आसक्ति आदि दोषों की निवृत्ति की बात सिद्ध नहीं होती और आसक्ति आदि दोषों की किसी को माँग नहीं होती। अतः स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का है, जिसकी माँग है। उसको स्वीकार न करने पर भी उसकी प्राप्ति है, यह उसकी महिमा है और जिनकी आसक्ति है, उनके अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं है, यह उनकी महिमा है। अतः आसक्ति का अन्त कर निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता, अगाध प्रियता आदि से अभिन्न होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। 'है' को अस्वीकार करने पर भी उसकी निवृत्ति होती है और 'नहीं' को स्वीकार करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं, उसी को 'यह' अर्थात् 'नहीं' करके सम्बोधन करते हैं। प्राप्ति है, प्रतीति नहीं, उसी को 'है' करके सम्बोधन करते हैं। 'नहीं' की ममता और 'मैं' की माँग जिसमें है; उसी को 'मैं' करके सम्बोधन करते हैं। ममता की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर अहम् जैसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भासित नहीं होता। ममता आदि दोषो के रहते हुए ही अहम् का भास होता है। 'यह' कुछ नहीं; मैं कुछ नहीं-यह मानव-दर्शन के सिद्ध है। अब यदि कोई कहे कि 'यह' कुछ नहीं, 'मैं'

कुछ नहीं और इस दोनों से भिन्न 'है' भी कुछ नहीं। तो यह अहम् की आवाज है। 'नहीं' को 'नहीं' अनुभव करते ही 'है' की प्राप्ति स्वतः होती है। 'है' का मानना तथा जानना उतना आवश्यक नहीं है, जितना प्राप्त करना। मानने और जानने उतना आवश्यक नहीं है, जितना प्राप्त करना। मानने और जानने की बात साधन-रूप चर्चा है। जो न मानने तथा न जानने पर भी ज्यों-का-त्यों है, उसी की प्राप्ति मानव को अभीष्ट है।

पथ-विवेचन

जब मिला हुआ और देखा हुआ अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, तब स्वभाव से ही बिना जाने हुए में आस्था होती है। आस्था स्वयं श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता के स्वरूप में परिणत हो, प्रियता प्रदान करती है। प्रियता जिसमें उदित होती है, उसके लिए तो रस-रूप है ही, पर जिसके प्रति होती है, उसे भी रस प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रियता की बड़ी महिमा है। अब यदि कोई यह कहे कि बिना जाने आस्था कैसी? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जानने पर तो आस्था की अपेक्षा ही नहीं होती; कारण, कि असत् के ज्ञान में असत् की निवृत्ति और असत् की निवृत्ति में सत की प्राप्ति होती है। अतः आस्था सदैव उसी में होती है कि जिसकी आवश्यकता तो हो, पर जिससे परिचित न हों। इस दृष्टि से आस्था स्वयं एक स्वतन्त्र पथ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धिदृष्टि को अधूरा ज्ञान अनुभव करता है। अधूरे ज्ञान में जिज्ञासा जाग्रत होती है, आस्था नहीं। आस्था एकमात्र उसी में हो सकती है, जिसे कभी भी इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से अनुभव नहीं किया। बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को नाश कर, स्वतः सम हो जाती है, जिसके सम होते ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार और कर्तव्य-पालन के लिए सामर्थ्य तथा नित-नव रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। विचार, सामर्थ्य तथा प्रीति के स्वरूप में जिसका अवतरण होता है, वह 'यह' और 'मैं' से भिन्न है। इतना ही नहीं, 'यह' और 'मैं' उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं और उसी के आश्रय

से सत्ता पाते हैं। उसकी प्राप्ति एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता में ही निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण में विलीन हो सकता है, उसे विषय नहीं कर सकता। इस दृष्टि से यह सब कुछ, अर्थात् 'यह' और 'मैं' जिसका कार्य है, वह अपने कारण से अभिन्न हो सकता है, पर उसको विषय नहीं कर सकता। जिसको विषय नहीं कर पाते, उसमें आस्था कर सकते हैं। इस दृष्टि से आस्था स्वतन्त्र पथ है।

यह सभी को मान्य होगा कि कोई भी उत्पत्ति अनुत्पन्न तत्व के बिना हो नहीं सकता और कोई भी प्रतीति बिना किसी प्रकाशक के प्रतीत नहीं हो सकती। इस कारण समस्त विश्व की उत्पत्ति के मूल में कोई अनुत्पन्न तत्व है और प्रतीति का प्रकाशक है, पर उसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा। जिसे देखा तो नहीं है, पर उसकी माँग है। इस कारण बिना जाने हुए में आस्था अनिवार्य है।

जब मानव अपने में किसी न किसी प्रकार का अभाव अनुभव करता है और उस अभाव का अभाव किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा नहीं होता, तब विवश होकर उसमें आस्था करता है, जो अभाव के अभाव में समर्थ है; कारण, कि माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, पर उसका अनुभव नहीं है। अतः उसमें आस्था अनिवार्य है।

संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त करने में क्या कोई परिस्थिति समर्थ है? कदापि नहीं। क्या संयोग की दासता तथा वियोग का भय मानव की समस्या नहीं है? अवश्य है। क्या वह समस्या हो सकती है, जिसका हल न हो? कदापि नहीं। यदि समस्या है, तो उसका हल भी है। इस समस्या के हल करने के लिए सुने हुए में आस्था करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। यद्यपि संयोग में वियोग और वियोग में अभाव का विचारपूर्वक अनुभव करने में नित्य-योग की प्राप्ति होती है, परन्तु वह विचार किसकी देन है? इस दृष्टि से भी यह स्पष्ट विदित होता है कि मानव की माँग की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री जिससे प्राप्त होती है, वह सभी का अपना है; उसके न मानने तथा न जानने पर भी उसकी

अहैतुकी कृपा स्वतः वास्तविक माँग की पूर्ति के लिए आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है। इस दृष्टि से भी यह विदित होता है कि कोई अपना है, जिसे हम नहीं जानते, पर जो हमें जानता है। उसमें आस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी विश्वास त्याज्य है। पर विश्वास के लिए यह आवश्यक नहीं है कि विवेक का समर्थन हो। उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदि का विश्वास विवेक-विरोधी है; कारण, कि उत्पत्ति-विनाश का क्रम सतत है, उसकी स्थिति ही नहीं है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती, उसमें विश्वास करना भूल है पर जो उत्पत्ति-विनाश का आश्रय तथा प्रकाशक है, उसमें अविचल आस्था रखना विवेक-विरोध नहीं है। इतना ही नहीं, विवेक रूप प्रकाश जिससे मिला है, उसका समर्थन विवेक-सिद्ध नहीं है। अतः विवेक-विरोध विश्वास को त्याग, वास्तविक आस्था स्वीकार करना अनिवार्य है। वास्तविक आस्था उसी में हो सकती है, जिसकी माँग तो है, पर उसे इन्द्रिय, बुद्धि-दृष्टि आदि से देखा नहीं है।

कोई भी मिल्कियत बे-मालिक की और कोई उत्पत्ति बिना आधार के नहीं होती। तो फिर विश्व का कोई मालिक नहीं है तथा उत्पत्ति का कोई आधार नहीं है–यह कैसे हो सकता है? हाँ, यह अवश्य है कि जो सबका मालिक तथा आधार है, वह इतना उदार है कि उसमें यदि कोई आस्था न करे, अथवा उसे कोई न माने, तब भी वह सभी का अपना है। पर अपने में आस्था न करना, सनाथ होने पर भी क्या अपने को अनाथ नहीं करना है? क्या यह अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश नहीं है? अर्थात् अवश्य है। अपना होने से ही अपने को प्रिय है। हम उसे जानें, न जानें-इससे कोई अन्तर नहीं होता। अपने में अपनी प्रियता स्वभाव-सिद्ध है। प्रियता की जागृति में नीरसता का नाश है। नीरसता के नाश होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है; कारण, कि समस्त विकार नीरसता की भूमि में ही उत्पन्न होते हैं। नीरसता का अत्यन्त अभाव एकमात्र प्रियता में ही निहित है और प्रियता आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही होती है। इस दृष्टि से आस्था सर्वतोमुखी विकास में समर्थ है।

समस्त विश्व किसी की ओर दौड़ रहा है। प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही गतिशील है। गतिशीलता में किसी का आकर्षण है। सभी का आकर्षण उसी के प्रति हो सकता है, जो 'है'। इस दृष्टि से भी 'है' को न जानने पर भी 'है' में आस्था होती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक मानव का यह अपना अनुभव है कि उसकी कोई माँग है। वह प्रमादवश भले ही उस माँग को अनेक कामनाओं में बदलने का प्रयास करें, किन्तु ऐसी कोई भी इच्छित वस्तु नहीं है, जिससे अरुचि न हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस रुचिकर की माँग है, उसे इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि आदि से देखे हुए रुचिकर पदार्थों से स्वतः उपरामता आती है और माँग शेष रहती है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि माँग उसी की है, जिसे जानते नहीं। अतः उसमें आस्था अनिवार्य है। 'नहीं' की माँग नहीं होती। न हो और प्रतीत हो, उसमें आसक्ति होती है, उसकी कामना होती है। किन्तु माँग उसकी होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। अतः जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, यद्यपि उसे देखा नहीं है, परन्तु उसमें आस्था करना अनिवार्य है। इन्द्रिय-दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं में जो सौन्दर्य प्रतीत होता है, वह किसी कारीगर की महिमा गाता है। यदि वस्तुओं का अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य होता, तो उनमें परिवर्तन न होता। सतत परिवर्तन यह सिद्ध करता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं में आरोप कर लेता है और परिणाम में वस्तुओं की दासता में आबद्ध होता है। वस्तुएँ मिट जाती हैं, दासता रह जाती है, जो किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि के आधार पर भी उस अनन्त सौन्दर्य में आस्था हो सकती है, जिससे सभी को सौन्दर्य मिलता है। मिले हुए सौन्दर्य में आबद्ध होना, अनन्त सौन्दर्य से विमुख होना है। अनन्त सौन्दर्य की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तो स्वभाव से ही उसमें आस्था होती है, जिसे देखा नहीं, पर जिसकी माँग है।

अनन्त सौन्दर्य से विमुख होकर ही मानव सीमित, परिवर्तनशील सौन्दर्य में आबद्ध होता है, जो विनाश का मूल है। सतत गतिशीलता यह सिद्ध करती है कि वह किसी से मिलने के लिए आकूल-

व्याकुल है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि किसी अपरिचित की ओर तीव्र गति से जा रही है। यदि उसमें मानव आस्था करले, तो बड़ी सुगमतापूर्वक उसकी प्रियता होकर, उससे अभिन्न हो सकता है। खोज करते-करते जब तक खोज-कर्ता अपने को खो नहीं बैठता, तब तक उससे अभिन्न नहीं होता, जिसे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता है; कारण, कि खोज में मिली हुई सीमित शक्तियों का अभिमान रहता है, जिसके रहते हुए असीम तथा अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है। आत्मीयता से जाग्रत प्रियता अभिमान का अन्त कर, वास्तविकता से अभिन्न कर देती है, जो आस्था-मात्र से ही साध्य है।

जब तक मानव अपने देह-जनित सीमित स्वभाव में आबद्ध रहता है, जब तक उसे बिना देखे में आस्था नहीं होती। किन्तु देह आदि वस्तुओं की वास्तविकता जान लेने पर, जब मानव देह-जनित स्वभाव से अपने को सन्तुष्ट पाता है, तब उसे विवश होकर उसमें आस्था करनी पड़ती है कि जिसे देखा नहीं है। यदि ऐसा न होता तो दुःख, पराधीनता, जड़ता तथा अभाव से पीड़ित प्राणी उस अलौकिक जीवन की माँग ही न करता, जिसे देखा नहीं है। माँग उसी की होती है, जिसे देखा नहीं है और कामना उसकी होती है, जिसे देखा है। माँग पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील करती है और कामना पराधीनता में आबद्ध रखती है। इस दृष्टि से कामना और माँग में भेद है। कामनाओं से भिन्न माँग का होना, इस बात को सिद्ध करता है कि इच्छित वस्तुओं से अतीत भी कोई अपना है। अपने में अपनी आस्था करना, अपनी ही भारी भूल है। कामना-रहित होते ही स्वतः उसकी ओर प्रगति होती है, जो सृष्टि का उद्गम है। सृष्टि का मूल बीज अहम् है। उसी में माँग है। माँग की पूर्ति जिससे होती है, वही सभी का सब कुछ है और उसी में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना है। आत्मीयता अहम् को अगाध प्रियता में परिणत कर देती है और फिर प्रियता से अभिन्न हो, मानव उसके लिए उपयोगी सिद्ध होता है, जिसमें उसने आस्था की है।

आस्था अपने प्रेमास्पद के लिए उपयोगी होती है और विचार अपने लिए उपयोगी होता है, विचार-

पथ का पथिक पराधीनता, जड़ता, अभाव से रहित हो, स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता को प्राप्त कर कृत-कृत्य होता है। किन्तु आस्थापूर्वक मानव उसके लिए उपयोगी होताहै, जिसने विचार प्रदान किया है। वस्तु, योग्यता सामर्थ्य का दाता जो है, उसी में आस्था करना है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दाता जो है, उसी में आस्था करनाहै। वस्तु, योग्यता सामर्थ्य का उपयोग अपने लिए हितकर है, और आस्था उनके लिए हितकर है, जिन्होंने सभी को सब कुछ प्रदान किया है, अर्थात् अपने दाता के लिए वही उपयोगी होता है, जो अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक दाता में आत्मीयता स्वीकार करता है। यह सभी को स्पष्ट विदित है कि मिली हुई कोई भी वस्तु किसी की व्यक्तिगत नहीं है। जब व्यक्तिगत नहीं है, तब उसका कोई दाता है। मिली हुई वस्तुओं में ममता करना और दाता को अपना न मानना, यह कहाँ तक न्याय-युक्त है? वास्तविकता तो यह है कि दाता अपना है, वस्तुएँ उसकी हैं। उसकी दी हुई वस्तुओं के द्वारा ही विश्व की सेवा होती है और आत्मीयता के द्वारा ही दाता में प्रीति होती है। सेवा मानव को जगत् के लिए और प्रीति जगत्-पति के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। सेवा और प्रीति की अभिव्यक्ति होने पर कुछ करना तथा पाना शेष नहीं रहता; कारण, कि समस्त कर्तव्यों की परावधि सेवा में और समस्त प्राप्ति की पराकाष्ठा प्रीति में निहित है। प्रीति के समान कोई अलौकिक महान् तत्व नहीं है; कारण, कि प्रीति मानव को विभु कर देती है। महान् की प्रीति महान् को मोहित करती है। इस दृष्टि से प्रीति के समान और कोई अनुपम अलौकिक तत्व नहीं है, जो एकमात्र आस्था से ही साध्य है। करने और पाने का अन्त होने पर सीमित अहम्-भाव स्वतः नाश हो जाता है; कारण, कि करने, पाने का प्रलोभन ही परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। इस दृष्टि से सेवा तथा प्रीति की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

अचाह तथा अप्रयत्न हुए बिना, आस्था सजीव नहीं होती; कारण, कि कामना तथा अहंकृति-युक्त मानव उसमें आस्था कर ही नहीं पात, जो उसकी उत्पत्ति से पूर्व है। क्या किसी ने उसका जाना है, जो

उसका प्रकाशक तथा आश्रय है? कदापि नहीं। पर प्रत्येक मानव उसे प्राप्त कर सकता है, जो उसका आधार तथा प्रकाशक है। उसकी प्राप्ति उसकी प्रियता में ही निहित है, जिज्ञासा में नहीं। ज्ञान असत् का होता है। प्राप्ति सत् की होती है। अतः आस्थापूर्वक ही आत्मीयता प्राप्त होती है, जो प्रियता की जागृति में हेतु है और प्रियता ही एकमात्र उसकी प्राप्ति का साधन है, जो उसकी उत्पत्ति से पूर्व अनुत्पन्न है। यद्यपि प्रत्येक उत्पत्ति उसी से सत्ता पाती है, जिससे वह उत्पन्न हुई है। इतना ही नहीं, वह सदैव रहती भी उसी में है, फिर भी उसे नहीं जानती। किन्तु माँग उसी की रहती है। इस कारण आस्थापूर्वक ही उसे प्राप्त किया जा सकता है, जो सभी का सब कुछ है और सभी से अतीत है तथा जो सर्व है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि 'नहीं' की निवृत्ति में विचार और 'है' की प्राप्ति में आस्था ही समर्थ है। 'नहीं' की निवृत्ति में विचार और 'है' की प्राप्ति में आस्था ही समर्थ है। 'नहीं' की निवृत्ति अपने लिए हितकर है। पर 'है' की आस्था 'है' के लिए उपयोगी है। 'नहीं' की निवृत्ति करने के लिए उसी 'है' से मानव को विचार मिला है और उसी ने आस्था दी है। 'है' की दी हुई आस्था से ही 'है' में आत्मीयता और 'है' के दिये हुए विचार से ही 'नहीं' की निवृत्ति होती है। 'नहीं' की निवृत्ति होने पर दुःख-निवृत्ति, परम-शान्ति और स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है, जो अपने लिये उपयोगी है। जो मानव केवल अपने लिए ही उपयोगी होना चाहता है, उसे आस्था करना आवश्यक नहीं है। आस्था एकमात्र उन्हीं के लिए अपेक्षित है, जो अपने को दाता के लिए उपयोगी करना चाहते हैं, अर्थात् जिसने सभी को सब कुछ सभी को सब कुछ दिया है, उसके लिए उपयोगी होने की उत्कट लालसा जिनमें है, वे ही मानव आस्था के अधिकारी है।

अपने लक्ष्य का निर्णय होने पर ही अपने पथ का निर्माण होता है। लक्ष्य कि विस्मृति विकल्प - रहित पथ का निर्माण नहीं होने देती। वर्तमान वस्तुस्तिथि का यथार्थ ज्ञान लक्ष्य के निर्णय में समर्थ है। जिस मानव ने यह अनुभव किया है कि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती,वही दुःख-निवृत्ति

शान्ति और स्वाधीनता को अपना लक्ष्य मानता है। पर जिसे स्वाधीनता भी चैन नहीं दे पाती, वही दाता के लिए उपयोगी होने के लिए बिना जाने ही, 'उनमे' अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करता। अथवा यों कहो कि प्राप्त शान्ति, स्वाधीनता को समर्पित कर, वह आस्था पाता है। इस दृष्टि से आस्था बड़े ही महत्व की वस्तु है।

बुद्धिवादी, अर्थात् बुद्धि के दास आस्था के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पाते, अपितु बुद्धि जिनकी दासी होती है, जो शान्ति में रमण नहीं करते और स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होते। इस दृष्टि से आस्था का साम्राज्य बुद्धि से परे है। बुद्धि का क्षेत्र प्रतीति की ओर गतिशील होने में हैं। जब मानव विषयों से विरक्त होता है, तब इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर मन में विलीन होती है ओर फिर मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है। तत्पश्चात् बुद्धि के लिए कोई भी कार्य नहीं रहता जाता और वह स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि की समता सामर्थ्य की प्रतीक है। जिज्ञासु में विचार का उदय और आस्थावान में प्रीति की जागृति बुद्धि के सम होने पर ही उदय होती है। बुद्धि करण है, कर्ता नहीं। उसका उपयोग किया जाता है। बुद्धि के उपयोग से मानव इन्द्रिय-दृष्टि पर विजयी होता है अर्थात् इन्द्रिय-जनित प्रभाव शेष नही रहता, बस, यहीं तक बुद्धि का क्षेत्र है। आस्था 'स्व' के द्वारा होती है, उसके लिये कोई करण अपेक्षित नहीं है। आस्था अपने को करनी है, उसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। अपितु आस्था का प्रभाव स्वतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है; कारण, कि करण कर्ता पर ही आश्रित रहते हैं। कर्ता के शुद्ध होने पर करण स्वतः शुद्ध हो जाते हैं और फिर कार्य में भी शुद्धता आ जाती है। कार्य, करण और कर्ता में कर्ता का ही चमत्कार है। जिसने आस्था स्वीकार की है, वह कोई करण नहीं है, अपितु कर्ता है। ज्यों-ज्यों कर्ता निर्मम तथा निष्काम होता जाता हैं, त्यों-त्यों उसमें सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से अतीत के जीवन की माँग जाग्रत होती जाती है। अवस्था आदि से परे के जीवन में आस्था तथा उसकी आवश्यकता उसकी प्राप्ति से पूर्व ही होती है। जिज्ञासा उसके सम्बन्ध में नहीं होती,

जिसके सम्बन्ध हम कुछ नहीं जानते, अर्थात् अधूरी जानकारी में ही स्नेह की वेदना तथा जिज्ञासा की जागृति होती है। इस दृष्टि से जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से गोचर है, उसी के प्रति जिज्ञासा होती है और जो इन्द्रिय आदि से अगोचर है, उसमें आस्था होती है। दृश्य की वास्तविकता का बोध दृश्य से विमुख कर, दृश्य के उद्गम से अभिन्न करता है और दृश्य से अतीत के जीवन की माँग मानव में आस्था जाग्रत करती है। उसमें कभी आस्था नहीं होती, जिसकी माँग नहीं है। अतः माँग की पूर्ति आस्था में ही निहित है और निस्सन्देहता जिज्ञासा की जागृति में। जिज्ञासा उसकी नहीं है, जिसकी माँग है। जिज्ञासा तो प्रतीति और भास के प्रति ही होती है। समस्त परिवर्तनशील जगत् प्रतीति के अन्तर्गत है और सीमित अहम्-भाव का भास है। अतः जगत् और अपने सम्बन्ध में ही जिज्ञासा होती है। जिसकी माँग है और जो जगत् से अतीत है, उसी में आस्था होती है। उससे भिन्न की आस्था आसक्ति की जननी है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से आस्था एकमात्र उसी में हो सकती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, अर्थात् जो सदैव अपना है और जिसकी प्रियता ही अपना जीवन है, वही श्रद्धास्पद है।

जिसमें किसी प्रकार के दोष की अनुभूति होती है, उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास सम्भव नहीं है। अब यह विचार करना है कि दोष का दर्शन किसमें नहीं होता? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दोष की अनुभूति उसी में नहीं होती जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है और जिसकी माँग है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि अपनी माँग की पूर्ति जिससे साध्य है, उसी में आस्था होती है। जो मानव अपनी माँग से अपरिचित है, उसमें आस्था का प्रादुर्भाव नहीं होता। अपनी माँग से वही अपरिचित है, जो परिस्थितियों में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है। परिस्थितियों से जीवन-बुद्धि वही स्वीकार करता है, जो वर्तमान वस्तुस्थिति से अपरिचित रहता है। वर्तमान वस्तुस्थिति से वही अपरिचित रहता है, जो जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित नहीं है, अपितु देखे हुए तथा किये हुए में ही आसक्त है। देखे हुए तथा किये हुए की आसक्ति, मानव को जड़ता में आबद्ध करती है।

जाने हुए का प्रभाव, देखे हुए में सन्देह और किये हुए के परिणाम का बोध कराने में समर्थ है। देखे हुए का सन्देह जिज्ञासा की जागृति में हेतु है और किये हुए के परिणाम का प्रभाव उसकी ओर गतिशील करता है, जो नित्य-प्राप्त है और उसी में आस्था होती है।

जिसकी अभिन्नता कर्म-सापेक्ष नहीं है, उसकी अभिन्नता के लिए आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता ही समर्थ है। जड़ता, पराधीनता का अभाव विचार साध्य है, जो अपने लिए उपयोगी है। परन्तु विचार जिसकी देन है, आस्था उसी से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से आस्था उसके लिए उपयोगी है, जिससे सभी को सब कुछ मिलता है, अर्थात् कर्मनिष्ठ को कर्म-सामग्री, मोक्षार्थी को विचार जिससे प्राप्त है, उसको रस देने के लिए आस्था ही समर्थ है।

आस्था का उपयोग कामनापूर्ति तथा निवृत्ति में करना आस्था का दुरुपयोग है। आस्था का सदुपयोग एकमात्र आत्मीयतापूर्वक प्रियता की जागृति में ही है। प्रियता की जागृति आत्मीयता के अतिरिक्त किसी और प्रकार सम्भव ही नहीं है। जिसकी प्राप्ति किसी अन्य साधन से सम्भव ही नहीं है, उसी की प्राप्ति के लिए आस्था अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष तथा विवेक-सिद्ध है, उसके लिए आस्था आवश्यक नहीं है; कारण, कि कर्म-सामग्री और विवेक मानव को बिना ही माँगे प्राप्त है और आस्था का उपयोग एकमात्र प्रेम के प्रादुर्भाव में ही निहित है। इस दृष्टि से आस्था को सजीव तथा सुरक्षित रखने के लिए निर्मम तथा निष्काम होना अनिवार्य है, जो एकमात्र विचार से ही साध्य है। अतः परम-शान्ति तथा निर्विकारता की भूमि में ही आस्था पोषित होती है।

अब विचार यह करना है कि आस्था की जीवन में आवश्यकता ही क्यों है? इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख-दुःख का भोग कर्म-सापेक्ष है और निर्विकारता तथा शान्ति निर्ममता एवं निष्कामता से साध्य है और निर्विकारता तथा शान्ति निर्ममता एवं निष्कामता से साध्य है और स्वाधीनता एकमात्र असंगता से सिद्ध है। अतः जिसे इनकी माँग है, उसके लिए आस्था आवश्यक है नहीं है;

कारण, कि ये सारी बातें मानव को स्वतः प्राप्त हैं, अर्थात् भोग के लिए कर्म-सामग्री और निष्कामता, निर्ममता एवं असंगता के लिए विवेक-शक्ति। किसी बिना जाने, किन्तु सुने हुए में आस्था तो वही कर सकता है, जिसने इस बात पर विचार किया हो कि वह कौन है, जिसने सब कुछ दिया है? जो हमें जानता है, पर हम जिसे भले ही न जानते हों, उसी में आस्था होती है। आस्था का उपयोग भोग, मोक्ष की प्राप्ति में नहीं है; कारण, कि जो प्रयत्न-साध्य है, उसके लिए आस्था अपेक्षित नहीं है। सुख की आशा का त्याग करने पर दुःख-निवृत्ति स्वतः होती है; कारण, कि सुख की आशा रखते हुए किसी भी प्रकार दुःख की निवृत्ति नहीं होती। निज-विवेक के आदर में ही निर्ममता, निष्कामता, असंगता निहित है। विवेक का आदर किए बिना, कोई भी निर्मम, निष्काम तथा असंग नहीं हो सकता। अतः जो विवेक से साध्य है, उसके लिए भी आस्था अपेक्षित नहीं है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि आस्था केवल उसी के लिए अपेक्षित है, जिसने सब कुछ दिया है। उसको रस आस्था, श्रद्धा विश्वास-पूर्वक ही मिल सकता है। अतः एकमात्र आत्मीयता की जागृति के लिए ही आस्था अपेक्षित है। अब यदि कोई यह कहे कि उसे रस देने की क्या आवश्यकता है? इस समस्या पर विचार करने से यह निस्सन्देह सिद्ध है कि जिसने सब कुछ दिया है, उसे किसी से कुछ नहीं लेना है। पर क्या यह अपने को उचित मालूम होता है कि जिससे सब कुछ पाया हो, उसे अपना तक न मानें? अपना माने बिना, क्या कोई उसके ;ण से मुक्त हो सकता है, जिससे सब कुछ मिला है? यद्यपि उस दाता ने किसी को ऋणी नहीं बनाया है, परन्तु अपने को कभी सन्तोष नहीं हो सकता है कि जिससे सब कुछ पाया हो, वह अपना प्यारा न रहे। आत्मीयता के बिना, क्या किसी अन्य प्रकार से स्वाभाविक अखण्ड, अगाध, प्रियता जाग्रत हो सकती है? कदापि नहीं। और क्या बिना जाने हुए में आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना, आत्मीयता हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। इस दृष्टि से मानव-मात्र के लिए आस्था अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो किसी से कुछ नहीं मिला, सब

अपना ही है। यदि यह निर्णय युक्ति-युक्त है, तो फिर पराधीनता, जड़ता, अभाव में आबद्ध क्यों रहे? कोई स्वाधीन होकर पराधीनता पसन्द करेगा? वह भी ऐसी पराधीनता जिसमें सुख की दासता तथा दुःख का भय हो? हाँ, उस दाता के देने का ढंग अनुपम तथा अद्वितीय है कि जिसे वह जो कुछ देता है, उसे वह अपना ही प्रतीत होता है। इस उदारता का दुरुपयोग करना कहाँ तक न्याययुक्त है? मानव स्वयं विचार करें। दुःख-निवृत्ति, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त होने पर यद्यपि अपने लिए कुछ भी करना तथा पाना शेष नहीं रहता, परन्तु पराधीनता आदि से जिसने रहित किया, उसकी आत्मीयता स्वीकार करने पर क्या शान्ति, स्वाधीनता आदि मिट जायेंगी? कदापि नहीं।

अपितु स्वाधीनता सुरक्षित रहते हुए अगाध, अनन्त, नित-नव रस की अभिव्यक्ति होगी; कारण, कि प्रियता निवृत्ति, पूर्ति से रहित है। दुःख, अशान्ति, पराधीनता, जड़ता आदि की निवृत्ति होती है और शान्ति, स्वाधीनता, चिन्मयता आदि की पूर्ति होती है। किन्तु प्रियता तो निवृत्ति, पूर्ति से रहित विलक्षण है; कारण, कि उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रहती है, क्षति, निवृत्ति, पूर्ति नहीं होती। शान्ति, स्वाधीनता आदि की नित-नव वृद्धि नहीं होती। यद्यपि शान्ति और स्वाधीनता भी अखण्ड, अविनाशी तथा चिन्मय हैं, पर प्रियता का रस तो अनन्त है। इतना ही नहीं, शान्ति और स्वाधीनता के आश्रित अहम्-रूपी अणु रह सकता है। प्रियता में तो अहम् की गन्ध भी नहीं रहती, अर्थात् एकदेशीयता का अत्यन्त अभाव प्रियता में ही निहित है; कारण, कि प्रियता में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह प्रियता है। प्रियता ही उसे रस दे सकती है, जो सब प्रकार से पूर्ण है; कारण, कि प्रियता सभी को भाती है और उससे अरुचि तथा तृप्ति नहीं होती। अतः जिसने सभी को सब कुछ दिया है, उसकी प्रियता ही उसे रस देती है। प्रियता से अभिन्नता मानवमात्र की हो सकती है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से ही साध्य है। प्रियता का ही क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। चाह-रहित हुए बिना, मानव प्रियता का अधिकारी नहीं होता;

कारण, कि जो कुछ भी चाहता है, उसमें प्रीति की जागृति ही नहीं होती। इतना ही नहीं, जो अपने में अपना करके कुछ पाता है, उसमें भी प्रियता जाग्रत नहीं होती। इस दृष्टि से अहम् और मम का नाश भी प्रियता की जागृति के लिए अनिवार्य हो जाता है। अतः प्रियता प्राप्त करने के लिए सेवा और त्याग तथा आस्थापूर्वक आत्मीयता अनिवार्य है। हाँ, यह अवश्य है कि आस्थापूर्वक आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से अभिन्न होने पर सेवा और त्याग स्वाभाविक हो जाता है और सेवा तथा त्याग को अपना लेने पर मानव प्रियता का अधिकारी हो जाता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पथ तथा विचार-पथ से भी आस्था के पथ में प्रवेश होता है और आस्था का पथ अपना लेने पर भी विचार-पथ तथा कर्तव्य-पथ स्वतः प्राप्त होते हैं; कारण, कि प्रियता की अभिव्यक्ति में सभी पथ एक हो जाते हैं। प्रियता की जागृति श्रम-साध्य नहीं है, एकमात्र आत्मीयता से ही साध्य है। आत्मीयता पर-धर्म नहीं है, अर्थात् शरीर आदि का धर्म नहीं है। अपने ही द्वारा आत्मीयता स्वीकार की जाती है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वास में ही निहित है। आस्था, श्रद्धा, विश्वास भी किसी अन्य के द्वारा सिद्ध नहीं होते, अपितु अपने ही को आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जो स्वाधीनता-पूर्वक अपनायी जाती है, वही आस्था है। आस्था का आरम्भ अपने ही द्वारा होता है। विश्वासियों के सम्पर्क से आस्था पोषित होती है। इस कारण आस्था अपनाने में 'पर' की अपेक्षा नहीं है। यद्यपि ममता, कामना आदि का त्याग भी अपने ही द्वारा होता है, पर उसके लिए विचार का प्रकाश अपेक्षित है। बिना जाने हुए पर विचार का उपयोग हो नहीं सकता। अतः आस्था तो एकमात्र अपने ही द्वारा अपनायी जा सकती है। आस्था किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में रखना भूल होगी। आस्था का अर्थ है-किसी के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना। इस कारण आस्था देखे तथा मिले हुए में हो ही नहीं सकती, अपितु उसी में हो सकती है, जिसे देखा नहीं है। बिना देखे की आस्था किसी प्रकार की क्षति नहीं कर सकती; कारण, कि आस्था से तो श्रद्धा, विश्वास की ही अभिव्यक्ति होती है। श्रद्धा, विश्वास

सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है, जो प्राप्ति, प्रियता एवं परिचय में हेतु है।

प्रियता अपने प्रेमास्पद में किसी गुण की अपेक्षा नहीं रखती; कारण, कि गुणों के आश्रित प्रियता तो अपने रस में हेतु है। प्रियता एकमात्र प्रियतम को रस देती है। अतः वे चाहे जैसे हैं, चाहे जहाँ है, चाहे कुछ करें, पर अपने होने-मात्र से ही अपने को अत्यन्त प्रिय हैं। यद्यपि प्रियता के लिए मिलन और वियोग कुछ अर्थ नहीं रखता, यद्यपि कोई जाने, न जाने, प्रियतम का प्रियता में ही नित्य वास है। सारी सृष्टि जिसके किसी एक अंश-मात्र में है, वह प्रियता में है। इस दृष्टि से प्रियता अनन्त है। फिर भी उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; कारण, कि प्रियता अभिन्नता से ही उदित होती है। योग, बोध आदि अनन्त की विभूतियाँ हैं, पर वे अनन्त को रस नहीं दे पातीं। इस दृष्टि से प्रियता अनन्त की वह अनुपम विभूति है, जो अनन्त को मोहित करने में समर्थ है, जो एकमात्र आस्था से ही साध्य है। करुणा, मुदिता आदि प्रियता के ही रूपान्तर हैं। इतना ही नहीं, नित-नव रस की अभिव्यक्ति प्रियता में ही निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी न किसी की आस्था मानवमात्र में स्वभाव से रहती है। पर विचार यह करना है कि क्या देखे हुए में आस्था है, अथवा उमसें है जिसे नहीं देखा? देखे हुए की आस्था ममता उत्पन्न करती है, जो विकारों का मूल है। देखे हुए की तो वास्तविकता का अनुभव करना है, आस्था नहीं। आस्था एकमात्र उसी में की जा सकती है, जिसकी प्रियता अपने को अभीष्ट हो। प्रियता उसकी अभीष्ट हो सकती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता न हो। उत्पन्न हुई वस्तुओं से मानव की मानी हुई एकता हो सकती है, जातीय नहीं; कारण, कि उत्पत्ति-विनाश का क्रम सतत परिवर्तनशील होने के नाते, देखे हुए की अविचल स्थिरता ही सिद्ध नहीं होती। तो फिर उसमें आस्था करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अर्थात् कुछ नहीं। इस दृष्टि से आस्था सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में ही हो सकती है और उसी के नाते सर्व की सेवा की जा सकती है। सुने हुए की आस्था, देखे हुए से असंग करने में समर्थ है। देखे

हुए की असंगता देखे हुए की वास्तविकता के बोध में हेतु है। इस कारण देखे हुए की वास्तविकता के परिचय में भी आस्था समर्थ है। देखे हुए का परिचय होने पर भी, जिसे नहीं देखा है, उसकी अभिन्नता में आस्था हेतु है। इस दृष्टि से विचार की पूर्णता में आस्था ओर आस्था की पूर्णता में विचार निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने आस्था अथवा विचार को स्वतन्त्र रूप से अपनाया है, अर्थात् साधन-रूप आस्था को नहीं मिलाया है। साधन-रूप आस्था का अर्थ है कि जिसे देखा नहीं है, पर सुना है और उसकी आवश्यकता भी अनुभव होती है, उसमें विकल्प-रहित आस्था करना। विकल्प-रहित आस्था श्रद्धा, विश्वास की जननी है। विश्वास में आत्मीयता और आत्मीयता से प्रियता जाग्रत होती है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद और भिन्नता का अन्त कर देती है और फिर साधन-रूप आस्था साध्य-रूप आस्था में परिवर्तित हो जाती है। साध्य-रूप आस्था में योग, बोध और प्रेम निहित है, जो मानव की वास्तविक माँग है। यदि स्वभाव से ही आस्था प्रिय न हो, तो आस्था के पथ का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है। सन्देह की वेदना रहते हुए आस्था का पथ सहज तथा सुलभ नहीं है। सन्देह की निवृत्ति जिज्ञासा की जागृति तथा विचार की अभिव्यक्ति से ही सम्भव है। आस्था के लिए प्रमाण सहयोगी साधन भले ही हो, साक्षात् साधन नहीं है। आस्था की अभिरुचि यदि बीज रूप से विद्यमान है, तो आस्था करना सहज होगा। जिसे आस्था स्वभाव से प्रिय न हो, उसे अपना निरीक्षण करना चाहिए कि क्या मेरी किसी में आस्था नहीं है देखे हुए में आस्था करने से परिणाम हितकर न होगा; कारण, कि देखे हुए से अभिन्नता सम्भव नहीं है। जिससे अभिन्नता सम्भव नहीं है, उसकी आस्था, ममता, कामना, तादात्म्य आदि विकारों को ही उत्पन्न करती है। देखा हुआ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रतीति है। उसमें प्रवृत्ति तो होती है, परन्तु प्राप्ति नहीं होती। अभाव की अनुभूति, देखने की रुचि को नाश कर देती है और फिर इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि दृष्टियाँ अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही स्वतः विचार का उदय होता है, जो वास्तविकता से अभिन्न कर देता है

और फिर स्वतः उसमें आस्था हो जाती है, जो देखा हुआ नहीं था, अपितु सुना था। सर्वांश में जान लेने पर आस्था की आवश्यकता नहीं रहती और देखा हुआ प्राप्त नहीं होता। इस कारण एकमात्र उसी में आस्था होती है, जो देखा हुआ, जाना हुआ नहीं हैं, अपितु जिसे सुना है। सुने हुए का अर्थ शब्द मात्र नहीं है, अर्थात् जो अगोचर है, वही सुना हुआ है और उसी की आस्था वास्तविकता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से आस्था भी स्वतन्त्र पथ है।

कर्तव्य-विवेचन

प्रत्येक मानव में स्वभाव से कुछ न कुछ करने की रुचि विद्यमान है और उसकी पूर्ति के लिए वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त हैं। कर्तव्य का प्रश्न किसी अप्राप्त की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु कर्तव्य का सम्पादन प्राप्त परिस्थिति में ही निहित है। कर्तव्य का प्रश्न 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। कर्तव्य का सम्पादन, जो 'पर'से प्राप्त है, उसके द्वारा होता है, 'स्व' के द्वारा नहीं। इस दृष्टि से कर्तव्य पर-धर्म है। जो प्रवृत्ति पर-हित में हेतु नहीं है, वह कर्तव्य नहीं है जिसे किसी का भी अहित सह्य है, वह कर्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता। कर्तव्य कर्ता का चित्र है, जिसकी माँग जगत् को है, अर्थात् कर्ता 'कर्तव्य' होकर जगत् से अभिन्न होता है। कर्तव्य के अभाव में 'भेद', 'भिन्नता' तथा 'संघर्ष' पोषित होते हैं, जो विनाश का मूल है। कर्तव्य 'विज्ञान' है, कल्पना नहीं। जो कुछ किया जाता है, उसका परिणाम स्वतः कर्ता के प्रति होता है। इसी कारण अहितकर प्रवृत्तियाँ सर्वथा त्याज्य हैं। जो प्रवृत्ति पराधीनता, जड़ता तथा अभाव में आबद्ध करती है, वही अहितकर है। कर्तव्य-परायणता में पराधीनता की गन्ध भी नहीं है; कारण, कि जो नहीं करना चाहिए तथा जो नहीं कर सकते, वह कर्तव्य नहीं है। अहितकर ओर अनावश्यक कार्य का त्याग करने पर ही कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्य का ज्ञान और सामर्थ्य सभी में विद्यमान है। परन्तु अनावश्यक तथा अहितकर चेष्टाओं से कर्तव्य की विस्मृति तथा कर्तव्य-पालन में असमर्थता अनुभव होती है।

इस कारण कर्तव्य-पालन से पूर्व ही यह भली-भाँति अनुभव करना है कि क्या नहीं करना चाहिए और क्या नहीं कर सकते? जो प्रवृत्ति स्वाधीनता से पराधीनता की ओर गतिशील करती है, उसे नहीं करना है। कर्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से कर्तव्य का सम्बन्ध पर-हित में है। पर जब मानव व्यक्तिगत सुख-लोलुपता से प्रेरित होकर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, जब कर्तव्य की वास्तविकता से अपरिचित हो जाता है और पराधीनता आदि दोषों में आबद्ध होता है, जो किसी भी मानव को स्वभाव से अभीष्ट नहीं है।

उत्पन्न हुई शरीर आदि वस्तुओं का तादात्म्य तथा सीमित अहम्भाव में आरोपित स्वीकृति ही प्रवृत्ति की जननी है। देह का तादात्म्य इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तद्रूप कर देता है। इन्द्रिय जन्य स्वभाव से तद्रूप प्राणी सुख-लोलुपता में आबद्ध होता है, जो अकर्तव्य की जननी है। अकर्तव्य के साथ-साथ किया हुआ कर्तव्य, कर्ता को द्वन्द्वात्मक स्थिति में बाँध देता है। द्वन्द्वात्मक स्थिति के रहते हुए बेचारा मानव दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है, जो ह्रास का मूल है। अकर्तव्य का अन्त करने पर ही कर्तव्य-परायणता आती है, जो पास्परिक एकता की जननी है। एकता सुरक्षित रहने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होता है, जो सभी के लिए हितकर है। पारस्परिक संघर्ष का कारण एक-मात्र कर्तव्य-विज्ञान से अपरिचित होना है। यह सभी को मान्य है कि अपने प्रति कर्तव्य किसी को अभीष्ट नहीं है। तो फिर अकर्तव्य का मानव-जीवन में स्थान ही क्या है? अर्थात् कुछ नहीं। कर्तव्य-पालन उतना आवश्यक नहीं है, जितना अकर्तव्य का त्याग; कारण, कि अकर्तव्य का त्याग बिना किये, कर्तव्य की अभिव्यक्ति ही नहीं हाती। जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने पर दो ही अवस्थाएँ स्वतः आती हैं- सही करना अथवा न करना। सही करने से पारस्परिक एकता और न करने से देहाभिमान का नाश स्वतः होता है। इस दृष्टि से सही करना जगत् के लिए और न करना अपने लिए उपयोगी है। न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु चिर-विश्राम है। जो करने योग्य है, उसे बिना किये किसी को भी विश्राम नहीं मिल सकता और विश्राम

के बिना, कोई भी स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पाता। इस दृष्टि से कर्तव्य-परायणता अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु किए हुए की फलासक्ति अपने लिए अभीष्ट नहीं है, इसका कर्तव्य-पालन में कोई स्थान ही नहीं है।

कर्तव्य-परायणता वह विज्ञान है, जिससे मानव जगत् के लिए उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है; कारण, कि कर्तव्य-परायणता विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। राग-रहित हुए बिना, कोई भी मानव सर्वतोमुखी विकास में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से कर्तव्यनिपष्ठ होना अनिवार्य है। कर्तव्य का अर्थ प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि पर-हित में व्यय करना है। अपना हित एकमात्र राग-रहित होने में ही निहित है। जो मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता आदि के द्वारा व्यक्तिगत सुख-सम्पादन करता है, वह कभी भी कर्तव्य की वास्तविकता से परिचित नहीं हो सकता। कर्तव्य की वास्तविकता एकमात्र पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील होने में है। वह तभी सम्भव होगा, जब यह अनुभव करें कि मिला हुआ अपने लिए नहीं है। कर्तव्य-पालन की सामग्री मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। कर्तव्य का सम्बन्ध किसी अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि से नहीं है, इसी कारण कर्तव्य-पालन प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। कर्तव्यनिष्ठ होने में कोई भी मानव कभी भी, किसी भी परिस्थिति में असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है; कारण, कि कर्तव्यपालन की दृष्टि से किसी को भी वह नहीं करना है, जिसे वह नहीं कर सकता। तो फिर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनता पूर्वक कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। अकर्तव्य के रहते हुए ही कर्तव्य में पराधीनता भासित होती है। वास्तव में कर्तव्यपालन में पराधीनता की गन्ध भी नहीं है। कर्तव्यपालन का परिणाम यदि किसी अप्राप्त परिस्थिति का प्राप्त करना होता है, तब तो कर्तव्य-पालन में स्वाधीनता का प्रश्न ही न होता। प्रत्येक परिस्थिति कर्तव्यपालन की सामग्री के तुल्य है। अतएव प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्य-पालन सम्भव है। कर्तव्य का फल किसी वस्तु, योग्यत, सामर्थ्य की प्राप्ति में

नहीं है, अपितु देश, काल वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि से अतीत के जीवन का अधिकारी होने में है। मानव अपने वास्तविक लक्ष्य से अपरिचित होने के कारण कर्तव्य का फल वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति मानता है। उत्पन्न हुई वस्तु-जनित सुख-सामग्री तो उन प्राणियों को भी उपलब्ध है, जिनके सामने कर्तव्य का प्रश्न ही नहीं है। इससे भी यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्य का प्रश्न एकमात्र मानव ही के सामने हैं। अतः मानव-जीवन में अकर्तव्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अकर्तव्य की उत्पत्ति देह-जनित सुख-लोलुपता में ही निहित है। देहजनित सुखभोग मानव से भिन्न प्राणियों को भी प्राप्त है। किन्तु मानव-जीवन में देह-जनित सुख-लोलुपता के साथ-साथ उससे ऊपर उठने का भी प्रश्न है; कारण, कि यह मानवमात्र का अनुभव है कि सुख-लोलुपता का परिणाम पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध होना है। मानव-जीवन में स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता की माँग है। इस दृष्टि से देह-जनित सुख-लोलुपता का सम्पादन करना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। सुख की वास्तविकता का अनुभव करने-मात्र के लिए ही देह-जनित कार्यों का स्थान है। पराधीनता से स्वाधीनता की ओर गतिशील होने के लिए सुख की वास्तविकता का अनुभव कर, उससे असंग होना अनिवार्य है। यह सभी का अनुभव है कि कामनापूर्ति काल में सुख का भास होता है। यद्यपि वह भास भी कामनापूर्ति-जनित नहीं है, अपितु कामना-रहित होने से ही है, पर प्रमादवश मानव उस सुख को कामना-पूर्ति का सुख मान लेता है। कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो वस्तुस्थिति है, वही कामनापूर्ति के अन्त में भी है। परन्तु इस वास्तविकता का बोध बिना हुए, सुख के भास को कामना-पूर्ति में आरोप कर लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि अन्त में कामना-पूर्ति ही शेष रहती है, यदि कामनापूर्ति ही सुख का कारण मान लिया जाय, तब भी कामनापूर्ति काल में पराधीनता तो ज्यों-की-त्यों रहती है। उस पराधीनता का स्पष्ट अनुभव कामना-आपूर्ति काल में होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होताहै, जब मानव अपने लक्ष्य से परिचित हो जाय। देहाभिमान के कारण प्रमाद-वश

मानव पराधीनता में भी मधुरता का अनुभव करताहै। क्या मधुर विष विनाश में हेतु नहीं होता? अर्थात् अवश्य होता है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग पर-सेवा में है। सेवा का अर्थ यह नहीं है कि सेवा के अन्त में त्याग तथा प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी हो सकता है। सेवा एकमात्र त्याग तथा प्रेम की जननी है। त्याग अपने लिए और प्रेम प्रभु के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से सेवापरायण होने से ही मानव-जीवन में पूर्णता प्राप्त होती है। सेवा ही कर्तव्य का वास्तविक स्वरूप है। सेवा-भाव से की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्तव्य-कर्म समान अर्थ रखता है। छोटे से छोटा कार्य और बड़े से बड़ा कार्य, कर्तव्य-बुद्धि से करने पर समान ही है। इस रहस्य को जान लेने पर मानव प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनता पूर्वक सर्वतोमुखी विकास करने में समर्थ है। यह कैसी अनुपम महिमा है कि परिस्थितियों में भेद होने पर भी फल में समानता है! कर्तव्य-विज्ञान के इस तथ्यको भूल जाने पर ही मानव-समाज परिस्थितियों में आबद्ध हो, परिस्थितियों का आह्वान करता रहता है और परिणाम में पराधीनता, जड़ता तथा अभाव ही पाता है। कर्तव्य-विज्ञान को अपनाये बिना, प्रत्येक परिस्थिति विकास की जननी नहीं हो सकती। दो व्यक्तियों की भी परिस्थितियाँ समान नहीं होती। यदि सर्वतोमुखी विकास को परिस्थिति-जनित मान लिया जाय, तो समस्त विश्व में किसी एक ही व्यक्ति का विकास होगा। पर यह मान्यता किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं हो सकती; कारण, कि मानव-मात्र की वास्तविक माँग एक है। इस दृष्टि से सभी परिस्थितियों में सर्वतोमुखी विकास होना अनिवार्य है। विकास परिस्थिति के आश्रित नहीं है, अपितु उसके सदुपयोग में है। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। इस मंगलमय विधान की जितनी भी सराहना की जाय, कम है। परिस्थितियों का सदुपयेग करने के लिए उदारता तथा त्याग अपनाना अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति आंशिक अनुकूलता तथा आंशिक प्रतिकूलता युक्त है। अनुकूलता का उपयोग उदारता में और प्रतिकूला का उपयोग त्याग में निहित है।

उदारता का अर्थ दुखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही है। त्याग का अर्थ अहम् और मम के नाश में है। करुणा और प्रसन्नता मानव को अनुकूलता की दासता से रहित कर देती है और अहम् और मम के नाश से भयंकर प्रतिकूलता भी भयभीत नहीं कर पाती। अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय मिटते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति शेष नहीं रहती और स्वतः समता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, जो विकास का मूल है। सुख-भोग की रुचि का नाश करुणा में और निष्कामता प्रसन्नता में निहित है। करुणित हृदय में सुखभोग की रुचि जीवित नहीं रहती और खिन्नता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है। अतः प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होने पर निष्कामता स्वतः आ जाती है, जो विकास का मूल है। निष्कामता कर्ता में रहती है, कर्म में नहीं। कर्म तो प्राकृतिक नियमानुसार फल के स्वरूप में परिणाम होता है, पर कर्ता में निष्कामता आ जाने से कर्म-जनित फल से कर्ता स्वयं असंग हो जाता है। यह सभी का अनुभव है कि कर्ता में से ही कर्म की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् कर्म कर्ता का ही चित्र है।

इस दृष्टि से किसी कर्म से कर्म का निर्माण होगा–यह सिद्ध नहीं होता, अपितु निष्कामकर्ता से ही सुन्दर कर्म की अभिव्यक्ति होती है। अतः कर्ता के परिवर्तन में ही कर्म का परिवर्तन है। सुन्दर कर्ता से सुन्दर कर्म होगा। सुन्दर कर्ता तभी हो सकता है, जब कर्तव्य का सम्बन्ध एकमात्र परहित से हो। अपने लिए किसी भी मानव को कुछ भी करना नहीं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि कोई भी मानव कर्तव्यनिष्ठ बिना हुए, वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है। कर्तव्य-परायण तो मानव-जीवन का मुख्य अंग है। फिर भी यह स्पष्ट है कि अपने लिए कुछ भी नहीं करना है। यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब मानव मिले हुए को न तो अपना माने और न अपने लिए। मिला हुआ जो कुछ है, वह सृष्टि का एक अल्प से अल्प भाग है। सृष्टि की वस्तु को सृष्टि के हित में व्यय करना अनिवार्य है, जो वास्तव में कर्तव्य का स्वरूप है। मिले हुए का सदुपयोग स्वतः निष्कामता तथा असंगता प्रदान करता है। निष्कामता से परम शान्ति और

असंगता से स्वाधीनता प्राप्त होती है, जो अपने लिए अभीष्ट है। इस दृष्टि से कर्तव्य-विज्ञान की पूर्णता में ही योग-विज्ञान की अभिव्यक्ति है।

कर्तव्यपालन का अर्थ कर्तव्य के अभिमान में, क्रिया-जनित सुख-लोलुपता में एवं फलासक्ति में आबद्ध होना नहीं है। ज्यों-ज्यों कर्तव्य-परायणता आती जाती है, त्यों-त्यों करने का राग, पाने का लालच, जीने की आशा और मरने का भय स्वतः मिटता जाता है। सर्वांश में कर्तव्यनिष्ठ होने पर मानव स्वतः अपने ही में अपने सर्वस्व को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्तव्य-कर्म आस्तिक की पूजा, अध्यात्मवादी का साधन एवं भौतिकवादी की सेवा है। वादों का भेद होने पर भी कर्तव्य का बाह्यरूप परिस्थिति के आश्रित ही होता है। अतः प्रत्येक मानव के लिए कर्तव्य का बाह्यरूप परिस्थिति के अनुरूप ही होगा, अर्थात् दर्शन अनेक और परिस्थिति के अनुरूप कर्तव्य एक। परिस्थिति-भेद में ही कर्तव्यका भेद है। दार्शनिक भेद होने से कर्तव्य में कोई भेद नहीं है। इसी कारण् प्रत्येक मानव को कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए एकमात्र जाने हुए अकर्तव्य का त्याग करना है। अकर्तव्य का त्याग करने के लिए स्वयं प्राप्त विवेक के प्रकाश में किये हुए पर विचार करना होगा। प्राप्त विवेक के प्रकाश में किये हुए पर विचार करना होगा। विवेक-विराधी कर्म ही अकर्तव्य है। अकर्तव्य के साथ-साथ किया हुआ आंशिक कर्तव्य, कर्ता को गुणों के अभिमान में ही आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। अकर्तव्य का सर्वांश में अन्त किये बिना, कर्ता में कर्तव्य की स्मृति जाग्रत नहीं होती, अर्थात् कर्तव्य का स्पष्ट बोध नहीं होता और उसके बिना, कर्तव्य-परायणता सम्भव नहीं है। कर्तव्य का ज्ञान और उसके पालन में सामर्थ्य मानवमात्र को स्वतः मंगलमय विधान से प्राप्त है। अतः कर्तव्यपालन से निराश होना भारी भूल है। इस भूल का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। भूल को 'भूल- जानने पर ही भूल का नाश होता है। श्रम-रहित होने पर स्वतः अपने को अपनी भूल का ज्ञान हो जाता है। क्रिया-जनित सुख में आबद्ध प्राणी भूल को 'भूल' नहीं जान पाता। इस कारण प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में विश्राम का

सम्पादन अनिवार्य है। जिस प्रवृत्ति का आरम्भ और अन्त विश्राम में होता है, वह प्रवृत्ति निवृत्ति के समान ही फलदायक है अैर वही वास्तव में कर्तव्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार सब कुछ करने पर जिसकी प्राप्ति होती है, कुछ न करने पर भी उसी की उपलब्धि होती है। पर कुछ न करने के लिए सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप, फलासक्ति से रहित, कर्तव्य-पालन अनिवार्य है। जब तक मानव यह मानता है कि किये हुए से मुझे कुछ मिलेगा, तब तक कर्तव्य का पालन सम्भव नहीं होता। और दूसरों के अधिकार की रक्षा किये बिना भी विद्यमान राग मिट सकता है–यह मानना भ्रममूलक है और अपने अधिकार का त्याग किये बिना जीवन राग की उत्पत्ति नहीं होगी– ऐसा मानना भी प्रमाद ही है। दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग ही वास्तव में कर्तव्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि राग का अभाव तो विवेक-पूर्वक असंग होने से भी हो सकता है। परन्तु विचार यह करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा अपने अधिकार का त्याग क्या अंसग होने पर स्वाभाविक नहीं हो जाता? अर्थात् अवश्य हो जाता है। अन्तर केवल इतना हीं है कि कर्तव्यनिष्ठ होने पर असंग होने की सामर्थ्य आती है और असंग होने पर कर्तव्य-परायणता स्वतः आ जाती है। इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग अनिवार्य है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शराणागत होने पर भी स्वार्थभाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है और आत्मीयता से जाग्रत प्रियता उदित होती है, जिसके होने पर भी दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग हो जाता है; कारण, कि प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा ही है। इस दृष्टि से शरणागति में भी कर्तव्यपरायणता आ जाती है। सभी दृष्टियों से वास्तविकता में कोई भेद नहीं होता है। मानव की रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के भेद होने से दृष्टि-भेद अवश्य है, पर माँग की एकता होने के कारण वास्तविकता में कोई भेद नहीं है। यह निर्विवाद सिद्ध है।

प्रत्येक मानव में करने का राग स्वभाव-सिद्ध है। उसकी निवृत्ति कर्तव्य-पालन में ही निहित है। कर्तव्य-पालन कर्ता के अधीन है। उसे वह स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है। यद्यपि कर्म-सामग्री समष्टि शक्तियों से निर्मित है, व्यक्तिगत नहीं है, परन्तु प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। इस दृष्टि से कर्तव्य भी स्वतन्त्र पथ है। कर्तव्य में असमर्थता तथा पराधीनता तभी अनुभव होती है, जब मानव कर्तव्य-मात्र में ही अपना अधिकार नहीं मानता, अपितु फलासक्ति का प्रलोभन रखता है, जबकि यह निर्विवाद है कि कर्तव्य पर-हित में ही निहित है, उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख-सम्पादन करना भूल है। व्यक्तिगत विकास के लिए तो मानव को कर्तव्य के अन्त में स्वतः योग की प्राप्ति होती है। योग अपने लिए और कर्तव्य 'पर' के लिए निर्मित है। योग की प्राप्ति के लिए किसी कर्म सामग्री की अपेक्षा नहीं है, केवल करने की राग-निवृत्ति मात्र से ही योग के साम्राज्य में प्रवेश होता है, अर्थात् योग-प्राप्ति में श्रम अपेक्षित नहीं है। इस कारण अपने योग अपने लिए और कर्तव्य 'पर' के लिए विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार पर-हित में अपना हित स्वतः सिद्ध रहता ही है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव का व्यक्तिगत विकास के लिए श्रमसाध्य साधन ही अपेक्षित हो। श्रम की आवश्यकता को प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। परिस्थिति का सदुयोग पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं के हल करने में अचूक उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है कि जब अचूक उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है कि जब परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहे, अपितु प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के रूप में ही स्वीकार की जाय। परिस्थिति विधान से निर्मित है और स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, उससे केवल मानी हुई एकता है। इस कारण कर्तव्य-परायणता पूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का दायित्व है। दायित्व पूरा होने पर विश्राम स्वतः मिलता है, जो सामर्थ्य तथा विचार एवं प्रीति की भूमि है। कर्तव्य-पथ में भी मानव विश्राम प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से कर्तव्य भी स्वतन्त्र पथ है। कर्तव्य की

पूर्णता होने पर विश्राम तथा विश्व प्रेम एवं अनेकता में एकता का साक्षात्कार बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वतः होता है। प्रेम का आरम्भ काल भी प्रतीक में क्यों न हो, किन्तु प्रेम स्वभाव से ही विभु हो जाता है। अतः विश्व-प्रेम भी विश्व से अतीत, आत्मरति एवं प्रभु-प्रेम के रूप में परिणत होता है, कारण, कि प्रेम तत्व को किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जो प्रियता सीमा में आबद्ध है, वह प्रेम नहीं है, अपितु प्रेमाभास है। प्रेम तो वह अविच्छिन्न गति है, जो क्षति, निवृत्ति, पूर्ति आदि से विलक्षण है। प्रेम का प्रादुर्भाव प्रेमी को प्रेम के रूप में परिणत कर विभु हो जाता है। प्रेम जिसमें उदित होता है, उसे भी अपने से ही अभिन्न कर लेता है। इस दृष्टि से प्रेम में ही जीवन की पूर्णता है। उसी का क्रियात्मक कर्तव्य-परायणता है। इस कारण कर्तव्य-निष्ठ मानव प्रेम से अभिन्न हो सकता है। अतः कर्तव्य-पथ से भी पूर्णता प्राप्त होती है। कर्तव्य-निष्ठ मानव के जीवन में आलस्, अकर्मण्यता, चिन्ता, भय आदि के लिए कोई स्थान नहीं रहता; कारण, कि आलस्य जड़ता में और अकर्मण्यता व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध करती है। कर्तव्य-परायणता सजगता से ही साध्य है। सजगता आते ही अकर्मण्यता का भी अन्त हो जाता है और फिर प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म सहज, सरस तथा स्वाभाविक होने लगता है। ज्यों-ज्यों कर्तव्य-परायणता सहज तथा स्वभाविक होती जाती है, त्यों-त्यों कर्तव्य का अभिमान और क्रिया-जनित सुख तथा फलासक्ति भी अपने आप मिटती जाती है। जब तक कर्तव्य में अस्वाभाविकता रहती है, तभी तक कर्ता को अपने में कर्तव्य-निष्ठ होने का भास होता है। कर्तव्य में अस्वाभाविक तभी तक रहती है, जब तक किसी न किसी अंश में अकर्तव्य विद्यमान है। अकर्तव्य का नितान्त अभाव होने पर कर्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। कर्तव्य-पालन से पूर्व उसकी स्मृति तथा पालन की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब कर्तव्य-पालन में अविचल आस्था हो। दूसरों के कर्तव्य की स्मृति अपने कर्तव्य की विस्मृति में हेतु है और कर्तव्य की विस्मृति ही अकर्तव्य की जननी है। इस दृष्टि से दूसरों के कर्तव्य पर दृष्टि रखना ही

अपने कर्तव्य से च्युत होना है, जो विनाश का मूल है। कर्तव्य-परायणता दूसरों में कर्तव्य की भावना को स्वतः जगाती है। कर्तव्य-निष्ठ मानव को अवकाश ही नहीं मिलता कि वह किसी अन्य के कर्तव्य पर विचार कर सके। अधिकार-लोलुपता में आबद्ध होने पर ही दूसरों के कर्तव्य पर दृष्टि जाती है। अधिकार-लोलुपता कर्तव्य की राह में भारी बाधा है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार अधिकार कर्तव्य का दास है, पर इस विधान में आस्था न रहने से अधिकार की माँग उत्पन्न होती है, जो प्रमाद है। अपने अधिकार अपहरण होने पर भी कर्तव्य-पथ के पथिक को कोई क्षति नहीं होती, अपितु विकास ही होता है; कारण, कि वास्तव में मानव का कर्तव्य-पालन ही में अधिकार है, अधिकार पाने में अधिकार नहीं है। अधिकार का रोग, राग तथा क्रोध से रहित नहीं होने देता। राग पराधीनता में और क्रोध विस्मृति में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से मानव-जीवन के अधिकार-लोलपुता का कोई स्थान हीं नहीं है। यदि अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना हो, तो अधिकार रूप मधुर विष को अवश्य अपना लिया जाय। परन्तु यदि स्वाधीनता पूर्वक सत्-पथ पर अग्रसर होने की अभिरुचि है, तो सदा के लिए अधिकार-लोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही कर्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। राग तथा क्रोध के रहते हुए, न तो कर्तव्य-पालन की सामर्थ्य ही प्राप्त होती है और न कर्तव्य की स्मृति ही जाग्रत होती है। तो फिर कर्तव्य-पालन कैसे सम्भव हो सकता है? अतः कर्तव्य-निष्ठ होने के इच्छुक मानव को राग तथा क्रोध से रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र अधिकार-त्याग में ही निहित है। अधिकार-त्याग ही वह उपाय है कि जिसके द्वारा मानव समस्त विश्व को अभय दान देता है और स्वयं स्वाधीन होता है। अधिकार के भार से ही निकटवर्ती प्रिय जन तथा सारी सृष्टि भयभीत होती है; कारण, कि अधिकार की माँग दूसरों में क्षोभ उत्पन्न करती है। यद्यपि दूसरों के अधिकार देने में बड़ी ही स्वाधीनता है और देने पर स्वतः सत्-पथ की ओर प्रगति होती है। पर अधिकार की माँग तो दूसरों को शान्त नहीं रहने देती। इस दृष्टि से अधिकार

का त्याग अत्यन्त आवश्यक है, कारण, कि इसके द्वारा दूसरों की शान्ति भंग होती है अथवा दूसरे भयभीत होते हैं और उससे स्वयं भी चिन्तित तथा क्षोभित होना पड़ता है। चिन्ता तथा क्षोभ से रहित होने के लिए दूसरों को भय-रहित करना शान्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है; कारण, कि चिन्ता तथा क्षोभ से प्राप्त शक्ति का ह्रास होता है और कर्तव्य की विस्मृति होती है। कर्तव्य-निष्ठ होने के लिए चिन्ता तथा क्षोभ से रहित होना अनिवार्य है। जब मानव वह कर देता है, जो करना चाहिए, तब समस्त विश्व उसके अनुकूल हो जाता है, अर्थात् चराचार जगत् उसकी हितकामना करता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पालन विकास का मूल है।

कर्तव्य का अभिमान अकर्तव्य से भी अधिक निन्दनीय है; कारण, कि अकर्तव्य से पीड़ित प्राणी कभी न कभी कर्तव्य की राह चल सकता है, किन्तु कर्तव्य का अभिमानी अकर्तव्य को ही जन्म देता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-परायणता का अभिमान करना भारी भूल है। कर्तव्य-पालन न करना महान दोष है, पर कर्तव्य-निष्ठ होने में कोई विशेषता का अनुभव करना कर्तव्य के रूप में अकर्तव्य को अपनाना है। कर्तव्य के रूप में अकर्तव्य का त्याग सुलभ है, पर जो अकर्तव्य 'कर्तव्य' के रूप में आता है, उसका त्याग बड़ा ही दुर्लभ होता है। इस कारण सजगता-पूर्वक कर्तव्यनिष्ठ मानव को कर्तव्य के अभिमान का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब यह स्वीकार कर लिया जाय कि जिन वस्तुओं, योग्यता और सामर्थ्य के द्वारा कर्तव्य का पालन किया है, वे सभी उन्हीं की थीं, जिनके साथ कर्तव्य-पालन किया है। किसी की धरोहर दे देना विशेषता नहीं है, अपितु न देने में महान् दोष है। कर्तव्य की सामर्थ्य और स्मृति जिसकी देन है, उसी के नाते कर्तव्यपालन करना है। तभी कर्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक होती है।

कर्तव्य-विज्ञान में यह स्पष्ट है कि कर्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को विधान से प्राप्त है। प्राप्त के सदुपयोग का नाम ही कर्तव्य-परायणता है। प्राप्त का सदुपयोग किसी न किसी की सेवा में है। उसके द्वारा व्यक्तिगत सुख का

सम्पादन करना अपने को पराधीनता तथा अभाव में आबद्ध करना है। जो सामग्री पर-सेवा के लिए मिली है, उसका उपयोग व्यक्तिगत सुख-सम्पादन में करना न्याय नहीं है। दाता ने मानव पर यह विश्वास किया है कि वह प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करेगा और न उसे अपना मानेगा और न उसका आश्रय लेकर स्वयं पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध होगा। पर मानव जानते हुए भी अपने ही द्वारा अपना विनाश कर बैठता है। उससे बचाने के लिए ही सृष्टि में दुःख का प्रादुर्भाव होता है। पर कैसे आश्चर्य की बात है कि प्रवृत्ति-जनित दुःखद परिणाम को भोगने पर भी मानव प्रवृत्ति से अपने सुख की आशा का त्याग नहीं करता है! सेवा-सामग्री को अपने सुख में व्यय करना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। मानव का अपना हित तो ज्याग में है। त्याग को अपनाते ही परम शान्ति, स्वाधीनता, सेवा और प्रीति स्वतः जाग्रत होती है। शान्ति और स्वाधीनता अपने लिए, सेवा जगत् के लिए और प्रीति उसके लिए, जो जगत् का प्रकाशक तथा आश्रय है। इस दृष्टि से मानव-जीवन बड़े ही महत्व का जीवन है। परन्तु क्रियात्मक रूप से पर-सेवा में प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का व्यय न करना और प्राणी मात्र के हित में रति न रखना भारी भूल है। यह भूल मानव को निष्कामता, निर्ममता तथा असंगता से विमुख कर देती है, जो विनाश का मूल है।

कर्म का सम्पादन केवल 'स्व' के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रत्येक कर्म सामूहिक सहयोग से ही सिद्ध होता है। क्या इस तथ्य से स्पष्ट विदित नहीं हो जाता कि कर्म-जनित फलासक्ति व्यक्तिगत सुख की भावना से रखना प्रमाद है? अर्थात अवश्य है। इसी कारण कर्म-अनुष्ठान से पूर्व, कर्ता को सर्वहितकारी सद्भावना स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य के पीछे सर्व-हितकारी भावना सतत रहनी चाहिए, तभी कर्म-अनुष्ठान सत्-पथ पर अग्रसर कर सकेगा। जब कर्ता सर्वहितकारी सद्भावना नहीं रखता, तब उन प्रवृत्तियों का जन्म होता है, जो कर्ता का विनाश करने में हेतु हैं।

क्रिया और कर्म में एक बड़ा भेद है। क्रिया स्वतः होती है रहती है, पर कर्म किया जाता है। जो किया

जाता है, उसमें कर्ता का भाव पवित्र होना अनिवार्य है और कार्य-कुशलता तथा लक्ष्य पर दृष्टि भी रखना है। कार्य-कुशलता, भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि-रहित कर्म अकर्तव्य है, जो सभी के लिए अहितकर है। जो होता है, उसका अभिमान नहीं होता। जो करते हैं, उसी का अभिमान होता है और उसी का उद्देश्य अंकित होता है, जो कालान्तर में फलित होता है। क्रिया एक मात्र उत्पत्ति-विनाश का क्रम है और कुछ नहीं है। कर्म का आरम्भ सीमित अहंभाव से होता है। यद्यपि उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण उसका भास होता है और उसी में करने का राग तथा पाने का प्रलोभन है। करने के राग की निवृत्ति प्रलोभन से रहित होने पर ही सम्भव है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्म-अनुष्ठान सर्वहितकारी सद्भावना पूर्वक प्रलोभन तथा भय से रहित होकर करना अनिवार्य है। प्रलोभन के रहते हुए भय होता है। प्रलोभन-रहित होने पर ही निर्ममता स्वतः आती है। इस दृष्टि से प्रलोभन तथा भय से रहित प्रवृत्ति ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति है और वही कर्तव्य है।

कर्तव्य-निष्ठ मानव की माँग जगत् को रहती है। कर्तव्यनिष्ठ मानव जगत् का चिन्तन नहीं करता और न उसके पीछे दौड़ता है अपितु जगत् उसका चिन्तन करता है और उसकी आवश्यकता अनुभव करता है। यह नियम है कि जो जगत् की आवश्यकता अनुभव नहीं करता है। वही जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। जो जगत् की आवश्यता अनुभव करता है, वह तो जगत् को अपनी खुराक बनाकर अनेक प्रकार के संघर्षों को जन्म देता है। अतः कर्तव्य-निष्ठ होने के लिए यह आवश्यक है कि मानव अपने को जगत् की आवश्यकता से रहित कर शान्ति तथा स्वाधीनता को प्राप्त करे। अशान्त तथा पराधीनता प्राणी कभी भी कर्तव्य-निष्ठ नहीं हो सकता। जो कर्तव्य-निष्ठ नहीं है, उसकी जगत् को कभी आवश्यकता नहीं होती। जिसकी जगत् को आवश्यकता नहीं रहती, वही अनेक प्रकार की दासताओं में आबद्ध होकर भटकता रहता है। अल्प से अल्प वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता क्यों न हो, किन्तु जिसने अपने को जगत् की आवश्यकता से रहित कर लिया; कारण, कि उसमें

कर्तव्य-परायणता आ जाती है। इस दृष्टि से वे ही सेवा कर सकते हैं, जो सर्व-साधारण की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् हैं-यह धारणा भ्रममूलक ही है। सेवा करने के लिए एकमात्र अपने को पराधीनता से रहित करना है। स्वाधीनता से अभिन्न होने पर ही सेवा का सम्पादन होता है। पारस्परिक दो आवश्यकताओं का संयोग यद्यपि सुखद-प्रतीक होता है, परन्तु जो आवश्यकता-रहित होकर दूसरों की आवश्यकता रखते हुए किसी की आवश्यकता को पूरा करना भोग है, सेवा नहीं। यह सभी को विदित है कि भोग का परिणाम रोग तथा शोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सेवा की पूर्णता सेवक को प्रीति से अभिन्न कर देती है, अर्थात् सेवा प्रीति में परिणत होती है और प्रीति की जागृति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिसे प्रीति से अभिन्न होना है, वही कर्तव्य-निष्ठ हो सकता है।

आवश्यकता-रहित होने के लिए प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने लक्ष्य का निर्णय करना अनिवार्य होता है। वास्तविक माँग से अपरिचित मानव दूसरों से किसी न किसी प्रकार की आशा रखता है। जो 'पर' से आशा रखता है, वह आवश्यकता-रहित नहीं हो सकता और उसके बिना हुए, कर्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। कर्तव्य और अकर्तव्य की द्वन्द्वात्मक स्थिति तो मानव में जन्मजात है ही, पर अकर्तव्य-रहित कर्तव्य-परायणता ही वास्तव में अभीष्ट है। कर्तव्य-निष्ठा प्राणी के जीवन में अकर्तव्य की उत्पत्ति ही नहीं होती और कर्तव्य-परायणता का भास नहीं होता; कारण, कि भास उसी का होता है, जिससे किसी न किसी अंश में भिन्नता है, अर्थात् जो जीवन नहीं है। कर्तव्य-परायणता में जीवन है। भिन्नता का मूल प्रलोभन तथा भय है। अकर्तव्य का भय तथा कर्तव्य का प्रलोभन उसी समय तक जीवित रहता है, जिस समय तक अकर्तव्य को 'अकर्तव्य' जानकर मान उससे रहित नहीं होता। अकर्तव्य के परिणाम के भय से अकर्तव्य-जनित सुखासक्ति नाश नहीं होती। अकर्तव्य किसी भी रूप में अभीष्ट हैं; कारण, कि वह 'अकर्तव्य' है, तभी उसका त्याग होता है, जिसके होते ही कर्तव्य-परायणता

स्वतः आती है। किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर बलपूर्वक कर्तव्य-पालन करना वास्तविक कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति है। जिसके मूल में कोई भी प्रलोभन है, वह प्रवृत्ति निर्दोष नहीं है। निर्दोषता जीवन है। अतः निर्दोश होने पर ही कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। प्रलोभन तथा भय से रहित होने पर ही, नित्य-प्राप्त निर्दोषता से अभिन्नता होती है। निर्दोषता नित्य होने से सभी को सदैव प्राप्त है, परन्तु प्रलोभन तथा भय से आबद्ध प्राणी प्राप्त निर्दोषता से परिचित नहीं होता। जिसे पराधीनता असह्य हो जाती है, उसमें किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं रहता। प्रलोभन-रहित होते ही स्वतः भय का अन्त तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है। यह कैसी विडम्बना है कि कोई भी मानव वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता को सरुक्षित नहीं रख पाता, अर्थात् जिसकी दासता स्वीकार करता है, वह नहीं रहता, केवल दासता ही रह जाती है! यदि विचार करें, तो यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह किस की दासता में आबद्ध है? उसकी, जो नहीं है। 'हैं' की प्रियता का त्याग तथा 'नहीं' की दासता में आबद्ध रहना, कहाँ तक युक्ति-युक्त है? जो नहीं है, अर्थात् जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसी के द्वारा उसकी सेवा करनी है, कि जिसकी प्रतीति है, प्राप्ति नहीं। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य भी 'नहीं' में परिणत हो रही है और जिसकी सेवा की जा रही है, वह भी उसीकी जाति का है। इस दृष्टि से जो जिसकी जाति का है, उस की सेवा में उसे व्यय करना और 'स्व' को प्रियता से अभिन्न करना वास्तविक कर्तव्य-परायणता है।

यह सभी को मान्य है कि शरीर और विश्व में जातीय एकता है, अर्थात् शरीर विश्व की ही जाति का है। प्रत्येक मानव अपने-अपने शरीर के प्रति रक्षा का भाव रखता है। उसमें दोष आ जाने पर दोष-निवारण का प्रयास करते हुए भी शरीर की रक्षा की सद्भावना सतत रहती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्व की रक्षा की भावना रखते हुए ही कर्तव्य करना है। यही पवित्रतम नीति है। प्रत्येक निवृत्ति के मूल में भावना क्या है? इसका निर्णय किए बिना, प्रवृत्ति सार्थक सिद्ध नहीं होती। अशुद्ध भावना से ही अकर्तव्य की उत्पत्ति

होती है और शुद्ध भावना से अकर्तव्य का नाश होता है। अकर्तव्य के नाश में ही कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से अशुद्ध भावनाओं का अन्त किये बिना, कर्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। समस्त भावनाओं का उद्गम कर्ता है। जब तक कर्ता स्वयं शुद्ध नहीं होता, तब तक शुद्ध भावनाओं का पर्दूभाव ही नहीं होता। जब मानव अपने जाने हुए का आदर करता है, तब उसमें अशुद्धि नहीं रहती और फिर स्वतः शुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अशुद्धकर्ता से ही अकर्तव्य की उत्पत्ति और शुद्धकर्ता से ही कर्तव्य की अभिव्यक्ति होती है। यह निर्विवादसिद्ध है कि कर्म से कर्ता की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु कर्ता ही कर्म के रूप में परिणत होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जैसा कर्ता वैसा कर्म।

सबल से रक्षा की भावना सभी को स्वभाव से अभीष्ट है। इस माँग का आदर करने पर निर्बलों की रक्षा की सद्भावना स्वतः जाग्रत होती है। भावना का क्रियात्मक रूप ही कर्म है। अपनी माँग का वास्तविक बोध हुए बिना, शुद्ध भावनाओं की जागृति सम्भव नहीं है। कामना और माँग में एक बड़ा भेद है। कामनाओं का उद्गम देहाभिमान है, जो अविवेक सिद्ध है और माँग का सम्बन्ध उससे है, जो देह नहीं है। अतः देह से असंग होने पर ही कामनाओं का नाश और माँग की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि कामनाओं के रहते हुए भी माँग प्रत्येक मानव में बीज रूप से विद्यमान है, पर कामना-जनित पराधीनता तथा अभाव की वेदना के बिना, माँग का परिचय नहीं होता और उसके हुए बिना, अशुद्ध संकल्पों का नाश नही होता। अशुद्ध संकल्पों के रहते हुए कर्तव्य का निर्णय सम्भव नहीं है। जो किसी को भी बुरा समझता है, तथा किसी का भी बुरा चाहता है एवं जानी हुई बुराई कर सकता है। कर्तव्य-पालन से पूर्व कर्तव्य का ज्ञान अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव यह स्वीकार करे कि मैं किसी को बुरा नहीं समझूँगा। किसी को बुरा समझने का अधिकार किसी को नहीं है; कारण, कि दूसरों के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी सम्भव नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि जो हमारे प्रति

बुराई कर रहा है, उसे बुरा समझने का अधिकार क्यों नहीं है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसने अपने प्रति बुराई नहीं की, क्या वह दूसरों के प्रति बुराई कर रहा है? कदापि नहीं। भला, जिसने अपने प्रति बुराई की है, उसके द्वारा यदि अपनी कोई क्षति होती है, तो वह क्या करुणा का पात्र नहीं है? करुणित हृदय में प्रतिहिंसा की भावना ही जाग्रत नहीं होती, अपितु बुराई के बदले में भलाई करने की उत्कट लालसा होती है। करुणित बिना हुए, कर्तव्य के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। करुणित मानव सुखासक्ति से रहित हो, स्वतः कर्तव्य-परायण हो जाता है। करुणा तभी जाग्रत होती है, जब मानव विश्व-जीवन के साथ एकता स्वीकार करता है। भेद और भिन्नता के रहते हुए कर्तव्य के गीत गाना, अपने आप को धोखा देना है। एकता स्वीकारने पर विनाश की भावना ही उत्पन्न नहीं होती और फिर स्वभाव से ही सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही स्वभाव से ही कर्तव्य-परायणता आ जाती है, जो विकास का मूल है। अपने द्वारा अपना विनाश किसी को अभीष्ट नहीं है। तो फिर किस प्रकार किसी के प्रति बुराई की जाय? जब कि अनेक भिन्नताएँ होने पर भी वास्तिक एकता है। एकता का बोध यद्यपि स्वभाव-सिद्ध है, परन्तु उसका आदर न करने से भेद तथा भिन्नता पोषित होती है। यदि एकता स्वभाव-सिद्ध न होती, तो दूसरों से आदर, प्यार तथा रक्षा की माँग ही न होती। जिससे किसी प्रकार की एकता नहीं है उससे कोई माँग भी नहीं होती। और यदि किसी प्रकार की भिन्नता न हो, तो कर्तव्य का प्रश्न ही नहीं होता। कर्तव्य का प्रश्न एकता तथा भिन्नता से ही उत्पन्न होता है। सेवा करने के लिए एकता, और सुख की आशा से रहित होने के लिए भिन्नता का उपयोग किया जाय, तो एकता और भिन्नता, दोनों ही का सदुपयोग हो सकता है। भिन्नता में संघर्ष और एकता में आसक्ति को जन्म देना अकर्तव्य है। अतः जिस अंश में भिन्नता प्रतीत होती है, उस अंश में त्याग को अपनाना है, द्वेष को नहीं और जिस अंश में एकता प्रतीत होती है, उस अंश में सेवा को अपनाना है, राग को नहीं है। द्वेष के नाश में प्रेम की अभिव्यक्ति और राग

के नाश में बोध की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है। प्रेम रस का और बोध वास्तविकता का प्रतीक है।

एकता और भिन्नता के आधार पर ही सृष्टि की रचना है। अतः दोनों ही का सदुपयोग करना है। सदुपयोग करते ही एकता और भिन्नता से विलक्षण, जो वास्तविक जीवन है, उसकी अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्य की पूर्णता में कर्ता स्वयं वास्तविकता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-परायणता सर्वतोमुखी विकास का मूल है। कर्तव्य-निष्ठ हुए बिना, कर्ता परिच्छिन्नता में आबद्ध रहता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए निष्कामता सम्भव नहीं है और निष्कामता के बिना शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो विकास का मूल है। परिच्छिन्नता का नाश सुख की आशा और दुःख के भय से रहित होने में ही निहित है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही परिच्छिन्नता को पोषित करती है। सुख की आशा का अन्त करते ही दुःख का भय स्वतः मिट जाता है और फिर परिच्छिन्नता असीम, अनन्त, चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाती है। सुख की आशा ने ही कर्तव्य से विमुख किया है और अकर्तव्य को जन्म दिया है। जिसे पराधीनता और अभाव असह्य हो जाता है, वह मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख की आशा से रहित हो जाता है, जो विकास का मूल है।

समाज-दर्शन

अनेक प्रकार की भिन्नता में एकता स्थापित करने का जो परिणाम है, वही समाज है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वहितकारी सद्भावना से रहित जो पारस्परिक एकता है, वह भी समाज का शुद्ध रूप है। मानव सामाजिक प्राणी हैं वह सभी को अपने से और अपने को सभी से अभिन्न करना चाहता है। वह तभी सम्भव होगा, जब मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को व्यक्तिगत न माने, अपितु जो कुछ मिला है, वह समाज की धरोहर समझे-अर्थात् प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि समाज के हित में व्यय करे। ऐसा करने से सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं और पारस्परिक संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, सारा समाज एक

जीवन हो जाता है और इकाई और समूल का ऊपरी भेद रहने पर भी आन्तरिक एकता हो जाती है। ऐसे समाज की माँग व्यक्ति को और ऐसे व्यक्ति की माँग, जो एकता स्थापित करने में प्रयत्नशील है, समाज को रहती है। व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज की माँग होती है; कारण, कि कोई भी व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकता। इसके साथ-साथ यदि वह स्वयं दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति में सहयोग नहीं देता, तब भी समाज का निर्माण नहीं होता। समाज का निर्माण एक दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में सहयोग देने के लिए है। प्राकृतिक पदार्थ, शरीरिक तथा बौद्धिक श्रम द्वारा सामाजिक आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। प्राकृतिक नियमानुसार उत्पादन के साधन और उत्पादित वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जो व्यक्तिगत नहीं है, उसके उपयोग में अधिकार है, ममता में नहीं और न उसके दुरुपयोग का ही अधिकार है। जिस किसी मानव ने जो कुछ उत्पादनकिया है, उसका वह स्वयं ही उपयोग नहीं कर सकता, अपितु एक दूसरे का उत्पादन एक दूसरे के काम आता है। यदि उत्पादनकर्ता उत्पादित वस्तु को अपनी मान लेता है और उन प्राणियों को अपना नहीं मानता, जिनके लिए वे वस्तुएँ उपयोगी हैं, तब सामाजिक एकता सुरक्षित नहीं रहती और भिन्न-भिन्न प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हें, जो विनाश के मूल हैं। उत्पादनशक्ति जितनी उपयोगी है, उतनी हीं उपयोगी वह भावना भी है, जिससे प्रेरित होकर उत्पादन का सदुपयोग हो सके। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के बल का सम्पादन प्रत्येक मानव को स्वभाव से प्रिय है, परन्तु उत्पादित बलों का सामाजिक हित में व्यय न करने से बल उत्पादक के विनाश में हेतु होता है। इस दृष्टि से बल का सम्पादन किसी निर्बल की सेवा में है, मिथ्या अभिमान में आबद्ध होने के लिए नहीं। सबल और निर्बल की एकता ही समाज का सुन्दर चित्र है। बल के द्वारा निर्बलों का विनाश करना और समाजवाद के गीत गाना, अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है। यह सभी को मान्य है कि बल का उपयोग उनके प्रति सम्भव नहीं है, जो अपने से अधिक बली है। बल का सदुपयोग

तो एकमात्र निर्बलों की सेवा में है। प्राकृतिक नियमानुसार जो बल निर्बलों की सेवा में व्यय होता है, वह अधिक सुरक्षित रहता है और उत्तरोत्तर बढ़ता है, घटता नहीं। इस दृष्टि से बल का उत्पादन, उसी सुरक्षा एकमात्र निर्बलों की सेवा में ही निहित है। जिस मानव का हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित नहीं होता, वह सम्पादित बल का सद्व्यय नहीं कर पाता। बल का दुरुपयोग तभी होता है, जब मानव पर-पीड़ा से पीड़ित न हो तथा सुखियों के सुख को सहर्ष सहन न कर सके। बल के दुरुपयोग से ही निर्बलतायें उत्पन्न होती हे अतः निर्बलताओं का अन्त करने के लिए प्राप्त बल का सदुपयोग अनिवार्य है। बल के सदुपयोग से बल की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। कितना ही अधिक बल क्यों न हो, दुरुपयोग करने पर निर्बलता से, और अल्प से अल्प बल क्यों न हो, सदुपयोग करने पर समबलता से अभिन्न कर देता है- अर्थात् प्रत्येक सबल को सजगतापूर्वक बल का दुरुपयोग नहीं करना है। बल के सदुपयोग की सद्भावना तभी उदित होगी, जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में यह भली-भाँति अनुभव करे कि स्वरूप से शरीर और विश्व का, व्यक्ति और समाज का विभाजन सम्भव नहीं है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति और कार्य भिन्न-भिन्न हैं, पर एक कार्य दूसरों के सहयोग में होने से शरीर में एकता और अनेकता का बड़ा ही सुन्दर चित्र दिखाई देता है, उसी प्रकार समाज का प्रत्येक इकाई का कार्य भिन्न-भिन्न होने पर भी यदि प्राकृतिक नियमानुसार एक दूसरे के सहयोग में होता रहे, तो शरीर की भाँति सारा समाज एक है और अवयवों की भाँति प्रत्येक इकाई अलग है। पर-हित में काम आयें, व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए नहीं। यह सद्भावना प्रत्येक वर्ग, देश आदि के मानव को अपना लेना अनिवार्य है।

प्रत्येक वर्ग, देश, मजबह एवं इज्म के मानव यदि समाज को किसी मान्यता की सीमा में बाँध दें, तो यह सामाजिक भावना की हत्या है। सामाजिक भावना को किसी वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मजबह, इज्म की सीमा में बाँध देना दलबन्दी है, समाज नहीं। दलबन्दियाँ संघर्ष की जननी हैं। सामाजिक भावना एकता तथा शान्ति

की जननी है। इस दृष्टि से सामाजिक भावना बड़े ही महत्व की वस्तु है। सामाजिक भावना पुष्ट होते ही कोई वर्ग, कोई देश, कोई संगठन किसी वर्ग, देश, संगठन के साथ बल का दुरुपयोग नहीं कर सकता। असामाजिकता को स्वीकार किये बिना, पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न ही नहीं होते। सामाजिक सद्भावना में सभी का हित निहित है। इतना ही नहीं, सामाजिक भावना व्यक्तिगत विकास में भी उपयोगी है, अनुपयोगी नहीं। सामाजिक भावना का वास्तविक अर्थ है, सर्वात्म-भाव। इससे पूर्व सामाजिकता की चर्चा समाज को अपनी खुराक बनाना है। सामाजिक भावना व्यक्ति को समाज की खाद बनाती है। खाद उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह खाद होती है। सामाजिक भावना से युक्त मानव अपने को विभु पाता है, अर्थात् सामाजिक भावना व्यक्ति को विभु कर देती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखें। पालन-पोषण, शिक्षण पाकर ही मानव कुछ देने के योग्य होता है। इससे यह स्पष्ट ही है कि लिया हुआ देना है। लिए हुए को न देने की भावना असामाजिकता को जन्म देती है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार जो कुछ मिला है, वह देने के लिए ही है, संग्रह के लिए नहीं, ममता के लिए नहीं। मिले हुए को अपना मानना, उससे तद्रूप हो जाना कामनाओं को जन्म देना है, जो मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करता है। सामाजिक भावना व्यक्ति के कल्याण में साधन रूप है और व्यक्तिगत निर्माण की अभिरुचि सामाजिक भावना की जननी है। इस दृष्टि से समाज से व्यक्ति का और व्यक्ति से समाज का विकास होता है।

विकसित व्यक्ति समाज के लिए और सुन्दर समाज व्यक्तियों के विकास के लिए उपयोगी है। व्यक्ति और समाज का विभाजन उसी प्रकार है, जिस प्रकार शरीर और उसके अवयवों का विभाजन। कोई भी अवयव पूरा शरीर नहीं है, पर प्रत्येक अवयव शरीर से अभिन्न है। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति समाज से अभिन्न भी हैं और उससे भिन्न भी। विवेक पूर्वक देखने से यह स्पष्ट ही है कि जो कुछ दिखाई देता है, वह उसका दृश्य है, जो उसे देखता है।

दृश्य और देखने के साधन, दोनों ही दृश्य के ही अन्तर्गत हैं। इसका अर्थ यह है कि देखने वाला एक है और देखने के साधन उसके अन्तर्गत न होते, जो एक है, तो इन तीनों का सम्बन्ध ही न सिद्ध होता है। जो देखता है, जब वह दृश्य से सुख की आशा करता है, तब वह अपने में परिच्छिन्नता और पराधीनता पाता है। पर सुखमय-दुःखमय दृश्य को देख, जब मानव प्रसन्न तथा करुणित होने लगता है, तब उसमें व्यक्तिगत सुख-भोग की रुचि नहीं रहती और न काम की ही उत्पत्ति होती है। निष्कामता-और योग प्राप्त होने पर अनेकता 'एकता' में ही विलीन होती है। उसी एकता का समर्थन करने के लिए व्यक्ति और समाज में पारस्पिरक एकता अनिवार्य है। अनेकता का उद्गम एक है और अनेकता अन्त में एक ही में विलीन होती है। अतः एक और अनेक का स्वरूप से विभाजन नहीं है। पारस्परिक विकास में सहयोग देने के लिए ही व्यक्ति और समाज की भिन्नता और एकता है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि, अर्थात् विचार-पथ से समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था है और आस्तिवाद, अर्थात् विश्वास–पथ की दृष्टि से यह सब कुछ अनन्त की अनुपम लीला है एवं भौतिकवाद, अर्थात् कर्तव्य-पथ की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक इकाई है और कुछ नहीं। जो स्वरूप एक परिवार का है, वही समाज का है। जिन साधनों से पारिवारिक विकास होता है, उन्हीं साधनों से सामाजिक विकास होता है। एक ही परिवार में युवक, युवती तथा वृद्ध और बालक रहते हैं। परिवार के वे सदस्य जो समर्थ हैं, असमर्थ बालक और वृद्ध की सेवा करते हैं। यही सद्भावना समाज के लिए भी उपयोगी है। समाज की संग्रहित-शक्ति तथा सम्पत्ति समाज के उस भाग की सेवा में, जो असमर्थता से पीड़ित है, व्यय होनी चाहिए, जिनका सारा समय सत्य की खोज तथा सेवा में व्यय होता है, अर्थात् समाज का जो वर्ग उत्पादन करने में असमर्थ है, संग्रहीत सब प्रकार की शक्तियाँ उसी वर्ग की सेवा के लिए हैं। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए संग्रही सम्पत्ति आदि का व्यय करना समाज और व्यक्ति में स्थायी भेद तथा भिन्नता को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है। रोगी, बालक, वृद्ध

उपार्जन में असमर्थ हैं और सेवा में रत तथा सत्य की खोज में लगे हुए है मानव को उपार्जन का अवकाश नहीं है, इस दृष्टि से वे संग्रहित सम्पत्ति के अधिकारी है। समाज के इन वर्गों की जब यथोचित सेवा नहीं होती, तब सुन्दर समाज नहीं रहता। अल्पसंख्यक अधिक सुखी हो जायें और बहुसंख्यक बहुत दुःखी हो जायें, अर्थात् कुछ लोगों के पास आवश्यकता से अधिक सामग्री हो और कुछ लोगों को आवश्यक वस्तु भी उपलब्ध न हो, ऐसी भी भयंकर परिस्थिति में अनेकों संघर्ष उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में विचारशील मानव सेवा-परायण होकर, सेवा की सद्भावना को व्यापक कर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित करते हैं। सेवा का अर्थ बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं है। अपितु बल का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है और सर्वहितकारी सद्भावना सेवा का भावात्मक रूप है और व्यक्तिगत सुख के प्रलोभन का नाश और अपने समान ही सभी में प्रियता विवेकात्मक करना सेवा का विवेकात्मक रूप है। क्रियात्मक, भावात्मक, विवेकात्मक सेवा अपना लेने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है।

व्यक्ति माली है और समाज बाटिका। बाटिका का माली बाटिका की सेवा में रत भी रहता है और उसी पर निर्भर भी। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज, दोनों ही पारस्परिक विकास में हेतु हैं। समाज की अधिक संख्या सुन्दर व्यक्तियों की आवश्यकता अनुभव करती है; कारण, कि एक-एक सुन्दर व्यक्ति के पीछे अनेकों व्यक्ति चलते हैं। इस दृष्टि से समाज सेवा का क्षेत्र है और व्यक्ति सेव है। सेवा जिसकी की जाती है, उसकी अपेक्षा उसका अधिक विकास होता है, जो सेवा करता है। इस दृष्टि से समाज के व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। पर जो मानव निलज-विवेक के प्रकाश में स्वयं अपने को सुन्दर नहीं बनाता, वह सेवा नहीं कर पाता। सेवा करने के लिए सर्वप्रथम अपने को सुन्दर बनाना अनिवार्य है, जो एकमात्र प्राप्त बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर से ही सम्भव है। व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति से

व्यक्ति का कल्याण होता है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का अन्त सहज निवृत्ति में होता है और सहज निवृत्ति से सर्व-हितकारी प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है। जिसे अपने लिए त्याग अभीष्ट नहीं है, उसके द्वारा सर्व-हितकारी प्रवृत्ति सम्पादित नहीं होती और जिसका हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित नहीं है, उसमें त्याग का बल नहीं आता। इस दृष्टि से व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण एक ही जीवन का कार्यक्रम है। इन दोनों में विभाजन करना और इनको अलग-अलग मानना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मानव स्वभाव से ही दूसरों की दृटि में आदर के योग्य होना चाहता है। इसी माँग से प्रेरित होकर सेवा के योग्य न होने पर भी वह सेवा करने लगता है और फिर असफल होकर पर-निन्दा में प्रवृत्त होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जिस अंश में वह अपने को सुन्दर नहीं बना सका है, भावावेश में आकर उसी अंश में दूसरों की सेवा करने का प्रयास करने लगता है, जो नहीं कर सकता। इस दृष्टि से समाज की सेवा उसी अंश में की जा सकती है, जिस अंश में अपने को सुन्दर बना लिया है। समाज का विकास और ह्रास व्यक्तियों की सजगता तथा असावधानी पर ही निर्भर है। सामूहिक माँग प्राकृतिक नियमानुसार सुन्दर व्यक्तियों को जन्म देती है। इस दृष्टि से व्यक्ति के सुन्दर होने में अदृश्य रूप से समाज भले ही हेतु हो, किन्तु समाज के उत्थान का क्रियात्मक कार्य-क्रम सजग व्यक्तियों से ही आरम्भ होता है और समाज के विनाश का बीज भी प्रमादी व्यक्तियों से ही उत्पन्न होता हे। इस दृष्टि से महत्व उन्हीं व्यक्तियों का है, जो सजग है। व्यक्ति होने मात्र से समान मूल्यांकन करना किसी चतुर व्यक्ति की वह नीति है, जो अनेकों व्यक्तियों को थपकी देकर, उन पर शासन करना चाहता है। सुन्दर व्यक्ति स्वयं के द्वारा उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होते हैं और व्यक्तिगत सौन्दर्य भी किसी की उदारता, सेवा तथा प्रियता ही है। व्यक्ति ने वास्तविकता की खोज की है, वास्तविकता किसी व्यक्ति विशेष की उपज नहीं है। खोज से उसी की प्राप्ति होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व सदैव है। जिस प्रकार

मीठापन सभी मिठाइयों में चीनी का ही है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में सौन्दर्य उसी का है, जो सभी का सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत है, जिसकी माँग बीज रूप से मानव मात्र में विद्यमान है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब समाज की सेवा में रत रहने पर भी समाज में कोई आशा नहीं करता। समाज से आशा वे ही करत हैं, जो समाज की वास्तविक सेवा नहीं कर सकते, अपितु सेवा के रूप में मान और भोग का ही आह्वान करते हैं। मान और भोग की रुचि रखते हुए कभी भी सेवक होना सम्भव नहीं है। सेवक वही हो सकता है, जिसके जीवन में पर-पीड़ा सदैव रहती है। पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर सेवा करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है। इस दृष्टि से व्यक्ति सेवक है और समाज सेव्य। सेवक में सब कुछ सेव्य का होता है। अतः व्यक्ति समाज का प्यारा है। अपने प्यारे की महिमा भला किसे प्रिय न होगी? और जिसका सब कुछ है, भला वह किसे प्रिय न होगा? इस कारण व्यक्ति समाज का प्यारा है और समाज व्यक्ति का।

अध्यात्मवाद व्यक्ति को समाज से असंग नहीं करता, अपितु व्यक्तिगत सुखासक्ति से असंग करता है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से कर्तव्य के अभिमान तथा फलासक्ति से रहित, समाज की सेवा स्वतः होने लगती है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक है, बाधक नहीं। अध्यात्मवाद की वास्तविकता से अपरिचित होने पर ही कोई भले ही कहने लगे कि अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण में बाधक है। अध्यात्मवाद असंगता और एकता का समर्थक है; कारण, कि अध्यात्मवादी ने दृश्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया, इस कारण असंगता की बात अध्यात्मवाद में है। पर अपने से भिन्न की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया, इस दृष्टि से सर्वात्म-भाव की प्रेरणा अध्यात्मवाद में है। अध्यात्मवादी की सेवा अभेद-भाव से होती है, भेदभाव से नहीं। पर-सेवा से अरुचि की बात अध्यात्मवाद में नहीं है। अध्यात्मवाद का आरम्भ त्याग से होता है और अन्त 'सेवा' में और भौतिकवाद का आरम्भ सेवा से होता है और अन्त 'त्याग' में। सेवा

समाज के लिए और त्याग अपने लिए अनिवार्य है। सेवा से त्याग का बल, और त्याग से सेवा की सामर्थ्य स्वतः आती है। ये दोनो परस्पर एक-दूसरे के पूरक है, बाधक नहीं। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद दोनों को समान ही अभीष्ट है। व्यक्ति किसी वाद को क्यों न माने, वास्तविकता की प्राप्ति के लिए कोई भी वाद बाधक नहीं है। बाधक तो एकमात्र व्यक्ति का अपना प्रमाद है। प्रत्येक वाद का उद्गम मानव-जीवन है। जब मानव अपनी माँग और दायित्व से परिचित हो जाता है, तब उसे सभी वाद पथ से भिन्न कुछ नहीं मालूम होते। पथ चाहे जैसा हो, उस पर चलने से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती है। किसी भी पथ का पथिक हो, किन्तु यदि बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर करता है, तो सिद्धि नहीं पाता। बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने पर प्रत्येक मानव सफलता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

विकसित व्यक्तियों से समाज का अहित नही होता और विकसित समाज से किसी व्यक्ति का अहित नहीं होता; कारण, कि इन दोनों का लक्ष्य एक है। लक्ष्य की एकता होने से पारस्परिक स्नेह सुरक्षित रहता है प्राकृतिक नियमानुसार स्नेह ही वह तत्व है, जो अहितकर चेष्टाओं का अन्त कर देता है। इस दृष्टि से विकसित व्यक्ति समाज के लिए और विकसित समाज व्यक्ति के लिए सर्वदा उपयोगी ही सिद्ध होता है। स्नेह की माँग मानव की तो कौन कहे! प्राणी-मात्र को स्वभाव से है। माँग उसी की होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि स्नेह से सभी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। स्नेह का आदान-प्रदान सभी को अभीष्ट है। परन्तु व्यक्तिगत सुख-भोग का प्रलोभन तथा दुःख का भय स्नेह को आच्छादित कर लेता है, तब व्यक्ति और समाज के बीच खाई उत्पन्न हो जाती है। विद्यमान मानवता के विकसित होने पर ही व्यक्ति और समाज के बीच का भेद तथा दूरी नाश होती है। मानवता ही वह तत्व है, जो सभी के लिए सर्वदा हितकर है। मानवता-युक्त मानव की माँग सदैव समाज को रहती है। अमानवता का

अन्त करने के लिए ही समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्थाओं तथा संघों का जन्म होता है। परन्तु उन सब में प्राण रूप मानवता ही है। मानवता-रहित मानव न तो अपने लिए ही उपयोगी है और न अन्य के लिए। अतः मानवता व्यक्तिगत होने पर भी सामाजिक भावना से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज, दोनों ही एक-दूसरे के लिए उपयोगी हैं। व्यक्तिगत और समाज में विरोध की कल्पना भ्रममूलक है।

एक से अधिक व्यक्ति मिलकर जब अपनी-अपनी निर्बलताओं का अन्त करने के लिए पारस्परिक सहयोग पूर्ति करते है; और निर्बलताओं से रहित होते हैं, तब संघ का जन्म होताहै। इस दृष्टि से संघ पारस्परिक विकास का साधन-मात्र है। साधन किसी साध्य के लिए अभीष्ट है। साध्य मानव-मात्र का एक ही है, वह यह कि जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो। प्रेम के अभाव में ही समस्त दोष पोषित होते हैं। प्रेम का अभाव तभी तक रहता है, जब तक मानव व्यक्तिगत सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत सुख-भोग में ही करता है। व्यक्तिगत सुखासक्ति को मिटाने के लिए ही पारिवारिक प्रथा का आरम्भ होता है। परन्तु जब परिवार के सदस्य व्यक्तिगत सुख को सुरक्षित रखने के लिए पारिवारिक प्रणाली को अपनाते हैं, तब परिवार और समाज में तथा व्यक्ति और परिवार में भेद उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है। व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन व्यक्तित्व के मोह को पुष्ट करता है। व्यक्तित्व को मोह जीवन में सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति नहीं होने देता, जो अवनति का मूल है।

विकसित व्यक्तियों से ही संघ, संस्थाओं तथा राष्ट्र आदि में सुन्दरता आती है। वह सुन्दरता संघ, संस्था तथा राष्ट्र की नहीं है; कारण, कि जब उनमें विकसित व्यक्ति नहीं रहते, तब परस्पर में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से यह मानना कि किस प्रणाली में सौन्दर्य है? यह धारणा भ्रम-रहित नहीं है। तात्कालिक समस्याओं को हल करने के लिए भले ही किसी प्रणाली का समर्थन तथा विरोध हो, किन्तु कोई भी प्रणाली ऐसी नहीं हो सकती कि जिसमें विकसित मानव हों और वह उपयोगी न हो और व्यक्तित्व के मोह तथा सुखासक्ति में आबद्ध मानव

सभी प्रणालियों को अनुपयोगी सिद्ध कर ही देते हैं। उपयोगिता और अनुपयोगिता किसी प्रणाली की सीमा में आबद्ध नहीं है। प्रणाली तात्कालिक समस्या का हल है। किन्तु सुन्दर व्यक्तियों के द्वारा ही स्थायी रूप से समस्याओं का हल होता है। सुन्दर व्यक्तियों का प्रादुर्भाव किसी प्रणाली पर निर्भर नहीं है, अपितु मानव की इस धारण पर निर्भर है कि वह विवेक-विरोधी कर्म, विश्वास तथा सम्बन्ध का अन्त कर दे, जो व्यक्तिगत सत्संग से ही साध्य है। अपनी समस्याओं पर स्वयं विचार करने से व्यक्तिगत सत्संग सिद्ध होता है। परयह तब सम्भव होगा, जब मानव अपने ह्रास का कारण किसी और को न माने और किसी अन्य से सुख की आशा नकरें, अपितु पर-हित की सद्भावना से प्रेरित होकर प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग करें। इससे बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रणालियों की आसक्ति मिट जायगी और सभी प्रणालियों से व्यक्ति और समाज का विकास होगा। प्रणाली की आसक्ति भी परस्पर एक गहरा भेद उत्पन्न करती है।

अपनी-अपनी प्रणाली से अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन को सुन्दर बनाया जाय और उस सुन्दरता से परस्पर अनेक बाह्य भेद होने पर भी वास्तविक एकता स्थापित की जाय। यही सुगम, सहज तथा अनुपम प्रयोग है। प्रणाली का उपयोग केवल बल का दुरुपयोग करने वालों को दुर्बल बनाने में है। कोई भी प्रणाली स्थायी विधान नहीं है। स्थायी विधान तो सुन्दरता का सम्पादन कर, दूसरों को सुन्दरता पूर्वक सुन्दर बनाने में है। प्राप्त बल का उपयोग किसी को निर्बल बनाने में नहीं करना है, अपितु निर्बल को सबल बनाने में बल का सदुपयोग सबल और निर्बल में एकता स्थापित करता है, जो विकास का मूल है। भिन्नता से ही अनेको संघर्ष होते हैं। अतः सर्वतोमुखी विकास तथा शान्ति के लिए भिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी होगा, जब अपनी-अपनी प्रणाली का अनुसरण करते हुए, दूसरों की प्रणाली का आदर करे। यह सजगता पूर्वक ध्यान रहे कि अपनी प्रणाली से अपने को सुन्दर बनाना है। समाज को सुन्दरता अभीष्ट है, प्रणाली नहीं।

बल का दुरुपयोग न करने का विधान प्रत्येक संघ तथा संस्था को अपनाना है, अर्थात् मानवमात्र को बल के दुरुपयोग का अधिकार नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपनी रक्षा के लिए बल का दुरुपयोग किया जा सकता है? कदापि नहीं; कारण, कि बलपूर्वक सबल पर विजयी होना तो सम्भव नहीं है, बल का उपयोग केवल निर्बलों के प्रति होता है। प्राकृतिक-नियमानुसार निर्बलों की रक्षा में अपनी रक्षा निहित है। यदि सबल संघ, संस्था आदि अपने प्रति बल का दुरुपयोग करे, तब भी उसके प्रति बुरी भावना नहीं करनी है। बलपूर्वक शरीर आदि वस्तुओं पर अधिकार हो सकता है, पर मानव की मानवता पर कोई भी बल विजयी हो सकता। इस दृष्टि से मानव-जीवन में सबल से भयभीत होने का कोई स्थान नहीं है। प्रसन्नतापूर्वक शरीर आदि वस्तुओं का बलिदान कर, मानतवा को सुरक्षित रखना है। मानवता वह अविनाशी तत्व है, जो मानव-समाज के हृदय पर सतत साम्राज्य करती है। समस्त विधान सोई हुई मानवता के जगाने में हेतु हे। अतः किसी भी संघ, संस्था, राष्ट्र, मजहब, इज्म में यदि जीवन है, तो मानवता का। मानवता-रहित संघ, संस्था आदि केवल संघर्ष को ही जन्म देते हैं, जो विनाश का मूल है। सभी के अधिकार सुरक्षित रहें और मानव सुगमतापूर्वक शान्ति, एवं प्रेम से अभिन्न हो जाय, इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी का प्रयास होना चाहिए, तभी व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव है। पवित्रतम उद्देश्य को भुलकर जो विकास की बात कही जाती है, वह भ्रम-मूलक है। सभी वर्गों, देशों की माँग यह है कि हमारे प्रति सबल 'बल' का दुरुपयोग न करें। जिसकी माँग सभी को है, उसे सभी को अपनाना है। यही मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से बल के दुरुपयोग का किसी को अधिकार नहीं है। अन्याय का प्रतिकार 'न्याय तथा प्रेम' से ही सम्भव है। इस प्राकृतिक विधान का आदर प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश, समाज, इज्म, मजहब आदि को करना है। ऐसा करने पर प्रत्येक वर्ग, समाज और देश स्वयं इतना सुन्दर हो जायगा कि उस पर आक्रमण करने का किसी का साहस ही न होगा;

कारण, कि आक्रमण उस पर होता है, जिस वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्ति निकटवर्ती जन-समाज पर अन्याय करते हैं। उसी किये हुए अन्याय से एक ऐसी सामूहिक भावना उत्पन्न होती है, जो किसी दूसरे वर्ग, देश आदि में विरोधी शक्ति उत्पन्न होती है, जो संघर्ष का मूल है। जिसने किसी के प्रति कभी अन्याय नहीं किया, उसके प्रति अन्याय करने का किसी को भी साहस भी नहीं हो सकता। व्यक्तिगत रूप से यह देखा-सुना जाता है कि क्षमाशीलता, अहिंसा के पुजारियों की भी हिंसा हुई। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो न्याय तथा प्रेम से युक्त है, उसके प्रति अन्याय हुआ। इस प्रकार की घटनायें उन इने-गिने व्यक्तियों के प्रति होती है, जिनके वास्तविक जीवन का प्रसार प्राकृतिक विधान को अभीष्ट है। निर्दोष जीवन पर जब दोष का आक्रमण होता है, जब निर्दोषता की सद्भावना व्यापक होती है। शरीर आदि को भेंट दे देना निर्दोषता की अन्तिम पूजा है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने न्याय तथा प्रेम को अपना कर अपने को इतना सुंदर बना लिया है कि जिन्हें शरीर आदि वस्तुओं की आवश्यकता ही नहीं है। शरीर निर्दोषता की व्यापकता में आवरण है। इस कारण जब निर्दोषता के लिए उस आवरण का बलिदान हो जाता है, तब न्याय तथा प्रेमयुक्त सद्भावनायें व्यापक होकर सतत कार्य करती रहती हैं। इस दृष्टि से क्षमाशीलता तथा अहिंसा के पुजारियों को बलिदान देना पड़ा है। यदि ऐसा न हो, तो भावना के स्थान पर शरीर की पूजा हो सकती है, जो अवनति का मूल है। मानव का जीवन उसका शरीर नहीं है, अपितु उसमें जो शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम है, वही जीवन है। शरीर का नाश हो जाना उस जीवन में कोई क्षति नहीं पहुँचाता, अपितु अन्याय के प्रतिकार में वह शरीर काम आता है। किसी अन्य के विनाश से अन्याय का प्रतिकार उतना स्पष्ट नहीं होता, जितना अपने व्यक्तित्व के नाश से होता है। व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध होने पर ही तो अन्याय का जन्म होता है। अतः अन्याय के प्रतिकार के लिए यदि शरीर, प्राण तथा व्यक्तित्व का मोह गल जाय, तो न्याय तथा प्रेम की भावना स्वतः व्यापक हो जाती है। वास्तविकता की व्यापकता के लिए सब कुछ देना पड़ता है। सब कुछ

देने पर ही वास्तविकता का प्रसार होता है। जिसके लिए मानव प्रसन्नतापूर्वक अपना कुछ नहीं दे सकता, वह उसका प्रेमी कैसा? न्याय अपने को निर्दोष बनाने में हेतु है और प्रेम अपने को विभु बनाने में समर्थ है। अपने प्रति न्याय करने पर सभी के प्रति प्रेम स्वतः होता है। प्रेम की अन्तिम भेंट है 'अहम्' और 'मम' के पूर्ति करना। जो शरीर अपना रहा ही नहीं, यदि उसका किसी ने विनाश किया, तो अपनी क्या क्षति हुई? यह क्षति उन्हें प्रतीत होती है, जो शरीर की पूजा करते हैं और वास्तविकता से दूर रहते हैं। शरीर की पूजा में अपने शरीर का अभिमान निहित है। अतः देहाभिमान-रहित होने परही यह रहस्य स्पष्ट होता है कि अपने प्रति सर्वांश में न्याय करने पर अपने में निर्दोषता की अभिव्यक्ति होती है, फिर क्षमाशीलता तथा प्रेम से अभिन्नता होती है। क्षमाशीलता तथा प्रेम को व्यापक बनाने के लिए क्षमाशीलों, प्रेमियों तथा अहिंसकों पर आक्रमण होता है, जो क्षमाशीलता, प्रेम तथा अहिंसा के प्रसार में हेतु है। हिंसा का नाश तभी होता है, जब अहिंसक का सर्वस्व उसकी भेंट हो जाता है। अहिंसक के प्रति की हुई हिंसा, हिंसा के नाश में हेतु है, हिंसक के नहीं। हिंसा का उत्तर हिंसा पूर्वक देने से हिंसा की भावना सबल तथा स्थायी होती है। प्राकृतिक नियमानुसार क्रोध पर क्षमाशीलता, हिंसा पर अहिंसा और द्वेष पर प्रेम विजयी होता है। पर उसके लिए क्षमाशील, अहिंसक तथा प्रेमियों को शरीर आदि सर्वस्व देना पड़ता है।

प्राप्त बल का दुरुपयोग न करने पर उत्तरोत्तर बल की वृद्धि होती है। यदि यह नीति प्रत्येक व्यक्ति तथा देश अपनाये, तो सभी सबल हो जायेंगे और फिर परस्पर संघर्ष का जन्म ही न होगा। बल के दुरुपयोग से ही निर्बलता पोषित होती है और संघर्ष का जन्म होताहै। बल का दुरुपयोग न करने की नीति का अनुसरण मानव-मात्र को करना है, तभी ऐसे समाज का निर्माण होगा, जिसे किसी शासक की आवश्यकता न होगी। देश तभी किसी से शासित होता है, जब देश-वासी परस्पर बल का दुरुपयोग है। बल के दुरुपयोग से अन्याय का प्रतिकार करने पर अन्याय किसी अंश में जीवित रहता है, जो कालान्तर में पुनः सबल हो

जाता है। यदि अन्याय का सर्वांश में नाश करना है, तो बल का दुरुपयोग न करने की नीति को अपना लेना अनिवार्य है।

बलपूर्वक अन्याय को दबाने से अन्याय का सर्वांश में नाश नहीं होता। अन्याय का नाश होताहै, अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम और क्षमा का व्यवहार करने से। बलपूर्वक बल का दुरुपयोग रोकने का प्रयास बल के दुरुपयोग को मिटाने में सफल नहीं हुआ और न सम्भव है। शक्ति का बहुत बड़ा भाग न्यायशाला, पुलिस, फौज आदि में व्यय हो जाता है, शिक्षा, चिकित्सा आदि जीवनोपयोगी कार्य अधूरे रह जाते हैं। यदि मानव-समाज अन्याय पर न्याय से, क्रोध पर क्षमा से और द्वेष पर प्रेम से विजयी होने का प्रयास करें, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक बल के दुरुपयोग की भावना का नाश हो सकता है। जो उपाय व्यक्तिगत विकास में हेतु है, वही सामूहिक विकास में भी समर्थ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब व्यक्तिगत जीवन सुन्दर हो, जो एकमात्र बल का दुरुपयोग न करने में ही निहित है। किसी से शासित रहने के समान मानव-जीवन का और कोई अपमान नहीं है। अपने पर अपना शासन करने पर ही मानव 'पर' के शासन से मुक्त होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

यह सभी को विदित है कि जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम एवं प्राकृतिक पदार्थों से ही होता है और उन वस्तुओं का उपयोग प्राणियों की सेवा में करना अनिवार्य है। परन्तु जब आवश्यक वस्तुओं के बदले में मानव ऐसी वस्तुओं का संग्रह करने लगता है, जो दीर्घ काल तक सुरक्षित रह सकती है और उनके बदले में अन्य वस्तुएँ मिल सकती हैं, तब समाज में कुछ लोग सुखी और कुछ लोग अधिक दुःखी हो जाते हैं। जब तक मानवता के नाते, सुखी-दुःखी वर्ग एक-दूसरे से सहयोग रखते हैं, तब तक विप्लव दबा रहता है। परन्तु जब श्रम और संग्रह, अर्थात् परिश्रम और परिग्रह में परिग्रह का मूल्य बढ़ जाता है और परिश्रम घट जाता है, तब व्यक्ति वस्तु के अधीन हो जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि परिग्रही शरीरिक तथा बौद्धिक श्रमिकों को अपने अधीन कर लेता है। परिग्रह से विलास तथा

आलस्य का जन्म होता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन तथा उपयोग प्राणियों की सेवा में ही करना न्याय-युक्त है। समाज का वह वर्ग, जो उपार्जन में असमर्थ है, उसी के निमित्त परिग्रह करना आवश्यक है, चाहे उस अधिकार व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रगत।

जब व्यक्तियों में दोष आ जाते हैं, तब व्यक्तिगत परिग्रह के विरुद्ध आवाज उठती है। पर राष्ट्रगत परिग्रह के उपयोग की व्यवस्था भी तो व्यक्तियों के द्वारा ही होती है। राष्ट्र का जन्म किसी भी प्रणाली से हो, परन्तु उसे जनता का ही प्रतिनिधि माना जाता है। जब तक राष्ट्र के कर्मचारियों में यह सद्भावना रहती है कि हम जनता के सेवक है, तब तक तो व्यवस्था यथावत् चलती है। किन्तु जब पदलोलुपता एवं सुखासक्ति राष्ट्रगत प्रबन्धकों में आ जाती है, तब परिग्रह का दुरुपयोग होने लगता है और फिर उस राष्ट्र के अनर्थ से जनता-जनार्दन को बचाना कठिन हो जाता है। व्यक्तिगत परिग्रह में तो परिग्रह का ही बल है। परन्तु राष्ट्रगत परिग्रह में एक शासन का वैधानिक बल भी है। व्यक्ति के बिगड़ जाने पर कोई भी प्रणाली हितकर सिद्ध नहीं होती। सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण सुन्दर व्यक्तियों के ही द्वारा होता है, राष्ट्र के द्वारा नहीं। परिग्रह-रहित मानव, सेवा की सद्भावना तथा प्रेम से पूर्ण एवं राग-द्वेष रहित होकर ही सुन्दर मानव का निर्माण कर सकते हैं, अर्थात् मानवता के बल से ही सुन्दर मानव होते हैं। परिग्रह एवं शासन के बल पर सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से अपरिग्रही मानव का बड़ा महत्व है। पर समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, इससे भी कालान्त में बड़ा ही अनर्थ हो सकता है। राष्ट्रगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों ही प्रणालियाँ तभी हितकर सिद्ध होती हैं, जब व्यक्ति सुन्दर हों।

संग्रह का अधिकार उन्हीं लोगों को है, जो अपने लिए संग्रह नहीं करते। समाज के बालक, समाज की सम्पत्ति और समाज के वे मानव, जिन्होंने जितेन्द्रियता, सेवा तथा सत्य की खोज एवं सार्थक चिन्तन का व्रत लिया है, इन्हें एक स्थान पर आ जाना चाहिए अर्थात् सेवक और सेव्य के साथ ही परिग्रह उपयोगी सिद्ध होता

है। व्यक्तिगत सुख-भोग के साथ ही परिग्रह के त्याग की बात है। राष्ट्र का आश्रय लेकर सेवा तब सम्भव होती, जब राष्ट्र के कर्मचारी सेवक होते। भोगी के द्वारा सेवा की बात सेवा का उपहास है, और कुछ नहीं। जिसे व्यक्तिगत मान और भोग की भूख है, भला, वह कैसे निष्पक्ष सेवा कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। राष्ट्रीयता की भावना भले ही उपयोगी हो, पर शासक होने का प्रलोभन तो सर्वथा अनर्थ का ही मूल है, सत्ता के अभिमान में आबद्ध होने पर राष्ट्रों द्वारा क्या नहीं हुआ? यह विचारणीय प्रश्न है।

समाज के कर्णधार वे ही मानव हो सकते हैं, जिन्होंने जीवन-विभाजन किया है और प्राणी-मात्र के साथ सर्वात्म भाव अपनाया है। ऐसे मानव ही परिग्रह के अधिकारी हैं। जिस प्रकार उदर शरीर के पोषण के लिए कुछ काल अपने में संग्रह करता है, किन्तु उसका उपयोग अपने ही तक सीमित नहीं रहने देता, उसी प्रकार उदार मानव ही परिग्रह का सदुपयोग कर, परस्पर एकता स्थापित कर सकते हैं। सिद्धान्ततः सम्पत्ति न राष्ट्रगत है, न व्यक्तिगत। संग्रहीत सम्पत्ति उन्हीं का भाग है, जो रोगी, बालक तथा सेवा-परायण है एवं सत्य की खोज में रत है। अब यदि कोई यह कहे कि राष्ट्रगत सम्पत्ति के बिना, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आक्रमण से कैसे बचेगा? तो इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस समाज में मानव-निर्माण की यथेष्ट व्यवस्था है, उस समाज के प्रत्येक युवक तथा युवती में राष्ट्रीयता स्वतः सुरक्षित रहेगी। देश की सुरक्षा के नाम पर जो अन्धाधुन्ध अर्थ का व्यय होता है, यहाँ तक कि रोगियों के लिए परिचर्या-भवन और बालकों के लिए बाल निकेतन और उनमें सेवा करने वाले अपरिग्रही सज्जनों के लिए नहीं के समान ही व्यय होता है, उसका परिणाम यह होता है कि युवक और युवतियों के ऊपर बालक, रोगी तथा वृद्धों का भार रहता है। उससे दबे हुए युवक और युवती निर्भीक तथा निश्चिन्त नहीं हो सकते।

भय और चिन्ता में आबद्ध मानव में वीरता नहीं रहती, अपितु कायरता आ जाती है, जिससे राष्ट्रीयता की भावना कुण्ठित हो जाती है। जिसके होने से राष्ट्र निर्बल हो जाता है और फिर ऐसे बल की खोज

करता है कि अल्प-संख्यक बहुसंख्यक का विनाश कर सकें। इस विनाशकारी भावना का नाश तभी हो सकता है, जब प्रत्येक देश में अपने राष्ट्र के प्रति अविचल आस्था हो। जीवन में राष्ट्रीयता हो, परन्तु अमानवता की गन्ध भी न हो। शान्त तथा प्रसन्न रहें और दूसरों को रहने दें। कतिपय व्यक्तियों की भूल से समाज को बहुत बड़ी क्षति होती है। ऐसी दशा में राष्ट्रीयता भले ही समाज को अपेक्षित हो, पर राष्ट्र अपेक्षित नहीं है। राष्ट्रीयता का वास्तविक अर्थ है, अपने पर अपना अनुशासन। अपने पर अपना अनुशासन करने से निर्दोषता सुरक्षित रहती है। निर्दोश जीवन की माँग सभी को सदैव है। अतः निर्दोष मानव ही परिग्रह के अधिकारी हैं।

यह तभी सम्भव होगा, जब वस्तु-विभाजन के स्थानपर जीवन-विभाजन का निर्णय किया जाय। अर्थात् प्रत्येक मानव सार्वजनिक सेवा के लिए अपने जीवन का विभाजन करे। सार्वजनिक जीवन होने पर ही सर्वहितकारी सद्भावना पोषित होती है। केवल वस्तु-विभाजन मात्र से वस्तु का महत्व नहीं घट जाता, अपितु वस्तुओं की दासता ज्यों-की-त्यों रहती है। वस्तुओं की दासता में आबद्ध मानव व्यक्तिगत सुख के लिए परिग्रह करने लगता है, जो अवनति का मूल है। जितेन्द्रियता तथा सत्य की खोज एवं सार्थक चिन्तन से युक्त सेवा में रत मानव की गोद में ही बालक-बालिकाओं का पोषण तथा शिक्षण हो, तभी भावी समाज सुन्दर हो सकता है। मोह की गोद में पले हुए बालक में नैतिकता का विकास नहीं होता और अर्थ के अधीन पले हुए बालक में हृदयशीलता विकास नहीं होतीं। इस कारण समाज के बालकों को अर्थ और मोह की गोद में नहीं पलना चाहिए। मानवता की गोद में पले हुए बालक में ही मानवता विकसित होगी, अर्थात् सेवा, त्याग, प्रेमपूर्वक पोषित बालक ही वास्तविक नैतिकता एवं हृदयशीलता से युक्त होंगे। रोगी-परिचर्चा भी उन्हीं के द्वारा यथेष्ट होती, है जो सेवा-परायण हैं। वे ही सेवा-परायण मानव, जो सत्य की खोज में रत हैं एवं राग-रहित हैं, विधान बना सकेंगे और उस विधान का पालन मानव-समाज में करा सकेंगे। यही वास्तविक राष्ट्रीयता है।

विनाशकारी सामान के बल पर राष्ट्रीयता के गीत गाने वाले एक बड़े डाकुओं के दल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बलपूर्वक निर्बल को दबाना और मनमानी करना, क्या राष्ट्रीयता है? कदापि नही। राष्ट्रीयता न्याय की स्थापना है, जो अपने द्वारा अपने प्रति हो सकती है। इस दृष्टि से न्याय किसी अन्य के द्वारा अपने प्रति हो सकती है। इस दृष्टि से न्याय किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है। तो फिर राष्ट्रगत न्यायशाला क्या अर्थ रखती है? राष्ट्र के रहते हुए भी अन्याय निर्मूल नहीं हुआ, इस सत्य से कोई भी विचारशील अपरिचित नहीं है। फिर भी राष्ट्र की माँग अनुभव करना और राष्ट्रीयता से विमुख होना, क्या व्यक्तिगत मान और भोग के अतिरिक्त कुछ और है? विचार करें- मान और भोग का पुजारी भला, कब निष्पक्ष हो सकता है? निष्पक्ष वही हो सकता है, जिसे सार्वजनिक हित में ही व्यक्तिगत हित का दर्शन होता है।

यह सभी को विदित है कि प्राकृतिक पदार्थ किसी व्यक्ति, वर्ग, देश की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। उस पर सभी का स्वत्व है। उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों से, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से, समाज-हितकारी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। मूल साधन प्राकृतिक होने के कारण उत्पादन-कर्ताओं पर यह दायित्व है कि वे उत्पादित वस्तुओं में व्यक्तिगत संग्रह की भावना न रखें, अपितु एक देश का उत्पादन दूसरे देश के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो। यही वास्तविक वाणिज्य है। वणिक समाज का उदर है। उदर की भाँति व्यापारी वर्ग का उदार होना चाहिए। व्यापार की यह नीति कि उत्पादित वस्तु अधिक से अधिक महँगी हो जाय और उत्पादन के साधन सस्ते हो जायें, सर्वथा त्याज्य है। इस नीति ने ही अल्पसंख्यक को सुखी और बहुसंख्यक को दुःखी किया है। उसका परिणाम यह होता है कि परस्पर स्नेह के स्थान पर संघर्ष का जन्म हो जाता है। उत्पादक-हृदय माँ जैसा हो। जिस प्रकार माँ सभी छोटे-बड़े बालकों की आवश्यकता पूरी करती है, उसी प्रकार व्यापारी वर्ग के हृदय में यह सद्भावना रहे कि सभी को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ। इस दृष्टि से व्यापार एक बड़ी ही आवश्यक सेवा है। व्यापारी वर्ग

परस्पर सहकारिता को अपनायें और प्रतियोगिता का त्याग करें।

बौद्धिक श्रमी वर्ग यदि अपनी योग्यता का उपयोग सर्वहितकारी कार्य में करें, तो शारीरिक श्रमीं एवं पूँजी का संग्रही तो बौद्धिक श्रमी का विरोध कर ही नहीं सकते। जिस देश, वर्ग, समाज का शिक्षित व्यक्ति स्वार्थ-परायण हो जाता है, अर्थात् व्यक्तिगत सुखासक्ति में आबद्ध हो जाता है, वही वर्ग, देश, समाज विनाशोन्मुख होता है। शिक्षित व्यक्तियों के सहयोग के बिना विकास और ह्रास होता ही नहीं। यदि कोई वर्ग, देश, समाज, अवनति की ओर जा रहा है, तो यह मानना ही होगा कि शिक्षित वर्ग मानवता से विमुख हो गया है। शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। सामर्थ्य के आश्रय से ही ह्रास और विकास होता है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर स्वतः विकास होने लगता है। राष्ट्र और वर्ग के पतन का कारण शिक्षित समाज का पथ-भ्रष्ट होना है। शिक्षितवर्ग को राग-रहित पुरुषों का परामर्श मानना अनिवार्य है अथवा शिक्षित वर्ग स्वयं राग-रहित होने का प्रयास करें, तभी सुन्दर समाज का निर्माण तथा पारस्परिक संघर्ष का अन्त एवं सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। यह सभी को विदित है कि जब बुद्धि विवेकवती नहीं रहती, तब मन में आबद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, जिनके होते ही दुर्गुण, दुराचार आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। और जब बुद्धि विवेकवती हो जाती है, तब मन निर्विकल्प हो जाता है और इन्द्रियाँ सच्चरित्र हो जाती है, अर्थात् सद्गुण-सदाचारों की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। व्यक्तिगत जीवन में जो बुद्धि का स्थान है, वही समाज में शिक्षित व्यक्ति का, जो मन का स्थान है, वही राष्ट्र का और जो इन्द्रियों का स्थान है, वही प्रजा का है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि शिक्षित वर्ग के राग-रहित होने से सभी अपने-अपने स्थान पर सुन्दर हो जाते हैं। इस दृष्टि से शिक्षित वर्ग पर सभी के विकास का दायित्व है।

विधान किसी व्यक्ति की उपज नहीं है। विधान की खोज वे ही इने-गिने मानव कर पाते हैं, जो राग-रहित है। राग-युक्त मानव वास्तविकता से अपरिचित रहता है। इस दृष्टि से विधान बनाने का

अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नहीं है। परन्तु किसी प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर यह मान लेना कि प्रत्येक मानव विधानसभा का सदस्य हो सकता है–भ्रममूलक ही है। यह सभी को विदित ही है कि विधान का प्रयोग करने के लिए बड़े-बड़े अधिवक्ताओं की अपेक्षा होती है। फिर भी विधान के अर्थ-निरूपण में भिन्नता होती है, जिससे वास्तविकता का निर्णय ही नहीं हो पाता। अब विचार यह करना है कि जिस विधान का अर्थ समझने के लिए अधिवक्ताओं की अपेक्षा है, क्या उस विधान को बनाने का अधिकार जन-साधारण को देना उचित है? कदापि नहीं। क्या रोगी के रोग का निर्णय बहुमत से होगा? अथवा योग्य चिकित्सक से? विधान मंगलकारी तथ्य है। उसका ज्ञाता वही हो सकता है, जो देहाभिमान, पक्षपात, राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हो। जन-साधारण को तो विधान का आदरपूर्वक पालन करना है। वे विधायक नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, किसी राष्ट्र को भी विधान बनाने का अधिकार नहीं है; कारण, कि राष्ट्र को अपनी भूल का ज्ञान स्वतः नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विधान वीतराग पुरुषा ही बना सकते हैं। राष्ट्र का निर्वाचन भी जन-साधारण के द्वारा करना, राष्ट्र को एकदेशीय बना देना है, जो पक्षपात-रहित हो ही नहीं सकता। राष्ट्र के निर्वाचन का अधिकार भी उन्हीं इने-गिने व्यक्तियों को है, जिन्होंने अपना जीवन समाज-सेवा मे अर्पित किया है, पर उनहें स्वयं राष्ट्र होने का अधिकार नहीं है। सेवा करने वाला वर्ग राष्ट्र और प्रजा के बीच में स्नेह तथा विश्वास की स्थापना कर सकता है; कारण, कि सेवक दोनों के कर्तव्य से परिचित होता है। उसके हृदय में दोनों ही के प्रति सद्भावना रहती है। ऐसा न करने से राष्ट्र और प्रजा के बीच में सदैव संघर्ष होता रहता है और राष्ट्र की शक्ति का बहुत बड़ा भाग अपनी सुरक्षा में व्यय होता है, प्रजा के हित में नहीं। इस कारण राष्ट्र का निर्वाचन बहुमत के आधार पर न किया जाय, अपितु देश के वे इने-गिने व्यक्ति, जो सेवा-परायण हैं, राष्ट्र का निर्वाचन करें और उन सेवा-परायण महानुभावों में, जो वीतराग हैं। वे विधान बनायें। अब यदि कोई यह कहे कि हम वीतराग को कैसे जानें? इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह

स्पष्ट विदित होता है कि सत्-पथ पर अग्रसर मानव स्वयं प्रकाशित हो जाता है। क्या महत् पुरुषों को किसी निर्वाचन से स्वीकार किया जाता है? कदापि नहीं।

विकसित मानव स्वयं अपने प्रकाशन में आप समर्थ होता है। क्या समय-समय पर पद्धतियों का निर्माण बहुमत से हुआ है? निर्माणकर्ता स्वयं प्रकट हुए हैं। बहुतम से उनका स्वागत किया है, उनका निर्वाचन नहीं। प्रत्येक काल में, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक देश तथा समाज में यह अपने आप प्रकट हो जाता है कि जन-समाज को किसके पथ-प्रदर्शन में रहना है। अतः वीतराग पुरुषों का निर्वाचन किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है। सेवा और प्रीति से युक्त मानव उस विधान से अभिन्न होता है, जो मंगलमय है। पर जब तक मानव को यह भासित होता है कि मुझ में सेवा तथा प्रीति है, तब तक वास्तविक विधान से अभिन्न नहीं होता। जब सेवा और प्रीति तो रहे, पर उसमें अहम्-भाव की गन्ध भी न रहें, तब अनन्त के मंगलमय विधान से अभिन्नता होती है, अतः जो विधान अनन्त के मंगलमय विधान से अनुप्राणित नहीं है, वह विधान सर्वहितकारी नहीं हो सकता। विधान की खोज करना है, विधान किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत उपज नहीं है। विधान की खोज प्रत्येक मानव कर सकता है, पर उसके लिए सर्वात्मभाव स्वीकार करना, अहम् और मम से रहित होना अनिवार्य है। जिसे विधायक होना हो, वह विधान से अभिन्न होने के लिए प्रयास करें। सभी विधायक हो सकते हैं, यह बात इसी अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि राग-रहित होने का दायित्व मानव-मात्र पर है। अतः प्रत्येक मानव अपने को इतना सुन्दर बनाये कि उसका जीवन विधान हो जाय। जीवन और विधान की एकता होने पर, किसी प्रकार की सुख-लोलुपता नहीं रहती, अपितु उसका जीवन सेवा, प्रेम एवं निरभिमानता से युक्त हो जाता है। जिसमें निरभिमानता आ जाती है, वह सभी से अभिन्न हो जाता और तभी उसके जीवन में सर्वहितकारी विधान की अभिव्यक्ति होती है।

वास्तविक विधान की अभिव्यक्ति तो सृष्टि से पूर्व ही होनी चाहिए; कारण, कि समष्टि शक्तियाँ क्या विधान-रहित कार्य करती है? कदापि नहीं। मानव उस विधान से

अभिन्न हो सकता है, पर विधान किसी मानव का बनाया हुआ नहीं है। उसी अनन्त के विधान का प्रतीक मानव में निज-विवेक है। निज-विवेक का आदर करने पर कर्तव्य, निज-स्वरूप और अनन्त की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। अतः विवेकवित् मानव ही विधान की खोज कर सकते हैं और विवेकवित् होने का दायित्व प्रत्येक मानव पर है।

दुःख की समस्या

यह मानव-मात्र को विदित ही है कि जो न चाहने पर भी आ जाता है, वही दुःख है और जो चाहते हुए भी चला जाता है, वही सुख है। दुःख-सुख की अनुभूति मानव-मात्र को होती है। नवजात शिशु भूख से पीड़ित होकर रोने लगताहै। इस दृष्टि से दुःख मानव की सर्वप्रथम अनुभूति है। दुःखी को देख, किसी न किसी के हृदय में करूणा अवश्य जाग्रत होती है। करुणित मानव पर-दुःख को अपनाता है और निज-सुख को दुःखी की सेवा में व्यय करता है। दुःखी दुःखकाल में पराधीनता से व्यथित होता है। पराधीनता की व्यथा स्वाधीनता की लालसा जाग्रत करती है। जो न चाहने पर आता है, वह प्राकृतिक विधान है, व्यक्ति का उपजाया हुआ नहीं है। सुख चाहते हुए भी चला जाता है, मानव में केवल सुखासक्ति भले ही रहे, पर सुख तो चला ही जाता है। इस दृष्टि से दुःख का आना और सुख का जाना वैधानिक तथ्य है।

अब विचार यह करना है कि दुःख क्यों है? यदि जीवन से दुःख का भाग निकाल दिया जाय, तो न तो सुख का सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुख की दासता से रहित हो सकता। सुख का सम्पादन और उसकी दासता से रहित करने में दुःख ही हेतु है। दुःख मानव-जीवन का आवश्यक अंग है, फिर भी सभी को स्वभाव से प्रिय नहीं है। जो स्वभाव से प्रिय नहीं है, वह जीवन नहीं है। और जिसमें स्थायित्व नहीं है, वह भी जीवन नहीं है। इस दृष्टि से दुःख तथा सुख वास्तविक जीवन नहीं है, अपितु दुःख-सुख के सदुपयोग में जीवन है। अब यदि कोई यह कहे कि दुःख तो कर्म का फल है। तो यह मानना एकदेशीय दृष्टिसे भले ही सत्य प्रतीत

हो, किन्तु सभी दृष्टियों से यह वास्तविकता नहीं है। विश्व के इतिहास में क्या कोई ऐसा व्यक्ति हुआ है अथवा है, जिसने किसी न किसी अंश में दुःख का अनुभव न किया हो? तो क्या एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हो सकता, जो ऐसा कर्म न करता, जिससे दुःख होता है? अर्थात् दुःख का अनुभव सभी को होता है। अतः केवल कर्म ही दुःख का कारण नहीं है। दुःख की उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है, क्या उसका अनुभव दुःख के रहते हुए सम्भवहै? कदापि नहीं। दुःख-निवृत्ति का प्रश्न मानव का प्रश्न है। पर जब दुःख नहीं था, तब मैं था– यह अनुभव यदि होता, तो दुःख कब सेआरम्भ हुआ और क्यों आरम्भ हुआ? इसका निर्णय सम्भव था। जब तक दुःख का सर्वांश में अन्त न हो जाय, तब तक दुःख के कारण का बोध सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से दुःख के नाश का प्रश्न मौलिक प्रश्न है। सुख-लोलुपता के रहते हुए, क्या किसी भी प्रकार दुःख का अन्त सम्भव है? कदापि नहीं। यदि आया हुआ सुख स्वभाव से नाश न होता, तो सुखासक्ति को रखते हुए दुःख मिट सकता था। पर यह प्राकृतिक नियम से सिद्ध नहीं है कि सुख का नाश न हो। जो नहीं रहता, उसकी आसक्ति भूल के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। 'नहीं' की आसक्ति ने ही मानव को उससे विमुख किया है, जो सर्वकाल में है। दुःख के प्रभाव से प्रभावित बिना हुए, सर्वांश में सुखासक्ति का नाश सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से दुःख विकास की भूमि है। दुःख का भय तभी तक रहता है, जब तक मानव पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध है। अतः दुःख पराधीनता का अन्त करने के लिए, बिना बुलाये आता है। क्या इस निज-अनुभव से यह स्पष्ट विदित नहीं होता, कि जो दुःख पराधीनता से रहित करने के लिए आया है, वह मंगलमय विधान से आया है? अथवा उसकी देन है, जो मानव को पराधीनता से रहित करना चाहता है। मानव उसे भले ही न जाने, जिसने दुःख का निर्माण किया है। पर दुःख का प्रभाव मानव के लिए सर्वतोमुखी विकास में हेतु है, यह स्वीकार करने के लिए वह बाध्य है।

प्राप्त विवेक के प्रकाश में, बुद्धि-दृष्टि से देखने पर यह विदित होता है कि कामना-आपूर्ति तथा पूर्ति में ही दुःख-सुख का भास होता है।

कामनाओं का उद्गम स्वीकृति में अहम् बुद्धि और प्रतीति में मम-बुद्धि है, अर्थात् अहंता तथा ममता से ही दुःख-सुख का जन्म होता है। अहम् और मम अविवेक-सिद्ध हैं। निज-विवेक का आदर करने पर अहम् और मम शेष नहीं रहते और फिर दुःख का भय तथा सुख की दासता भी नहीं रहती। सुख की दासता का सर्वांश में अन्त हाते ही दुःख स्वतः नाश हो जाता है। इस दृष्टि से निज-विवेक का अनादर, अर्थात् अपनी भूल ही मानव को सुख-दुःख में आबद्ध करती है। अब यदि कोई यह कहे कि मानव निज-विवेक का अनादर क्यों करता है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि निज-विवेक के अनादर का बोध, क्या मानव को नहीं है? यदि है, तो उसका कारण उसमें स्वयं ही उपस्थित होगा। तो फिर तो उसका समाधान अपने ही द्वारा करना होगा। यदि यह कहा जाय कि मानव को निज-विवेक के अनादर का ज्ञान ही नहीं है। तो उसके कारण की खोज का प्रश्न ही नहीं हो सकता। अतः विवेक के अनादर का कारण क्या है? यह प्रश्न जब अपना वर्तमान का प्रश्न हो जावेगा, तब उसके हल की सामर्थ्य स्वतः मानव में अभिव्यक्ति होगी। इस दृष्टि से इस प्रश्न का उत्पन्न होना ही हल में हेतु है।

यह सभी को विदित है कि भूल 'जाने हुए' की होती है। जिसे नहीं जानते, उसके सम्बन्धमें यह नहीं कह सकते कि भूल गये। मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर बैठता है, इसी कारण वह जाने हुए को भूलता है। यदि मानव-जीवन में स्वाधीनता न होती, तो भूल भी न होती। अन्य प्राणियो में प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कार्य करने की क्षमता नहीं है। पर मानव कभी बिना भूख भी खाता है और कभी भूख लगने पर भी नहीं खाता, अर्थात् मानव वह भी करता है, जो करना चाहिए, और वह भी कर बैठता है, जो नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, ऐसी कामनायें भी रखता है, जिन्हें वर्तमान में पूरा नहीं कर सकता। अनावश्यक कार्यों को जमा रखना और आवश्यक कार्य को पूरा न करना तथा न करने वाले कार्य को भी कर डालना–यह स्वाधीनता मानव में जन्म-जात है। स्वाधीनता का दुरुपयोग करने पर दुःख का प्रादुर्भाव स्वतः होता है, जो

सजगता प्रदान कर, मानव को सत्-पथ दिखाता है। स्वाधीनता के दुरुपयोग का परिणाम है-दुःख का प्रादुर्भाव। अतः प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

यदि मंगलमय विधान से मानव को स्वाधीनता न मिलती, तो मानव और मानवेतर प्राणी का भेद ही स्पष्ट न होता। मानव 'साधक' है। साधक पर दायित्व होता है उसकी कोई माँग होती है। मानवेतर प्राणियों में कामना है। वे साधक नहीं हैं, इस कारण उन पर कोई दायित्व नहीं है। उन्हें कामना पूर्ति-आपूर्ति का सुख-दुःख प्राकृतिक विधान से भोगना पड़ता है। जिस अंश में मानव सुख-दुःख भोगता रहता है, उस अंश में मानव-आकृति होने पर भी मानव 'मानव' नहीं है। मानव में मानवता तभी आरम्भ होती है, जब वह सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज करता है। इस मौलिक माँग की जागृति से पूर्व मानव 'प्राणी' है, 'मानव' नहीं।

दुःख क्या है, और क्यों है? यह प्रश्न मानव का प्रश्न है, प्राणी का नहीं। बेचारे मानवेतर प्राणी तो सुख-दुःख भोगते हैं। मानव को यह विशेषता, जो अन्य प्राणियों में नहीं हैं, किससे मिली है? यह प्रश्न भी मानव का ही प्रश्न है। यदि यह विशेषता उसकी अपनी जन्म-जात है, तो सुख-दुःख में आबद्ध क्यों हुआ? सुख-दुःख से अतीत के जीवन में क्यों नहीं सन्तुष्ट हुआ? जिसकी निवृत्ति अभीष्ट है, उसमें अपने आप आबद्ध क्यों होता? अतः अन्य प्राणियों से विशेषता मानव को उससे मिली है, जिसे वह भले ही न जानता हो, पर जिसने दी है, वह मानव को जानता है। जब मानव यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है, वह किसी की देन है, तब उसमें उस बिना जाने हुए की आस्था उदित होती है। अथवा जो मिला है, वह क्या है? मैं क्या हूँ? आदि जिज्ञासा जाग्रत होती है। आस्था और जिज्ञासा मानव में ही होती है। जिज्ञासा उसकी, जिसकी प्रतीति है और आस्था उसकी, जिसकी माँग है। यदि मानव ने प्राप्त बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर न किया होता, तो मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व भी मानव पर न होता। मानव 'साधक' है। साधक होने के नाते, मिले हुए के दुरुपयोग न करने का, प्रतीति की जिज्ञासा का एवं जिसे नहीं जानता है,

उसकी आस्था का दायित्व है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने पर कर्तव्य-परायणता स्वतः आती है और जाने हुए का आदर करने पर असंगता प्राप्त होती है एवं बिना जाने में आस्था होने पर स्वतः शरणागति उदित होती है। कर्तव्य-परायणता से जीवन जगत् के लिए, असंगता से जीवन अपने लिए एवं शरणागति से जीवन उसके लिए, जिसे मानव नहीं जानता, उपयोगी होता है। बल, विवेक और आस्था जिसने दी हैं, उसे ही मानव नहीं जानता। जिसे नहीं जानता, उसी की शरणागति स्वीकार करना अनिवार्य है। भौतिकवाद की दृष्टिसे कर्तव्य-परायणता, अध्यात्मवाद की दृष्टिसे असंगता, आस्तिकवाद की दृष्टि से शरणागति ही सर्वतोमुखी विकास की मुख्य साधन है। दुःख-निवृत्ति, परमशान्ति, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

अतः दुःख का आना, सुख का जाना-मानव-हितकारी विधान है। दुःख से भयभीत होना और सुख में आबद्ध रहना मानव का प्रमाद है, जिसका अन्त करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। दुःख के प्रभाव ने ही दुःखी को दुःखहारी से अभिन्न किया है। इस दृष्टि से दुःख जीवन का बहुत ही आवश्यक अंग है। दुःख से वे ही भयभीत होते हैं, जिन्हें दुःखहारी से अभिन्न नहीं होना है। अब यदि कोई यह कहे कि दुःखहारी कौन है? उसमें आस्था करना, तो एकमात्र बिना जाने हुए में आस्था करना है। क्या जो इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि से देखने में आता है, वह आस्था के योग्य है? उसकी आस्था ने ही तो ममता, कामना तथा तादात्म्य को जन्म दिया है, जिसके कारण मानव पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि में आबद्ध हुआ है, जो किसी को स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। अतएव, यह स्पष्ट ही विदित है कि देखा हुआ, आस्था के योग्य नहीं है। इस दृष्टि से यदि आस्था हो सकती है, तो एकमात्र उसी में, जिसे जानते नहीं है। यदि किसी को बिना जाने की आस्था अभीष्ट नहीं है, तो उसे अपने को आस्था से रहित करना होगा। आस्था से रहित होने पर भी जो 'है', उसका बोध स्वतः होता है; कारण कि 'है' का होना, किसी की स्वीकृति और उसका न होना, किसी की अस्वीकृति पर निर्भर नहीं है। 'है' की स्वीकृति, 'है' की आत्मीयता प्रदान कर, 'है' की

प्रियता से अभिन्न करती है और आस्था-रहित होने पर स्वतः 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' की प्राप्ति होती है। परन्तु देखे हुए की आस्था भी तो दुःख के प्रभाव से ही नाश होती है। दुःख का प्रभाव उनके लिए भी आवश्यक है, जिन्होने दुःखहारी को आस्थापूर्वक स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, दुःख का प्रभाव ही स्वार्थ-भाव का अन्त कर, सेवा-परायण कर देता है, अर्थात् सेवक सुखासक्ति से रहित, सेवा से अभिन्न हो, अनेकता में एकता अनुभव कर, विषमता से रहित समता के साम्राज्य में प्रवेश पाताहै। विषमता की भूमि में ही भोग-वासनाओं की उत्पत्ति होती है, जो मानव को रोग तथा शोक में आबद्ध करती है। और समता के साम्राज्य में ही नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है, जो मानव को वास्तविकता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से मानव-मात्र के लिए दुःख विकास का हेतु है। परन्तु सुखासक्ति के साथ-साथ दुःख भोगते रहना कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु नवीन दुःख का जन्म ही होता रहता है।

दुःख की महिमा वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने दुःख के प्रभाव से सुखासक्ति का सर्वांश में अन्त कर दिया है। सन्देह की वेदना ने ही मानव को तत्वज्ञान से अभिन्न किया है और पराधीनता की पीड़ा ने ही मानव को स्वाधीनता प्रदान की है। भोग-जनित व्यथा ने ही मानव को नित्य-योग प्रदान किया है। इस दृष्टिसे दुःख की महिमा जितनी कही जाय, कम है। जो मानव दुःखहारी से अभिन्न हुए, उन्होंने दुःख को प्रियतम का सन्देश जाना और जो 'है' से अभिन्न हुए, उन्होंने दुःख को राग-निवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वीकार किया। और जिन्होंने सेवक होकर समता के साम्राज्य में प्रवेश पाया, उन्होंने दुःख को विकास की भूमि स्वीकार किया। इतना ही नहीं, सभी ने दुःख को अपना कर ही अपने को दुःख का ऋणी बनाया; कारण, कि जिस दुःख ने सभी को सब कुछ दिया, उस दुःख को किसी ने कुछ नहीं दिया, अपितु उसकी निन्दा ही की। दुःख वही निन्दनीय है, जो सुख की दासता की ओर गतिशील करता है। अर्थात् दुःख निन्दनीय नहीं है, अपितु सुख की दासता निन्दनीय है। सुख की दासता को जीवित रखना और दुःख की निन्दा करना–यह दुःख के प्रति बड़ी

ही कृतघ्नता है। जो सुख चाहते हुए भी चला गया, उसकी दासता बनाये रखना और जिस दुःख से सर्वतोमुखी विकास हुआ, उससे भयभीत होना, उसके प्रभाव को न अपनाना, प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

विकसित मानव सुख देकर दुःख अपनाते हैं। और जो पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करते हैं, वे दूसरों को दुःख देकर सुख का सम्पादन करते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार सुख देकर जो दुःख लिया जाता है, वह मानव को आनन्द से अभिन्न करता है और जो दुःख देकर सुख सम्पादन किया जाता है, वह मानव को घोर दुःख में आबद्ध करता है। इस दृष्टि से सजग तथा सावधान मानव प्राप्त सुख को देकर हर्ष पूर्वक दुःख को अपनाते हैं और दुःख देकर सुख का सम्पादन नहीं करते हैं। सुख 'पर' की वस्तु है, और दुःख अपनी; कारण, कि यदि सुख को अपनाया तो अपने ही द्वारा सर्वनाश किया और यदि दुःख को अपनाया, तो मानव सर्वतोमुखी विकास का अधिकारी हुआ। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि समस्त विकारों की भूमि सुखासक्ति, और विकास की भूमि दुःख का प्रभाव है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो आता है, वह अवश्य जाता है। पर आये हुए का सदुपयोग न करना, मानव की भूल है। रहता वही है, जिसमें आने-जाने की बात नहीं। अतः जो आता-जाता है, उसका सदुपयोग करना है और जो रहता है, उसमें प्रियता। आये हुए सुख का सदुपयोग दुःखियों की सेवा में है और आये हुए दुःख का सदुपयोग अहम् और मम के नाश में है। जो मानव सुख आने पर सेवा-परायण नहीं होता, वह विवश होकर सुखासक्ति में आबद्ध हो जाता है, जो विनाश का मूल है और जो मानव दुःख आने पर अहम्, मम का अन्त नहीं करता, वह बार-बार दुःख भोगता है और भयभीत रहता है। इस दृष्टि से सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भूल है और सुख-दुःख का सदुपयोग विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने मानव-जीवन का यथेष्ट अध्ययन किया है।

समस्त विश्व में केवल सुख तथा दुःख का ही दर्शन होता है। परन्तु उनमें नित्यता नहीं है, अर्थात्

दोनों ही स्वभाव से परिवर्तनशील हैं। सुख का प्रलोभन जब तक रहता है, तब तक दुःख अवश्य आता है। सुख के भोगी को न चाहते हुए भी दुःख भोगना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट विदित ही है कि पराधीनता तथा जड़ता-जनित सुखासक्ति के रहते हुए दुःख का आना अनिवार्य है। जिसे दुःख का अन्त करना हो, उसे पराधीनता-जनित सुख का अन्त करना होगा। सुख का अन्त दुःख के प्रभाव के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं होता। प्राकृतिक नियमानुसार आया हुआ सुख चला जाता है, पर उसका प्रलोभन सुख के भोगी में अंकित हो जाता है। उस प्रलोभन का नाश तभी होता है, जब दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव हो जाय। दुःख के प्रभाव को न अपनाना और भयभीत रहना-मानव की भारी भूल है। इस भूल का अन्त प्रत्येक मानव को करना अनिवार्य है। भूल को 'भूल' जान लेने से ही भूल का नाश होता है। यह सभी को विदित है कि पराधीनता स्वभाव से मानव को प्रिय नहीं है। तो क्या पराधीनता बिना स्वीकार किये, कामनापूर्ति-जनित सुख का भोग हो सकता है? कदापि नहीं। अब विचार यह करना है कि पराधीनता तो प्रिय नहीं है। तो फिर पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन क्या अर्थ रखता है? पराधीनता-जनित वेदना असह्य होने पर ही पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश होता है।

स्वाधीनता की माँग और पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन प्रत्येक मानव अपने में पाताहै। अपने आप न चाहने पर भी आया हुआ दुःख, स्वाधीनता की प्राप्ति में साधन-रूप है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर, सुख के प्रलोभन से रहित होता है। प्रलोभन का अन्त होने पर भय स्वतः मिट जाता है। अतः सुख के प्रलोभन ने ही दुःख के भय को जन्म दिया है। सुख की आशा से पीड़ित मानव का दुःख 'निर्जीव दुःख' है और पराधीनता-जनित असह्य व्यथा 'सजीव दुःख' है। निर्जीव दुःख यद्यपि प्राणी-मात्र में है, पर सजीव दुःख केवल मानव-जीवन में ही होता है। दुःख की वास्तविकता का अनुभव मानव-जीवन में ही सम्भव है। इस दृष्टि से दुःख मानव-जीवन का मुख्य अंग है। पर मानव को दुःख से

भयभीत नहीं होना है और न सुख की आशा रख कर उसका आह्वान करना है। अपितु दुःख की वास्तविकता को अपना कर, सुख-दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्न होना है। यदि दुःख का प्रादुर्भाव न होता, तो सुख की दासता-जनित पराधीनता, जड़ता एवं अभाव का अभाव न होता। इस दृष्टि से दुःख के प्रादुर्भाव में मानव-मात्र के प्रति किसी की कितनी करुणा निहित है! पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने मानव-जीवन के परम लक्ष्य का स्पष्ट निर्णय किया है। लक्ष्य के निर्णय तथा उसकी प्राप्ति मे दुःख का बहुत बडा स्थान है। इस दृष्टि से दुःख सर्वोत्कृष्टता की ओर अग्रसर करने में हेतु है। सर्वोत्कृष्ट जीवन का अधिकार मानव-मात्र को जन्मजात है। परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होना मानव का प्रमाद है, जिसका अन्त दुःख के प्रभाव में ही निहित है। इस दृष्टि से भूल के अन्त करने में, सुख-लोलुपता के नाश में, स्वाधीनता की प्राप्ति में, भोग की वास्तविकता के परिचय में, निर्विकारता की अभिव्यक्ति में दुःख का मुख्य स्थान है।

शिक्षा और दीक्षा

शिक्षा मानव-जीवन में सौन्दर्य प्रदान करती है; कारण, कि शिक्षित व्यक्ति की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टिसे शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। यद्यपि सामर्थ्य सभी को स्वभाव से प्रिय है, पर उसका दुरुपयोग मंगलकारी नहीं है। अतः शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान प्रचलित प्रथा में दीक्षा का अर्थ किसी मत, सम्प्रदाय आदि को अपना लेना है। पर वास्तव में दीक्षा का अर्थ– मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के अनुभव का निर्णय करना है। शिक्षा का सदुपयोग दीक्षा से सम्भव है। सामर्थ्य में वह चेतना नहीं होती, जिससे उसका मानव दुरुपयोग न करे। अतः सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रकाश दीक्षा से ही मिलता है। दीक्षित मानव की प्रत्येक चेष्टा लक्ष्य की प्राप्ति में ही निहित है। शिक्षा, अर्थात् ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं के द्वारा जो शक्ति प्राप्त हुई है, उसका

दुरुपयोग न हो, इसके लिए शिक्षित मानव का दीक्षित होना अनिवार्य है।

शिक्षा का सम्पादन सामूहिक शक्तियों के सहयोग से ही सम्भव है, अर्थात् शिक्षित होने के लिए समाज के विभिन्न अंगों का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी मानव दूसरों के सहयोग के बिना शिक्षित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से शिक्षा-रूपी सामर्थ्य सामूहिक सम्पत्ति है, व्यक्तिगत नहीं। सामूहिक सम्पत्ति का सदुपयोग सर्व-हितकारी सद्भावना से ही करना उचित है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव दीक्षित हो जाय। दीक्षित होने के लिए जीवन का अध्ययन अनिवार्य होगा। मानव-जीवन कामना और माँग का पुन्ज है। कामना मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव की ओर गतिशील करती है और माँग स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। माँग की पूर्ति एवं कामनाओं की निवृत्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। मानव-मात्र का लक्ष्य एक है। इस कारण दीक्षा भी एक है। दीक्षा के दो मुख्य अंग हैं–दायित्व और माँग। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करने पर, माँग की पूर्ति स्वतः होती है। दायित्व पूरा करने का अविचल निर्णय तथा माँग की पूर्ति में अविचल आस्था रखना ही दीक्षा है। यह दीक्षा प्रत्येक वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब इज्म आदि के मानव के लिए समान रूप से आवश्यक है। इस दीक्षा के बिना, कोई भी मानव, 'मानव' नहीं हो सकता और 'मानव' बिना हुए, जीवन अपने लिए, जगत् के लिए और उसके लिए जो सर्व का आधार तथा प्रकाशक है, उपयोगी नहीं हो सकता।

शिक्षा से प्राप्त सौन्दर्य से मानव दायित्व को पूरा करता है। पर विचार यह करना है कि दायित्व क्या है? दायित्व वह नहीं हो सकता, जिसे पूरा करने में मानव असमर्थता का अनुभव करे और वह भी दायित्व नहीं है कि जिसके पूरा करने में माँग की पूर्ति न हो। जिस पर जो दायित्व है, वह उससे अपरिचित नहीं है, उसकी विस्मृति भले ही हो गई हो। दायित्व का ज्ञान प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र में विद्यमान है। उसकी विस्मृति किसी न किसी असावधानी से हो जाती है। पर माँग की पूर्ति में अविचल आस्था होने से माँग की

उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जो दायित्व की स्मृति जगाने में और भूल के मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने पर क्या दायित्व है? इस पर मानव को स्वयं विचार करना है। जाने हुए दायित्व का समर्थन-मात्र महत् पुरुषों से ही होता है, और उसी का नाम दीक्षा है। शिक्षा 'सामर्थ्य' है और दीक्षा 'प्रकाश'। सामर्थ्य का उपयोग अन्धकार में करना, अपने विनाश का आह्वान करना है। शिक्षा का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है और दीक्षा का प्रभाव 'अपने' पर होता है, अर्थात् कर्ता पर होता हैं, करण पर नहीं। करण कर्ता के अधीन कार्य करते हैं। अतः शिक्षा का उपयोग दीक्षा के अधीन होना चाहिए। किसी भी मानव को यह अभीष्ट नहीं है कि सबल उसका विनाश करे। अतः बल का दुरुपयोग न करने का व्रत, कर्तव्य-पथ की दीक्षा है। जिस मानव ने यह अविचल निर्णय कर लिया कि किसी भी परिस्थिति में बल का दुरुपयोग नहीं करना है, उसमें स्वतः कर्तव्य की स्मृति उदित होगी। यह दीक्षा की महिमा है। कर्तव्य की स्मृति और उसके पालन की सामर्थ्य स्वतः कर्ता में अभिव्यक्त होती है। यह प्राकृतिक विधान है। अतएव कर्तव्य-पालन में असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। यह निर्विवाद सिद्ध है। जो नहीं कर सकते, क्या वह भी किसी का कर्तव्य हो सकता है? अथवा जो नहीं करना चाहिए, क्या वह भी किसी का कर्तव्य हो सकता है? कदापि नहीं। सामर्थ्य तथा विवेक-विरोधी कार्य न करने का निर्णय कर्तव्य-परायणता के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पथ पर चलने के लिए दीक्षा अनिवार्य है।

यह दीक्षा कोई मानव निज-विवेक के प्रकाश से अथवा किसी कर्तव्य-निष्ठ मानव से अपनाये–यह उसकी अपनी स्वाधीनता है। पर दीक्षित न होना भारी भूल है। यद्यपि शिक्षा बड़े ही महत्व की वस्तु है, पर दीक्षित न होना भारी भूल है। दीक्षित बिना हुए, शिक्षा के द्वारा घोर अनर्थ भी हो जाते है। अशिक्षित मानव से उतनी क्षति हो ही नहीं सकती, जितनी दीक्षा-रहित शिक्षित से होती है। शिक्षित मानव का समाज में बहुत बड़ा स्थान है; कारण, कि उसके सहयोग की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षित का 'दीक्षित' होना अत्यन्त आवश्यक है।

कर्तव्यपरायणता पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं के हल करने में समर्थ है। कर्तव्य-निष्ठ मानव के द्वारा ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और फिर वह स्वतः योग-विज्ञान में प्रवेश पाता है, जो विकास का मूल है। कर्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है और योग 'स्व' के लिए उपयोगी है। कर्तव्य की पूर्णता स्वतः मानव को योगवित् कर देती है, जो अपने लिये उपयोगी है, अर्थात् योगवित् होने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्य-पालन में प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता है, जो सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

यह सभी को विदित है कि कर्तव्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त है, वह नित्य नहीं है। किन्तु कर्तव्य का परिणाम कर्ता को राग-रहित करने में उपयोगी है। राग-रहित भूमि में जब योग-रूपी वृक्ष उगता है, तब मानव अपने उस दायित्व को पूरा करने में समर्थ होता है, जो उसे पराधीनता से रहित करने में समर्थ है। अर्थात् राग-रहित होने पर ही वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असंगता प्राप्त होती है, जो विचार-पथ की दीक्षा है। यह दीक्षा भी मानव जाने हुए असत् के त्याग से प्राप्त कर सकता है, जो सभी विचारशील महत् पुरुषों से समर्थित भी है। कर्तव्य-परायणता सुन्दर समाज के निर्माण में और असंगता स्वाधीनता की प्राप्ति में समर्थ है। पर जिसकी अहैतुकी कृपा से कर्तव्य-पालन के लिए मूल सामग्री तथा कर्तव्य की स्मृति के लिए विवेक रूपी प्रकाश मिला, उसमें अविचल आस्था करना, विश्वास-पथ की दीक्षा है। आस्था स्वतः श्रद्धा तथा विश्वास के रूप में परिणत होती है, जिससे मानव उसमें आत्मीयता स्वीकार करता है, जिसे जानता नहीं है। आत्मीयता अखण्ड स्मृति प्रदान करती है, जो प्राप्ति तथा अगाध-प्रियता की जननी है। विश्वास-पथ की दीक्षा विश्वासी को विश्वासपात्र से अभिन्न कर देती है।

कर्तव्य-परायणता से सुन्दर समाज का निर्माण और असंगता से स्वाधीनता की प्राप्ति और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से प्रेम की जागृति होती है। कर्तव्य-परायणता परम शान्ति से, असंगता स्वाधीनता से एवं शरणागति अगाध प्रियता से मानव को अभिन्न करती है।

इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। किस मानव को आरम्भ में कैसी दीक्षा लेनी है? यह उसकी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य पर निर्भर है। यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार मानव-मात्र की माँग एक है और उसी माँग को उसने शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के स्वरूप में वरण किया है। शान्ति सामर्थ्य का, स्वाधीनता चिन्मयता का और प्रेम अनन्त रस का स्त्रोत है। सामर्थ्य, चिन्मयता एवं रस से परिपूर्ण जीवन की माँग मानव-मात्र की अपनी माँग है। दायित्व पूरा करने पर माँग स्वतः पूरी होती है, यह विधान है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा के बिना, माँग, अर्थात् लक्ष्य क्या है? और उसकी प्राप्ति के लिए दायित्व क्या है? इसका विकल्प-रहित निर्णय सम्भव नहीं है, जिसके बिना, सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। दीक्षा का बाह्य रूप भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत हो, किन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप तो कर्तव्य-परायणता, असंगता एवं शरणागति में ही निहित है। इतना ही नहीं, कर्तव्य की पूर्णता में असंगता और असंगता की परावधि में शरणागति स्वतः आ जाती है। कर्तव्य-परायणता के बिना, स्वार्थ-भाव का, असंगता के बिना, जड़ता का और शरणागति के बिना, सीमित अहम्-भाव का सर्वांश में नाश नहीं होता। स्वार्थ-भाव ने ही मानव को सेवा से और जड़ता ने ही मानव को चिन्मय जीवन से एंव सीमित अहम्-भाव ने ही प्रेम से विमुख किया है, जो विनाश का मूल है। स्वार्थ-भाव, जड़ता एवं सीमित अहम्-भाव का नाश, 'दीक्षा' में ही निहित है।

व्यक्तित्व की सुन्दरता में शिक्षित होने के लिए मानव को शिक्षकों की अपेक्षा होती है; पर व्यक्तित्व के मोह के नाश में दीक्षित होने के लिए मानव को अपनी ओर देखना होता है। अपनी ओर देखने पर ही अपने दायित्व और माँग का बोध होता है। दीक्षा की पाठशाला है 'एकान्त' और पाठ है 'मौन'। शिक्षा अनन्त से प्राप्त सौन्दर्य है और दीक्षा अनन्त का प्रकाश है। सौन्दर्य का सद्व्यय प्रकाश से ही सम्भव है। शिक्षा मानव को उपयोगी बनाती है और दीक्षा सभी के ऋण से मुक्त करती है। ऋण से मुक्त हुए बिना, शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के

साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो वास्तविक जीवन है।

विश्व-शान्ति

यह सभी को विदित है कि बल का दुरुपयोग ही एक-मात्र अशान्ति का मूल है। अब विचार यह करना है कि मानव-समाज बल का दुरुपयोग क्यों करता है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होगा कि जब तक परस्पर प्रीति-भेद नहीं होता, तब तक बल के दुरुपयोग का संकल्प ही उत्पन नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि एकमात्र प्रीति-भेद ही बल के दुरुपयोग में हेतु है, जो अशान्ति का मूल है। प्रीति आत्मीयता से जाग्रत होती है। किसी अन्य प्रकार से प्रीति का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। जब तक मानव सर्वात्मभाव स्वीकार नहीं करता, तब तक प्रीति की एकता सम्भव नहीं है। यद्यपि समस्त विश्व का आश्रय तथा प्रकाशक एक है, परन्तु इस मौलिकता को भूल जाने से बाह्य अनेकता के कारण मानव भिन्नता स्वीकार कर लेता है। कारण की एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है, यह रचना की शोभा है। प्रत्येक वृक्ष का बीज एक होने पर भी वृक्ष में अनेकता का दर्शन होता है। पर बीज की एकता और वृक्ष की अनेकता को मानव बुद्धि-दृष्टि से देख सकता है। इन्द्रिय-दृष्टि से बीज में वृक्ष का दर्शन नहीं होता, परन्तु बुद्धि-दृष्टि से तो बीज के स्थूल भाग की कौन कहे, अव्यक्त भाग में भी समस्त वृक्ष दिखाई देता है।

इसी प्रकार जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि से असंग होकर, बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है, तब व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी समस्त विश्व से एकता स्वीकार करता है। बाह्य भिन्नता के आधार पर कर्म में भिन्नता अनिवार्य है, पर आन्तरिक एकता होने के कारण प्रीति की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। पर मानव जब इस वास्तविकता को भूल जाता है, तब कर्म की भिन्नता के साथ-साथ प्रीति की भिन्नता मान बैठता है, जो संघर्ष का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म की भिन्नता भी पारस्परिक एकता को ही

सिद्ध करती है। यदि भिन्नता न हो, तो एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक उपयोगिता ही सिद्ध न होती। नेत्र से जब देखते हैं, तब पैर से चलते हैं। दोनों की क्रिया में भिन्नता है, पर वह भिन्नता नेत्र और पैर की एकता में हेतु है। उसी प्रकार दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों में एक-दूसरे की उपयोगिता के लिए ही भिन्नता है। उपयोगिता होने के कारण भिन्नता में भी एकता ही सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब दूसरों की उपयोगिता में अभिरूचि नहीं होती, तब भिन्नता भेद को जन्म देती है, जो संघर्ष का मूल है। व्यक्तिगत रूप से जिसे जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता दूसरों के प्रति है और दूसरों की जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता अपने प्रति है। पारस्परिक आदान-प्रदान भिन्नता से ही सम्भव है। पर इस रहस्य को भूल जाने से, भिन्नता एकता में परिणत नहीं होती और उसके न होने से, प्रीति-भेद उत्पन्न होता है, जो संघर्ष का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश यदि दूसरों की उपयोगिता में प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता व्यय करें, तो एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं और फिर परस्पर स्नेह की एकता बड़ी ही सुगमता पूर्वक सुरक्षित रह सकती है, जो विकास का मूल है।

यह सभी को विदित है कि जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह उसका व्यक्तिगत नहीं है, अर्थात् समष्टि शक्तियों से निर्मित है। इसी कारण मिला हुआ अपने लिए उपयोगी नहीं होता, अपितु दूसरों के लिए होताहै। जिस प्रकार चिकित्सक रोगियों के लिए और रोगियों के पास जो कुछ है, वह चिकित्सक के लिए उपयोगी होता है, उसी प्रकार परस्पर जितने सम्बन्ध हैं, उन सभी में यह स्पष्ट ही है कि परस्पर आदान-प्रदान में ही एक दूसरे की पूर्ति निहित है। इस वैधानिक सत्य का अनुसरण करने पर ही समस्त संघर्षों का अन्त हो जाता है। भिन्नता के आधार पर जो संघर्ष उत्पन्न होते हैं, उनके मूल में अकर्तव्य ही होता है। भिन्नता वास्तव में संघर्ष का कारण नहीं है और एकता में संघर्ष है ही नहीं। बाह्य-भिन्नता और आन्तरिक-एकता के अतिरिक्त समस्त विश्व कुछ नहीं है। विश्व एकता और भिन्नता का बड़ा ही अनुपम चित्र है। पर इस कला को कोई विरले मनीषी ही देख पाते हैं।

विज्ञानवेत्ता का विज्ञान, कलाकार की कला, साहित्यकारों का साहित्य दूसरों की पूर्ति में ही जीवित है। पर जब इस वास्तविकता को भूल जाते हैं और अपनी-अपनी व्यक्तिगत सुख-लोलुपता की पूर्ति के लिए विज्ञान, कला, साहित्य आदि का उपयोग करने की भावना उत्पन्न कर लेते हैं, तब भिन्नता में एकता का दर्शन नहीं कर पाते। यद्यपि व्यक्तिगत सुख का सम्पादन किसी अन्य के द्वारा ही सम्भव होता है, परन्तु सुखासक्ति के कारण हम दूसरों की हित-कामना में रत नहीं रहते, अपितु अपने मान और भोग पर ही दृष्टि रखते हैं। उसी का परिणाम है कि विश्व में अशान्ति का जन्म होता है।

विश्व-शान्ति के लिए मानव-समाज को दूसरों की हित-कामना को अपनाना होगा। प्राकृतिक नियमानुसार पर-हित में ही अपना हित निहित है। इस मौलिकता को भूल जाने के कारण पर-हित में रति नहीं रहती, जिसके न रहने से ही भिन्नता में एकता का दर्शन नहीं होता। इतना ही नहीं, व्यक्तिगत सुखासक्ति ने ही आन्तरिक एकता का साक्षात्कार नहीं होने दिया; कारण, कि सुखासक्ति मानव को मिले हुए के अभिमान में आबद्ध करती है और फिर मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से तद्रूप हो जाता है, जिसके होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। अतः सुखासक्ति मानव को आन्तरिक एकता का भी अनुभव नहीं होने देती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन ही अशान्ति का मूल है।

पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर ही सुखासक्ति का सर्वांश में नाश होता है और फिर अपने आप पारस्परिक एकता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टिसे पर-पीड़ा को अपना लेना ही भिन्नता में एकता का बोध कराने में समर्थ है। दूसरों के सुख को सहन न करने पर भी पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होता है, जो एकता में भिन्नता को पोषित करता है। दुःखियों को देख, करुणित और सुखियों को देख, प्रसन्न होने पर ही भिन्नता में एकता का दर्शन होता है। करुणा व्यक्तिगत सुखासक्ति के नाश में समर्थ है और प्रसन्नता निष्कामता को सुरक्षित रखती है; कारण, कि खिन्नता की भूमि में काम की उत्पत्ति होती है। सुखासक्ति का नाश तथा निष्कामता

सुरक्षित रहने पर स्वाधीनता एवं शान्ति की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। चिन्मय जीवन से अभिन्न होने पर, मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगता है, जो पारस्परिक एकता में हेतु है। असमर्थता के कारण ही व्यक्ति को जो करना चाहिए, उसे वह नहीं कर पाता और जो नहीं करना चाहिए, उसे कर बैठता है। इस कारण असमर्थता का अन्त करना अनिवार्य है। जो कुछ नहीं कर सकता, वह असमर्थ नहीं है। कुछ न करने की स्थिति तो सब कुछ करने पर ही आती है। जो नहीं करना चाहिए, उसे कर बैठना ही असमर्थता है। शान्ति के सुरक्षित रहने पर वह सामर्थ्य आती है, जिससे अकर्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्तव्य का अभिमान नहीं रहता। अर्थात् दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं रहता, जिससे परिच्छिन्नता मिट जाती है। परिच्छिन्नता के मिटते ही अनेकता में एकता का स्वतः बोध होता है।

इस दृष्टि से गुणों के अभिमान तथा दोषों की उत्पत्ति में ही समस्त संघर्ष पोषित होते हैं, जिसका मूल सुखासक्ति तथा खिन्नता है। सुखासक्ति पराधीनता में और खिन्नता क्षोभ में आबद्ध करती है। पराधीन मानव ही दूसरों से सुख की आशा करते हैं और क्षोभित मानव अपने दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है। दूसरों के सुख में सहयोग देने से ही पराधीनता का नाश होता है और अपने दुःख का कारण किसी और को न मानने से ही क्षोभ का नाश होता है। पराधीनता तथा क्षोभ का नाश होने पर ही शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने पर स्वतः समता प्राप्त होती है। समताके साम्राज्य में अशान्ति नहीं है। शान्ति की भूमि में ही कर्तव्य-पालन की सामर्थ्य तथा निस्सन्देहता के लिए विचार का उदय होता है। कर्तव्य-परायणता अनेकता में एकता का स्पष्ट बोध कराती है और सन्देह-रहित होने पर ही निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है। निश्चिन्तता व्यर्थ-चिन्तन से रहित कर, वर्तमान को सरस बनाती है। वर्तमान की सरसता निर्विकारता को सुरक्षित रखती है, जो सर्वदा सभी के लिए हितकर है; कारण, कि विकारों की

उत्पत्ति से ही अहितकर चेष्टाएँ होती है, जो सर्वथा त्याज्य है। निर्भयता मानव को ऐश्वर्य प्रदान करती है, अर्थात् उस पर कोई विजयी नहीं हो सकता। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दूसरों को पराजित करता है। निर्भयता आ जाने पर मानव सभी को अभय-दान देता है।

भयभीत मानव ही दूसरों को भय देता है। इतना ही नहीं, भयभीत होने पर ही दूसरों के विनाश की भावना उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से निर्भयता में ही अहिंसा निहित है। हिंसा का अन्त होने पर स्वतः शान्ति की स्थापना होती है। इस दृष्टि से मानव-समाज जब तक निश्चिन्त तथा निर्भय नहीं हो जाता, तब तक शान्ति की स्थापना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। भयभीत होने से ही मानव ने विनाशकारी वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं। पर बल का दुरुपयोग करने पर कभी भी बल सुरक्षित नहीं रहता। इस कारण निर्भयता के बिना, कभी भी बल का सदुपयोग सम्भव नहीं है। अतः निर्भय होकर अभयदान देने पर ही मानव विश्व-शान्ति को सुरक्षित रख सकता है।

यह सभी को विदित है कि निर्बल सबल से भयभीत होते हैं। अतएव सबल निर्बलों को अभय-दान प्रदान करें। ऐसा करने से सबल, बल के अभिमान से रहित होगा और सबल तथा निर्बल का भेद मिट जायगा, जिसके मिटते ही दो व्यक्तियों में, वर्गों में, देशों, में मजहबों, मत-सम्प्रदायों तथा दलों में स्वतः एकता होगी, जो शान्ति में हेतु हैं। एकता का बोध न रहने पर ही संघर्ष उत्पन्न होते हैं, जो विनाश के मूल हैं। यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि जब वह सृष्टि की ओर देखता है, तो उसे सारा विश्व एक इकाई के रूप में ही प्रतीत होता है। आज तक किसी दार्शनिक ने यह नहीं कहा कि समस्त सृष्टि एक नहीं है। अनेकता उसी एक की शोभा है, और कुछ नहीं। अनेक होने पर भी सभी का आधार और प्रकाशक एक ही है। फिर भी मानव असावधानी के कारण एक इकाई के अन्तर्गत अनेकों भेद मान लेता है। स्वरूप से सृष्टि में भेद नहीं है। केवल बाह्य भिन्नता के आधार पर काल्पनिक भेद है। वास्तविकता की खोज करने पर काल्पनिक भेद मिट जाता है, जिसके

मिटते ही वास्तविकता का अनुभव होता है और फिर स्वतः पारस्परिक एकता हो जाती है, जिसके होते ही प्रीति का उदय होता है, जो अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति के नाश में समर्थ है। प्रीति के अभाव में ही अकर्तव्य की उत्पत्ति होती है। साधन और जीवन की भिन्नता के मूल में भी प्रीति का अभाव ही है। समस्त आसक्तियाँ उसीसमय तक ही जीवित रहती है, जिस समय तक प्रीति का प्रादुर्भाव नहीं होता।

ऐसी कोई संकीर्णता नहीं है, जिसके मूल में किसी-न-किसी प्रकार की आसक्ति न हो; कारण, कि आसक्ति मानव को असीम से विमुख कर सीमा में, चेतना से विमुख कर जड़ता में और स्वाधीनता से विमुख कर पराधीनता में आबद्ध करती है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग कामना-पूर्ति में करने से ही आसक्ति उत्पन्न होती है। कामनाओं का उद्गम एक-मात्र निज-विवेक का अनादर ही है। जब मानव जाने हुए से प्रभावित नहीं होता, तब किये हुए में आबद्ध होता है, जिसके होते ही देहाभिमान पोषित होता है और फिर भिन्न-भिन्न प्रकार की परिच्छिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो भेद को पोषित करती है। परिच्छिन्नताओं में आबद्ध मानव ही अशान्ति को जन्म देता है। व्यक्तिगत भिन्नता यद्यपि सृष्टि की शोभा है, परन्तु उसके आधार पर मानव अनेकों भेद स्वीकार कर लेता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि प्रीति की एकता सुरक्षित नहीं रहती और फिर परस्पर वह कर बैठते हैं, जो नहीं करना चाहिए। न करने वाली बातों को करने पर ही, मानव-समाज कर्तव्य से विमुख होता है। यदि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में परिवार, समाज तथा विश्व में शान्ति स्थापित करनी है, तो प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब, वाद के लोगों को सर्वांश में दृढ़तापूर्वक उन सभी कृतियों का त्याग करना होगा, जो नहीं करनी चाहिए। जब मानव किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर वह कर बैठता है, जिसे वह स्वयं जानता है कि नहीं करना चाहिए, तब न तो कर्तव्य की स्मृति ही रहती है और न मानव कर्तव्य-निष्ठ ही हो पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार जो अपने कर्तव्य को भूलता है, उसे ही दूसरों के कर्तव्य की चर्चा करने का रोग

उत्पन्न हो जाता है, जो पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहने देता। अशान्ति के मूल में यही प्रतीत होता है कि दूसरों के कर्तव्य पर दृष्टि रखने से अपने-अपने कर्तव्य की विस्मृति होती है और परिणाम में अशान्ति तथा संघर्ष ही पोषित होते हैं। यद्यपि दूसरों के कर्तव्य का ज्ञान भले ही ठीक हो, परन्तु जब तक कर्ता स्वयं अपने कर्तव्य से परिचित नहीं होता, तब तक वह उसका विधिवत् पालन नहीं कर पाता। कर्तव्य-परायणता दूसरों के हृदय में कर्तव्य की प्रेरणा देती है, और फिर सभी स्वतः कर्तव्यपालन में तत्पर होते हैं। अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने पर परस्पर में आन्तरिक एकता स्वतः हो जाती है। बाह्य भिन्नता आन्तरिक एकता को भंग नहीं कर पाती, अपितु एकता से जाग्रत प्रियता बाह्य भिन्नता में भी एकता का ही पाठ पढ़ाती है, जो विकास का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी प्रियता स्वभाव-सिद्ध है। परन्तु अपने से अपरिचित रहने पर वह प्रियता आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी दशा में मानव अपनी ही मान्यता, धारणा, चिन्तन, रहन-सहन, आदि को दूसरों में देखना चाहता है। जब उसे नहीं देख पाता, तब अपने में और दूसरो में भेद मान लेता है और फिर विनाशकारी प्रयोगों द्वारा बलपूर्वक दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है और यह भूल जाता है कि मानव को स्वाधीनता स्वभाव से प्रिय है। किसी की स्वाधीनता का अपहरण करना ही अपने को पराधीन करने की तैयारी है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार की है। प्रीति की भिन्नता के समान अकर्तव्य की उत्पत्ति का और दूसरा कोई कारण नहीं है। समस्त दोषों की उत्पत्ति तभी होती है, जब परस्पर प्रीति की एकता नहीं रहती। दोषों का समूल नाश तभी होता है, जब सभी के प्रति प्रियता हो। प्रियता स्वतः बुराई को उत्पन ही नहीं होने देती। तो फिर किसी बुराई के करने का प्रश्न ही नहीं रहता। प्रियता पूर्वक सुधार में भी सुरक्षा का भाव सतत रहता है। विनाश की भावना उत्पन्न ही नहीं होती है। इस दृष्टि से प्रियता के साम्राज्य में ही शान्ति तथा स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। अविचल शान्ति

अगाध प्रियता में ही निहित है, और अगाध प्रियता सर्वात्मभाव से ही जाग्रत होती है। इस कारण समस्त विश्व एक जीवन है–इस वास्तविकता को अपना लेने पर ही विश्व-शान्ति सम्भव है।

विश्व-शान्ति सुरक्षित रखने के लिए मानव-समाज ने दो मान्यताएँ स्वीकार कीं–राष्ट्रीयता तथा मजहब, अर्थात् न्याय और प्रेम के द्वारा ही शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। परन्तु जब तक मानव अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम को नहीं अपनायेगा, तब तक शान्ति को सुरक्षित रखना किसी भी प्रकार सम्भव न होगा। किसी भी परिवार में अशान्ति कब होती है? जब परिवार के सदस्य अपने-अपने सुख के लिए दूसरों के प्रति न्याय करते हैं और यह भूल जाते हैं कि न्याय तो अपने प्रति करना था। दूसरों के साथ तो प्रेम ही किया जा सकता है। प्राकृतिक नियमानुसार न्याय से निर्दोषता और प्रेम से अभिन्नता सिद्ध होती है। जब मानव अपने प्रति न्याय नहीं करता, तब उसमें किसी-न-किसी अंश में दोष उत्पन्न हो ही जाते हैं। और जब दूसरों से प्रेम नहीं करता, तब किसी-न-किसी अंश में भेद उत्पन्न हो ही जाता है। दोषों तथा भेद की उत्पत्ति होने पर पारिवारिक शान्ति भंग हो जाती है। समस्त विश्व भी एक विराट परिवार है और कुछ नहीं। यदि दूसरों के प्रति प्रेम तथा अपने प्रति न्याय नहीं किया, तो विश्व-शान्ति सम्भव नहीं है। प्रेम में त्याग और न्याय में तप स्वतः सिद्ध है। त्याग चिरशान्ति, स्वाधीनता एवं एकता से अभिन्न करता है और तप असमर्थता का अन्त करता है, अर्थात् तप से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। अतः अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम वही कर सकता है, जिसे तप और त्याग अभीष्ट हो। अब विचार यह करना है कि तप का वास्तविक स्वरूप क्या है? निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना तप है, और अहम् और मम का सर्वांश में नाश करना, त्याग है। निर्दोष-जीवन की माँग सभी को सदैव रहती है और प्रेम स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, देश राष्ट्र तथा समाज को अपने-अपने प्रति न्याय और अन्य के प्रति प्रेम का बर्ताव करना अनिवार्य

है। यही महामन्त्र है व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रगत तथा विश्वगत शान्ति को सुरक्षित रखने का। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब अपने में अपनी जानी हुई भूल न रहे और की हुई भूल को पुनः न दोहराया जाय। अपितु अपने प्रति होने वाली बुराई का उत्तर बुराई से न देकर, यथाशक्ति भलाई से दिया जाय। तब अनेक भेद होने पर भी एकता सुरक्षित रहेगी, जो शान्ति की जननी है।

उपसंहार

मानव-दर्शन मानव-मात्र का अपना दर्शन है। प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी सबसे अधिक प्रियता होती है। इस कारण जब तक मानव अपने जाने हुए का स्वयं आदर नहीं करता, तब तक वह सन्देह-रहित नहीं होता। निस्सन्देहता के बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट ही विदित होता है कि मानव-जीवन की सार्थकता के लिए सन्देह-रहित होना अनिवार्य है। देखे हुए में तथा सुने हुए में विकल्प भी हो सकता है, परन्तु जाने हुए में विकल्प नहीं होता। अतएव अपने जाने हुए के प्रभाव में ही निस्सन्देहता निहित है।

अब विचार यह करना है कि अपना देखा हुआ क्या है? सुना हुआ क्या है? और जाना हुआ क्या है? देखा हुआ वही हैं, जो इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि का विषय है और सुना हुआ वही है, जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है। और जाना हुआ, देखे हुए तथा सुने हुए से विलक्षण है; कारण, कि जानना किसी की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु ज्ञाता स्वयं ही जानता है। द्रष्टा में और ज्ञाता में एक बड़ा भेद यह है कि द्रष्टा दृष्टि के आश्रित दृश्य का अनुभव करता है, परन्तु ज्ञाता को किसी दृष्टि की अपेक्षा नहीं होती, वह स्वयं ही जानता है। परन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब द्रष्टा देखने के राग से रहित, जिज्ञासु होकर ज्ञाता से अभिन्न होता है। जो देखने में आसक्त है, उसी में दृश्य के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है; कारण, कि दृश्य स्वभाव से ही सतत परिवर्तनशील है। किन्तु मानव की माँग नित्य-जीवन की है। दृश्य के आश्रय में जब माँग की पूर्ति नहीं

होती, तब बेचारा मानव विवश होकर भोक्ता-भाव को त्याग, जिज्ञासु होती है। जिज्ञासा भोग के राग को खाकर स्वयं पूरी होती है और फिर दृष्टा ज्ञाता से अभिन्न हो जाता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि देखा हुआ, बोध नहीं है। देखना एक प्रकार का भोग है; कारण, कि देखने से दृश्य का प्रभाव अंकित होता है, जिसके होने से मानव देहाभिमान में आबद्ध होता है, जो पराधीनता का मूल है। पराधीनता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। इस दृष्टि से देहाभिमान का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र जाने हुए के प्रभाव से ही सम्भव है। इस वास्तविक माँग की पूर्ति के लिये मानव-मात्र को अपने दर्शन का अनुसरण करना अनिवार्य है।

जो देखा हुआ है, वह सुना हुआ नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सुना हुआ केवल श्रोत का विषय है। सर्वेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की द्रष्टा है। अतः सुने हुए के अर्थ में केवल उसे लेना है, जो इन्द्रिय, बुद्धि आदि से अतीत है। इस दृष्टि से देखे हुए और सुने हुए में भेद है। देखे हुए के प्रति जिज्ञासा होती है, जिसे कभी नहीं देखा, उसके प्रति आस्था हो सकती है, जिज्ञासा नहीं। जिसके प्रति जिज्ञासा होती है, उस पर विचार किया जा सकता है और जिसे केवल सुना है, उससे आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता स्वीकार की जाती है, जो प्रियता की जननी है। देखे हुए पर सन्देह होने से जब तीव्र जिज्ञासा जाग्रत होती है, तब स्वतः विचार का उदय होता है, जिसके होते ही अविचार का नाश तथा वास्तविकता से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टिसे जिज्ञासा तथा आस्था दोनों ही मानव-जीवन के स्वतन्त्र पथ हैं। वास्तविकता से अभिन्न होने पर, उसमें आस्था और प्रियता से दूरी तथा भेद मिट जाने पर, वास्तविकता का बोध स्वतः होता है। जिज्ञासा और आस्था दोनों स्वतन्त्र पथ होने पर भी परिणाम में समान अर्थ रखते हैं। अतः मानव अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार आस्था अथवा जिज्ञासा, किसी भी पथ को अपनाये, लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होती है। जिज्ञासा तथा आस्था अपना लेने पर, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, दोनों ही पथों में समान अर्थ रखता है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग

विश्वासी तथा जिज्ञासु, दोनों ही के लिए अनिवार्य है।

प्रत्येक मानव को विवेक रूपी प्रकाश तथा इन्द्रिय एवं बुद्धि-दृष्टि प्राप्त हैं। दोनों ही दृष्टियाँ एक ही प्रकाश से कार्य करती है, परन्तु दोनों का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। उपयोगिता की दृष्टि से दोनों ही दृष्टियाँ आवश्यक हैं। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव राग की उत्पत्ति में और बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव राग-रहित करने में हेतु हैं। यह क्रम कब से आरम्भ हुआ है? ऐतिहासिक दृष्टि से इसका निर्णय सम्भव नहीं है। किन्तु इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग और बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव विकास का मूल है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मानव को पराधीनता में आबद्ध रखता है, जो उसे अभीष्ट नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय-दृष्टि कर्तव्य-कर्म के लिए उपयोगी है। मंगलमय विधान से मानव को बुद्धि-दृष्टि केवल इसीलिए मिली है कि वह इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग करते हुए भी उसके प्रभाव से रहित हो जाय। मिले हुए का दुरुपयोग भारी भूल है और सदुपयोग सजगता है। भूल में ह्रास और सजगता में विकास निहित है।

दृश्य एक, द्रष्टा एक और दृष्टि दो हैं। इस कारण द्रष्टा को एक ही दृश्य के सम्बन्ध में दोनों दृष्टियों का उपयोग करना है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति में साधनरूप हो सकता है। परन्तु कब? जब प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रवृत्ति की वास्तविकता जानने के लिए की जाय। प्रवृत्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रवृत्ति की वास्तविकता से अपरिचित रहना है, जो अवनति का मूल है। नवीन राग की उत्पत्ति न हो, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बुद्धि-दृष्टि मिली है। इन्द्रिय-दृष्टि के द्वारा आसक्ति का पोषण करना और बुद्धि-दृष्टि से विवादी होना, दृष्टियों का दुरुपयोग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जब बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग करने पर मानव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित होता है, तब प्रत्येक कार्य के अन्त में इन्द्रिय-दृष्टि स्वतः मन में विलीन होती है और मन, निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम होती है, जो विकास का मूल है। पर बुद्धि के सम होने-मात्र में ही मानव की माँग पूरी नहीं हो जाती; कारण, कि निर्विकल्प स्थिति

निर्विकल्प बोध नहीं है। निर्विकल्प बोध के बिना, निःसन्देहता सुरक्षित नहीं रहती। इस कारण बुद्धि के सम होने मात्र में ही सन्तुष्ट होना भूल ही है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि के सम होने का उपाय न किया जाय। बुद्धि के सदुपयोग से ही बुद्धि सम होती है। मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व मानव-मात्र पर है।

असफलता का एक-मात्र कारण मिले हुए का दुरुपयोग, जाने हुए का अनादर तथा सुने हुए में अविचल आस्था न करना है। मिले हुए का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति तभी मानव में होती है, जब वह जाने हुए का आदर तथा सुने हुए में आस्था नहीं करता। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में असफलता केवल मानव ही की भूल से है। अब यदि कोई यह कहे कि मानव को मिले हुए के दुरुपयोग, जाने हुए के अनादर तथा सुने हुए में अनास्था करने की स्वाधीनता क्यों मिली है? यह कैसी विडम्बना है? जिस विधान से मानव को स्वाधीनता मिली है, उसका मानव को आदर करना चाहिए अथवा अनादर? गम्भीरता से विचार करें, यदि स्वाधीनता न दी जाती, तो क्या मानव की कोई महिमा होती? मानव की महिमा उसे अभीष्ट है, जिसने उसका निर्माण किया है। क्या अपने परम-सुहृद के इस विधान का अनादर करना चाहिए? क्या मानव पशु-पक्षियों की भाँति प्राकृतिक पराधीनता में आबद्ध होकर अपनी माँग की पूर्ति में समर्थ होता? कदापि नहीं। मिली हुई स्वाधीनता के लिए उसे अपने रचयिता की अहैतुकी कृपा का अनुभव करना चाहिए कि उस पर आक्षेप? न जाने, उन्हें मानव इतना प्रिय क्यों है! उनकी महिमा वे ही जानें। पर स्वाधीनता का सदुपयोग न करना, अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। इस कारण मानव के लिए अपने दर्शन का आदर, अनुकरण एवं उसमें आस्था करना अनिवार्य है।

मानव-दर्शन मानव-मात्र के लिए सर्वदा हितकर है। उसका अनादर करना भारी भूल है। मानव-जीवन में विस्मृति ही एक-मात्र अनर्थ का मूल है, जिसका अन्त करना वर्तमान में ही आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव सब ओर से विमुख होकर, अपनी ओर देखे।

अपनी ओर देखने का अर्थ है कि प्रत्येक कर्तव्य-कर्म के अन्त में जब तक दूसरा कार्य आरम्भ न हो, वह श्रम-रहित अर्थात् अप्रयत्न हो जाय। अप्रयत्न होते ही स्वतः भूत की भूल का परिचय होगा। पर उसे देख, भयभीत नहीं होना है, अपितु की हुई भूल को न दोहराने का अविचल निर्णय करना है और की हुई भूल की याद अपने आप आने पर, उससे असहयोग कर, वर्तमान निर्दोषता में आस्था कर, अचिन्त हो जाना है। भूतकाल की की हुई भलाई की स्मृति भी उत्पन्न होगी। पर उसके अभिमान तथा की हुई भलाई की फलासक्ति से असंग रहना है। जब मानव बुराई दोहराता नहीं और भलाई का फल नहीं चाहता, तब गुण-दोष-रहित वास्तविक नित्य-जीवन से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपनी ओर देखना अनिवार्य है। मानव-जीवन में पर-सेवा तथा प्रिय-चिन्तन का स्थान है, किन्तु पर-चर्चा का कोई स्थान नहीं है; कारण, कि जिसकी सेवा करनी है, उसकी चर्चा, अर्थात् वह क्या करता है? इसका चिन्तन मानव को अपने कर्तव्य और प्रिय-चिन्तन से वंचित कर देता है, जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्तव्य की विस्मृति और अकर्तव्य की उत्पत्ति दूसरों के कर्तव्य पर दृष्टि रखने से ही होती है। अब यदि कोई यह कहे कि दूसरों का सुधार कैसे होगा? तो उस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसका सुधार अभीष्ट है, उसकी सेवा करनी है, उस पर शासन नहीं करना है। शासन करने से शासित प्राणी का सुधार नहीं होता, अपितु बुराई दब जाती है, मिटती नहीं है। बुराई को 'बुराई' जान लेने पर तथा बुराई-जनित सुख-लोलुपता के न रहने पर ही बुराई का नाश होता है। अपनी की हुई बुराई को जानने का अपने पर ही दायित्व है और बुराई-जनित परिणाम पर भी अपने को ही विचार करना है और बुराई-रहित जीवन की महिमा में आस्था भी अपने ही को करनी है। जो कार्य अपने द्वारा होगा, उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता। जिसे नहीं कर सकते, उसे करने का प्रयास प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग तथा अपने कर्तव्य से विमुख होना है, और कुछ नहीं। इस कारण 'पर' की सेवा करनी है, उसका शासक नहीं होना है।

अब यदि कोई यह कहे कि शासन करने की अभिरुचि तो मानव में स्वभाव से है। तो कहना होगा कि उस रुचि की पूर्ति अपने पर अपना शासन करने से हो सकती है। शासन का वास्तविक अर्थ है, भूल-जनित वेदना से व्यथित होने पर, उसे न दोहराने का दृढ़ संकल्प करना और भूल-जनित सुख-लोलुपता से रहित होना। उसी शासन से निर्दोषता सुरक्षित रहती है। किन्तु इस प्रकार का शासन अपने ही द्वारा अपने पर हो सकता है, किसी अन्य पर नहीं। दूसरों की भूल का वास्तविक परिचय सम्भव नहीं है और कितनी व्यथा होने पर सुख-लोलुपता मिट सकेगी? इसका यथेष्ट ज्ञान उसी को हो सकता है, जिसने भूल-जनित सुख का भोग किया है। अपराध से अधिक दण्ड मिलने पर क्षोभ उत्पन्न होता है, जो दण्ड मिलने पर कर्तव्य की विस्मृति में हेतु है और कम दण्ड मिलने पर प्रलोभन उत्पन्न होता है, जो अकर्तव्य के पोषण में समर्थ है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि किसी अन्य पर किसी अन्य का शासन सही अर्थ में सम्भव नहीं है। शासन का अर्थ है, न्याय। न्याय अपने प्रति अपने द्वारा ही हो सकता है। दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम का व्यवहार ही किया जा सकता है। न्याय निर्दोषता से और क्षमा तथा प्रेम निर्वैरता से अभिन्न करता है। निर्दोषता तथा निर्वैरता आ जाने पर व्यक्ति और समाज में, दो देशों में, दो वर्गों में, दो दलों में और दो मजहबों आदि में एकता होती है, जो विकास का मूल है। अपने-अपने प्रति न्याय करने की प्रणाली से ही मानव स्वाधीन हो सकता है, अर्थात् शासक और शासित का भेद जीवित नहीं रहता। अर्थात् ऐसे सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है, जिसे किसी प्रणाली के राष्ट्र की आवश्यकता नहीं रहती। राष्ट्र की आवश्यकता तभी होती है, जब मानव-समाज मानवता से रहित होता है। मानव प्राकृतिक नियमानुसार सभी के लिए उपयोगी हो सकता है। जो सभी के लिए उपयोगी है, उसे भी कोई अपने से भिन्न अपने पर शासक चाहिए! इससे बढ़कर मानव-जीवन का और कोई अपमान नहीं है। सोई हुई मानवता को जगाने तथा मानव-समाज को अपमान से रहित करने के लिए ही मानव-दर्शन अपेक्षित है। अतः प्रत्येक मानव को अपने जाने हुए का

आदर, सुने हुए में आस्था और मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

जिसकी प्रतीति है, उसका अर्थ 'मैं' नहीं है। अतः शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा उनके द्वारा जो कुछ देखने, सुनने, समझने में आता है, वह दृश्य है। उसका अर्थ 'मैं' नहीं हो सकता और जो इन्द्रिय-गोचर नहीं है, अर्थात् जो समझा-बूझा तथा देखा हुआ नहीं है, अपितु केवल सुना है, उसका अर्थ भी 'मैं' नहीं हो सकता। श्रवणेन्द्रिय द्वारा जो कुछ सुना जाता है, वह उसका विषय है। किन्तु भक्तों के द्वारा जिस प्रभु की चर्चा सुनी है, वह श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा तो उसकी महिमा सुनी है। जिसकी महिमा सुनी है, उसको जानना नहीं है। केवल उससे आस्था-पूर्वक आत्मीयता करनी है।

किसी में आस्था-पूर्वक आत्मीयता करने के लिए शरीर, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नहीं होती, अपितु अपने ही द्वारा आस्था तथा आत्मीयता की जाती है। इन्द्रिय-गोचर जो कुछ है, उसके प्रति जिज्ञासा होती है, प्रवृत्ति होती है, ममता और कामना हो सकती है, पर उसमे आस्था तथा आत्मीयता नहीं हो सकती; कारण, कि आस्था तथा आत्मीयता उसी में हो सकती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का है, जो उत्पत्ति-विनाश, देश-काल आदि की दूरी से रहित है, अर्थात् जो अविनाशी है। अविनाशी को किसी ने इन्द्रिय-गोचर नहीं किया। अतः सुना हुआ वही है, जो इन्द्रिय-जन्य नहीं है। उसकी महिमा इन्द्रिय-गोचर है। महिमा का श्रवण आस्था कराने में सहयोगी है, पर आस्था स्वयं को ही करनी है। इस दृष्टि से प्रभु की आस्था, जगत् की जिज्ञासा और पराधीनता, जड़ता आदि की व्यथा जिसमें है, वही 'मैं' है। जिज्ञासा की जागृति ममता तथा कामना से रहित कर, मानव को पराधीनता-रहित कर देती है। पराधीनता के अत्यन्त अभाव में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। पराधीनता-जनित वेदना से पीड़ित को देख, 'कोई' स्वयं विचार के रूप में अभिव्यक्त हो, पराधीनता का अन्त कर, स्वाधीनता से अभिन्न कर देता है। यह उसकी महिमा है, जिसे जानते नहीं।

जिसमें देखे, सुने, समझे की ममता और बिना जाने की आस्था है,

वही 'मैं' है। किसी प्रतीति तथा स्वीकृति का अर्थ 'मैं' नहीं हो सकता। देखे हुए की ममता तथा कामना का त्याग करने पर, देखे हुए से असंगता स्वतः होती है। और जिसकी आस्था स्वीकार की है, उसके प्रति आत्मीयता-पूर्वक प्रियता स्वतः जाग्रत होती है। असंगता तथा आत्मीयता जिसका स्वधर्म है, वही 'मैं' है। असंगता स्वाधीनता से और आत्मीयता प्रियता से अभिन्न करती है। अतः स्वाधीनता और प्रियता जिसकी माँग है, वही 'मैं' है। माँग में सत्ता उसी की होती है, जिसकी माँग है। इस दृष्टि से जो सभी का पे्रमास्पद है, जिसमें पराधीनता, जड़ता, अभाव की गन्ध भी नहीं है, 'मैं' उसी की अगाध प्रियता है।

प्रियता स्वभाव से ही प्रीतम के लिए रस रूप होती है। इस दृष्टि से प्रियता की माँग सदैव रहती है। पर प्रियता में कोई माँग नहीं रहती। उस प्रियता से अभिन्न होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

देहाभिमान रहते हुए, जो चाहते हुए भी चला जाता है, वह 'सुख' और न चाहने पर भी आ जाता है, वह 'दुःख' है। बेचारे देहाभिमानी को वह अच्छा लगता है, जो उसके न चाहने पर भी उससे अलग हो जाता है और उससे भयभीत हो जाता है, जो उसके न चाहने पर भी आ जाता है। सुख का जाना और दुःख का आना, यह वैधानिक सत्य है। इस सत्य का आदर किए बिना, सुख की दासता तथा दुःख का भय नाश नहीं होता। यह सभी को विदित है कि जब यह नियम ही है कि जो आता है, वह चला जाता है। तो इस दृष्टि से सुख और दुःख दोनों ही सदैव नहीं रह सकते। जो नहीं रह सकता, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसमें जीवन-बुद्धि नहीं कर सकते; कारण, कि उससे नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता। आये हुए सुख-दुःख के सदुपयोग में मानव सर्वदा स्वाधीन है। सुख का सदुपयोग 'उदारता' और दुःख का सदुपयोग 'विरक्ति' है। उदारता जगत् के लिए और विरक्ति अपने लिए उपयोगी है। उदारता तथा विरक्ति की पूर्णता स्वतः उसकी अनुरक्ति में परिणत हो जाती है, जिससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता है। इस दृष्टि से सुख-दुःख जो वैधानिक तथ्य है, साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, साधक

को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ होती है। इस कारण सुख और दुःख में भेद मानना, उसकी दासता तथा भय में आबद्ध होना भारी भूल है। यह सभी विचारशीलों का मत है कि भूल का अन्त करना होगा। भूल के ज्ञान में ही भूल के नाश की सामर्थ्य निहित है, अर्थात् भूल को 'भूल' जान लेने पर वह स्वतः मिट जाती है। नाश उसी का होता है, जिसकी प्रतीति हो, पर अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित न होना ही, भूल को उत्पन्न करना है। यद्यपि उत्पत्ति का विनाश बिना ही प्रयास के स्वतः होता है, परन्तु उसकी पुनरावृत्ति नहीं करना है। इस दृष्टि से भूल का अन्त करना है, उसे दोहराना नहीं है।

सर्व प्रथम भूल–प्रतीति तथा स्वीकृति में अहम्-बुद्धि है। पर यह ज्ञात नहीं है कि इस भूल का आरम्भ कब से हुआ? किन्तु यह भूल वर्तमान में मिट सकती है। प्रतीति के तादात्म्य से काम का जन्म होता है, जिसके होते ही मानव पराधीनता, जड़ता, परिच्छिन्नता, अभाव आदि में आबद्ध होता है, जो विनाश का मूल है। परन्तु कुछ स्वीकृतियाँ इस प्रकार की हैं, जो व्यक्तियों, वर्गों, देशों, मजहबों एवं दलों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती हैं। वे स्वीकृतियाँ कर्तव्य की प्रतीक हैं और कुछ नहीं। कर्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, अर्थात् दूसरों के अधिकार की रक्षा करना है और अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित करना है। दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करने पर कर्ता कर्तव्य के अन्त में स्वतः उसी की प्रियता हो जाता है, जिसमें उसने आस्था की है। इस दृष्टि से किसी भी स्वीकृति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्वीकृति को ही 'मैं' मानना अथवा उसके अस्तित्व को स्वीकार करना मूल भूल है।

मानव-जीवन की मौलिक समस्या यही है कि जीवन में असफलता का दर्शन क्यों होता है? जबकि मानव का प्राकट्य ही सफलता के लिए हुआ है। असफलता की वेदना तो मानवेतर योनियों में न जाने कब से प्राणी भोग रहा है। जिस जीवन का निर्माण सभी के लिए उपयोगी होने में है, क्या उस जीवन में भी असफलता रह सकती है? कदापि नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि असफलता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है; कारण, कि जो चाहते हैं, सो

होता नहीं; जो होता है, सो भाता नहीं; और जो भाता है, सो रहता नहीं। यह वर्तमान दशा है कि वास्तविक जीवन? वर्तमान वस्तुस्थिति के आधार पर मानव-जीवन का अन्तिम निर्णय करना अधूरा ज्ञान है और कुछ नहीं। अल्प-ज्ञान के आधार पर विकल्प-रहित निर्णय देना भूल है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। यह अनुभूति, कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होती, क्या कामना के त्याग का पाठ नहीं पढ़ाती है? अर्थात् पढ़ाती है। निष्कामता आने पर, क्या जो होता है वह, और जो नहीं रहता है वह, कुछ अर्थ रखता है? कुछ नहीं। इन दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस निष्कामता के लिए मानव-जीवन मिला है, हम उसी को भूल जाते हैं और मानवेतर योनियों में जो कामनापूर्ति-आपूर्ति का सुख दुःख भोगते हैं, उसी सुख-दुःख का भोग मानव-जीवन में भी करना चाहते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि मानव को तो वह करना है, जिसे कोई और नहीं कर सकता। अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाने पर ही मानव अपने में असफलता पाता है। जिस पराधीनता, असमर्थता और अभाव को लेकर मानव आया है, क्या उसी को लेकर जाना है? कदापि नहीं। मानव स्वाधीनता, पूर्णता, चिन्मयता से अभिन्न हो सकता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपने को 'साधक' स्वीकार करें, अर्थात् उसका अपना कोई अपने लक्ष्य तक पहुँचने का निर्णीत पथ हो। यह सभी को विदित है कि मानव में जानने, मानने तथा करने की सामर्थ्य जन्मजात है। ऐसा कोई नहीं है, जो कुछ न जाने, कुछ न माने और कुछ न करे। करने की, जानने की और मानने की रुचि तथा सामर्थ्य सभी में है। करने की रुचि की पूर्णता कर्तव्य-पथ में, जानने की रुचि की पूर्णता विचार-पथ में एवं मानने की रुचि की पूर्णता आस्था के पथ में निहित है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व हितकारी सद्भावना से राग-निवृत्ति के लिए करना ही कर्तव्य-पथ है। विवेक पूर्वक सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से असंग होना ही विचार-पथ है। एवं बिना जाने, प्रभु की आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति विश्वास-पथ है। कर्तव्य-परायणता तथा असंगता एवं शरणागति पथ हैं।

मानव अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के अनुसार किसी भी पथ का पथिक क्यों न हो, लक्ष्य की प्राप्ति अनिवार्य है। परन्तु यह सजगता सभी साधकों के लिए अनिवार्य है कि पथ को ही लक्ष्य न मान बैठें। साधन साध्य नहीं है, पथ इष्ट-धाम नहीं है, किन्तु साधक की अभिन्नता साधन से ही होती है, अर्थात् प्रत्येक साधक साधन होकर, साध्यसे अभिन्न होता है, अर्थात् साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व कुछ नहीं रहता। जब तक साधन और जीवन में एकता नहीं होती, तब तक साधक अपने-अपने साधन के गीत गाता है और दूसरों के साधन की निन्दा करता है। यह साधक का प्रमाद है और कुछ नहीं। अपने पथ का अनुसरण करने पर, दूसरों के पथ में स्वतः आदर का भाव उत्पन्न होता है, जो पारस्परिक संघर्ष का अन्त कर, विश्वशान्ति में समर्थ है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक मानव मानव-दर्शन का आदर-पूर्वक अनुसरण करे। उसके लिए यह अनिवार्य है कि प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्ति-पूर्वक सब ओर से विमुख होकर, अपनी ओर देखे। ऐसा करने से प्रत्येक मानव बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने पथ का निर्णय कर, लक्ष्य की ओर चलने में अग्रसर होगा। अपने पथ का अनुसरण ही पथ की महिमा है। पथ का वर्णन उसकी महिमा नहीं है, अपितु पथ का अपमान है; कारण, कि सफलता से पूर्व पथ की महिमा का वर्णन, क्या कुछ अर्थ रखता है? कुछ नहीं। इतना ही नहीं, मजहबों, इज़्मों एवं दलों में संघर्ष का कारण यही है कि मानव जिसकी महिमा गाता है, अपने को उसी से अलग पाता है। 'मानव-दर्शन' प्राणी-मात्र की हित-कामना रखते हुए मानव-मात्र से नम्र निवेदन करता है कि मानव अपने दर्शन का अनुसरण कर, अपनी आँखों देखे और अपने पैरो चले। सफलता अनिवार्य है।

ॐ आनन्द। ॐ आनन्द। ॐ आनन्द॥

साधन-निधि

'साधन-निधि' साध्य का स्वभाव और साधंक का जीवन है। इसमें मानव-जीवन के दर्शन और उस पर आधारित अध्यात्म-विज्ञान, आस्तिक-विज्ञान एवं कर्त्तव्य-विज्ञान के विवेचन | का सांर लेकर यह दिखाया गया है कि मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ निधि क्या है, जिससे उसे सम्पन्न होना है। साधक में यह प्रश्न उठता है कि मुझे क्या करना है। उसी प्रश्न का उत्तर है 'साधन-निधि', जिसमें साधक-मात्र के . लिए अनिवार्य बातों को एक जगह पर सिलसिलेवार ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है। साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक उन्हें ग्रहण करके साधन-निधि से सम्पन्न हो सकता है।

मानव-मात्र जन्मजात साधक है। अतः उसे साधन-निधि से सम्पन्न होना अनिवार्य है। मानव उसे नहीं कहते, जिसकी कोई माँग न हो और जिस पर कोई दायित्व न हो। मिले हुए शरीर का नाम ''मानव'' रखना भूल है, कारण कि शरीर कर्म-सामग्री है, और कुछ नहीं।

'मैं हूँ', यह स्वीकृति मानव-मात्र की मूल स्वीकृति है। अपने को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। 'मैं क्या हूँ', इस सम्बन्ध में अनेक मत भले ही हों, पर 'मैं हूँ और मुझ में ही माँग है', इस में दो मत नहीं हैं और यह मानव-मात्र को स्वीकार है।

यह नियम है कि जिसमें माँग होती है, उस पर कुछ-न-कुछ दायित्व भी होता है। इस दृष्टि से जिसमें माँग है, उसी पर दायित्व भी है। माँग की पूर्ति वैधानिक तथ्य है, अर्थात् अनिवार्य है। उससे निराश होना तथा हार मान बैठना, प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य मानव-मात्र में विद्यमान है। दायित्व पूरा करना और माँग की पूर्ति होना युगपत् हैं। अतः मानव ''साधक'' है, वह अपने साध्य से अभिन्न हो सकता है, वह निर्विवाद सत्य है।

साधक पर दायित्व क्या है? इस समन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है, कि उसे सत्संग के द्वारा साधन-निधि से सम्पन्न होना है। 'साधन-निधि' साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। अतः प्रत्येक मानव साधक होने के नाते, साधन-निधि से सम्पन्न हो कर, सभी के लिए उपयोग सिद्ध होता है। यही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की बड़ी महिमा है।

यह महिमा उसे अपने रचयिता से मिली है। अतः उस महिमावान की महिमा का कोई वारापार नहीं है, जिसने मानव का निर्माण किया।

मानव अपने को जब तक साधक स्वीकार नहीं करता, तभी तक अनुपयोगी रहता है। इस दृष्टि से मानव-मात्र अपने को साधक स्वीकार करें, यह अनिवार्य है। स्वीकृति के अनुरूप ही प्रवृत्ति सहज तथा स्वाभाविक होती है। 'साधक' की स्वीकृति में असाधन की निवृत्ति तो है ही। अतः असाधन-रहित साधन ही वास्तव में साधन-निधि है।

असाधन के साथ-साथ भासित होने वाला साधन 'साधन' नहीं है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी मानव सर्वांश में साधन से रहित तथा असाधन से युक्त हो ही नहीं सकता। किन्तु असाधन रहित 'साधन-निधि' से सम्पन्न प्रत्येक मानव हो सकता है। अतएव 'साधन-निधि' से सम्पन्न होना मानव-मात्र के लिए वर्तमान का प्रश्न है, और वह हल हो सकता है।

`अपने लिए उपयोगी होना

मानव-जीवन यद्यपि सभी के लिए उपयोगी है, परन्तु जब तक मानव अपने लिए उपयोगी नहीं होता, तब तक जगत् और जगत्पति के लिए भी उपयोगी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सर्व प्रथम इस बात पर विचार करना है कि हम अपने लिए कब उपयोगी हो सकते हैं।

भूल-रहित होना

जब तक मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपनी मानता है तथा अपने लिए मानता है, तब तक भूल-रहित नहीं हो सकता। भूल के रहते हुए तो मानव अनुपयोगी ही रहता है। अतः भूल-रहित होना अनिवार्य है।

यह किसी का अनुभव नहीं है कि जिसे जो मिला है, उस पर उसका स्वतन्त्र अधिकार हो जाय; कारण, कि मिला हुआ कहते ही उसको हैं, जो उसका अपना नहीं है।

जो अपना नहीं है, वह अपने लिए हो ही नहीं सकता। उसका उपयोग दाता के नाते, प्रतीत होने वाले जगत् के प्रति ही हो सकता है। दाता कौन है? इसमें अनेक मत भले ही हों, पर मिला हुआ अपना नहीं है, इसमें दो मत नहीं है। इतना ही नहीं, यदि मिला हुआ अपना होता, तो उस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार होता, और यदि अपने लिए होता, तो फिर कोई और माँग शेष न रहती। पर ये दोनो ही बातें अनुभव से सिद्ध हैं कि जो मिला हुआ है, उसके रहते हुए भी अभाव शेष है और उसे जब तक रखना चाहें और जैसा रखना चाहें, रखने की स्वाधीनता भी नहीं है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि मिला हुआ अपना नहीं है, और

अपने लिए नहीं है। इस अनुभव-सिद्ध तथ्य को अपनाने का अर्थ निर्मम होने की प्रेरणा देता है। निर्मम होने से मिले हुए के सदुपयोग में कोई बाधा नहीं होती, अपितु सदुपयोग सहज स्वाभाविक हो जाता है, जिसके होते ही सुन्दर समाज का निर्माण अपने-आप होने लगता है।

मिले हुए दुरुपयोग से ही समाज में संघर्ष होने लगता है। मिले हुए का दुरुपयोग मानव तभी करता है, जब वह उसे अपना और अपने लिए मानता है। यह मान्यता सर्वथा भूल-जनित है। भूल-रहित होना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है; कारण, कि भूल से ही मानव अनुपयोगी हुआ है, और भूल-रहित होने से वह स्वतः सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

किसी भी भूल को अपना लेने पर अनेक भूलें उत्पन्न होती है, अथवा यों कहो कि एक ही भूल अनेक रूप धारण कर मानव को अनुपयोगी कर देती है।

भूल प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु मानव अपने अनुभव के अनादर से ही भूल को उत्पन्न करता है। इस कारण भूल-रहित होने का दायित्व मानव ही पर है। यद्यपि मानव के रचयिता ने भूल-रहित होने की सामर्थ्य देकर ही उसका निर्माण किया, फिर भी मानव अपनी ओर नहीं देखता, इस कारण अपनी उत्पन्न हुई भूल में आप आबद्ध हो जाता है।

निर्मम होना

निर्ममता, जो अनुभव-सिद्ध सत्य है, अकर्तव्य की नाशक और कर्तव्य की जननी है। कर्तव्य-परायणता कर्ता को राग-रहित कर देती है और उससे सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होता है। इस दृष्टि से निर्मम होकर मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि निर्मम हुए बिना, मिले हुए का सदुपयोग सम्भव ही नहीं है।

निर्मम होने की स्वाधीनता स्वयं प्राप्त है। निर्मम होने के लिए किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं होती, उसे मानव स्वयं स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। 'निर्मम' शब्द के उच्चारण में भले ही श्रम तथा काल अपेक्षित हो, पर निर्मम होने में किसी प्रकार के श्रम तथा काल की अपेक्षा नहीं है। अतः मानव

स्वयं वर्तमान में ही निर्मम हो सकता है, कारण, कि निर्ममता मानव के निजी-ज्ञान के प्रभाव का परिणाम है। जिसकी उपलब्धि निजी-ज्ञान से सिद्ध होती है, उसके लिए कोई अभ्यास अपेक्षित नहीं होता। यह ज्ञान की महिमा है।

प्रत्येक मानव को निजी-ज्ञान से यह सिद्ध है कि मिला हुआ शरीर उसका अपना नहीं है और न वह अपने लिए ही है। इस ज्ञान का प्रभाव साधक को अपनाना है।

ममता करने मात्र से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती, अपितु अनेक विकारों की ही उत्पत्ति होती है। विकार-युक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से ममता की गन्ध भी साधक के जीवन में नहीं रहनी चाहिए।

अब विचार करना है कि ममता प्राकृतिक दोष है, अथवा अपनी भूल से उत्पन्न होती है? तो यही विदित होता है कि ममता मिले हुए ज्ञान के अनादर से उत्पन्न होती है, प्राकृतिक दोष नहीं है।

जिसने साधक को ज्ञान दिया है, उसने इतनी आत्मीयता से दिया है कि वह ज्ञान साधक को अपना ही मालूम होता है। यद्यपि साधक को जिससे ज्ञान मिला है, उसी से शरीर आदि वस्तुएँ भी मिली हैं, किन्तु वे साधक के अपने लिए नहीं हैं। मिला हुआ ज्ञान ही अपने लिए है।

जब साधक भूल से ज्ञान को अपने लिए न मानकर, मिली हुई योग्यता, वस्तु एवं सामर्थ्य को अपने लिए मानता है, तब ममता उत्पन्न होती है। इस कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक साधक निजी-ज्ञान के द्वारा वर्तमान में ही निर्मम हो जाय। निर्मम होते ही स्वतः निष्काम होने की सामर्थ्य आ जाती है। जब मिला हुआ शरीर ही अपना नहीं है, तब किसी भी वस्तु, अवस्था और परिस्थिति की आवश्यकता अपने लिए नहीं रहती।

कामना साधक को किसी-न-किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में बाँध देती है। प्राकृतिक नियमानुसार सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में सतत परिवर्तन हो रहा है- यह भी निजी-ज्ञान से ही सिद्ध है। सतत परिवर्तन में स्थिति स्वीकार करना भूल है। इस भूल से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। किन्तु वैधानिक तथ्य यह है कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं। अतः

कामना-पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर ममता के रहते हुए साधक की कामना की पूर्ति-आपूर्ति के द्वन्द्व से रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से निर्ममता निजी-विकास की भूमि है, जिसे प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक अपना सकता है।

कुछ साधकों को यह भय होता है कि ममता के बिना शरीर, परिवार, समाज आदि की सेवा, कैसे हो सकती है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ममता तो साधक को सेवा से विमुख ही करती है। शरीर की ममता परिवार के हित से, परिवार की ममता समाज के हित से, समाज की ममता देश के हित से और देश की ममता विदेश के हित से विमुख कर देती है। सेवा उसे नहीं कहते, जो सभी के लिए हितकर न हो। अतएव यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि ममता ने तो साधक को सेवा से विमुख कर स्वार्थ में, असीम से सीमित में, नित्य से अनित्य में तथा चेतना से जड़ता में ही आबद्ध किया है। अतः यह स्वीकार करना कि ममता के बिना सेवा नहीं हो सकती, भारी भूल है।

जिस ममता ने अपना ही विकास रोक दिया, भला वह दूसरों के लिए हितकर कैसे हो सकती है? अर्थात् उससे दूसरों का विकास हो ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, ममता जिसमें उत्पन्न होती है और जिसके प्रति होती है, दोनों ही के लिए अहितकर है। अतएव ममता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

निर्मम होने की स्वाधीनता का उपयोग न करना और हार मानकर बैठ जाना सभी साधकों के लिए सर्वथा त्याज्य है। यह वैधानिक तथ्य है कि मिली हुई स्वाधीनता का उपयोग अपने ही को करना होगा।

यह अवश्य है कि कभी-कभी साधक प्रमादवश जो कर सकता है, उसी को करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। ऐसी दशा में निर्मम होने की उत्कट लालसा उसे प्रार्थी बना देती है। वैधानिक प्रार्थना की पूर्ति मंगलमय विधान से अवश्य पूरी होती है।

अब रही केवल निर्मम होने की तीव्र आवश्यकता अनुभव करना। इतना ही दायित्व यदि साधक पूरा कर डाले, तो निर्मम होना सहज तथा

स्वाभाविक हो जाएगा; कारण, कि जब साधक वास्तविकता की ओर अग्रसर होता है, तब समस्त सृष्टि और उसके आश्रय तथा प्रकाशक उसे हर्षपूर्वक अपनाते हैं। इस दृष्टि से साधक के जीवन में हार मान लेने अथवा निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

अल्प-से-अल्प आयु तथा सामर्थ्य क्यों न रह जाय, वास्तविकता की उत्कट माँग की जागृति में सफलता अनिवार्य है। यह साधक के जीवन की महिमा है, जो उसके रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रदान की है। मिली हुई महिमा का आदर करो और उस महा महिमावान को अपना स्वीकार करो, यही सफलता की कुंजी है।

कामना-रहित होना

ममता का सर्वांश में अन्त होते ही कामनाओं का नाश सुलभ हो जाता है; कारण, कि मिले हुए शरीर और देखे हुए जगत् में जातीय एकता है। जिस धातु से शरीर निर्मित है, उसी धातु से जगत् भी निर्मित है। जब मिला हुआ ही अपना नहीं है, तो फिर प्रतीत होने वाले जगत् की कामनाओं का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहता; कारण, कि मिले हुए में अहम्-बुद्धि और मम-बुद्धि स्वीकार करने से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। किन्तु सभी कामनाओं की पूर्ति नहीं होती। यद्यपि प्रत्येक कामना-पूर्ति के सुख का भोग नवीन कामनाओं को जन्म देता है और अन्त में कामना-आपूर्ति का दुःख ही शेष रहता है। इस दृष्टि से कामनाओं की पूर्ति और आपूर्ति दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति का सुख मानव को जड़ता में आबद्ध करता है और कामना-आपूर्ति के दुःख से सजगता आती है। यह कैसा अनुपम मंगलकारी विधान है कि जो साधक जड़ता में आबद्ध रहने ही नहीं देता! कामना-पूर्ति काल में मानव पराधीन होकर भी सुख का अनुभव करता है, यह कैसा प्रमाद है! इस प्रमाद का अन्त करने के लिए ही दुःख का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु दुःख के प्रभाव को न अपनाकर, कामना-पूर्ति जनित पराधीनता को बनाए रखने की अभिरुचि, क्या अपने ही द्वारा अपना विनाश करना नहीं है? अवश्य है।

वे शुभ कामनाएँ, जो मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य के

द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा में हेतु हैं, उनकी पूर्ति वर्तमान कर्तव्य-कर्म द्वारा हो सकती है। किन्तु उसके बदले में अपने लिए कुछ भी चाहिए, तो साधक निष्काम नहीं हो सकता। निष्काम कर्ता से ही कर्तव्य-पालन होता है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में कामनाओं का कोई स्थान ही नहीं है।

कर्तव्य-कर्म द्वारा प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग होता है। निष्काम होते ही परिस्थिति के सदुपयोग में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। कामना-युक्त प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता और न अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन से वह मुक्त होता है। इतना ही नहीं, परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होकर वह दीनता और अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। यह बड़ी ही शोचनीय दशा है, जो एकमात्र निष्काम होने से ही मिट सकती है। निष्कामता को अपनाते ही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने की तथा अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन से रहित होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इतना ही नहीं, सभी परिस्थितियों, अर्थात् सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। इस कारण निष्कामता को अपनाना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

भूल से उत्पन्न हुई कामनाओं का अन्त भूल-रहित होने से ही सम्भव है, किसी अभ्यास से कामनाओं का नाश नहीं होता। अभ्यास के लिए तो देह का आश्रय लेना अनिवार्य होता है और देह के लिए आश्रय-मात्र से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि तप आदि से कामनाओं का नाश नहीं होता। तप से शक्ति आदि की उपलब्धि होती है, किन्तु निष्कामता एकमात्र सत्संग से ही प्राप्त होती है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिए सत्संग के प्रकाश में अपने को सदैव रखना अत्यन्त आवश्यक है।

सत्संग कोई अभ्यास अथवा तप नहीं है, अपितु साधक का 'स्व-धर्म' है। अर्थात् पराश्रय के बिना अपने ही द्वारा जिसकी सिद्धि होती है, वही 'सत्संग' है। अब विचार यह करना है कि मिले हुए शरीर से अहम्-बुद्धि तथा मम-बुद्धि का त्याग,

अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति, अथवा मिले हुए का दुरुपयोग न करना, क्या प्रत्येक साधक अपने द्वारा स्वयं नहीं कर सकता?

इस दृष्टि से निष्काम होने के लिए साधक को सत्संगी होना परम आवश्यक है। सत्संग की तीव्र माँग प्रत्येक साधक के जीवन में रहनी चाहिए। प्राकृतिक नियमानुसार एक काल में एक ही माँग रहती है। सत्संग की माँग साधक को भूल-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करती है।

निष्कामता एक वास्तविकता है। इस दृष्टि से सत्संग से निष्कामता और निष्कामता से सत्संग स्वतः सिद्ध होता है। कामना असत् का संग उत्पन्न करती है। असत् के संग से ही समस्त विकारों तथा अभावों का जन्म होता है। इस कारण कामनाओं का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

कामना-मात्र से किसी इच्छित वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। इस दृष्टि से भी साधक के जीवन में कामना का कोई स्थान नहीं है। कामना व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध कर, वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग में बाधक होती है। व्यर्थ-चिन्तन से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, जिसके होने से कर्तव्य-कर्म पूरा नहीं हो पाता। कर्तव्य की आपूर्ति अकर्तव्य की जननी है। इस दृष्टि से कामनाओं से साधक का ह्रास ही होता है।

कामनाओं के त्याग में कोई परिश्रम नहीं है और न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा ही होती है। इस कारण कामनाओं का त्याग प्रत्येक साधक के लिए सम्भव है। कामनापूर्ति में पराधीनता है, त्याग में नहीं। स्वाधीनतापूर्वक साधक स्वाधीनता के साम्राज्य में सदा के लिए प्रवेश कर सकता है, किन्तु कामनाओं को रखते हुए पराधीनता कभी नष्ट नहीं होती।

जब साधक को पराधीनता असह्य हो जाती है, तब उसे निष्कामता अपनाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। पराधीनता, सहन करते रहने से ही कामनाएँ पोषित होती है। पराधीनता मानव को चिन्मय-जीवन से विमुख कर जड़ता में आबद्ध करती है। इस दृष्टि से पराधीनता सहन करना भारी भूल है।

स्वाधीनतापूर्वक साधक मृत्यु के भय से रहित हो, अमरत्व से

अभिन्न हो सकता है। इतना ही नहीं, स्वाधीन होकर ही साधक उदारता तथा प्रेम से अभिन्न होता है। पराधीन प्राणी के जीवन में न तो उदारता ही आती है, और न प्रेम ही की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण पराधीनता का नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निष्कामता से ही साध्य है।

निष्कामता में ऐश्वर्य है; कारण कि निष्कामता साधक को विश्व-विजयी बना देती है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उस पर संसार विजयी नहीं हो सकता, अर्थात् कामना-रहित होते ही मानव का मूल्य समस्त विश्व से अधिक हो जाता है और वह विश्व के आश्रय तथा प्रकाशक के प्रेम का अधिकारी बन जाता है। कामनायुक्त प्राणी मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग नहीं कर पाता। इस कारण वह परिवार, समाज, संसार के लिए अनुपयोगी हो जाता है।

यह सभी को विदित है कि निष्कामता के बिना स्वाधीनता नहीं आती और स्वाधीनता के बिना मानव अपने लिए अनुपयोगी होता है। भला, जिसे कुछ भी चाहिए, वह किसी का प्रेमी कैसे हो सकता है? प्रेम-रहित जीवन प्रभु के लिए उपयोगी नहीं होता। अतएव कामना मानव को सभी के लिए अनुपयोगी कर देती है।

यह सभी के लिए मान्य है कि कामना की पूर्ति में राग और आपूर्ति में क्रोध की उत्पत्ति होती है। राग मानव को जड़ता में आबद्ध करता है और क्रोध से कर्तव्य की, निज-स्वरूप की तथा प्रभु की विस्मृति होती है? अर्थात् वह वास्तविकता से अपरिचित हो जाता है, जो विनाश का मूल है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिए शीघ्रातिशीघ्र कामनाओं का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह कैसा आश्चर्य है कि जिसे मानव स्वयं कर सकता है, उसे न करे! क्या यह अपने ही द्वारा अपना विनाश करना नहीं है? अपने विनाश का कारण दूसरों को मानना और अपने द्वारा स्वयं निष्काम न होना तथा अपने और दूसरों के बीच वैर-भाव उत्पन्न करना, क्या साधक की अपनी ही भूल नहीं है? अवश्य है।

निष्काम होते ही निर्वैरता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः अभिव्यक्त होते हैं। योग, बोध और

प्रेम से विमुख करने में कामना ही हेतु है। निष्कामता से चित्त स्वतः शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ होता है, जिसके होते ही कर्तव्यपरायणता तथा योग की प्राप्ति स्वतः होती है। निष्कामता से उदित शान्ति में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। असमर्थता ही मानव को पराधीनता में आबद्ध करती है, और आवश्यक सामर्थ्य की उपलब्धि से ही पराधीनता का नाश होता है। इस कारण निष्कामता से प्राप्त शान्ति का सम्पादन प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

अधिकार-लिप्सा से रहित होना

निष्काम होते ही अपने अधिकार के त्याग का बल साधक में स्वतः आ जाता है। अथवा यों कहो कि अधिकार-लोलुपता में मानव को कामना ही आबद्ध रखती है। मानव की स्वाधीनता दूसरों के अधिकार की रक्षा ही में है, अपने अधिकार को पाने में मानव स्वाधीन नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जो दूसरों के अधिकार की रक्षा करता है, उसके प्रति जगत् की उदारता स्वतः होती है। इस दृष्टि से अधिकार देने में ही अधिकार है। अधिकार-लोलुपता तो मानव को राग में आबद्ध तथा क्रोध से आक्रान्त करती है, जो विनाश का मूल है।

जब मिले हुए शरीर पर ही अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, तो फिर उसी की जाति का जो संसार है, उस पर अधिकार मानना भूल के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? हाँ, अपने पर शरीर और संसार का यह अधिकार अवश्य है कि उसके प्रति निर्मम तथा निष्काम होकर उसके हित-चिन्तक बने रहें, अर्थात् आलस्य, अकर्मण्यता, असंयम आदि से शरीर का अहित न करें और शरीर के द्वारा समाज का अहित न करें। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव शरीर आदि वस्तुओं को केवल साधन-सामग्री के रूप में ही स्वीकार करें।

सर्व-हितकारी प्रवृत्ति अधिकार-त्याग से ही उदित होती है और सहज निवृत्ति की उपलब्धि भी अधिकार-लोलुपता के नाश से ही सिद्ध होती है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति एक ही जीवन के दो पहलू हैं। उदारता और असंगता अधिकार-त्याग की ही देन है।

उदारता समस्त विश्व के साथ एकता और असंगता देहातीत जीवन से अभिन्नता प्रदान करने में

समर्थ है। इस दृष्टि से अधिकार-त्याग की बड़ी ही महिमा है। अधिकार देकर भी अधिकार पाने की अभिरुचि देह से तादात्म्य उत्पन्न कर देती है, जो समस्त दोषों की भूमि है। इस कारण साधक को शरीर, परिवार, समाज आदि से अपना अधिकार हटा लेना चाहिए।

अधिकार हटाने का अर्थ शरीर आदि की उपेक्षा नहीं है, अपितु सभी के प्रति सद्भावना रखते हुए अपने को अधिकार के भार से मुक्त कर, सभी को अभय करना है। अधिकार के भार से दबा हुआ समाज भयभीत होकर स्वयं अधिकार-लोलुपता में आबद्ध हो जाता है। ज्यों-ज्यों अधिकार लोलुपता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कर्तव्य की विस्मृति होती जाती है और अनेक पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित करना अनिवार्य है।

कर्तव्यपरायणता, अर्थात् दूसरों के अधिकार की रक्षा से दीर्घकाल के राग की निवृत्ति स्वतः हो जाती है और अपने अधिकार का त्याग करने से नवीन राग उत्पन्न नहीं होता। अतः इस प्रकार साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इस दृष्टि से दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए भी अपने अधिकार का त्याग अनिवार्य है।

अधिकार के अपहरण होने पर क्रोध से आक्रान्त मानव में विस्मृति उत्पन्न होती है, जिसके होते ही साधक वास्तविकता से विमुख होकर अकर्तव्य, देहाभिमान एवं अनेक प्रकार की आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है। इस कारण अधिकार के अपहृत होने पर क्षोभ तथा क्रोध से आक्रान्त नहीं होना चाहिए।

यह तभी सम्भव होगा, जब सभी से अपना अधिकार उठाकर, सभी के अधिकार की रक्षा करते हुए, वह लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहे।

अपना लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी उपलब्धि अपने ही द्वारा अपने को हो सके। जब मानव के रचयिता ने उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति की स्वाधीनता दी है, तो फिर उसे शरीर आदि किसी पर भी अपना अधिकार मानना अपेक्षित नहीं है।

अपना अधिकार न मानने पर भी साधक के प्रति समस्त विश्व की उदारता सतत रहती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक अपने प्रति दूसरों की उदारता बनाये रखने के लिए अपने अधिकार का त्याग करे।

अधिकार का त्याग किये बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में साधक का प्रवेश ही नहीं होता और स्वाधीनता के बिना जगत् के प्रति उदारता तथा जगत्-पति के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही नहीं, जो वास्तविक जीवन है।

यह सभी को मान्य होगा कि उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से अधिकार-लोलुपता का मानव के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, बलपूर्वक अथवा माँगने से अधिकार मिलता भी नहीं है। क्या कोई सबल-से-सबल भी अपने प्रति बलपूर्वक प्यार करा सकता है? कदापि नहीं। सबल निर्बल के शरीरादि वस्तुओं का नाश कर सकता है, किन्तु अपने प्रति श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता बलपूर्वक नहीं प्राप्त कर सकता।

अधिकार देने की वस्तु है, माँगने की नहीं। यदि मानव-समाज अधिकार देने की सद्भावना को अपना ले, तो सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाएँ। अधिकार देने की भावना तभी विभु हो सकती है, जब साधक अपने अधिकार को त्याग, दूसरों के अधिकार की रक्षा करता रहे। साधक का जीवन साधननिष्ठ होने पर स्वतः विभु हो जाता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने लिए उपयोगी हो जाय। पराधीनता के रहते हुए अपने लिए उपयोगी होना सम्भव नहीं है। स्वाधीनता एकमात्र अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार के देने ही में है।

स्वाधीनता वर्तमान की माँग है और उसे साधक स्वाधीनतापूर्वक ही प्राप्त कर सकता है। ज्यों-ज्यों स्वाधीनता की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों पराधीनता के नाश करने की सामर्थ्य साधक को मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। पराधीनता सहन करने के समान मानव की और कोई भारी भूल नहीं है।

लेशमात्र की पराधीनता भी मानव को दीन, हीन तथा मलिन बना देती है, यह अनुभव सिद्ध तथ्य है। अतः स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए एवं मिली हुई स्वाधीनता सुरक्षित रखने के लिए साधक को सजगतापूर्वक देहादि समस्त दृश्य से अपना अधिकार हटा लेना चाहिए।

दृश्य से अधिकार हटाते ही साधक की प्रगति उस ओर स्वतः हो जाती है, जो समस्त दृश्य का आश्रय तथा प्रकाशक है। जगत् के उद्गम की खोज भी वही कर सकता है, जो सब ओर से विमुख होकर, अधिकार-लालसा से रहित, अपने को अपनी माँग से अभिन्न करने में समर्थ हो जाए। जब साधक अपने में अपनी माँग से भिन्न कुछ नहीं पाता, तब करुणामय की करुणा माँग को पूरा कर देती है, यह निर्विवाद सत्य है।

यद्यपि मानवमात्र में उसकी माँग बीज के रूप से विद्यमान है, परन्तु भूल से उत्पन्न हुई अधिकार-लोलुपता ने उसे पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं होने दिया। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि समस्त विश्व मिलकर भी साधक की वास्तविक माँग को पूरा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से साधक का मूल्य सृष्टि से अधिक है। ऐसे मूल्यवान जीवन को पाकर अधिकार-लोलुपता के कारण मानव अपनी दुर्दशा आप कर डाले, इससे बढ़कर शोचनीय दशा क्या हो सकती है?

इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव निराश होकर, हार मानकर बैठ जाय। भूतकाल चाहे कैसा भी क्यों न बीता हो, यदि साधक सजगतापूर्वक अपने लिए उपयोगी होने का प्रयास करे, तो सफलता अनिवार्य है। अपने अधिकार के त्याग में पराधीनता तथा असमर्थता की गन्ध भी नहीं है।

सुख-लोलुपता की दासता ने बेचारे मानव को अधिकार का दास बना दिया है। पराधीनता-जनित वेदना जब सुख-लोलुपता को खा लेती है, तब साधक स्वाधीनतापूर्वक अधिकार-लोलुपता से रहित, कर्तव्यनिष्ठ हो, कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् फिर उसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

अहंकृति-रहित होना

अहंकृति-रहित होते ही अहम् भाव रूपी अणु सदा के लिए मिट जाता है, जिसके मिटते ही, जो

सदैव है, उससे किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

अपने लिए कुछ भी करने का प्रश्न तभी तक रहता है, जब तक मानव पराधीनता से उत्पन्न मान और भोग की रुचि की पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है, जो वास्तव में भूल है, अर्थात् भूलकाल में ही अपने लिए कुछ करने की बात मानव स्वीकार करता है।

जीवन उपयोगी हो जाय, यह तभी सम्भव होगा, जब अपने लिए कुछ भी करना शेष न रहे; कारण, कि 'अपने लिए कुछ करना है', यह स्वीकार करते ही कर्म-सामग्री का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। सामग्री का आश्रय लेते ही साधक का मूल्य परिस्थिति से घट जाता है और फिर वह परिस्थितियों का दास हो जाता है।

परिस्थितियों की दासता साधक को न तो उदार होने देती है और न स्वाधीन रहने देती। उदारता और स्वाधीनता के बिना, जीवन जगत् के लिए और अपने लिए उपयोगी नहीं हो सकता। जो जीवन अपने लिए और जगत् के लिए अनुपयोगी हो, क्या वह जीवन अपने आश्रय तथा प्रकाशक एवं रचयिता के लिए उपयोगी हो सकता है? कदापि नहीं; कारण, कि प्रेम का प्रादुर्भाव ही जीवनको जगत्-पति के लिए उपयोगी सिद्ध करता है। स्वार्थ-भाव और पराधीनता में आबद्ध मानव का भला, क्या प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो सकता है? कदापि नहीं। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के जीवन में उदारता तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, जो एकमात्र तभी हो सकती है, जब साधक को अपने लिए कुछ भी करना शेष न रहे।

जब यह स्पष्ट ही है कि इस शरीर में अहम् तथा मम-बुद्धि स्वीकार करना भूल है, तब यह अनिवार्य हो जाता है कि मिला हुआ और उसी की जाति का देखा हुआ अपने लिए नहीं है।

अपने लिए एकमात्र चिर-विश्राम ही उपयोगी है। विश्राम की उपलब्धि विचार-सिद्ध है। विचार का उदय शारीरीक श्रम से नहीं होता, अपितु निज-ज्ञान के आदर में ही निहित है, जो साधक को अपने ही

द्वारा करना है। ज्ञान का आदर श्रम-साध्य उपाय नहीं है, अपितु श्रम-रहित होने पर ही ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट होता है।

'ज्ञान' अज्ञान का नाशक है तथा अपने ही द्वारा अपने आप का प्रकाशक है। ज्ञान से ही सभी प्रकाशित होते हैं, ज्ञान को कोई अन्य प्रकाशित नहीं करता। जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसको किसी अन्य के द्वारा नहीं जाना जाता। अतः अपने लिए कोई कृति अपेक्षित नहीं है। निज-ज्ञान के आदर मात्र से ही साधक देहाभिमान रहित हो, विश्राम पाता है।

साधक जिन उपकरणों से जगत् को देखता है, उनसे अपने को नहीं देख सकता। अपने को अपने ही द्वारा अनुभव करता है। अपने को अनुभव करने के लिए अपने से भिन्न किसी करण की अपेक्षा नहीं होती। समस्त प्रवृत्तियाँ, अर्थात् कर्म शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा ही सिद्ध होते हैं और उन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध जगत् के साथ होता है अपने प्रति नहीं।

अहितकर प्रवृत्तियों का त्याग करने पर हितकर प्रवृत्तियाँ स्वतः होने लगती हैं। साधक प्रमादवश सर्व-हितकारी प्रवृत्तियों के अभिमान को अपने में आरोपित कर, उनमें आबद्ध हो जाता है, अर्थात् स्वतः होने वाली भलाई का फल भोगने लगता है। उसी का परिणाम यह होता है कि भोक्ता होकर बुराई करने लगता है। बुराई-रहित होना त्याग है, कर्म नहीं। बुराई-रहित होने का परिणाम स्वतः भलाई होना है। यह सेवा है, कर्म नहीं। सेवा जगत् के लिए और त्याग अपने लिए उपयोगी है।

सेवा और त्याग दोनों ही दैवी सम्पत्ति हैं, मनुष्य की उपार्जित नहीं है, किन्तु प्रमादवश साधक आरोप कर लेता है कि 'मैंने त्याग किया है' और 'मैं सेवा करता हूँ।' जब अपना करके अपने में कुछ है ही नहीं, तो त्याग कैसा? और जो वस्तु जिसकी है, उसे मिल गई, तो सेवा कैसी? सेवा और त्याग तो वैज्ञानिक तथ्य हैं, जो स्वतः सिद्ध हैं। उनमें करने-कराने का अभिमान भूल-जनित है। 'अपने लिए अपने को कुछ नहीं करना है', यह अपना लेने पर ही जीवन निर्ममता, निष्कामता एवं अधिकार-लोलुपता से रहित होता है।

कभी-कभी साधक यह अनुभव करता है कि अपना दुःख मिटाने के लिए ही उसने सेवा तथा त्याग को अपनाया है। इस दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सब कुछ उसने अपने लिए ही किया है। परन्तु विचार यह करना है कि दुःख की उत्पत्ति का मूल क्या है? तो यह स्पष्ट विदित होता है कि भूल ही दुःख की उत्पत्ति का मूल है। भूल-रहित होने का परिणाम ही सेवा और त्याग है। अतएव भूल-रहित होना ज्ञान है, कर्म नहीं। इस कारण ज्ञान के प्रभाव से ही सेवा और त्याग की सिद्धि होती है।

ज्ञान प्रत्येक साधक में मौजूद है। ज्ञान के अनादर से ही भूल उत्पन्न होती है। निज-ज्ञान का अनादर मानव स्वंय कर बैठता है। जिस अनन्त ज्ञान से मानव को ज्ञान मिला है, वह मानव का इतना अपना है कि उसे यह अनुभव ही नहीं होने देता कि प्राप्त ज्ञान उसका अपना नहीं है। यह मानव के प्रति अनन्त की आत्मीयता है। किन्तु मानव प्रमादवश, जो उसे अपना मानता है, उसे वह अपना नहीं मानता, अपितु उससे मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना मान लेता है।

प्राप्त ज्ञान का प्रकाश मिली हुई सामर्थ्य, वस्तु, योग्यता आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करने की प्रेरणा देता है, अर्थात् वास्तविकता को स्पष्ट करता है। वास्तविकता को अपनाते ही अपना करके वही सिद्ध होता है, जो अपने को जानता है। साधक जिसको जानता है, वह उसका अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है, यही सिद्ध होता है।

कैसी विचित्र बात है कि अपने वे हैं, जिन्हें हम नहीं जानते, अपितु जो हमें जानते हैं। उन्हीं में अविचल आस्था-श्रद्धा और विश्वास पूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना है। मिली हुई किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि ने एक बार भी नहीं कहा कि हम तुम्हारे हैं।

हम जो अपने हैं, उन्हें अपना न मानकर, जो अपना नहीं है, उसे अपना मानते हैं। इस भूल का अन्त करने के लिए प्रत्येक साधक को ममता, कामना, तथा अधिकार-लोलुपता को त्याग, अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है। तभी जीवन अपने लिए उपयोगी होगा। अपने लिए

उपयोगी होते ही जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के लिए प्रेम स्वतः जाग्रत होता है। यह मंगलमय विधान है।

जिसने हमारा और जगत् का निर्माण किया, उसने अपने ही में से किया है। इस दृष्टि से हम और जगत् उससे अभिन्न हैं। किन्तु प्रमाद के कारण आज हमें जगत् और जगत्पति से भिन्नता प्रतीत होती है। इस भिन्नता का अन्त किए बिना जीवन उपयोगी नहीं हो सकता।

जब हम जगत् से कुछ आशा करते हैं, तब जगत् से भिन्नता प्रतीत होती है और जब जगत्पति में हमारी अगाध प्रियता नहीं रहती, तब उनसे हमारी भिन्नता प्रतीत होती है।

यदि विचार पूर्वक जगत् से आशा न करें और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, जो जगत्पति ने जगत् की सेवा के लिए दी हैं, वे उसी की सेवा में अर्पित कर दें, तो शरीर आदि से असंगता और जगत् से अभिन्नता स्वतः हो जाएगी, जिसके होते ही शरीर और विश्व की एकता स्वतः सिद्ध होगी। शरीर और विश्व की एकता का अनुभव हमें जगत्पति से नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता जाग्रत करने में सहयोगी होगा, कारण, कि जब शरीर अपना करके नहीं रहा, तब अपनी अहंता उन्हीं की आत्मीयता में परिणत हो गई, जिन्होंने मेरा और जगत् का निर्माण किया था। इस दृष्टि से मानव अचाह होकर जगत्पति से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है।

अचाह होते ही सेवा और प्रेम सहज हो जाता है। प्रेम से सेवा और सेवा से प्रेम पोषित होता है। अथवा यों कहो कि प्रेम का क्रियात्मक रूप सेवा और सेवा का लक्ष्य प्रेम है। प्रेम किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहने देता, यह प्रेम की महिमा है।

पर जब तक साधक अपने लिए कुछ भी करता है, तब तक सेवा और प्रेम का अधिकारी नहीं होता। जिसे अपने लिए कुछ भी करना नहीं है, वही अपने लिए उपयोगी सिद्ध होकर सभी के लिए उपयोगी होता है।

जगत् के लिए उपयोगी होना

अपने लिए उपयोगी होने पर जीवन जगत् और जगत्पति के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सत्य है। परन्तु अब विचार यह करना है कि जगत् के लिए उपयोगी होने के लिए साधक में किस साधन-निधि की अभिव्यक्ति होती है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब साधक अपने लिए उपयोगी हो जाता है, तब उसे मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की अपेक्षा नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि उसके द्वारा मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं होता, अपितु स्वभाव से ही सदुपयोग होने लगता है। इतना ही नहीं, बुराई के बदले में भी वह बुराई नहीं करता। यही कर्तव्य-विज्ञान है। कर्तव्य-विज्ञान से सुन्दर समाज का निर्माण होता है, यह मंगलमय विधान है।

किसी के साथ बुराई न करना

बुराई को 'बुराई' जान कर न करना कर्तव्य-विज्ञान का आरम्भ है, किन्तु बुराई की उत्पत्ति ही न हो, यह कर्तव्य-विज्ञान की पूर्णता है।

किसी भय से भयभीत होकर बुराई न करना कर्तव्य की ओर अग्रसर होने का सहयोगी उपाय मात्र है, बुराई-रहित होना नहीं है। बुराई-रहित हुए बिना कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती।

बलपूर्वक की हुई भलाई कर्ता में अभिमान को जन्म देती है, जो भारी भूल है। जब तक मानव बलपूर्वक की हुई भलाई के आधार पर जीवित रहता है, तब तक उसमें परदोष-दर्शन की रुचि बनी रहती है, जो उसे कर्तव्य-विज्ञान से परिचित नहीं होने देती। इसका परिणाम यह होता है कि वह दूसरों पर शासन करने लगता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। शासन के द्वारा समाज में से अकर्तव्य का अन्त नहीं हुआ, यह सभी विचारशीलों का अनुभव है। भूल-जनित वेदना से ही मानव बुराई-रहित होता है। सजगता आने पर ही भूल-जनित वेदना उदित होती है, जो कर्तव्यनिष्ठ बनाने में समर्थ है। अतएव वह निर्विवाद सिद्ध है कि

व्यक्ति को समाज के प्रति बुराई नहीं करनी है, अपितु अपने प्रति होने वाली बुराई का उत्तर भी बुराई से नहीं देना है।

अब विचार यह करना है कि कोई भी व्यक्ति बुराई क्यों करता है? कर्म कर्ता का चित्र है और कुछ नहीं, अर्थात् कर्ता में से कर्म की उत्पत्ति होती है। जब तक मानव भूल से अपने को बुरा नहीं बना लेता, तब तक उससे बुराई नहीं होती। बुराई तभी कम हो सकती है, जब कर्ता बुरा न रहे। बुराई के बदले में बुराई करने से उत्तरोत्तर बुराई की वृद्धि होती है। उससे बुराई की निवृत्ति नहीं होती। अतएव बुराई के बदले में भी बुराई न करना बुराई मिटाने में हेतु है।

इस दृष्टि से सर्व प्रथम प्रत्येक मानव को अपने को साधक स्वीकार करना अनिवार्य है। फिर अपने और जगत् के सम्बन्ध पर विचार करना चाहिए, तभी कर्तव्य-विज्ञान का भलीभाँती परिचय होगा, जिसके होने पर कर्तव्य-परायणता आएगी, जो जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

कर्तव्यपरायणता प्राप्त परिस्थिति से सम्बन्ध रखती है। इसी कारण उसको पालन करने में मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। परन्तु अपने को साधक स्वीकार किए बिना परिस्थिति में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके होने से मानव परिस्थितियों का दास हो जाता है और फिर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता और अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है, जो विनाश का मूल है।

परिवर्तनशील परिस्थिति मानव का जीवन नहीं हो सकती; कारण, कि जीवन अविनाशी है, विनाशी नहीं। अविनाशी जीवन की उपलब्धि किसी परिस्थिति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। इसी कारण सभी परिस्थितियों में साधक को जीवन की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से साधक का अपना मूल्य प्रत्येक परिस्थिति से अधिक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक को कर्तव्य-विज्ञान का बोध होता है।

यह सभी को मान्य है कि जब तक भूल-रहित होने की तीव्र माँग जाग्रत नहीं होती, तब तक निज-विवेक के प्रकाश में अपनी भूल देखना सम्भव नहीं होता, अर्थात् अपने द्वारा अपनी भूल का ज्ञान नहीं

होता। भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश है। यह मंगलमय विधान है।

कर्तव्य-निष्ठ जीवन से दूसरों में अपनी-अपनी भूल देखने की माँग जाग्रत हो जाती है। कर्तव्य-निष्ठ मानव किसी को भयभीत नहीं करता, अपितु भय-रहित होने के लिए सहयोग प्रदान करता है। किसी को भयभीत करने से उसका कल्याण नहीं होता, अपितु किसी-न-किसी अंश में अहित ही होता है। भय देकर कोई भी राष्ट्र अपनी प्रजा को निर्दोष नहीं बना सका, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

निर्दोष जीवन से ही समाज में निर्दोषता व्यापक होती है। निर्दोष साधक दोष-युक्त मानव को देख, करुणित होता है, क्षोभित नहीं। उसे पर-दुःख अपना ही दुःख प्रतीत होता है और करुणित होकर उसके प्रति क्रियात्मक तथा भावात्मक सहयोग देने के लिए तत्पर हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि अपराधी स्वयं अपने अपराध को देख, निर्दोष होने के लिए आकुल तथा व्याकुल हो जाता है, और फिर वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। इस प्रकार साधननिष्ठ जीवन से समाज में निर्दोषता व्यापक होती है।

बल का दुरुपयोग न करने से ही कर्तव्य-परायणता आती है और फिर उसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं, जिससे समाज में कर्तव्य-परायणता की अभिरुचि जाग्रत होती है।

कर्तव्य-निष्ठ होने की माँग साधक को अकर्तव्य से रहित कर देती है, जिसके होते ही स्वतः कर्तव्य-परायणता आ जाती है। बुराई-रहित होने से बुराई का नाश होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। इतना ही नहीं, बुराई के बदले में भी जब भलाई की जाती है, तब बुराई करने वाला बुराई-रहित होने के लिए तत्पर हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि सर्वांश में कोई बुरा नहीं होता, सभी के लिए कोई बुरा नहीं हो सकता और बुराई नहीं कर सकता। बुराई की उत्पत्ति होती है, अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण बुराई न दोहराने से बुराई सदा के लिए मिट जाती है, यह मंगलमय विधान है। इस विधान का आदर करना प्रत्येक साधक के लिए

अनिवार्य है। अतः बुराई करने का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

जब साधक इस महाव्रत को अपना लेता है, तब बुरा नहीं रहता और जब बुरा नहीं रहता, तब बुराई की उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने पर कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, यह निर्विवाद सत्य है।

बुराई न करने का व्रत साधक को वर्तमान निर्दोषता से अभिन्न करता है। इस कारण उसके अहम् में से यह धारणा सदा के लिए निकल जाती है कि 'मैं बुरा हूँ'। प्राकृतिक नियमानुसार कर्ता में से ही कर्म की उत्पत्ति होती है। जब साधक वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अपने को निर्दोष स्वीकार कर लेता है, तब उसमें पुनः दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से बुराई-रहित होने का व्रत प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। इतना ही नहीं, दूसरों के सम्बन्ध में भी उसकी यही धारणा हो जाती है कि वर्तमान तो सभी का निर्दोष है।

यदि कोई स्वयं अपने को दोषी स्वीकार करे, तब भी साधक उसे उसकी वर्तमान निर्दोषता का स्मरण दिला कर उसे सदा के लिए निर्दोषता सुरक्षित रखने की प्रेरणा देता है और उससे वर्तमान निर्दोषता के अनुरूप ही व्यवहार करता है। इस दृष्टि से परस्पर निर्दोषता सुरक्षित रखने का बल प्राप्त होता है।

जगत् के प्रति इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना जगत् के लिए मंगलकारी है। अपने द्वारा जगत् का अहित न हो, इसमें साधक की अविचल निष्ठा रहनी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब वह वर्तमान निर्दोषता के आधार पर किसी को बुरा न समझे और न किसी का बुरा चाहे एवं न किसी के साथ बुराई करे। ऐसा होने पर सुगमतापूर्वक जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है, अथवा यों कहो कि जगत् के अधिकार की रक्षा हो जाती है।

साधक पर जगत और जगत्पति दोनों का ही अधिकार है। अपने लिए उपयोगी हो जाने पर, अपने अधिकार का प्रश्न ही शेष नहीं रहता, किन्तु साधक के प्रति जगत् की उदारता और जगत्पति की कृपालुता सदैव रहती है, यह मंगलमय विधान है।

किसी को बुरा न समझना

किसी भी साधक को किसी को बुरा समझने का अधिकार ही नहीं है; कारण, कि दूसरे के सम्बन्ध में पूरा जानना सम्भव नहीं है। अधूरी जानकारी के आधार पर निर्णय देना न्याय नहीं है। न्याय करने का अधिकार किसी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति के प्रति नहीं है। व्यक्ति समाज के अधिकार की रक्षा कर सकता है, किसी के प्रति बलपूर्वक न्याय नहीं कर सकता।

न्याय तो प्रत्येक साधक अपने ही प्रति कर सकता है। न्याय का सर्वप्रथम अंग है, "अपराधी अपने अपराध से परिचित हो जाय, अर्थात् अपनी भूल से उत्पन्न हुए अपराध को स्वीकार करे, किन्तु सदा के लिए सर्वांश में अपने को अपराधी न मानें।"

प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी सदा के लिए दोषी होकर नहीं रहना चाहता और सर्वांश में कोई दोषी भी नहीं है। सभी में स्वभाव से ही निर्दोषता की माँग है। आंशिक दोष की उत्पत्ति भूल-जनित है, स्वभाव-जनित नहीं; कारण, कि दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

जब अपराधी भूल-जनित दोष से पीड़ित होता है, तब उसमें से दोष-जनित सुख-लोलुपता मिट जाती है, जिसके मिटते ही पुनः दोष न दोहराने की तीव्र माँग जाग्रत होती है। पर जब उसे दूसरा अपराधी मानने लगता है, तब वह क्षुभित तथा क्रोधित होकर दूसरों के दोष देखने लगता है। दूसरों का दोष देखते ही अपने में से दोषी होने की वेदना शिथिल होने लगती है। इससे आपको और दूसरों का अहित ही होता है। इसी कारण दूसरों के द्वारा किया हुआ न्याय निर्दोषता की स्थापना नहीं कर पाता। परन्तु जब वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अपराधी को कोई दोषी नहीं मानता, तब अपराधी स्वयं भूतकाल की भूल को न दोहराने के लिए तत्पर हो जाता है और वर्तमान निर्दोषता में स्थिर होकर सदा के लिए निर्दोष हो जाता है। इस दृष्टि से अपने द्वारा ही अपने प्रति न्याय करना हितकर सिद्ध होता है।

यदि अपराधी की वर्तमान निर्दोषता को स्वीकार नहीं किया जाता, तो उसकी अहंता में से अपराधी-भाव निवृत्त नहीं होता और

फिर वह अपराधी होकर अपराध करने में तत्पर हो जाता है।

सर्वांश में तो कोई अपराधी होता ही नहीं। बड़े से बड़े हिंसक में भी किसी न किसी के प्रति करुणा होती है। बेईमान भी अपने साथी के लिए ईमानदार सिद्ध होता है। इतना बुरा कोई हो ही नहीं सकता, जो सभी के साथ सदैव बुराई करे। सर्वांश में निज-ज्ञान का अनादर करना किसी भी मानव के लिए सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से सर्वांश में कोई दोषी होता ही नहीं, यह प्राकृतिक तथ्य है। अतः किसी को बुरा समझना बुराई करने की अपेक्षा गुरुतर भूल है।

किसी में बुराई की स्थापना करना, उसके लिए और अपने लिए अहितकर ही है। किसी को बुरा समझने पर अपने में अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति होती है और क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, जो कर्तव्य की विस्मृति में हेतु है। अशुद्ध संकल्पों से किसी-न-किसी अंश में अशुद्ध कर्म होने ही लगता है। इस दृष्टि से दूसरों को बुरा समझने से अपने में बुराई उत्पन्न हो जाती है। यदि किसी को कोई बुरा न समझे, तो उसमें अशुध्द संकल्प उत्पन्न नहीं होते और न वैर-भाव की उत्पत्ति होती है, अपितु समता आ जाती है, जिसके आते ही सर्वात्म-भाव जाग्रत होता है, जो विकास की भूमि है। किसी-न-किसी नाते समस्त विश्व अपना है। अपने में दोष की स्थापना करना, न तो न्याय है और न प्रेम।

अब यदि कोई यह कहे कि दोषी न मानने से, उसे भयभीत न करने से दोषी में दोषों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहेगी, जो समाज के लिए अहितकर है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है; कारण, किसी में दोषों की उत्पत्ति होती ही कब है? जब वह अपने को दोषी बना लेता है।

अब विचार यह करना है कि वह अपने को दोषी क्यों बना लेता है? पर-दोष देख, क्षुभित होने से, अथवा यों कहो कि जब उसके साथ कोई बुराई करता है, तब अपने को निर्दोष मानकर बुराई के बदले में बुराई करने के लिए अपने को बुरा बनाता है। पर उसे इस बात का स्वयं पता नहीं रहता कि बुराई का प्रतिकार करने के लिए मैं स्वयं बुरा हो गया। बुराई का प्रतिकार प्राकृतिक नियमानुसार बुराई करना नहीं है, अपितु क्षमाशील होकर, करुणित

होकर उसके प्रति भलाई करना अथवा हित-कामना करना है। सभी के हित-कामना बिना स्वीकार किए, निर्दोषता व्यापक नहीं हो सकती। इस कारण बुराई-काल में ही यदि हम उसे बुराई न करने दें, आत्मीयता पूर्वक आदर और प्यार दें, करुणित होकर उसकी भूल से स्वयं दुःखी हो जाएँ, उसके कर्तव्य की ओर संकेत करें तथा उसे उसकी महिमा से परिचित करा कर हृदय से लगाएँ तो वह अवश्य बुराई-रहित हो जाएगा।

अधिकतर तो सुनकर, अथवा अनुमान मात्र से ही दूसरों को बुरा समझ लिया जाता है। इतना ही नहीं, इन्द्रिय दृष्टि से किसी की वास्तविकता का बोध ही नहीं होता। अधूरी जानकारी के आधार पर किसी को दोषी मान लेना, उसके प्रति अन्याय और अपने में बुराई को जन्म देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सभी के प्रति सद्भावना तथा आत्मीयता स्वीकार की है।

समस्त दोषों का मूल मानव की अपनी असमर्थता है और कुछ नहीं। असमर्थता जीवन में तब आती है, जब मानव अपने लक्ष्य को भूलता है। लक्ष्य की विस्मृति से ही मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग करता है और उसके परिणाम में स्वय असमर्थ हो जाता है। सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही समाज में दोषों की उत्पत्ति होती है। सामर्थ्य का सदुपयोग असमर्थ की असमर्थता मिटाने में है, किसी को असमर्थ बनाने में नहीं। पर इस वास्तविकता को भूल जाने से सामर्थ्य का दुरुपयोग रोकने के लिए मिली हुई सामर्थ्य द्वारा उसे असमर्थ बनाते हैं। उसका परिणाम कभी भी हितकर नहीं होता।

थोड़ी देर के लिए ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बलपूर्वक सामर्थ्य का दुरुपयोग रोक दिया, पर वास्तव में ऐसा होता नहीं। सामर्थ्य के दुरुपयोग से सभी में असमर्थता की ही वृद्धि होती है और उसकी प्रतिक्रिया सामर्थ्य का दुरुपयोग करने के लिए ही प्रेरित करती है। अतः सामर्थ्य का उपयोग असमर्थता के मिटाने में है, किसी को असमर्थ बनाने में नहीं।

अब विचार यह करना है कि व्यक्ति तथा समाज में से असमर्थता का नाश कैसे हो? सर्वहितकारी सद्भावना तथा प्राप्त सामर्थ्य के

सदुपयोग से ही असमर्थता मिट सकती है। सामर्थ्य के सदुपयोग से उत्तरोत्तर सामर्थ्य की वृद्धि होती है, यह प्राकृतिक विधान है।

सामर्थ्य का दुरुपयोग न करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि साधक किसी को बुरा न समझे। दूसरों को बुरा समझने मात्र से ही क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, जो सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करने देते। इस कारण बड़ी ही सजगतापूर्वक दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य का निर्णय करना चाहिए।

असमर्थता का मूल मानव की अपनी भूल है और कुछ नहीं। भूल-रहित करने के लिए साधक को स्वयं भूल-रहित होना अनिवार्य है। अपनी भूल से ही मानव आप पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है और जन्मजात स्वाधीनता से विमुख हो जाता है। जिसमें पराधीनता नहीं रहती, वह असमर्थ नहीं रहता, और जो असमर्थ नहीं रहता, वह मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता। इस दृष्टि से पराधीनता का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से प्राप्त साधन-निधि से ही सम्भव है।

पराधीनता से ही विवश होकर मानव वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिए। उससे उत्तरोत्तर पराधीनता की ही वृद्धि होती है। वास्तव में तो जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने में ही मानव की स्वाधीनता है, और इसी प्रयोग से पराधीनता नष्ट होती है। इस दृष्टि से स्वाधीनतापूर्वक ही स्वाधीनता की उपलब्धि होती है।

स्वाधीन होने के लिए अपनी ओर न देखना और दूसरों से आशा करना भारी भूल है। 'पर' के द्वारा हमें जो कुछ मिलता है, वह पराधीनता में ही आबद्ध करता है। साधक को जगत् के लिए उपयोगी होना है, जगत् से कुछ लेना नहीं है। भला पर-प्रकाश्य, परिवर्तनशील, उत्पत्ति-विनाश-युक्त जगत् से आशा की जाय! वह बेचारा दे ही क्या सकता है! जब साधक किसी को बुरा नहीं समझता, किसी की बुराई नहीं चाहता और किसी भी भय तथा प्रलोभन से बुराई करने के लिए तत्पर नहीं होता, तब उसका जीवन जगत् के लिए अनुपयोगी नहीं रहता, अपितु उपयोगी हो जाता है। यह मंगलमय विधान है।

किसी का बुरा न चाहना

बुराई करने की अपेक्षा किसी का बुरा चाहना बहुत बड़ी बुराई है। यद्यपि किसी का बुरा चाहने से उसका बुरा हो नहीं जाता, परन्तु बुरा चाहने से बुरा चाहने वाले की बहुत भारी क्षति होती है। इतना ही नहीं, बुराई करने पर तो करने वाले में परिवर्तन भी आता है और वह बुराई करने से अपने को बचाने का प्रयास भी करने लगता है, किन्तु बुरा चाहने से तो भाव में अशुद्धि आ जाती है। भाव कर्म की अपेक्षा अधिक विभु और स्थायी होता है। इस कारण बुरा चाहने से बुराई करने की अपेक्षा अधिक क्षति होती है। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसमें सर्वहितकारी भावना तथा करुणा स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से बुरा चाहने की प्रवृत्ति सर्वथा त्याज्य है।

जब साधक किसी का बुरा नहीं चाहता, तब उसमें उसके प्रति भी करुणा जाग्रत होती है, जो उसे बुराई करता हुआ प्रतीत होता है और उसके प्रति भी, जिसके प्रति बुराई की जा रही है। उसकी सद्भावना दोनों ही पक्षों के प्रति समान रहती है। इस कारण उसमें क्षोभ तथा क्रोध की उत्पत्ति ही नहीं होती, जिससे वह स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है और उससे सभी का हित होने लगता है। यह ध्रुव सत्य है।

क्षुभित तथा क्रोधित होने पर तो मानव में विनाश की भावना उत्पन्न होती है, जो किसी भी बुराई से कम नहीं है। विनाश की भावना में अपना ही विनाश निहित है; कारण, कि 'पर' के प्रति जो किया जाता है, वह अपने प्रति हो जाता है, यह वैधानिक तथ्य है।

परहित में, पर-सेवा में साधक का अधिकार है। किसी को बुरा समझने, बुरा चाहने एवं किसी के साथ बुराई करने में साधक को कोई अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं, परचिन्तन मात्र से ही साधक का अहित होता है। यद्यपि किसी न किसी नाते सभी अपने हैं। परन्तु जिसके नाते सभी अपनें हैं, अपना तो वही हैं अपने की प्रियता और उनके नाते सभी की सेवा ही तो साधक का जीवन है।

सेवा तभी सिद्ध होती है, जब शासक की भावना का सर्वांश में नाश हो जाय। सेवक शासक नहीं होता और शासक सेवा नहीं कर पाता।

किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना और किसी के प्रति किसी भी कारण से बुराई करना शासन की प्रवृत्ति है, सेवा नहीं। शासक शासित का विकास नहीं कर पाता। सेवक के द्वारा सभी का विकास होता है। साधक सभी के लिए उपयोगी हो, यही तो उसकी वास्तविक माँग है। जो किसी के लिए भी अनुपयोगी होता है, वह साधक नही है। किसी के लिए उपयोगी और किसी के लिए अनुपयोगी हो जाना शासन करना है, सेवा नहीं। उसका परिणाम कभी भी हितकर सिद्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, दो देशों, दलों, वर्गों, व्यक्तियों आदि में परस्पर वैर-भाव ही दृढ़ होता है, जो विनाश का मूल है। हाँ साधक अपने ही द्वारा अपने पर शासन करता है और की हुई भूल नहीं दोहरता, अर्थात् वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित रखता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है।

अपने पर अपना शासन करने की भावना एवं प्रवृत्ति तभी जाग्रत होती है, जब उसे कोई दूसरा शासित न करे, अपितु आत्मीयता पूर्वक पीड़ित होकर सहयोग प्रदान करे। इस कारण किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना और किसी के प्रति बुराई करना सर्वथा त्याज्य है। यही सर्वांश में बुराई-रहित होने का अचूक उपाय है।

बुराई-रहित जीवन की माँग सदैव सभी को रहती है। और बुराई-रहित जीवन में ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है। इस दृष्टि से बुराई-रहित होना वर्तमान का प्रश्न है, जो एकमात्र साधन-निधि के सम्पादन से ही सम्भव है। साधन-निधि में ही साधक का जीवन और साध्य की प्रसन्नता निहित है। साधन-निधि प्रत्येक साधक को उपलब्ध हो सकती है। उससे निराश होना, अपने को उसका अधिकारी न मानना साधक की ही भारी भूल है, जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अनिवार्य है।

किसी को बुरा न समझने, किसी का बुरा न चाहने और किसी के प्रति बुराई न करने का निर्विकल्प निर्णय श्रम-साध्य उपाय नहीं है, अपितु अपने ही द्वारा अपने को स्वीकार करना है। जो अपने द्वारा करना है, उसमें पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है-यह प्राकृतिक विधान है। विधान के आदर में ही

मानव का अधिकार है। यह स्वाधीनता उसे उसके निर्माता ने दी है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही तो मानव का परम पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से साधन-निधि के सम्पादन में प्रत्येक साधक सर्वदा समर्थ है।

जब यह कहा जाता है कि किसी को बुरा न समझो, किसी का बुरा न चाहो एवं किसी की बुराई न करो, तब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि जब सबल निर्बलों को सता रहे हैं, तब बेचारा निर्बल कैसे किसी को बुरा न समझे, तथा किसी का बुरा न चाहे? इस समस्या पर विचार करने पर ऐसा विदित होता है कि सबल निर्बल के प्रति बल का दुरुपयोग तभी करता है, जब किसी को निर्बल पाता है। यदि जीवन में निर्बलता न रहे, तो सबल अत्याचार नहीं कर सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

सबसे बड़ी निर्बलता जीवन में कब आती है? जब मानव प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु को नहीं अपनाता, अपितु सबल के अत्याचार को स्वीकार कर जीना चाहता है। इस निर्बलता ने ही सबल की बल के दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति को पोषित किया है। मानव को अपना लक्ष्य अपने प्राणों से अधिक प्रिय होना चाहिए। लक्ष्य की सिद्धि के लिए हर्षपूर्वक प्राणों का त्याग करना आ जाय, तो कोई भी सबल निर्बल को अपने अधीन नहीं कर सकता। परन्तु प्राणों का प्रलोभन उससे अमानवता पूर्ण अत्याचार सहन-कराता है।

भौतिक निर्बलताओं के कारण सबल के द्वारा किए गए बल के दुरुपयोग को सहन करना और उसके अधीन हो जाना, यह साधक का प्रमाद है, और कुछ नहीं।

भौतिक बल कभी भी साधन-निधि से सम्पन्न साधक पर विजयी नहीं हो सकता। उसकी दृष्टि में शरीर का रहना, न रहना समान अर्थ रखता है; कारण, कि उसने अपने ही में सब कुछ पा लिया है। उसमें पराधीनता की गन्ध भी नहीं है। यह साधननिष्ठ होने की महिमा है। इस कारण कितना ही भौतिक बल क्यों न हो, यदि मानव साधक होकर साधननिष्ठ हो जाता है, तब किसी सबल का अत्याचार उसे अपनी निष्ठा से विचलित नहीं कर सकता, उसके शरीर आदि वस्तुओं का भले ही नाश कर दे। बल के दुरुपयोग से उसे कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। साधन-निधि से सम्पन्न साधक की

दृष्टि में शरीर आदि वस्तुओं का नाश कुछ अर्थ नहीं रखता; कारण, कि वह अविनाशी जीवन से अभिन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, सर्वात्मभाव होने के कारण वह बल के दुरुपयोग करने वाले पर भी अपने प्राणों की आहुति देता हुआ उसकी हित-कामना से उस पर विजयी होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार बल का दुरुपयोग निर्बलता को जन्म देता है, अर्थात् सबल बल के दुरुपयोग के कारण स्वयं निर्बल हो जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि जो साधक साधन-निधि से सम्पन्न नहीं है, उसी पर भौतिक बल का प्रहार अपना अधिकार जमाता है। अतः किसी को बुरा न समझ कर, किसी का बुरा न चाह कर तथा किसी के साथ बुराई न करके साधन-निधि से सम्पन्न साधक बल के दुरुपयोग की भावना के नाश करने में समर्थ होता है। पराधीनता से उत्पन्न हुई सुख-लोलुपता उससे सबल के अत्याचार को सहन कराती है, जिसका नाश एकमात्र दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर साधन-निधि से सम्पन्न होने से ही सम्भव है।

प्रलोभन और भय ने ही मानव को निर्बल बनाया है, जिसकी निवृत्ति एकमात्र भूल-रहित होने से ही होती है। यह सभी को विदित है कि मिला हुआ शरीर सदैव नहीं रहेगा, फिर भी यह बना रहे, यह कामना करना और शरीर को बनाए रखने के लिए सब कुछ सहन करना, कहाँ तक न्याय-युक्त है? इस पर विचार करने से यही विदित होता है कि शरीर का उपयोग विश्व की सेवा में है, उसके द्वारा कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन विश्व की सेवा में है, उसके द्वारा कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन रखना भूल ही है। शरीर के न रहने पर भी जीवन है, तो फिर शरीर को बनाये रखने की कामना क्या अर्थ रखती है? कुछ नहीं।

जिसे अपना कर्तव्य प्राणों से अधिक प्रिय है, उसे कोई भी सामर्थ्यवान कर्तव्य से च्युत नहीं कर सकता। अतएव बल का दुरुपयोग उन्हीं पर विजयी होता है, जो अपने कर्तव्य को प्राणों से अधिक नहीं मानते। प्राणों का मूल्य कर्तव्य से कम है। कर्तव्य-पालन के लिए प्रसन्नता पूर्वक प्राणों का त्याग कर देना

साधन-निधि-सम्पन्न साधक का सहज स्वभाव है।

अपने प्रति अत्याचार करने पर भी अत्याचारी का हित हो, यह सद्भावना तभी जाग्रत होती है, जब साधक साधन-निधि से सम्पन्न होता है। उससे पूर्व अन्याय का प्रतिकार अन्याय पूर्वक करने की रुचि उत्पन्न तो होती है, पर उसमें अन्याय का प्रतिकार तथा न्याय की स्थापना नहीं हो पाती, अपितु उत्तरोत्तर अन्याय की ही वृद्धि होती रहती है। इस दृष्टि से अन्याय का वास्तविक प्रतिकार अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम से ही होगा।

प्रेम सभी का, सर्वदा, सर्वांश में, स्वभाव से ही हितैषी होता है; कारण, कि प्रेम को पाकर जीवन में किसी प्रकार का अभाव, जड़ता, नीरसता तथा पराधीनता नहीं रहती। प्रेम के प्रादुर्भाव के लिए यह अनिवार्य है कि साधक किसी को बुरा न समझे, किसी का बुरा न चाहे एवं किसी के प्रति बुराई न करे, अर्थात् बुराई-रहित होकर सभी के लिए उपयोगी होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

प्रभु के लिए उपयोगी होना

अपने लिए तथा जगत् के लिए उपयोगी होने पर अपने रचयिता के लिए उपयोगी होने का प्रश्न स्वतः आ जाता है। सिद्धान्तरूप से ही यह सर्वदा मान्य है कि अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी होने पर अपने रचयिता के लिए उपयोगी होना स्वाभाविक ही है। परन्तु फिर भी यदि इस समस्या पर विचार किया जाए कि साधक अपने रचयिता के लिए कैसे उपयोगी सिद्ध होता है? तो यह स्पष्ट विदित होता है कि रचयिता ने जो भाव-शक्ति दी है, उसी के उपयोग द्वारा वह अपने आश्रय तथा प्रकाशक के लिए उपयोगी हो सकता है।

सुने हुए प्रभु की सत्ता स्वीकार करना

भासित होने वाले 'मैं' और प्रतीत होने वाले 'जगत्' का कोई आश्रय तथा प्रकाशक है, उसमें अविचल आस्था करना अनिवार्य है। वह कैसा है, कहाँ है, क्या करता है? यह जानना आवश्यक नहीं है। पर उसे स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

कोई भी उत्पत्ति बिना उसके सिद्ध नहीं होती, जिसका आश्रय अनुत्पन्न, अर्थात् अविनाशी न हो। जो सदैव मौजूद है, उसी में सभी की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय हो सकता है। उसे उत्पन्न हुए इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा भले ही विषय न किया हो, परन्तु भाव-शक्ति के द्वारा उसे स्वीकार करना अनिवार्य है।

उत्पत्ति अपने आश्रय को अपने द्वारा विषय नहीं कर सकती। तो फिर उत्पन्न हुई इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि के द्वारा उसे कैसे जाना जा सकता है? जो मौजूद है और अविनाशी है, उसे तो मानना ही होगा। हाँ, यह अवश्य है कि मानने पर उसमें अविचल आस्था होगी। अपने द्वारा की हुई आस्था को कोई और नहीं मिटा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि आस्था करने में साधक सर्वथा स्वाधीन है।

यदि मानव बिना देखे हुए में आस्था नहीं करता, तो मिला हुआ शरीर तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा प्रतीत होने वाला जगत् तो आस्था के योग्य है ही नहीं। मिले हुए का उपयोग किया जा सकता है, उसमें आस्था नहीं की जा सकती। और देखे हुए पर विचार किया जा सकता है, आस्था नहीं की जा सकती। सुने हुए में आस्था की जा सकती है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता।

सुने हुए के सम्बन्ध में जिसने जो कुछ कहा है, वह सही होने पर भी अधूरा है। पर यह किसी ने नहीं कहा कि वह अद्वितीय नहीं है, सदैव नहीं है, समर्थ नहीं है, सभी का नहीं है, सर्वत्र नहीं है। उसे तो सभी समर्थ स्वीकार करते हैं।

सुने हुए प्रभु की आस्था स्वीकार करने पर मिले हुए शरीर और देखे हुए जगत् की आस्था निर्जीव हो जाती है; कारण, कि दो आस्थाएँ एक काल में जीवित नहीं रह सकतीं। और प्रभु की महिमा को स्वीकार करने पर आस्तिक साधक में श्रद्धा स्वतः जाग्रत होती है। फिर साधक विश्वासी हो जाता है। विश्वासी विश्वास-पात्र से भिन्न की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार ही नहीं करता। तब विश्वासी में स्वतः स्मृति जाग्रत होती है, जिसके होते ही विश्वास-पात्र से भिन्न की विस्मृति हो जाती है। फिर स्मृति विश्वासी को विश्वासपात्र की प्रीति से अभिन्न कर देती है, अर्थात् विश्वासी

का अस्तित्व प्रीति से भिन्न कुछ नहीं रहता।

प्रीति स्वभाव से ही दूरी, भेद, भिन्नता को नहीं रहने देती, अर्थात्, योग, बोध और प्रेम, जो विश्वासपात्र का स्वभाव है, विश्वासी उसी से अभिन्न हो जाता है। पर आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना कोई भी साधक विश्वास-पात्र से आत्मीयता स्वीकार नहीं कर सकता। आत्मीयता में ही अगाध प्रियता निहित है, जो श्रद्धास्पद को रस देने में समर्थ है। इस दृष्टि से साधक आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक आत्मीयता से जाग्रत प्रियता के द्वारा अपने रचयिता के लिए उपयोगी होता है।

श्रद्धा एवं विश्वास करना

आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पथ भी स्वतन्त्र पथ है। पर जो साधक अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, वही श्रद्धा-विश्वास के पथ का अधिकारी होता है।

वास्तविक जीवन से निराश होना मानव की अपनी भूल है, कारण, कि उसका निर्माण उसके रचयिता ने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही किया है।

मानव का रचयिता सब प्रकार से पूर्ण तथा समर्थ है। जब उसने मानव का निर्माण लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया है, तो फिर लक्ष्य की प्राप्ति तो अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से साधक में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्रत्येक परिस्थिति में नित्य, नव उत्साह तथा उत्कंठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। परन्तु जब साधक अपनी ही भूल से अपने को असमर्थ बना लेता है, तब कभी-कभी अपने लक्ष्य से निराश होने लगता है। पर जब अपने रचयिता की महिमा में अविचल श्रद्धा तथा विश्वास करता है, तब निराशा आशा में परिणत हो जाती है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता जाग्रत होती है, जो सफलता की कुंजी है।

मानव का जो लक्ष्य है, उससे उसकी देश, काल आदि की दूरी नहीं है; कारण, कि लक्ष्य वही हो सकता है, जो उत्पत्ति-विनाश-रहित, सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान है। जो मौजूद है, उसकी उपलब्धि वर्तमान में हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि जो मौजूद है, उससे दूरी, भेद, भिन्नता क्यों प्रतीत होती है? इस सम्बन्ध में

विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब साधक अपने लक्ष्य को मिली हुई वस्तु, योग्यता सामर्थ्य के द्वारा प्राप्त करना चाहता है, जो उसे विश्व-सेवा के लिए मिली हैं, तब लक्ष्य से दूरी, भेद, भिन्नता प्रतीत होती है। यद्यपि जो सर्वत्र, सर्वदा है उससे स्वरूप से दूरी हो ही नहीं सकती, परन्तु मिले हुए शरीर आदि वस्तुओं का आश्रय लक्ष्य से विमुख कर देता है।

यदि साधक अपने साध्य की उपलब्धि के लिए अपने से भिन्न शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का आश्रय स्वीकार न करे, अपितु अपने ही द्वारा शरणागत हो जाय, अथवा तीव्र आवश्यकता अनुभव करें, तो लक्ष्य से दूरी, भेद, भिन्नता प्रतीत नहीं होगी।

आत्मीयता स्वीकार करना

अपनी असमर्थता से पीड़ित साधक जब श्रद्धा, विश्वास पूर्वक सर्व-समर्थ की निर्भरता स्वीकार करता है, जब स्वतः वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित हो, उसे अपना लेते हैं और फिर दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती। समर्थ कहते ही उसे हैं, जो सभी को अपना सके।

जिसने अपने ही में से सभी का निर्माण किया है, उसे निर्मित समस्त विश्व उसी के एक अंश-मात्र में है। इस दृष्टि से हम सब उन्हीं में हैं और वे सभी में होते हुए भी सभी से अतीत भी हैं। उनकी महिमा का कोई वारापार नहीं है। उनकी महिमा की विस्मृति ने ही असमर्थ साधक में निराशा उत्पन्न की है।

यदि साधक उनकी महिमा में अविचल आस्था कर, सब प्रकार से उन्हीं का हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है।

साधक का लक्ष्य सभी के लिए उपयोगी होना है। यह माँग साधक की वैधानिक माँग है। उसकी पूर्ति अनिवार्य है। जब साधक अपना अस्तित्व अपनी माँग से भिन्न नहीं पाता, तब सर्व-समर्थ की करुणा से उसकी पूर्ति स्वतः होती है।

उस महा-महिम की करुणा अपार है, अनन्त है, उसका कोई वारापार नहीं है।

साधक तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक उन्हें अपना स्वीकार करता है, पर वे स्वयं जानते हैं कि सब मेरे अपने ही है; कारण, कि उन्होंने

अपने ही में से सभी का निर्माण किया है।

साधक से भारी भूल यही होती है कि अपने निर्माता की महिमा को भूल जाता है और उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को अपनी मान लेता है और उसका दुरुपयोग करने लगता है। उसी का परिणाम यह होता है कि साधक अपने को असमर्थ पाता है।

यह असमर्थता साधक ने अपनी भूल से उत्पन्न की है। किन्तु असमर्थता से पीड़ित होकर जब वह सर्व-समर्थ की ओर एक बार भी देखता है, तो वे उसकी असमर्थता का अपहरण कर, उसे अपना लेते हैं, यह उनका सहज स्वभाव है।

'सर्व-समर्थ', साधक का भूतकाल नहीं देखते। उसकी वर्तमान वेदना से ही करुणित हो, अपना लेते हैं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपनी असमर्थता का अनुभव किया है और उनकी महिमा को स्वीकार किया है।

जिसे अपना कोई और प्रतीत नहीं होता, जिसे अपने में अपना करके कोई गुण नहीं दिखाई देता और जो लक्ष्य से निराश नहीं होता, वह बड़ी सुगमतापूर्वक उनकी महिमा को स्वीकार कर, उन पर निर्भर हो जाता है।

निर्बलता की पीड़ा में समर्थ की निर्भरता निहित है। निर्भर होते ही फिर और कुछ करना शेष नहीं रहता। जो कुछ नहीं कर पाता, वही निर्भर होता है। इस दृष्टि से कुछ और करने का प्रश्न ही नहीं रहता। निर्भर होते ही निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, यह मंगलमय विधान है।

निश्चिन्तता से असमर्थता और निर्भयता से अकर्तव्य एवं प्रियता से नीरसता का सदा के लिए स्वतः नाश हो जाता है। इस दृष्टि से असमर्थ से असमर्थ साधक भी लक्ष्य को प्राप्तकर कृतकृत्य होता है। यह सर्व-समर्थ की महिमा है।

असमर्थ साधक के जीवन में सर्व-समर्थ से भिन्न किसी अन्य विश्वास, सम्बन्ध तथा चिन्तन के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता; कारण, कि अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध तथा अन्य चिन्तन के रहते हुए प्रभु-विश्वास सजीव नहीं होता। जब जीवन में एक ही विश्वास रह जाता है, तभी साधक विश्वास-पथ का अधिकारी होता है।

प्रभु-विश्वास का उपयोग उनकी अगाध प्रियता की प्राप्ति में ही होना चाहिए; कारण, कि उनके प्रेम की अभिव्यक्ति किसी अन्य उपाय से साध्य नहीं है।

प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही उदारता तथा असंगता अपने आप आ जाती है; कारण, कि पथ का भेद होने पर भी वास्तविकता में कोई भेद नहीं रहता। सत्य एक है, प्राप्ति के उपाय अनेक हैं।

व्यक्तिगत भिन्नता के कारण उपाय में भले ही भेद हो, पर साध्य में कोई भेद नहीं; कारण, कि साध्य अद्वितीय है। उपाय का आरम्भ भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है, किन्तु अन्त में सभी उपाय साध्य की अगाध प्रियता में ही विलीन होते हैं।

प्रियता की जागृति के बिना अह्म-भावरूप अणु का नाश नहीं होता। और उसके बिना हुए सर्वांश में दूरी, भेद भिन्नता का नाश नहीं होता। निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य गुणों का आश्रय पाकर अहम्-भाव ज्यों-का-त्यों जीवित रहता है, किन्तु अगाध प्रियता की जागृति होने पर अहम् रूपी अणु प्रियता से अभिन्न हो, प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ होता है। यह प्रीति की महिमा है।

जिसे भोग और मोक्ष भी नहीं भाते, उसी को करुणामय अपनी प्रीति प्रदान करते हैं। इसका कारण यह है कि उनके पास उसको देने के लिए और कुछ शेष ही नहीं रहता। साधक उनकी दी हुई प्रीति को पाकर ही उनके लिए उपयोगी होता है। मोक्षार्थी अपने लिए उपयोगी होता है।

बेचारा भोगार्थी तो सुख की दासता तथा दुःख के भय में ही आबद्ध रहता है, अर्थात् वह अपने ही लिए अनुपयोगी हो जाताहै। यद्यपि मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी होने के लिए मिला है, परन्तु मानव अपने लक्ष्य की विस्मृति से अपने आप अपनी दुर्दशा कर लेता है।

यदि साधक बीज-रूप से विद्यमान माँग को जाग्रत कर असमर्थ एवं भयभीत दशा में भी अपने रचयिता की महिमा को स्वीकार करें, तो उसे भी वही जीवन मिल सकता है, जो किसी भी महामानव को मिला है; कारण, कि लक्ष्य से मानव की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। बेचारा मानव प्रमादवश मानव-जीवन की महिमा को नहीं अपनाता, यह उसकी

अपनी बनाई हुई दशा है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक दशा में सतत परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की माँग जाग्रत होते ही उसकी पूर्ति स्वतः होती है। अतएव वास्तविक जीवन से किसी भी साधक को निराश नहीं होना चाहिए। महामहिम की अहैतुकी कृपा सतत बरस रही है। उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास करते ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है।

कामना-पूर्ति-आपूर्ति के द्वन्द्व में आबद्ध मानव जब अपने को पराधीनता, नीरसता और अभाव से पीड़ित पाता है, तब वास्तविक माँग की जागृति होती है, जिसकी पूर्ति किसी भी परिस्थिति से सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, समस्त सृष्टि मिलकर किसी एक व्यक्ति की भी पराधीनता, अभाव तथा नीरसता का अन्त नहीं कर सकती। तब स्वभाव से ही उस सुने हुए प्रभु की ओर आकर्षण होता है, जिसे देखा नहीं, अपितु, सन्तों, भक्तों तथा सद्ग्रन्थों से सुना है।

सुने हुए में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है; कारण, कि आत्मीयता से ही प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, अथवा यों कहो कि साधक जिसे अपना कह कर स्वीकार करता है तथा जिसकी आवश्यकता अनुभव करता है, उसकी अखण्ड स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। ऐसा होते ही इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी करण अपने-अपने विषय से विमुख हो, स्मृति में विलीन हो जाते हैं और फिर आत्मीयता से जाग्रत प्रियता ही शेष रहती है।

प्रियता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेमास्पद से दूरी, भेद, भिन्नता स्वतः मिटती जाती है, अर्थात् योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति स्मृति की जागृति मात्र से ही हो जाती है। स्मृति साधक में जाग्रत होती है, यह शरीर-धर्म नहीं है। शरीर पर स्मृति का प्रभाव होता है। इतना हीं नही, स्मृति की जागृति शरीर के तादात्म्य को नष्ट कर देती है। शरीर का तादात्म्य तो केवल उसी समय तक रहता है, जब तक मानव प्रमादवश कामना-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है।

श्रद्धा तथा विश्वास-पथ का साधक अपनी निर्बलताओं से पीड़ित

हो, प्रभु की महिमा को स्वीकार करता है, जिससे विश्वास की अभिव्यक्ति होती है। विश्वासी का विश्वास से भिन्न और कुछ अस्तित्व नहीं रहता। परन्तु जब तक वह एक से अधिक विश्वास रखता है, तब तक विश्वासी और विश्वास में भेद प्रतीत होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि विश्वासी तो विश्वास से पूर्व भी अपना अस्तित्व स्वीकार करता था। इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रभु-विश्वासी अन्य-विश्वासों को त्याग, अपने द्वारा प्रभु-विश्वास को स्वीकार करता है, अर्थात् विश्वास की स्थापना विश्वासी अपने में करता है, जिसके करते ही विश्वास-पात्र से नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है और फिर विश्वासी में अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है।

स्मृति जिसमें जाग्रत होती, उसे अपने से अभिन्न कर लेती है, अर्थात् स्मृति-मात्र ही उसका अस्तित्व रह जाता है। पर जिसके प्रति होती है, उसके लिए रस-रूप होती है। यह स्मृति की महिमा है। इतना ही नहीं, स्मृति में उसी की सत्ता है, जिसकी वह स्मृति है। इस दृष्टि से अखण्ड स्मृति साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है।

जिसकी उपलब्धि किसी अन्य प्रकार से नहीं होती, उसकी उपलब्धि स्मृति-मात्र से ही होती है। स्मृति उसकी होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और जो सदैव, सर्वत्र सभी का अपना है, अर्थात् अपने ही की अपने में स्मृति जाग्रत होती है, जो विस्मृति का अन्त कर साधक को साध्य से अभिन्न करती है।

अभिन्नता प्रीति की प्रतीक है, अर्थात् साधक प्रीति होकर अपने प्रीतम के लिए उपयोगी होता है-यह प्रीति की महिमा है, जो एकमात्र अखण्ड स्मृति से ही साध्य है। स्मृति जाग्रत होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा हो जाती है और प्रत्येक घटना में साधक को अपने साध्य की अनुपम लीला का ही दर्शन होता है। अतः स्मृति जागृति के लिए निर्मम, निष्काम होकर साध्यक से आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है।

मिला हुआ शरीर और देखा हुआ संसार आस्था करने योग्य नहीं है; कारण, कि आस्था उसी में की जा सकती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो, अर्थात् जो अविनाशी हो। इन्द्रिय,

मन, बुद्धि आदि के द्वारा अविनाशी को देखा नहीं, किन्तु अपने में अविनाशी जीवन की माँग अवश्य है। माँग उसी की होती है, जिसका अस्तित्व है।

विचारशील माँग के आधार पर और विश्वासी भक्तों, सन्तों तथा ग्रन्थों के आधार पर उसमें आस्था करते हैं, जो अगोचर है। मानव के लिए जो अगोचर है, वह स्वयं सर्व का ज्ञाता है। साधक को किस में आस्था करनी है? जिसे वह नहीं जानता, अपितु जो उसे जानता है।

जब यदि कोई यह कहे कि हम कैसे स्वीकार करें कि वे हमें जानते हैं, जिन्हें हम नहीं जानते? इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि क्या कोई भी मिल्कियत बे-मालिक के होती है? क्या कोई भी उत्पत्ति बिना आश्रय के होती है? क्या कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के होती है? कदापि नहीं। क्या कोई अपने रचयिता को जान सकता है? कभी नहीं। किन्तु रचना का कोई रचयिता है, इसमें किसी को विकल्प नहीं होता। इस दृष्टि से शरीर और संसार की उत्पत्ति जिससे हुई है, उसे स्वीकार करना अनिवार्य है। अतः जो कुछ मिला हुआ तथा देखा हुआ प्रतीत होता है, उस मिल्कियत का कोई मालिक है।

विकल्प-रहित भाव से उसे स्वीकार करने का नाम ही आस्था है। साधक ने जिसमें आस्था की है, वह कैसा है, कहाँ है, क्या करता है-ये प्रश्न आवश्यक नहीं है; कारण, कि सभी का आश्रय तथा प्रकाशक अद्वितीय है। उसने अपने में से सभी का निर्माण किया है और अपने ही में सभी को आश्रय दिया है। उसके सम्बन्ध में जिस किसी ने जो कुछ कहा है, वह उसकी दृष्टि से सही होने पर भी अधूरा है; कारण, कि विश्व-नियन्ता एक है, उसे निर्मित मानव उसके सम्बन्ध में सीमित दृष्टि से जितना कहेगा, कम होगा, अर्थात् विश्व के रचयिता का वर्णन उसकी रचना नहीं कर सकती, किन्तु साधक उसमें अविचल आस्था कर सकता है। उसकी महिमा को स्वीकार करना आस्थावान में श्रद्धा उत्पन्न करता है।

जब साधक यह स्वीकार कर लेता है कि 'उस महामहिम की महिमा का वारापार नहीं है', तब उसमें स्वतः श्रद्धा की अभिव्यक्ति होती है।

श्रद्धा के जाग्रत होते ही अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध, अन्य चिन्तन नहीं रहते और फिर एक ही विश्वास, एक ही सम्बन्ध, एक ही चिन्तन रह जाता है। इस दृष्टि से आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक साधक उस अद्वितीय, सर्व-समर्थ से जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध स्वीकार करता है और फिर स्वतः अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है।

शरीर आदि समस्त विश्व उनका है और वे अपने हैं। उन्हें के नाते, उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा उन्हीं के विश्व की पूजा-भाव से सेवा करना और सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहना साधक का सहज स्वभाव हो जाता है। सेवा-सामग्री वे स्वयं प्रदान करते रहते हैं। सेवा के द्वारा वे साधक के जीवन को विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध करते हैं, यह उनकी महिमा है।

सेवा पराधीनता से स्वाधीनता की ओर स्वतः अग्रसर कर देती है, जिससे साधक अपने लिए उपयोगी हो जाता है। उसमें किसी प्रकार की पराधीनता नहीं रहती।

विश्वासी साधक स्वाधीनता का आश्रय पाकर सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु अपने विश्वास-पात्र की आत्मीयता से जाग्रत प्रियता ही उसे भाती है, जिससे साधक का जीवन अपने रचयिता के लिए उपयोगी होता है। इस दृष्टि से साध्य की अहैतुकी कृपा से निर्मित साधक सभी के लिए उपयोगी हो जाता है। यह वास्तव में साध्य ही की महिमा है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति स्वीकार की है।

शरणागत साधक अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता। शरण्य की अहैतुकी कृपा का आश्रय ही उसका सर्वस्व है। शरण्य अपनी कृपा से आप मोहित हो, शरणागत को अपना लेते हैं और फिर उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी बना देते हैं। इस दृष्टि से उनकी महिमा का कोई वारापार नहीं है। उस महामहिम की महिमा की विस्मृति से ही मानव अनाथ हो जाता है। पर अनाथ होने पर भी सनाथ होने की अभिरुचि बीज-रूप से मानव में बनी ही रहती है। यदि मानव उस अभिरुचि को सबल बनाकर किसी प्रकार से महामहिम की महिमा को स्वीकार करे ले, तो दीर्घकाल का अनाथपन

तुरन्त नाश हो जाता है और फिर साधक सनाथ होकर कृतकृत्य हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

यदि कोई मानव बिना देखे, सुने हुए विश्व-नियन्ता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास नहीं कर सकता, तो फिर उसके जीवन में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करने के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। विश्वास से सम्बन्ध की स्थापना होती है और सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है।

यदि मानव मिले हुए शरीर तथा देखे हुए संसार पर विश्वास करेगा, तो उसमें अनेक आसक्तियों की उत्पत्ति होगी, पर मिले हुए शरीर आदि को भी रख नहीं सकेगा। केवल लोभ, मोह, दीनता, अभिमान, परिच्छन्नता आदि विकारों में ही आबद्ध हो जाएगा।, इस दृष्टि से सुने हुए प्रभु से भिन्न कोई भी आस्था, श्रद्धा, विश्वास के योग्य नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि संसार और शरीर पर तो विश्वास करूँगा, किन्तु अपने में विश्वास करूँगा। तो इस सम्बन्ध में यह अनिवार्य होगा कि "मैं क्या हूँ" इसकी खोज की जाय। शरीर आदि समस्त दृश्य जिसे मानव 'यह' करके स्वीकार करता है, उसे 'मैं' कह नहीं सकता और आत्मा, परमात्मा करके जिसे सुना है, उसे भी 'मैं' नहीं कह सकता। 'यह' और 'वह' से रहित जिसे 'मैं' करके स्वीकार करता है, उसमें कोई माँग है। स्वभाव-जनित जिज्ञासा और लालसा और भूल-जनित काम मानव अपने में पाता है। काम की निवृत्ति भूल-रहित होने से होती है। काम की निवृत्ति से ही जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य आती है। जिज्ञासा की पूर्ति होने पर स्वतः लालसा की पूर्ति होती है और फिर मानव अनुपयोगी नहीं रहता। अतः सुने हुए प्रभु में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना अथवा अपनी खोज करना-ये दोनों स्वतन्त्र पथ हैं।

दोनों पथों से जिस वास्तविक जीवन की उपलब्धि होती है, वह जीवन एक है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वास एकमात्र उन्हीं में किया जा सकता है, जिन्हें सुना है, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से जाना नहीं है। इन्द्रिय आदि से जो कुछ जाना जाता है, उस पर विचार किया जा सकता है, विश्वास नहीं। शरीर आदि मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग किया जा सकता है, विश्वास

नहीं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि आस्था, श्रद्धा, विश्वास एकमात्र अपने रचयिता में ही किया जा सकता है।

पुरुषार्थ के आधार पर साधक निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है, किन्तु उन सभी को वह अपने ही में स्थापित करेगा अर्थात्, 'मैं निर्विकार, शान्त, स्वाधीन हूँ।' किन्तु आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति के बिना निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता में रमण का त्याग नहीं कर सकता, कारण कि अहम्-भावरूपी अणु निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता आदि का आश्रय पाकर, ज्यों-का-त्यों पुष्ट रहता है और यह अनुभव करता है कि मैं अपनी भूल से विकारों में आबद्ध हो गया था। और भूल-रहित होने से निर्विकारता प्राप्त हो गई।

अब विचार यह करना है। कि भूल-रहित होने की सामर्थ्य यदि अपनी ही थी, तो फिर भूल क्यों की? अपने को विकारी बनाने में प्रवृत्ति क्यों हुई? कभी तो भुल-रहित था ही, अर्थात् निर्विकारता से विकारों में आबद्ध क्यों हो गया? इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि साधक अपने रचयिता की महिमा को स्वीकार कर शरणागत नहीं हुआ, अथवा यों कहो कि मिली हुई स्वाधीनता आदि को अपना मान लिया। इसी कारण निज-ज्ञान का अनादर कर विकारों में आबद्ध हो गया।

जब तक साधक मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को किसी की देन नहीं मानेगा और अपने आश्रय तथा प्रकाशक को स्वीकार नहीं करेगा, तब तक अहम्-भाव के कारण मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर सकता है। इस कारण अपने आश्रय, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति स्वीकार करना अनिवार्य है।

शरणाग ति स्वीकार करते ही, 'यह' और 'मैं' दोनों पर शरण्य की सील लग जाती है, जिसके लगते ही अपने में अपना करके कुछ नहीं रहता, केवल वे ही अपने रह जाते हैं। जो सर्व-समर्थ सभी के अपने हैं, उनकी आत्मीयता ही अपना जीवन रह जाती है। आत्मीयता अगाध प्रियता की जननी है। आत्मीयता प्रियता होकर सर्वाधार को रस देने में समर्थ होती है। साधक का अहम्-भाव साध्य की प्रीति हो जाता है, जो

एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति से ही साध्य है।

अहम् का नाश गुण-दोष रहित होने से ही सम्भव है। साधक पुरुषार्थ पूर्वक दोष-रहित होकर किसी-न-किसी गुण में आबद्ध हो जाता है। साध्य की महिमा स्वीकार करते ही साध्य अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित हो, गुणों के आश्रय से रहित कर, अपनी प्रियता प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, अपनी प्रियता देकर आप रीझ जाते हैं। यह साध्य की महिमा है। फिर भी साधक उस महामहिम की महिमा को अपना कर, आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक उनका न हो जाय, इससे बढ़कर और कोई भारी भूल हो ही क्या सकती है? इस भूल का अन्त शीघ्रातिशीघ्र करना आस्तिक के लिए अनिवार्य है।

शरणागति दीनता नहीं है, अपितु नित्य-सम्बन्ध की स्मृति है। नित्य सम्बन्ध के विस्मृति-काल में ही मानव दीनता, अभिमान आदि विकारों में आबद्ध होता है। अभिमान के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। उसके नाश हुए बिना पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि शेष रहते ही हैं। इस कारण साधक को अपने नित्य-सम्बन्ध की स्मृति जाग्रत करना अनिवार्य है, जो एकमात्र, आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से ही साध्य है।

विस्मृति से ही समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है। कर्तव्य की विस्मृति से अकर्तव्य की, निज-स्वरूप की विस्मृति से देहाभिमान की एवं प्रभु की विस्मृति से अनेक अनित्य सम्बन्धों की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। इस कारण प्रत्येक साधक को अपनी भूल से उत्पन्न हुई विस्मृति का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र साधन-निधि के सम्पादन से ही सम्भव है।

कोई भी मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा वास्तविक जीवन से अभिन्न नहीं हो सकता; कारण, कि मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग जगत् के लिए उपयोगी होता है, अपने लिए नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि जगत् के लिए उपयोगी होने पर साधक जगत् से अतीत के जीवन का अधिकारी हो जाता है अर्थात् वह अपने लिए जगत् की ओर नहीं देखता। जगत् की ओर से आया हुआ मान और भोग भी उसे सन्तुष्ट नहीं

कर पाता। तब साधक अत्यन्त व्याकुल हो, उस जीवन के लिए आकुल हो जाता है, जिसमें किसी प्रकार की नीरसता, पराधीनता तथा अभाव नहीं है, अर्थात् अत्यन्त दुःख की निवृत्ति ही उसकी माँग रह जाती है। पर उसकी पूर्ति के लिए स्वयं कुछ नहीं कर सकता। उस माँग-मात्र को देख, कोई उसका अपना है, जिसको उसने स्वीकार भी नहीं किया, उसकी माँग की पूर्ति कर देता है। जिसके होते ही अहम् नाश हो जाता है।

परम व्याकुलता की जागृति पुरुषार्थ की समाप्ति में होती है। अर्थात् व्याकुलता से जिसकी उपलब्धि होती है, वह पुरुषार्थ-साध्य नहीं है, किन्तु व्याकुलता उसके लिए होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसी में जीवन है। उसी की प्राप्ति अभाव का अभाव करती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जो सदैव सभी का है, उसी की प्राप्ति होती है। उसके स्वीकार करने से उसकी कोई महिमा नहीं बढ़ती और अस्वीकार करने से उसकी कोई क्षति नहीं होती, किन्तु उसकी माँग तो सभी में है ही।

जब केवल माँग रह जाती है, उसकी पूर्ति उसके द्वारा होती है जो 'है'। 'है' को स्वीकार करो अथवा न करों, किन्तु प्राप्ति तो 'है' की ही होती है। यह 'है' की ही महिमा है। साधक की परम व्याकुलता जिससे सहन नहीं होती, वह अपनी करुणा से करुणित हो, साधक की वास्तविक माँग की पूर्ति कर देता है, यह उसका स्वभाव है।

माँग जिसकी होती है, उसमें विलीन होते ही सीमित अहम्-भाव सदा के लिए नष्ट हो जाता है। तब किसी प्रकार की पराधीनता, अभाव तथा नीरसता शेष नहीं रहती, इस दृष्टि से वास्तविक माँग की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

जिसने साधक का निर्माण किया है, उसी ने माँग प्रदान की है और वही पूर्ति करता है। उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना अथवा उसकी दी हुई माँग के लिए परम व्याकुल होना, दोनों ही प्रकार से साधक साधन-निष्ठ हो, कृतकृत्य हो जाता है। अतः अपने रचयिता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना यद्यपि साधक के लिए स्वभाविक है, परन्तु यदि कोई साधक अपने रचयिता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना स्वीकार नहीं करता, तो भी उसे अपनी माँग

की पूर्ति के लिए परम व्याकुल तो होना ही है। माँग की पूर्ति होने पर तो जो सभी का अपना है, उससे अभिन्नता होती ही है। अतः साधक अपनी रुचि, योग्यता सामर्थ्य के अनुसार साधन-निधि से सम्पन्न होने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

उपसंहार

यह सभी को मान्य होगा कि असत् के संग से ही मानव में अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति आदि विकारों का जन्म होता है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी मानव सर्वांश में असत् का संग नहीं कर पाता, इस कारण प्रत्येक मानव में आंशिक कर्तव्य, साधन तथा अनासक्ति रहती ही है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में जब मानव अपने को साधक स्वीकार कर लेता है, तब सत्संगी होकर, उत्पन्न हुए अकर्तव्य, असाधन तथा आसक्तियों से रहित हो, साधन-निधि से सम्पन्न होता है।

साधन-निधि साधक की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज से वही उपलब्ध होता है, जो सदैव, सर्वत्र विद्यमान है। साधन-निधि साध्य का स्वभाव है और साधक का जीवन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निधि से अभिन्न हो, साध्य को पाता है।

सत्संग साधक का सहज तथा स्वाभाविक स्वधर्म है। उसके अपना लेने में किसी प्रकार की असमर्थता तथा पराधीनता नहीं है। परन्तु साधन तथा असाधन के द्वन्द्व में आबद्ध मानव सर्वांश में जब तक सत्संग को अपनाये बिना, बलपूर्वक अपने में साधनों का आरोप कर, असाधन से रहित होने का प्रयास करता रहता है, तब तक असफलता ही पाता है।

बलपूर्वक किया हुआ साधन, साधक में मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो वास्तव में प्रमाद ही है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; कारण, कि प्रमाद ही सर्वनाश का मूल है।

साधन-निधि अविनाशी साध्य का अविनाशी स्वभाव है। सत्संग से ही साधन-निधि से अभिन्नता होती है। सत्संग उसे नहीं कहते, जिसे

साधक प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनता पूर्वक नहीं कर सकता।

प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख से भिन्न कुछ नहीं है। सुख की दासता, दुःख का भय किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। सुख बना रहे, दुःख न आए, यह भले ही कोई पसन्द करता हो, पर सुख का चला जाना तथा दुःख का आना-यह वैधानिक तथ्य है। अर्थात् सुख जाता ही है। और दुःख आता ही है। इस विधान में मानव का अमंगल नहीं है, अपितु मंगल ही है।

यदि आया हुआ सुख न जाता, तो जड़ता का कभी नाश न होता और यदि दुःख न आता, तो कोई भी सजगता पूर्वक दुःख निवृत्ति के लिए तत्पर न होता। यदि दुःख का अन्त सुख में हो जाता और पुनः सुख नवीन दुःख को जन्म न देता, तो मानव साधक होने के लिए कभी तत्पर ही न होता। और साधक बिना हुए सत्संग का प्रश्न ही न आता तथा सत्संग के बिना साधन-निधि की आभिव्यक्ति ही न होती। ऐसी दशा में मानव अपने परम सुहृद रचयिता से विमुख ही रहता। इस दृष्टि से सुख का चला जाना और दुःख का आना मंगलकारी है।

मानव मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से अपना विनाश आप करता है। अतएव स्वाधीनता के दुरुपयोग का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग और दुरुपयोग का परिणाम वैधानिक है, किन्तु मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग अथवा सदुपयोग मानव स्वयं करता हैं। स्वाधीनता का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है।

अब विचार यह करना है कि मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग क्या है, जिसे नहीं करना चाहिए? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक मानव को विचार, भाव तथा क्रिया-शक्ति मिली है। जब मानव निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित तथा पवित्र भाव से भावित हो, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, मिली वस्तु, योग्यता सामर्थ्य आदि का उपयोग नहीं करता-यही मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है।

मानव यह जानते हुए भी कि उसे ईमानदार, श्रमी तथा हित-

चिन्तक साथी चाहिए, वह स्वयं अपने साथियों के लिए वैसा नहीं होता। क्या यह मानव की अपनी ही भूल नहीं है? इस भूल को रखते हुए क्या कोई अपने सत्य को अपना सकता है? इस अपने सत्य को अपनाए बिना, क्या कोई सुन्दर हो सकता है? सुन्दर बिना हुए, अपनी, समाज की तथा रचयिता की दृष्टि में, क्या कोई आदर के योग्य हो सकता है? कदापि नहीं।

अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य वही रख सकता है, जिसने सत्संग से प्राप्त साधन-निधि को अपनाया है।

यह सभी को विदित है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य किसी की देन है। वह दाता भले ही अपना हो, पर उसकी दी हुई वस्तु, योग्यता आदि अपनी नहीं है। यह प्राकृतिक नियम है, कि जो अपनी नहीं है, वह अपने लिए भी नहीं है। अपना ही अपने लिए होता है। यह जानते हुए भी मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की ममता और उसका दुरुपयोग मानव अपनी ही भूल से करता है। उसका परिणाम उसे सभी के लिए अनुपयोगी सिद्ध कर देता है।

मिली हुई वस्तु आदि की ममता अनेक विकारों को जन्म देती है। विकार-युक्त जीवन सभी के लिए अनुपयोगी ही होता है। निर्ममता से प्राप्त 'निर्विकारता' और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग से प्राप्त 'उदारता' सभी के लिए उपयोगी है।

जब साधक में निर्विकारता तथा उदारता की अभिव्यक्ति हो जाती है, तब उसमें निष्कामता तथा अपने अधिकार के त्याग का बल भी आ जाता है, जिसके आते ही साधक में चिर-शान्ति तथा राग से रहित स्वाधीनता की अभिव्यक्ति एवं क्रोध से रहित स्मृति की जागृति होती है, जिसके होते ही साधक को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

अहंकृति-रहित होते ही अहम्-भाव रूपी अणु गल जाता है। फिर साधक की साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है, अथवा यों कहो कि साधन-निधि से अभिन्नता हो जाती है।

यह मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग का परिणाम है। इस दृष्टि से मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से

ही मानव का विनाश हुआ है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

जीवन को अपने लिए उपयोगी सिद्ध करने के लिए निर्ममता, निष्कामता, अपने अधिकार का त्याग तथा अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है। अपने लिए उपयोगी होने पर ही साधक जगत् और जगत्पति के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सत्य है।

अपने लिए उपयोगी होने पर उदारता और प्रियता स्वतः जाग्रत होती है; कारण, कि जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, वह साधक मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा जगत् की सेवा स्वतः करने लगते हैं, अथवा यों कहो कि सेवा उसमें अपने आप होने लगती है। क्रियात्मक सेवा से भावात्मक सेवा उदित होती है, जिससे साधक के जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है। उदारता के आते ही साधक की सभी के साथ आत्मीयता हो जाती है, अर्थात् वह अपने समान ही समस्त विश्व को मानने लगता है।

वह किसी को भय नहीं देता और न किसी से भयभीत होता है। इतना ही नहीं, वह सभी की वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था रखता है।

यदि कोई अपराधी अपनी भूल स्वयं स्वीकार करे, तो भी वह उसे यही परामर्श देता है कि तुम स्वयं की हुई भूल मत दोहराओ, वर्तमान तो निर्दोष है ही। इस भावना और प्रवृत्ति से अपराधी निरपराध होने में तत्पर होता है। इस दृष्टि से उदारता साधक को जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध करती है।

यदि कोई इस उदार साधक के साथ स्वयं बुराई करें, तो भी उसे उस पर करुणा ही आती है, क्रोध नहीं आता; कारण, कि अपने लिए उपयोगी होने के नाते, उसके जीवन में किसी प्रकार की पराधीनता, अभाव और नीरसता तो रहती नहीं, दूसरों की ओर से होने वाली बुराई उसे क्षुभित नहीं कर पाती, अपितु उसका हृदय करुणा से भर जाता है।

वह इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित है कि जिस बेचारे ने प्रमादवश अपने ही साथ बुराई की है, उससे यदि शरीर, वस्तु आदि की कोई क्षति हो रही है, तो वह करुणा का पात्र है, क्रोध का नहीं।

साधक की वह करुणा निरर्थक नहीं जाती, अपितु बुराई करने वाले के लिए भी मंगलकारी सिद्ध होती है। साधक की उदारता साध्य की करुणा है; कारण, कि साधक में साध्य की सत्ता से भिन्न और कुछ रहता ही नहीं। उदारता की अभिव्यक्ति होने पर साधक को यह भास नहीं होता कि मुझ में उदारता है।

अपने में गुणों का भास होना तो अपने लिए अनुपयोगी होना है; कारण, कि गुणों का आश्रय लेकर अहम्भाव रूपी अणु पोषित होता है और गुणों का भास पर-दोष दर्शन को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है।

अपने लिए उपयोगी होने पर दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नही रहता अथवा यों कहो कि साध्य की महिमा ही साधक के द्वारा प्रसारित होती रहती है; कारण, कि उपयोगी साधक में अपने में अपना करके कुछ नहीं रह जाता।

साधन-निधि साध्य ही का तो स्वभाव है और वही साधक का जीवन है। साधन और जीवन में भिन्नता अनुपयोगी दशा में ही शेष रहती है। उपयोगी होने पर साधक और जीवन में भिन्नता नहीं रहती। साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। साधक की दृष्टि में साध्य से भिन्न की सत्ता ही नहीं रहती। साधक साध्य की प्रियता से भिन्न अपना कोई अस्तित्व नहीं पाता। साध्य की प्रियता ही जगत् के प्रति उदारता है। अतः जो अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वही जगत् और जगत्पति के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना, और किसी भी कारण से किसी के प्रति बुराई करने की प्रवृत्ति तो उसी मानव में रहती है जो अपने लिए अनुपयोगी है।

अपने लिए अनुपयोगी बिना हुए कोई भी किसी की क्षति नहीं कर सकता। कोई दुःखी होकर ही अन्य को दुःख देता है। दुःख की अन्तत निवृत्ति न होना अपने लिए अनुपयोगी होना सिद्ध करता है।

जब तक मानव अपने लिए अनुपयोगी है, तब तक उसे सब ओर से विमुख होकर अपने लिए उपयोगी होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है।

उस दशा में भी पर-दोष दर्शन के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; कारण, कि पर-दोष दर्शन करने से अपने दोषों का स्पष्ट दर्शन नहीं होता, अपितु साधक अपनी दोष-युक्त दशा को सहन करता रहता है, जो विकास में बाधक है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रभु, आत्मा और जगत् के नाते सभी अपने हैं। फिर सभी के प्रति अपने समान उदारता और अपने प्रति दूसरों के समान न्याय न करना भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नही है। जिससे कभी कोई भूल न हुई हो, वह तो साधक श्रेणी में आता ही नहीं। उसे तो जन्मजात स्वतः सिद्ध मानना चाहिए। जिसका भूतकाल सदोष रहा हो, उसे किसी को भयभीत करने का अधिकार नहीं रहता।

वास्तविक न्याय तो अपने द्वारा अपने ही प्रति होता है। अपनी भूल से पीड़ित होना, उसे पुनः न दोहराना ही तो न्याय है। न्याय से वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित रहती है। पर दूसरों के प्रति न्याय करने का अधिकार साधक को नहीं है। राष्ट्र के द्वारा भी समुचित न्याय हो नहीं पाता। यदि ऐसा सम्भव होता, तो समाज में बुराई न रहती। इस दृष्टि से भयभीत को वर्तमान निर्दोषता की आस्था देकर करुणा और स्नेह पूर्वक सहयोग देना ही साधक का स्वभाव है।

जो मानव किसी अपराधी को भयभीत करता है और यह सोचता है कि भय देने से समाज में बुराई नहीं फैलेगी, यह मान्यता भ्रमात्मक है। बुराई-रहित होकर सभी को आदर, प्यार देने से समाज ही समाज में निर्दोषता व्यापक होती है।

जो प्राणी सूर्य का प्रकाश पाता है, जल जिसकी प्यास बुझाता है, वायु जिसको साँस लेने देती है, आकाश जिसे अवकास देता है, विश्व-नियन्ता की अहैतुकी कृपा जिसे अपनाने के लिए तत्पर है, क्या वह मानव की तुच्छ उदारता का अधिकारी नहीं है? अवश्य है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपने को साधक स्वीकार कर, अपनी ओर देखे।

किस अपराधी ने जगत् और जगत्पति से क्षमा की याचना नहीं की?

वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखने पर, किस साधक को जगत् की उदारता एवं प्रभु की कृपालुता का अनुभव नहीं हुआ? अर्थात् सभी को हुआ है।

अब केवल यही प्रश्न रह जाता है कि साधक को जगत् के प्रति क्या करना चाहिए? तो सत्संग से प्राप्त साधन-निधि से यही प्रेरणा मिलती है कि किसी को बुरा न समझो, किसी का बुरा न चाहो, किसी के प्रति बुराई न करो। इस महामन्त्र को अपनाते ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता ही है, पर अपना भी कल्याण होता; कारण, कि जो जीवन दूसरों के लिए उपयोगी हो जाता है, उसका परिणाम अपने लिए भी उपयोगी होता है। और जो अपने लिए उपयोगी हो जाता है, वह सभी के लिए उपयोगी हो जाता है। इस दृष्टि से साधक को सजगतापूर्वक दूसरों के लिए उपयोगी होकर, अपने लिए उपयोगी होना और अपने लिए उपयोगी होकर सभी के लिए उपयोगी होना अनिवार्य है।

यह सभी को मान्य होगा कि साधक का अस्तित्व जगत् और जगत्पति से भिन्न नहीं है। जिस किसी में जो कुछ है, वह जगत् और जगत्पति का ही है। यदि साधक के शरीर का सम्बन्ध जगत् से है, तो उसका सम्बन्ध जगत्पति से है। यदि अपने को जगत्पति को अर्पित करना है, तो शरीर को जगत् की सेवा में लगाना है। वास्तव में तो जगत् जगत्पति का ही प्रकाश है। शरीर द्वारा जगत् की सेवा करने में भी जगत्पति की ही सेवा है। जगत्पति ने जगत् का निर्माण अपने ही में से किया है। इस दृष्टि से जगत् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः जगत् की सेवा जगत्पति की पूजा है और जगत्पति की आत्मीयता से जाग्रत जो अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता है, वह जगत्पति के लिए रसरुप है ही, उसकी सद्भावना और उदारता जगत्पति के नाते, जगत् के लिए है। जगत् को साधक की उदारता और जगत्पति को उसकी प्रियता अभीष्ट है।

प्रियता और उदारता तभी सुरक्षित रहती है, जब साधक को किसी से कुछ नहीं चाहिए। जगत्पति की प्रियता ही में जीवन की पूर्णता है। निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता आदि में सन्तुष्ट न होने पर ही जगत्पति

अपनी प्रियता प्रदान करते हैं। अतएव प्रियता की जागृति होने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से जिसे अपने लिए कुछ भी करना व पाना शेष नहीं है, उसी में जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के प्रति प्रियता की जागृति होती है।

मानव का निर्माण उसके रचयिता ने साधन-निधि से सम्पन्न होने के लिए किया है। इसी कारण मानव को सत्संग की स्वाधीनता दी है। पर मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर, असत् के संग से सभी के लिए अनुपयोगी हो गया है।

अनुपयोगी होने पर प्रभु की अहैतुकी कृपा से दुःख का प्रादुर्भाव होता है। जब साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर, असत् के संग का त्याग कर, सत् का संगी हो जाता है, तब शीघ्रातिशीघ्र महामहिम की कृपालुता उसे अपनाकर, साधन-निधि से सम्पन्न कर देती है और फिर साधक सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

साधक साध्य को प्राप्त करने में स्वाधीन है।

यह सभी को मान्य होगा कि असत् के संग से ही मानव में अकर्तव्य असाधन और आसक्ति आदि विकारों का जन्म होता है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी मानव सर्वांश में असत् का संग नहीं कर पाता, इस कारण प्रत्येक मानव में आंशिक कर्तव्य, साधन तथा अनासक्ति रहती है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में जब मानव अपने को साधक स्वीकार कर लेता है, तब सत्संगी होकर, उत्पन्न हुआ अकर्तव्य से रहित हो, साधन-निधि से सम्पन्न होता है।

साधन-निधि साधक की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज से वही उपलब्ध होता है, जो सदैव, सर्वत्र विद्यमान है। साधन-निधि साध्य का स्वभाव है और साधक का जीवन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निधि से अभिन्न हो, साध्य को पाता है।

ॐ आनन्द। ॐ आनन्द। ॐ आनन्द॥

मंगलमयी विधान

'मंगलमयी विधान' में मानव-जीवन के अनेक रहस्यमय वैधानिक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है जिनको पढ़ कर कोई भी साधक अपनी सफलता से निराश नहीं रह सकता। मेरी समझ से आज मानव-समाज की सबसे बड़ी सेवा यही है कि उसे आत्म-विश्वास मिले। वह अपनी सफलता में अपने को स्वाधीन एवं समर्थ माने। 'मंगलमय विधान' को पढ़ने से परिस्थितियों की प्रतिकूलता से घबराये हुए व्यक्ति को एक राह मिलती है। अपने जीवन की महिमा और रचयिता की करुणा एवं हित-भावना से ओत-प्रोत विधान में आस्था होती है जो प्रत्येक मानव के विकास के लिए बहुत ही हितकर है।

जो कुछ हो रहा है, उसके मूल में किसी विधान का होना अनिवार्य है। विधान उसे नहीं कहते जो किसी के लिए अमंगलकारी हो, अपितु विधान सभी के लिए मंगलमय होता है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जो करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहते हैं 'करना', 'होना' और 'है'- इनका भेद जानना अनिवार्य है। 'करने' का आरम्भ होता है, पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर। जब मानव किसी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से तादात्म्य स्वीकार कर लेता है तब वह अपने में परिच्छिन्नता का अनुभव करता है। परिछिन्नता के उत्पन्न होते ही कामनाओं का जन्म स्वतः होता है। कामना प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है। इतना ही नहीं, कामना के अनुरूप मानव में किसी न किसी प्रवृत्ति की रुचि होती है। प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्त शक्ति का ह्रास स्वयं होता है और अन्त में विवश होकर मानव को निवृत्ति अपनानी पड़ती है। किन्तु मंगलमय विधान से, निवृत्तिकाल में स्वतः प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है, जिसके आते ही मानव पुनः प्रवृत्ति को अपनाता है। निवृत्तिकाल में जो सामर्थ्य आती है वह किसी कर्म का फल नहीं हो सकती। कारण कि कर्म का सम्पादन तो प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से होता है जो कर्म-अनुष्ठान से पूर्व ही मिलती है। कर्म का जो कारण है वह कर्म का कार्य नहीं हो सकता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ता को कर्म-सामग्री किसी विधान से मिलती है और उस मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करने के लिए भी प्रत्येक मानव को विवेकरूपी विधान प्राप्त है। विवेकरूपी विधान जिससे प्रकाश पाता है वही अनन्त का मंगलमय विधान है। उसी विधान के अधीन सारी सृष्टि कार्य कर रही है। पर उसी मंगलमय विधान से मानव को यह स्वाधीनता मिली है कि वह मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का विवेकरूपी विधान के अनुरूप सदुपयोग कर सकता है और विवेक का अनादर कर दुरुपयोग भी कर बैठता है। फिर भी परम सुहृद का कैसा उदार विधान है कि वाणी का दुरुपयोग करने पर भी बोलने की शक्ति मिलती ही है!

इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसने बोलने की शक्ति दी है उसने

मानव को मिथ्या बोलने का आदेश दिया है। यदि ऐसा होता तो यह विवेक, कि हमसे कोई मिथ्या न बोले, कैसे प्राप्त होता? यह जानते हुए भी कि हमसे कोई मिथ्या न बोले, हम मिथ्या बोलते हैं, अर्थात् अपने प्रति बुराई न चाहते हुए भी, पर के प्रति बुराई कर बैठते हैं। यह स्वाधीनता मानवेतर किसी और प्राणी को नहीं है। प्राप्त विवेक के अनुरूप करने-धरने, रहने आदि की प्रेरणा मंगलमय विधान से मानव को मिली है, पर स्वाधीनता के कारण, मानव विधान का अनादर करता है। उसका परिणाम यह होता है कि समस्त सृष्टि का सिरमौर मानव अनेक प्रकार की पराधीनता, जड़ता, अभाव, आदि में आबद्ध हो जाता है। यह विधान के अनादर का परिणाम हैं।

असमर्थता आ जाने पर तो किसी से कोई बुराई होती ही नहीं, यह कैसा अनुपम विधान है! इतना ही नहीं, असमर्थता अनुभव करते ही सर्व-समर्थ का आश्रय स्वतः प्राप्त होता है। कितनी अगाध करुणा है उस विधान में! सामर्थ्य का दुरुपयोग ही अकर्तव्य है। अनेक बार सामर्थ्य का दुरुपयोग करने पर भी सामर्थ्य मिलती ही रहती है। विवश होकर भले ही विधान मानव को रोग, शोक आदि में आबद्ध करे, उसमे भी उसकी अपार करुणा है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब दुःखी पर वैधानिक दृष्टि से आये हुए दुःख का प्रभाव हो जाता है। दुःख, जो स्वभाव से ही प्रिय नहीं है, जिसकी कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करता, उसका निर्माण एकमात्र मंगलमय विधान से ही होता है। सुख का चला जाना और दुःख का आ जाना- इस विधान से सभी भलीभाँति परिचित हैं। पर विधान का आदर न करने से सुख का जाना और दुःख का आना मानव को रुचिकर नहीं होता। पर जिन्होंने विधान का आदर किया है, वे मानव यह भलीभाँति अनुभव करते हैं कि सर्वतोमुखी विकास के लिए सुख का जाना और दुःख का आना अनिवार्य है।

सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर जो विकास होता है, असमर्थ होने पर भी वही विकास होता है। यह कैसा विचित्र विधान है जिससे समर्थ और असमर्थ दोनों का हित निहित है! सामर्थ्य के दुरुपयोग का परिणाम यदि रोग और शोक न होता तो न

जाने कितना भयंकर विप्लव हो जाता। प्रवृत्ति के अन्त में यदि सामर्थ्य के ह्रास का विधान न होता तो मानव न जाने कब तक के लिए प्रवृत्ति में ही आबद्ध रहता। यदि जन्म के साथ मृत्यु, संयोग के साथ वियोग, उत्पत्ति के साथ विनाश और प्रवृत्ति के साथ असमर्थता न होती तो न जाने कितनी भयंकर दुर्दशा मानव-समाज की हो जाती।, मृत्यु वियोग, विनाश और असमर्थता क्या मानव को अविनाशी, नित्य, अनन्त, दिव्य-चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर होने का पाठ नहीं पढ़ातीं? यह सभी को विदित है कि पराधीनता की पीड़ा ने ही स्वाधीनता की माँग प्रदान की है। इसी प्रकार किसी न किसी अभाव से ही पूर्णता की माँग जाग्रत होती है। इतना ही नहीं, वर्तमान की वेदना में ही भविष्य की उपलब्धि निहित है। इस विधान की जितनी महिमा गाई जाय, कम है।

विधान में आस्था उन्हीं प्राणियों को नहीं होती जो बल के दुरुपयोग को ही जीवन मान लेते हैं। यद्यपि सबल से सभी रक्षा की आशा करते हैं, किन्तु वे स्वयं निर्बलों के प्रति बल का दुरुपयोग कर बैठते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि सबल निर्बल हो जाता है और निर्बल सबल। जिसका अधिकार किसी की उत्पत्ति में नहीं है, वह किसी का विनाश भी नहीं कर सकता बल्कि बल के दुरुपयोग से वह निर्बलता का आह्वान करता है, जो भूल है। मंगलमय विधान किसी को निर्बल देखना नहीं चाहता, पर जब मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, तब उसको दुरुपयोग से बचाने के लिए उसे निर्बल करना पड़ता है। इसमें भी कितना हित निहित है! पर उसे वे ही देख पाते हैं, जिन्होंने विधान का आदर किया है। जो हो रहा है, वह सभी के लिए हितकर है, पर जो कर रहे हैं, उसी पर विचार करना है।

विवेक-विरोधी सम्बन्ध, विश्वास तथा कर्म विधान का अनादर है। उसी का परिणाम है अर्कत्तव्य, आसक्ति, असाधन आदि की उत्पत्ति, जो विनाश का मूल है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में ही कर्तव्यपरायणता और विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग में असंगता एवं विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करते ही उसकी शरणागति स्वतः प्राप्त होती है जिसे देखा नहीं है। विधान का आदर करने पर

कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति स्वतः प्राप्त होती है। कर्तव्यपरायाणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए और शरणागति प्रभु के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से विधान के आदर मे ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

यह कैसा अलौकिक विधान है कि वास्तविकता के किसी भी अंग को पूर्ण-रूपेण अपना लेने पर सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है अर्थात् कर्तव्यपरायणता आ जाने पर असंगता तथा शरणागति स्वतः आ जाती है। उसी प्रकार असंगता अपना लेने पर कर्तव्यपरायणता एवं शरणागति स्वतः आ जाती है और शरणागत होने पर कर्तव्यपरायणता एवं असंगता स्वतः आ जाती है।

यह कैसा अनुपम विधान है कि दो मानव भी सर्वांश में समान रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के नहीं हैं, पर वास्तविक माँग सभी की एक है। अनेक भेद होने पर भी वास्तविक माँग की पूर्ति हो सकती है।

व्यक्तिगत भिन्नता के कारण श्रम-साध्य उपाय सभी के लिए समान रूप से सम्भव नहीं है। इसलिए श्रम-साध्य उपायों का सम्बन्ध एक मात्र प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही है। परिस्थिति का सदुपयोग करने पर, जो सभी परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन है, उसमें मानव का प्रवेश एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। यह कैसा अनुपम विधान है कि व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी सर्वोत्कृष्ट जीवन में विश्राम के द्वारा सभी साधकों का समान रूप से प्रवेश हो सकता है। विधान करुणा, उदारता, आत्मीयता से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से विधान के आदर में ही मानव का सर्वतोतुखी विकास निहित है। ज्यों-ज्यों विधान की महिमा स्पष्ट होती जाती है, त्यों-त्यों विधायक में अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास होता जाता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव विधान से मिले हुए प्राप्त ज्ञान का आदर कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय।

व्यक्तिगत भिन्नता में भी विधान का एक अद्‌भुत चमत्कार है, कारण कि व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर ही व्यक्ति और समाज, शरीर और विश्व, दो वर्गों, दो देशों, दो दलों में एकता की स्थापना होती है। व्यक्तिगत भिन्नता एक दूसरे के लिए

पूरक है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत भिन्नता भी वैधानिक तथ्य है। समस्त भिन्नता के मूल में एक स्वरूप की एकता है। वह एकता ही भिन्नता के द्वारा एक दूसरे के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। किन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव यह स्वीकार करे कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह दूसरों के लिए हैं, अपने लिए नहीं। अपने लिए तो एकमात्र विश्राम से साध्य देहातीत वास्तविक जीवन ही है। जब मिला हुआ अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है तो विषमता में भी एक अद्‌भुत समता है। हे विधान के निर्माता! तेरी महिमा का वारापार नहीं है।

विधान जिससे निर्मित है, न जाने उसमें कितनी करुणा है! भिन्नता में साक्षात् एकता का दर्शन! इस दृष्टि से भिन्नता एकमात्र सृष्टि की शोभा है, और कुछ नहीं। अनेकता में एकता का दर्शन होने से रस की वृद्धि होती है और एकता में एकता का अनुभव करने से केवल दुःख की निवृत्ति होती है। दुःख की निवृत्ति वास्तविक माँग का एक अंग मात्र है, सर्वांग नहीं। दुःख-निवृत्ति के साथ-साथ अनन्त, नित्य चिन्मय तथा नित-नव रस की भी माँग है। असंगता प्राप्त होने पर दुःख-निवृत्ति, शान्ति तथा स्वाधीनता की प्राप्ति होती है, किन्तु स्वाधीनता का आश्रय पाकर अहंभाव जीवित रहता है, कारण कि जो दुःख, अशान्ति, पराधीनता अनुभव करता था वही दुःख-निवृत्ति, शान्ति एवं स्वाधीनता अनुभव करता है। इस दृष्टि से असंगता अपने लिए उपयोगी है। पर जिसके मंगलमय विधान से विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग की सामर्थ्य मिलती है उसके लिए जीवन शरणागति से ही उपयोगी होता है। शरणागति अहम् को शरण्य की अगाध प्रियता में परिणत करती है, जिससे जीवन शरणय के लिए उपयोगी होता है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में ही कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है जिससे जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। विवेकरूपी प्रकाश अनन्त के मंगलमय विधान का प्रतीक है। विधान का आदर करने पर विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त स्वतः हो जाता है जिसके होते ही कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है जिसमें मानव का

लेशमात्र भी प्रयास अपेक्षित नहीं है। मानव का प्रयास केवल प्राप्त विवेक के आदर में हैं, अर्थात् जाने हुए असत् के त्याग में है। सत् के संग और सर्वतोमुखी विकास के लिए साधन की अभिव्यक्ति मंगलमय विधान से स्वतः होती है। इस दृष्टि से विधान के आदर में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

मानव भले ही, जो हो रहा है उसका प्रमादवश आदरपूर्वक स्वागत न करे, पर जो व्यक्ति का किया हुआ नहीं है वह समष्टि शक्तियों से निर्मित है। समष्टि शक्तियाँ मंगलमय विधान के अधीन हैं। यह सभी को विदित है कि शक्ति पर-प्रकाश्य होती है। उसका उपयोग करने के लिए विधान अपेक्षित होता है। मानव-जीवन में सामर्थ्य के सदुपयोग का महत्व है, जो दुरुपयोग न करने पर स्वतः होने लगता है। सामर्थ्य के दुरुपयोग करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। शक्ति स्वतः कर्ता नहीं है, वह किसी विधान के आश्रय में कार्य करती है। यदि सामर्थ्य स्वयं कर्ता होती तो कोई भी सबल निर्बल पर अत्याचार कर ही नहीं सकता था। पर यह सभी का अनुभव है कि शक्ति का उपयोग किसी अन्य के द्वारा होता है। जिसके प्रकाश में शक्ति का उपयोग करना है, वह विधान है। जो प्राणी स्वार्थ-भाव में आबद्ध होकर किसी के विनाश में अपने विकास का प्रयास करते हैं, वे आरम्भ में भले ही सफलता अनुभव करें, पर परिणाम में अपना विनाश ही करते हैं। इस दृष्टि से विधान का बड़ा महत्व है।

किसी भी मानव को विधान-विरोधी कार्य में प्राप्त सामर्थ्य, वस्तु, योग्यता आदि के उपयोग का अधिकार नहीं है, अर्थात् मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। विधान पर कोई विजयी नहीं हो सकता। कारण कि अपार शक्ति विधान के अधीन है और विधान से किसी का अहित नहीं होता, क्योंकि विधान का निर्माण सर्वहितकारी सद्भावना से हुआ है। विधान उसी की विभूति है जो सभी का आश्रय तथा प्रकाशक है। विधान किसी व्यक्ति की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज उसी की होती है जो विद्यमान है। राग-रहित होने पर ही मानव विधान की खोज कर सकता है। राग-रहित होने के लिए ही प्रत्येक उत्पत्ति

में सतत परिवर्तन है। सतत परिवर्तन का अनुभव करते ही अनुत्पन्न तत्व की माँग मानव में स्वतः होती है। इस दृष्टि से परिवर्तन का विधान कितना मंगलमय है! यदि उत्पन्न हुई वस्तुओं में सतत परिवर्तन न होता तो पर-प्रकाश्य वस्तुओं से अतीत स्वयं-प्रकाश जीवन की माँग ही न होती। अतः जो हो रहा है उसमें सभी का मंगल है। करने और होने मे एक बड़ा भेद है। कर्ता में करने का राग अंकित होता है, होने का नहीं। किये हुए का राग मानव को पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध करता है जो विनाश का मूल है। विधान के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति कर्ता को करने के राग से रहित करती है और प्रलोभन तथा भय में आबद्ध होकर की हुई प्रवृत्ति कर्ता में नवीन राग उत्पन्न करती है। विधान का आदर करने पर प्रलोभन तथा भय शेष नहीं रहते, कारण कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है अर्थात् निर्ममता को अपना लेना विधान का आदर है। निर्मम होते ही निष्कामता स्वतः प्राप्त होती है जो विकास का मूल है।

जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है वह उससे मिला है जो उसका परम सुहृद है और उसी के द्वारा निर्मित मंगलमय विधान है अर्थात् अपने को जो मिला है वह विधान से मिला है। मिले हुए के दुरुपयोग से निर्बलता स्वतः आती है और मिले हुए के सदुपयोग से उत्तरोत्तर बल की वृद्धि स्वतः होती है। बल के दुरुपयोग से निर्बलता और सदुपयोग से बल की वृद्धि होती है। मिले हुए के सदुपयोग एवं दुरुपयोग की स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। किन्तु दुरुपयोग करने पर निर्बलता अवश्य आयेगी, इसमें मानव का कोई वश नहीं। इस कारण करने में सावधान रहना अनिवार्य है; किन्तु जो हो रहा है, वह मंगलकारी है, यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब होने में शान्त होकर, जो हो रहा है, उसका प्रभाव होने दिया जाय। आयी हुई निर्बलता से व्यथित होने पर बल के सदुपयोग की प्रेरणा मिलती है। यह होने के प्रभाव का ही तो परिणाम है। इस कारण होना मंगलकारी है। बाह्य दृष्टि से देखने पर शरीर का नाश अमंगलकारी प्रतीत होता है, किन्तु देहाभिमान गलाने की प्रेरणा और नवीन सुन्दर शरीर की उपलब्धि इस होने से ही तो सिद्ध होती है।

जो हो रहा है, उसका पूरा प्रभाव अपना लेने पर मिले हुए से अतीत में प्रवेश होता है और फिर किसी प्रकार की पराधीनता, जड़ता, अभाव एवं नीरसता शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से जो हो रहा है वह मंगलकारी है। करने में सावधान रहने की प्रेरणा, जो हो रहा है उसी के परिणाम से मिलती है। अतः जो हो रहा है, उसके प्रभाव को अपनाना है, उसमें प्रसन्न और शान्त रहना है। जो हो रहा है, उसमें व्यक्ति का अहं सम्मिलित नहीं होता, इस कारण होने में कर्तापन का अभिमान नहीं है; अपितु होना विधान से सम्बन्ध रखता है और करना व्यक्ति में से उत्पन्न होता है। इसी कारण करने के राग में आबद्ध मानव वह भी कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए। किन्तु करने का फल समष्टि शक्तियों के द्वारा विधान के अधीन होता है। जो होता है वह मंगलमय है। 'जो हो रहा है', उसे आस्तिक भक्तों ने भगवान् की लीला मानकर भगवत्-प्रेम को प्राप्त किया, विचारकों ने उसके प्रभाव से प्रभावित होकर नित्य जीवन की खोज की और कर्तव्यनिष्ठ मानव ने उसके परिणाम को देख बल के सदुपयोग करने की प्रेरणा को अपनाया। अतः जो रहा है, वह सभी के लिए मंगलमय है।

शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शरीर और विश्व दोनों का मालिक एक है, दो नहीं। किन्तु शरीर को अपना मानना और समस्त विश्व को अपना न मानना क्या विधान का अनादर नहीं है? अर्थात् अवश्य है। इस विधान के अनादर का बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि दो व्यक्तियों, वर्गों, देशों तथा इज्मों एवं मजहबों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो गया है जो विनाश का मूल है।

शरीर से तादात्म्य स्वीकार करना भूल है। यह भूल तभी होती है जब मानव वास्तविकता का आदर नहीं करता। वास्तविकता और विधान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कारण कि 'है' और 'नहीं' का स्पष्टीकरण ही तो वास्तविकता है, जो वैधानिक है। जब व्यक्तिगत कोई वस्तु है ही नहीं, तब वस्तुओं का दुरुपयोग करना, उनके संग्रह में रुचि रखना, उनका उपयोग सर्वहितकारी सद्भावना से न करना क्या जड़ता नहीं है? अर्थात् अवश्य है। जड़ता में आबद्ध मानव चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है।

इस कारण विधान का अनादर विनाश का मूल है।

मिली हुई वस्तु किसी की देन है। वस्तु पर अधिकार मानना और दाता को भूल जाना क्या विधान का अनादर नहीं है? अब यदि कोई यह कहे कि दाता को तो देखा नहीं। तो जो वस्तु अपनी नहीं है, वह किसी अन्य की अवश्य है। जिसकी वह वस्तु है उसने इस अनुपम ढंग से मानव को दी है कि उसे वह मिली हुई वस्तु अपनी ही प्रतीत होती है। पर विवेकरूपी प्रकाश से यह भी स्पष्ट होता है कि वह वस्तु अपनी नहीं है। 'अपनी' है और 'अपनी नहीं है'-इस पहेली पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सदुपयोग मात्र के लिए तो मिली हुई वस्तुओं पर अपना अधिकार है और निर्मम होने के लिए वस्तु अपनी नहीं है। वस्तुओं का सदुपयोग करने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है और निर्मम होने से मानव में निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। उस दाता का कैसा अनुपम विधान है कि उसने उपयोग का तो अधिकार दिया है और ममता के त्याग का पाठ पढ़ाया है। एकता और निर्विकारता की प्राप्ति जिस मंगलमय विधान से होती है उसका आदर करना मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। एकता में समस्त संघर्षों का विनाश है और निर्विकारता में सौन्दर्य विद्यमान है। संघर्ष का नाश और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति विधान के आदर में निहित है। विधान का अनादर करने पर ही संघर्ष एवं असुन्दरता की उत्पत्ति होती है। अतएव विधान का अनादर करना भारी भूल है।

यह सभी को मान्य होगा कि मानव अपनी पराधीनता से परिचित है। जिस ज्ञान के द्वारा मानव को अपनी पराधीनता का परिचय होता है वह ज्ञान मंगलमय विधान से मानव को प्राप्त है। किन्तु जब तक मानव पराधीनता से रहित होने के लिए आकुल-व्याकुल नहीं होता, तब तक मिले हुए ज्ञान का आदर नहीं करता। ज्ञान के अनादर में विधान का अनादर है और विधान के अनादर में अपना विनाश है। अतः निज ज्ञान का आदरपूर्वक अनुसरण करते ही विधान के आदर की सामर्थ्य और विधान का बोध स्वतः होता है। सर्वांश में विधान का बोध राग-रहित होने से ही होता है। पराधीनता असह्य हो

जाने पर राग-रहित होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से विधान के आदर से राग-रहित और राग-रहित होने से विधान का बोध होता है।

रागयुक्त प्राणी न तो विधान को जान ही पाता है और न उसका आदर ही कर पाता है। राग का अन्त करने के लिए ही न चाहने पर भी सुख चला जाता है। सुख के जाने पर दुःखी हो जाना विधान का अनादर है। सुख आने पर उसका उदारतापूर्वक सदुपयोग न करना, अपितु सुख में आसक्त हो जाना विधान-विरोधी कृत्य है। जिससे स्वतः हो रहा है वही विधान है। अर्थात् कर्तव्य के अभिमान तथा कामना से रहित जो गतिशीलता है वह विधान के आश्रित है। निष्कामता की प्राप्ति के लिए ही कामना-आपूर्ति का दुःख तथा कामना-पूर्ति में पराधीनता का अनुभव होता है। यद्यपि कामना-पूर्ति-आपूर्ति की परिस्थिति मानवेतर अन्य योनियों में भी है, पर मानव विधान का महत्व न जानने के कारण कामना-आपूर्ति को अपना दुर्भाग्य और कामना-पूर्ति में अपना सौभाग्य मान बैठता है। यदि कामना-पूर्ति-आपूर्ति सौभाग्य तथा दुर्भाग्य है तो वह पशु-पक्षी आदि योनियों को भी प्राप्त है। मानव-जीवन में दुर्भाग्य केवल प्रमादवश विधान के अनादर से ही आता है और परम सौभाग्य तब उदित होता है जब मानव विधान का आदर कर निश्चिन्त तथा निर्भय होता है। विधान जिसका प्रकाश है, वही सर्व का प्रकाशक है। उसने विधान के पालन का दायित्व मानव को दिया। अन्य योनियों में तो विधान का पालन कराया जाता है। अतः मानव को जो स्वाधीनता दी है, वह किसी और प्राणी को नहीं दी।

जिन प्राणियों ने सुख-दुःख के भोगने में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार की है वे विधान का आदर नहीं कर सकते। मानव-जीवन में सुख-दुःख का भोग नहीं करना है, अपितु सदुपयोग करना है। सुख-दुःख के सदुपयोग की प्रेरणा वैधानिक है। कारण कि जिससे नित्य-सम्बन्ध नहीं रहता वह जीवन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सुख-दुःख साधन-सामग्री है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री का सदुपयोग न करना विधान का अनादर है। विधान का आदर करने के लिए मानवमात्र को उत्साह-पूर्वक तत्पर रहना अनिवार्य है। विधान का

आदर करने पर प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है, अर्थात् विषमता मे समता का स्पष्ट दर्शन होता है, जो विकास का मूल है।

जिस प्रकार भूख, प्यास, सभी की समान है और तृप्ति में भी एकता है उसी प्रकार शान्ति, स्वधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति में भी सभी समान हैं। भोजन और साधन दो व्यक्तियों का भी सर्वांश में समान नहीं है। किसी न किसी अंश में विषमता रहती ही है। दो व्यक्तियों की भी रुचि, सामर्थ्य तथा योग्यता एक नहीं है, किन्तु लक्ष्य सभी का एक है। यदि इस वैधानिक तथ्य का आदर किया जाय, तो भोजन तथा साधन की भिन्नता रहने पर भी परस्पर एकता रह सकती है। लक्ष्य की एकता और योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि भिन्नता स्वीकार करना विधान का आदर है। लक्ष्य की एकता मानव को प्रीति की एकता का पाठ पढ़ाती है और परिस्थिति की भिन्नता साधन की भिन्नता का आदेश देती है। प्रीति की एकता परस्पर संघर्ष का अन्त करती है और साधन की भिन्नता मानव-मात्र को स्वाधीनतापूर्वक साध्य से अभिन्न कराती है। इस दृष्टि से भिन्नता और एकता का सदुपयोग करने पर सभी मानव कृतकृत्य हो सकते हैं। भिन्नता और एकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर्वतोमुखी विकास के लिए भिन्नता तथा एकता दोनों ही अपेक्षित हैं। इस दृष्टि से भिन्नता और एकता का होना वैधानिक है। भिन्नता के आधार पर प्रीति का भेद स्वीकार करना परस्पर संघर्ष को जन्म देना है जो विनाश का मूल है। लक्ष्य की एकता होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार न करना परिच्छिन्नता तथा भेद को पोषित करना है जो ह्रास का मूल है।

वास्तविकता की माँग की जागृति वैधानिक तथ्य है और अस्वाभाविक इच्छाओं में आबद्ध हो जाना विधान का अनादर है। अब यदि कोई यह कहे कि भूख-प्यास आदि मूल प्रवृत्तियाँ (InstIncts) तो स्वाभाविक हैं। स्वाभाविक उसे नहीं कहते जिसके अन्त में अभाव ही शेष रहे। इच्छाओं के अनुरूप प्रवृत्ति का परिणाम क्या अभाव-रूप नहीं है? यदि है तो इच्छाएँ अस्वाभाविक हैं, स्वाभाविक नहीं। परन्तु विवेकरूपी विधान का अनादर करने पर देहाभिमान के कारण इच्छाओं में स्वाभाविकता प्रतीत होती है। किन्तु

जब सभी कामनाएँ पूरी होती ही नहीं, तो कामनाओं को स्वाभाविक मानना क्या विधान का अनादर नहीं है? अर्थात् अवश्य है। सभी कामनाओं के मूल में जो मानव की स्वाभाविक माँग है, उसका अनुभव तभी होता है जब इस विधान का उत्साहपूर्वक आदर किया जाय कि कामना-पूर्ति-जनित सुखलोलुपता वास्तविक जीवन नहीं है। सुखलोलुपता का अन्त करने के लिए ही कामना-आपूर्ति का विधान है। अतः कामना-आपूर्ति जनित वेदना कामना-पूर्ति जनित सुखलोलुपता के नाश के लिए साधन-रूप है। इस रहस्य को स्पष्ट जान लेने पर कामना-आपूर्ति में भी विकास निहित है।

कामना-पूर्ति तो केवल कौतूहल-मात्र है जिसके आरम्भ और अन्त में अभाव और मध्य में पराधीनता है। वह मानव की वास्तविक माँग नहीं हो सकती। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-पूर्ति मानव की माँग नहीं है, अपितु सुख-दुःख की अनुभूति कराने में हेतु है। सुख की अनुभूति होने पर उदारता को और दुःख की अनुभूति होने पर त्याग को अपनाना विधान का आदर है। सुख में उदारता को भूल जाना अपने को सुखासक्ति मे आबद्ध करना है, और दुःख में त्याग को न अपनाना दुःख से भयभीत होना है। सुख की दासता तथा दुःख का भय तभी तक जीवित रहता है जब तक मानव विधान का आदर नहीं करता, जो अवनति का मूल है। सुख-दुःख की अनुभूति के आधार पर ही मानव परिच्छिन्नता को जीवित रखता है, यद्यपि विधान के अनुसार सुख जाता है और दुःख आता है। दोनों एक काल में नहीं रहते, परन्तु सुख-दुःख के जाने-आने की गति इतनी तीव्र तथा सूक्ष्म है कि वर्तमान में दुःख भोगते हुए भूतकाल की सुखद स्मृति और वर्तमान में सुख भोगते हुए भूतकाल की दुःखद स्मृति रहती है। स्मृति जिसकी होती है उसकी दूरी सिद्ध करती है। अतः दुःख-काल में दुःख और सुख-काल में सुख भले ही प्रतीत हो, पर ये दोनों एक साथ एक काल में नहीं रहते।

यदि दुःख के आने पर सुख की स्मृति को महत्व न दिया जाय तो दुःख का प्रभाव सुख के राग का अन्त कर सकता है। परन्तु मानव प्रमादवश दुःखकाल में सुखद

स्मृतियों के आधार पर सुख की आशा करता रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि न तो सुख ही रहता है और न दुःख का प्रभव ही हो पाता है। यह भूल मानव से तभी होती है जब वह गतिशील जीवन में स्थायित्व को स्थापित करना चाहता है। सुख-काल में यदि दुःखद स्मृति न रहे तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक सुख की वास्तविकता का बोध हो सकता है, जिसके होते ही सदा के लिए पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन मिट जाता है, जो विकास का मूल है। उसी प्रकार दुःख में यदि सुखद स्मृतियों को महत्व न दिया जाए तो दुःख का प्रभाव दुःखी को दुःख-रहित कर उस जीवन से अभिन्न कर देता है जिसमें शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है, जो मानव की वास्तविक माँग है। इस दृष्टि से सुख का जाना, दुःख का आना जिस विधान से होता है वह कितना मंगलमय है!

अब यदि कोई यह कहे कि मंगलमय विधान मानव को स्वभाव से प्रिय क्यों नहीं है? तो गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि विधान उसी को प्यारा लगता है जो मानव अपने को साधक मानता है। जिसने यह अनुभव ही नहीं किया कि मानव-जीवन साधन-युक्त जीवन है, अर्थात् मानव का निर्माण साधन-निष्ठ होने के लिए ही है, उसे मंगलमय विधान स्वभाव से कैसे प्रिय लग सकता है? यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति किसी भी मानव में नहीं है, परन्तु मानव इस तथ्य को भूल जाता है और अपने को साधक मानने के लिए तत्पर नहीं होता। भला ऐसा कौन मानव है जिसकी कोई माँग न हो और जो स्वभाव से ही अपना कोई दायित्व न मानता हो। माँग और दायित्व का पुंज ही तो मानव है। किसी उत्पन्न हुई वस्तु-मात्र का नाम मानव नहीं है।

माँग क्या है? इसका निर्णय तभी सम्भव होता है जब सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। सुख भोगने पर दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है। सुख भले ही भाता हो पर दुःख तो किसी को नहीं सुहाता। किन्तु इस विधान पर दृष्टि न रखने से कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ेगा, मानव कामना-पूर्ति-आपूर्ति-जनित पराधीनता में जीवन मान लेता है। पर उस मान्यता को सुरक्षित नहीं रख

पाता। जो सम्भव नहीं है उसी को जीवन मान लेना विधान का अनादर है। उसका परिणाम यह होता है कि "मानव साधक है", इसकी विस्मृति हो जाती है, जो विनाश का मूल है। जब मानव अपने को साधक मान लेता है तब उसे जो कुछ मिलता है वह साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं प्रतीत होता। साधक को प्राप्त साधन-सामग्री का सदुपयोग करना है, उस सामग्री में ममता नहीं करना है और न उससे तद्रूप हो जाना है। मिले हुए में ममता न करने पर मिले हुए के सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वतः आ जाती है। मिले हुए का सदुपयोग करने पर करने का राग शेष नहीं रहता। करने के राग का अन्त होते ही जो होना चाहिए वह स्वतः होने लगता है और उसका परिणाम यह होता है कि जो मिलना चाहिए वह बिना ही माँगे स्वतः प्राप्त होता है। प्राप्ति का अर्थ यह नहीं है कि जिससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता सुरक्षित नहीं रह सकती, वह प्राप्त है। जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध नहीं है पर उसे ममता है, वह प्राप्ति के अर्थ में नहीं आता। वह तो मिला हुआ है। मिले हुए के सदुपयोग का विधान है। उसमें ममता करना विधान का अनादर है। इस दृष्टि से प्राप्ति के अर्थ में केवल शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम ही है। जिससे मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी होता है, उससे अभिन्न होने में विधान का आदर ही एकमात्र हेतु है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने को साधक स्वीकार करता है।

यदि मानव-जीवन में कोई माँग न होती और उस पर कोई दायित्व न होता तब तो मानव को साधक मानना भूल होती है। परन्तु कोई भी मानव यह अनुभव नहीं करता कि मेरी कोई माँग नहीं है और मुझ पर कोई दायित्व नहीं है। भला ऐसा कौन मानव है जिसमें सन्देह-जनित वेदना से जिज्ञासा की जागृति न हो। यह कैसा अनुपम विधान है कि जो प्रयत्क्ष इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखने में आता है उस पर मानव को सन्देह होता है और फिर वह उसकी वास्तविकता को जानना चाहता है और अपने सम्बन्ध में भी यह जिज्ञासा करता है कि 'मैं' क्या हूँ, 'यह' क्या है। मैं क्या हूँ, यह जिज्ञासा किसी विधान की ही देन है। जब तक

जिज्ञासा सुषुप्तिवत् रहती है तब तक मानव में 'यह' की ममता तथा कामना रहती है। ममता तथा कामना से रहित जीवन का अनुभव भले ही न हो, पर ममता तथा कामना का दुष्परिणाम तो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। जो अभीष्ट नहीं है वह जीवन नहीं है। इसी कारण ममता और कामना के त्याग का दायित्व मानव पर है जिसके पूरा करने पर निर्विकारता तथा परम शान्ति की अभिव्यक्ति उसी मंगलमय विधान से स्वतः होती है। निर्विकारता तथा शान्ति की उपलब्धि होने पर मानव स्वतः उनसे असंग होता है, और फिर यह प्रश्न कि 'मैं' क्या है, अपने आप हल हो जाता है।

यह कैसा मंगलमय विधान है कि जब मानव दायित्व पूरा करता है तब माँग पूरी होती है। दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य विधान से मिलती है। इस दृष्टि से विधान मंगलकारी है। विधान में आस्था, श्रद्धा, विश्वास होने पर मानव करने में सावधान तथा होने में प्रसन्न रहता है। सावधानी कर्तव्यपरायणता की जननी है और प्रसन्नता क्षोभ तथा क्रोध के नाश में समर्थ है। कर्तव्यपरायणता से मानव जगत् के लिए और क्षोभ तथा क्रोध से रहित होने पर अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। पर जिस विधान के आदर से मानव अपने लिए तथा जगत् के लिए उपयोगी होता है, उस विधान का विधायक न जाने कितना सुन्दर है! अब यदि कोई यह कहे कि विधान तो है पर विधायक नहीं है। यह कथन ऐसा ही होगा जैसे कोई कहे कि प्रकाश और उष्णता तो है, पर सूर्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि बुद्धि-दृष्टि से जो कुछ देखा जाता है उसको तो स्वीकार किया और जो बुद्धि का प्रकाशक है उसको अस्वीकार किया। उसके अस्वीकार करने पर भी वह सभी के लिए समान है। कारण कि यह तो उसी की महिमा है कि जिसने ऐसे मानव का निर्माण किया कि जो उसे ही अस्वीकार कर सकता है।

विधान का आदर करने पर जीवन अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी होता है, और विधायक में अविचल आस्था करने पर मानव विधायक के लिए उपयोगी होता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने अपनी माँग का सांगोपांग अनुभव किया है। मैं दुःखी हूँ मैं सुखी हूँ-यह तो प्राणीमात्र की अनुभूति है।

पर जो विधान मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित होने के लिए प्रेरित करता है उसी विधान से प्राप्त विवेक के प्रकाश में मानव निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता को अपनाकर यह अनुभव करता है कि मुझमें सुख की दासता अर्थात् पराधीनता की गन्ध भी नहीं है और मुझ तक दुःख की भी पहुँच नहीं है। यदि यह महिमा मानव की अपनी थी तो उसने दीर्घकाल तक अपने को सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध क्यों किया? भला कोई स्वाधीन स्वेच्छा से पराधीनता, दुःख तथा अभाव में आबद्ध होगा? कदापि नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित होने के लिए विकास स्वतः होता है। तो क्या विकास के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है जो नहीं है? अर्थात् प्राप्ति उसी की होती है जो सदैव है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि समस्त सृष्टि जिसकी ओर निरन्तर दौड़ रही है, जिज्ञासु उसी की खोज में और श्रद्धावान उसी की प्रीति में तत्पर हैं। खोजकर्ता अपनी खोज से अभिन्न होता है। प्रीति दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती।

अतः कैसा अनुपम विधान है कि जिज्ञासु और श्रद्धालु दोनों ही अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य एवं योग्यता के सदुपयोग द्वारा वास्तविक जीवन से अभिन्न होते हैं। जो जानने में आता है वह 'यह' के अर्थ में लिया जा सकता है, उसे 'मैं' कहना भूल है। बुद्धि-दृष्टि से जिसकी अनुभूति होती है वह 'यह' है। 'यह' के उपयोग में मानव का अधिकार है। 'यह' किसी मानव की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। समस्त सृष्टि 'यह' के अर्थ में आती है। अतएव जिज्ञासु में यह प्रश्न स्वयं उत्पन्न होता है कि 'यह' से परे 'मैं' का बोध 'यह' के सहयोग से सम्भव नहीं है। अतः बुद्धि-दृष्टि से जब मानव 'मैं' को ही नहीं जान पाता तो, "विधान है, विधायक नहीं है," इसका निर्णय कैसे दे सकता है? आस्था करने अथवा न करने की स्वाधीनता तो मानव को विधान से ही प्राप्त हैं पर यह निर्णय देने का अधिकार कि " विधायक नहीं है, विधान स्वतः सिद्ध है," मानव को नहीं है। बेचारा बुद्धि की दासता में आबद्ध मानव विधान को मानता है और विधायक को मानने से इन्कार करता है। यह तो केवल बुद्धि की दासता में आबद्ध होने का परिणाम

है। यह कैसा विचित्र विधान है कि विधायक को अस्वीकार करने की स्वाधीनता भी विधान से मानवमात्र को प्राप्त है। जिस बुद्धि के सहयोग से मानव 'यह' के सम्बन्ध में भी पूरा नहीं जान पाया है और 'मैं' के क्षेत्र में बुद्धि की पहुँच ही नहीं होती, फिर "विधान है, विधायक नहीं है", ऐसा निर्णय देना कहाँ तक युक्ति-युक्त है? बुद्धि के सहयोग से जो कुछ जाना, अधूरा जाना। अधूरे ज्ञान में ही सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जागृति होती है। बुद्धि-दृष्टि जिज्ञासा की जागृति तक साथ देती है। जिज्ञासा की जागृति जब बुद्धि-जन्य सुखासक्ति से मानव को असंग कर देती है तब जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाती है, जिसके होने पर विधान और विधायक में उसी प्रकार अभिन्नता का बोध होता है जिस प्रकार सूर्य, किरण और प्रकाश में।

जिज्ञासा की भूख वास्तविकता के अस्तित्व को सिद्ध करती है। यह प्रकाश मानव को विधान से ही प्राप्त है। जो विधान मानव को अज्ञ रहने ही नहीं देता वह कितना अनुपम है! अज्ञता की व्यथा से विज्ञता की लालसा स्वतः उदित होती है। जो अपना किया हुआ नहीं है, वह किसी का दिया हुआ है। अतः जिज्ञासा की जागृति किसी की देन है; पर देने का ढंग ऐसा अनुपम है कि मानव को यही प्रतीत होता है, मानो जिज्ञासा मेरी ही उपज है। यद्यपि जिज्ञासा को अपनी उपज मानने में कोई क्षति नहीं है, परन्तु वैधानिक दृष्टि से जिज्ञासा भूल जाने पर होती है और भूल जाने हुए की होती है, बिना जाने की नहीं। जब मानव अपने को किसी स्वीकृति तथा प्रतीति में आबद्ध कर लेता है तब जिज्ञासा शिथिल हो जाती है और कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। पर जब सभी कामनाएँ पूरी नहीं होती और कामना-पूर्ति काल में भी पराधीनता ही अनुभव होती है तब स्वाधीनता के पुजारी मानव में कामनाओं के त्याग की सामर्थ्य आती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि स्वाधीनता का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि प्रतीति से भिन्न उसका कोई प्रकाशक तथा आश्रय नहीं है, तो स्वाधीनता की माँग-पूर्ति प्रतीति के द्वारा कैसे सम्भव होगी? माँग उसी की होती है जो 'है'। प्रतीति की ममता, कामना एवं तादात्म्य ने उस तक पहुँचने नहीं दिया, जिसकी माँग है।

प्रतीति में सतत पविर्तनशीलता का दर्शन जिस विधान से होता है उसी विधान से स्वाधीनता की माँग पूरी होती है।

प्रतीति में सतत परिवर्तनशीलता जिस विधान से है उसी विधान से मानव को वह दृष्टि मिली है जिससे वह प्रतीति के परिवर्तन का अनुभव करता है। सतत परिवर्तन होने से प्रतीति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, केवल गतिशीलता है। प्रत्येक गति का आकर्षण बिना किसी अस्तित्व के सम्भव नहीं है। समस्त सृष्टि जिसकी ओर दौड़ रही है उसी की माँग मानव में है। पर सृष्टि से विमुख हुए बिना उससे अभिन्नता नहीं होती। जिसका संकेत सृष्टि की प्रत्येक गतिविधि निरन्तर कर रही है, वही विधान का विधायक है।

कर्म कर्ता का चित्र है। कर्म, कर्ता, और फल, ये कर्ता के ही रूपान्तर हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब कर्ता उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर देता है जो सर्वहितकारी नहीं है। स्वार्थ-भाव मे आबद्ध मानव कर्ता, कर्म और फल में जातीय-भेद मानता है, जो अवैधानिक है। स्वार्थ-भाव की उत्पत्ति पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से होती है। स्वाधीनता के पुजारी मानव को पराधीनता असह्य वेदना देती है। पराधीनता में असह्य वेदना का जाग्रत होना, उसी की देन है जो मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करना चाहता है। पर इस रहस्य को वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने अपने को मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से तद्रूप करके नहीं रखा है। मिले हुए से जिसने तादात्म्य कर लिया वह किसी की देन को अपनी उपज मान लेता है। पर दाता इतना उदार है कि उसे कोई क्षोभ नहीं होता, अपितु वह उसे भी उतना ही प्यार करताहै जितना उसको जिसने तादात्म्य का अन्त कर दिया है। यद्यपि तादात्म्य के नाश की सामर्थ्य मानव-मात्र को प्राप्त है, परन्तु सुखासक्ति में आबद्ध होने से वह मिले हुए के तादात्म्य में ही अपने को आबद्ध कर लेता है, जो विनाश का मूल है। यह मानव का अपना बनाया हुआ दोष है, वैधानिक नहीं। अपने बनाये हुए दोषों का अन्त करने के लिए ही मानव को अनन्त के मंगलमय विधान से विवेक रूपी प्रकाश मिला है।

जब तक कर्ता फलासक्ति में आबद्ध है तब तक कर्ता, कर्म और फल में भेद है। फलासक्ति तथा कर्तव्य के अभिमान से रहित होने पर कर्ता कर्म होकर दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वयं कर्म और फल से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् कर्ता, कर्म और फल का भेद मिट जाता है, जिसके मिटते ही कर्ता उसी की प्रीति हो जाता है जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फल कर्ता का ही चित्र है उसी प्रकार विधान विधायक का चित्र है। कर्ता निष्काम होने पर कर्तापन से रहित होता है, पर विधान और विधायक में विधान के रहते हुए भी विधायक ज्यों का त्यों रहता है। सर्वांश में विधान का अनुसरण करने पर विधायक को न मानने पर भी विधायक की प्राप्ति होती है और विधायक को स्वीकार करने पर भी विधान का अनुसरण अनिवार्य होता है।

अनन्त का विधान अनन्त है। मानव ज्यों-ज्यों विधान का आदर करता जाता है, त्यों-त्यों उसे स्वयं विधान का बोध होता जाता है। विधान मानव की खोज है, उपज नहीं है। खोज 'है' की होती है। अतएव जो विधान है उसी का बोध मानव को होता है। सर्वांश में विधान का आदर करने पर मानव की उससे अभिन्नता हो जाती है जिसका विधान है। विधान उत्पत्ति-विनाशयुक्त नहीं है, अपितु अविनाशी है। इससे यह स्पष्ट विदित होताहै कि विधान अविनाशी का ही स्वभाव है। मानव विधान से अभिन्न होने पर अविनाशी से अभिन्न हो जाता है। अविनाशी उसे नहीं कहते जो कभी हो और कभी नही हों, कहीं हो और कहीं न हो और किसी का हो और किसी का नहीं हो, अर्थात् जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, वही अविनाशी है। इस दृष्टि से विधान का सर्वांश में आदर करने वाला विधान से अभिन्न हो जाता है। जब तक जीवन विधान नहीं होता तभी तक जीवन में पराधीनता, अभाव और नीरसता रहती है जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। विधान और आदरपूर्वक अनुसरण करते ही अकर्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और न कर्तव्य का अभिमान ही शेष रहता है, किन्तु कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही मानव राग-रहित हो जाता है।

राग-रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष स्वतः उगता है और उस पर तत्वज्ञान रूपी फल लगता है जो प्रेमरूपी रस से परिपूर्ण है अथवा यों कहो कि राग-रहित होते ही, योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। मानव को सजगता पूर्वक इस बात पर विशेष दृष्टि रखना है कि ज्यों-ज्यों वह आंशिक विधान का आदर करता जाता है, उसका परिणाम स्वतः होता जाता है। किन्तु उसी आंशिक विकास में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना विधान का अनादर है। सर्वांश में विधान का आदर करने पर अनन्त का विधान अनन्त से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से सर्वांश में विधान का आदर करने पर विधायक को स्वीकार न करने पर भी उससे अभिन्नता हो जाती है। जब तक मानव सर्वांश में विधान का आदर नहीं करेगा तब तक किसी न किसी अंश में परिच्छिन्नता रहेगी जो मानव को वास्तविकता से अभिन्न नहीं होने देगी अर्थात् दूरी, भेद और भिन्नता नहीं मिटेगी अथवा यों कहो कि योग, बोध और प्रेम से अभिन्न नहीं होने देगी, जिसके बिना हुए शक्तिहीनता, पराधीनता तथा नीरसता का सर्वांश में नाश न होगा। इस कारण परिच्छिन्नता का अन्त अनिवार्य है जो एकमात्र सर्वांश में विधान का आदर करने से ही साध्य है।

यद्यपि प्रकाश सूर्य नहीं है, किन्तु सूर्य से प्रकाश का विभाजन सम्भव नहीं हैं। उसी प्रकार विधान विधायक न होने पर भी विधान और विधायक में विभाजन नहीं हो सकता। इस कारण जो मानव विधायक को स्वीकार नहीं करते, पर सर्वांश में विधान का आदर करते हैं, वे भी विधायक से अभिन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, जो 'है' उससे दूरी, भेद और भिन्नता, केवल विधान के भूल जनित अनादर से ही प्रतीत होती है। 'है' को स्वीकार करना, अथवा स्वीकार न करना 'है' की प्राप्ति में कोई विशेष महत्व नहीं रखता। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई विधायक को स्वीकार कर विधान का आदर करता है और विधायक से अभिन्न होता है और कोई सर्वांश में विधान का आदर कर विधायक से अभिन्न होता है। यह उस अनन्त की महिमा है कि उसकी उपलब्धि सभी को होती है। जिसकी उपलब्धि सभी को नहीं हो सकती उसको 'है' कहना ही भूल है। 'है' की

स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों ही पथ हैं। एक श्रद्धा का दूसरा सजगता का। श्रद्धा से 'है' का निर्माण नहीं होता, कारण कि जो स्वतः सिद्ध है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जिसकी उत्पत्त नहीं होती उसका विनाश नहीं होता। 'है' कहते ही उसे हैं जो उत्पत्ति-विनाश-रहित है। स्वीकृति से प्रतीति और अस्वीकृति से निवृत्ति उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अर्थात् जो नहीं है। स्वीकृति से उसी की प्रतीति और अस्वीकृति से उसी की निवृत्ति होती है। जो विधायक सर्वत्र, सर्वदा, सभी का है उसको स्वीकार करो, अथवा न करो, किन्तु विधान के आदर करने मात्र से भी उसकी उपलब्धि होती है। मानव विधान को जानता है और उसका अनुसरण करता है पर विधायक उसे स्वयं अपना लेता है, यह उसकी महिमा है।

प्राप्त विवेक का आदर, अर्थात् ज्यों-ज्यों मानव विधान का अनुसरण करता जाता है त्यों-त्यों विधान से अभिन्न होता जाता है। विधान और जीवन में एकता होने पर ही विधान का स्पष्ट बोध होता है। विधान किसी की कल्पना नहीं है, अपितु वास्तविकता से परिचित होने का पथ है। विधान के अनुसरण में ही मानव-जीवन का आदर है। विधान-विरोधी प्रवृत्ति मानव में अमानवता को जन्म देती है जो विनाश का मूल है। अमानवता पशुता से भी गयी बीती है। किसी पशु को अमानव कहना पशु की निन्दा है। बेचारा पशु प्रकृति के उस विधान में आबद्ध है जो उसे सुख-दुःख का भोग कराता है। अमानवता में तो विधान-विरोधी प्रवृत्ति है जो सभी के लिए सर्वदा अहितकर है। अमानवता के रहते हुए विकास की तो कौन कहे, उत्तरोत्तर ह्रास ही होता रहता है। पशुता से ऊपर उठने के लिए वैधानिक अवसर है, किन्तु अमानवता तो मानव को विकासोन्मुख होने ही नहीं देती, अपितु विकास से विमुख ही करती है। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र प्रत्येक मानव को अमानवता का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र विधान का अनुसरण करने पर ही सम्भव है।

प्राप्त ज्ञान के अनादर तथा बल के दुरुपयोग का परिणाम सदैव अहितकर ही सिद्ध होत है, यह वैधानिक तथ्य है। फिर भी मानव निज ज्ञान का अनादर तथा बल का

दुरुपयोग कर बैठता है। यह मानव की अपनी भूल है, प्राकृतिक नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि ऐसा विधान क्यों नहीं है कि मानव किसी भी प्रकार निज ज्ञान का अनादर तथा बल का दुरुपयोग न कर पाता? यदि यह बात वैधानिक हो जाती तो क्या मानव अपने-आप का अनुभव कर सकता था? कदापि नहीं। अपना भास होने से ही मानव सृष्टि के सम्बन्ध में विचार करता है। मानव विश्व नियन्त की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यदि उसे स्वाधीनता न मिली होती तो उसकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती। तब प्राप्त ज्ञान के अनादर और बल के दुरुपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु मानव के रचयिता को मानव इतना प्रिय है कि उसे उसकी स्वाधीनता रखते हुए उसको सभी के लिये उपयोगी होने की बात मंगलमय विधान में हैं।

विधान का अनुसरण प्रत्येक मानव को मानवता से अभिन्न कर देता है। मानवता की अभिव्यक्ति होने पर मानव जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। यह विधान की महिमा है। मानव स्वभाव से ही अपने में किसी न किसी प्रकार की निर्बलता पाता है, पर उसे सदैव निर्बल बना रहना अभीष्ट नहीं है। निर्बलताओं का ज्ञान प्राप्त विवेक के प्रकाश में ही होता है। निर्बलताओं का ज्ञान निर्बलताओं से रहित होने की प्रेरणा देता है। सीमित बल का दुरुपयोग करने पर ही निर्बलताएँ उत्पन्न होती है। प्राप्त बल में दुरूपयोग में विधान का अनादर है। विधान का आदर करने पर न तो मानव बल का दुरुपयोग ही करता है और न बल का अभिमान। मिले हुए बल का अभिमान मानव को परिच्छिन्नता में आबद्ध करता है। परिच्छिन्नता भेद तथा भिन्नता को जन्म देती है जो अवनति का मूल है। किसी की दी हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता को अपनी मान लेना और उससे तद्रूप होना विधान-विरोधी कृत्य है। विधान का आदर करते ही निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही निरभिमानता, समता, निर्विकारता आदि दिव्य गुणों से अभिन्नता होती है जो विकास का मूल है।

विधान का आदर करने पर मानव किसी अन्य से शासित नहीं होता और न उसे किसी पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा होती है। कारण कि विधान

अपने पर अपने शासन का पाठ पढ़ाता है और विधान का अनुसरण करने पर पथ का दर्शन स्वयं होता है। ज्यों-ज्यों मानव अपने पर अपना शासन करता जाता है, त्यों-त्यों उत्पनन हुई निर्बलताएँ अपने आप मिटती जाती हैं और निर्दोषता से अभिन्नता होती जाती है। निर्बलताएँ उत्पन्न होती हैं इस कारण उनका विनाश होता है और निर्दोषता अनन्त का स्वभाव, अर्थात् अनुत्पन्न-तत्व है, अतः अविनाशी है। इस दृष्टि से निर्बलताओं के नाश में ही निर्दोषता निहित है। सर्वांश में विधान का अनुसरण करने पर समस्त निर्बलताएँ सदा के लिए मिट जाती हैं। मानव ज्यों-ज्यों विधान का अनुसरण करता जाता है, त्यों-त्यों उसमें आवश्यक सामर्थ्य स्वतः आती जाती है। इस दृष्टि से विधान के अनुसरण में ही विधान के पालन की सामर्थ्य निहित है।

विधान का अनुसरण करने में मानव सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है। वह विधान हो ही कैसे सकता है जिसका अनुसरण सहज तथा स्वाभाविक न हो। विधान के पालन में जो असमर्थता तथा अस्वाभाविकता प्रतीत होती है उसका कारण केवल निर्बलता-जनित सुखसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। निर्बलताओं में सुख-का भास तभी तक होता है जब तक मानव अपने को साधक स्वीकार नहीं करता, अर्थात् अपने दायित्व तथा साध्य से अपरिचित रहता है। यद्यपि मानव-जीवन में जिज्ञासा स्वभाव-सिद्ध है परन्तु कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा को तीव्र नहीं होने देता। उस प्रलोभन का अन्त करने के लिए यह विधान है कि सभी कामनाएँ किसी की पूरी नहीं होती और माँग सभी की पूरी होती है। कामना-आपूर्ति-जनित व्यथा भले ही मानव को न भाती हो पर उस व्यथा के बिना कामना-पूर्ति की पराधीनता का नाश तथा कामना-निवृत्ति की शान्ति की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। इस दृष्टि से कामना-आपूर्ति का विधान विकास का मूल है, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने ही द्वारा अपनी माँग को जानने का प्रयास करता है। कामना-पूर्ति-जनित पराधीनता आरम्भ काल में सुखद भले ही प्रतीत हो किन्तु पराधीनता का परिणाम जड़ता तथा अभाव किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। पराधीनता-जनित जड़ता

तथा अभाव का अन्त हो सकता है, पर विधान का आदर करना अनिवार्य होगा। विधान-विरोधी कृत्य करते हुए पराधीनता का नाश सम्भव नहीं है।

अनुकूलता का चला जाना और प्रतिकूलता का आ जाना यद्यपि सुखद प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रतिकूलता के बिना क्या अनुकूलता की दासता मिट सकती है? कदापि नहीं। और जिसके बिना मिटे वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से असंगता हो ही नहीं सकती। असंगता के बिना चिन्मय, स्वाधीन जीवन से अभिन्नता किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से प्रतिकूलताओं के आने में मानव का विकास है। पर पराधीनता में जीवन-बुद्धि होने से अनुकूलता प्यारी लगती है और प्रतिकूलता खारी लगती है। वैधानिक दृष्टि से अनुकूलता उदारता के लिए आती है, पर मानव प्रमादवश उसका स्वयं भोग करने लगता है। उस प्रमाद का अन्त करने के लिए मंगलमय विधान से प्रतिकूलता आती है। प्रमाद का सर्वांश में अन्त होने पर प्रतिकूलता स्वतः सदा के लिए चली जाती है। इसी कारण विचारशील मानव प्रतिकूलता से भयभीत नहीं होते, अपितु उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हैं।

यह सभी का अनुभव है कि मिली हुई सामर्थ्य, योग्यता आदि का उपयोग करने पर मानव असमर्थता का अनुभव करता है और कुछ काल के लिए प्रवृत्ति निवृत्ति में विलीन होती है, जिसके होते ही स्वतः सामर्थ्य आती है। यदि वह सामर्थ्य व्यक्ति की अपनी है तो असमर्थता का अनुभव क्यों हुआ? असमर्थता का अनुभव यह सिद्ध करता है कि सामर्थ्य व्यक्तिगत नहीं है, अपितु किसी की देन है। यह कैसा अनुपम विधान है जो असमर्थ होते ही सामर्थ्य प्रदान करता है और इस पर विचार ही नहीं करता कि असमर्थता सामर्थ्य के सदुपयोग से आई है अथवा दुरुपयोग से। दुरुपयोग और, सदुपयोग यह मानव की रुचि है। विधान का विरोध करने पर दुरुपयोग और आदर करने पर सदुपयोग होता है। यह कैसा उदार विधान है कि वह दुरुपयोग करने पर भी सामर्थ्य प्रदान कर सदुपयोग करने का अवसर देता है। इस प्रकार का उदारता-पूर्ण विधान उसी का हो सकता है जो सभी का अपना हो। अपने परम सुहृदके

मंगलमय विधान का अनादर करना अपनी ही भूल है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। स्वाधीनता-काल में ही विधान के आदर का प्रश्न है। परतंत्र तथा असमर्थ प्राणी पर विधान के पालन का दायित्व नहीं है। जिस अंश में मानव स्वाधीन तथा समर्थ है उसी अंश मे उस पर दायित्व है विधान के अनुरूप कार्य करने का। असमर्थता तथा पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वतः सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्राप्ति होती है, पर मानव प्रमादवश उस प्राप्त सामर्थ्य तथा स्वाधीनता का दुरूपयोग कर बैठता है और फिर उसके परिणाम को भोगते समय विधान और विधायक को दोषी मानता है। यह मान्यता अपने को धोखा देती है, वास्तविकता से विमुख करती है। इस मान्यता का मानव के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

असमर्थता तथा पराधीनता की पीड़ा उसी समय तक रहती है जिस समय तक मानव सामर्थ्य का दुरुपयोग करता है। सामर्थ्य के दुरुपयोग न करने का अविचल निर्णय करते ही असमर्थता तथा पराधीनता स्वतः सदा के लिए मिट जाती है, पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने मंगलमय विधान की खोज की है तथा उसका आदरपूर्वक पालन किया है। सीमित परिवर्तनशील पर-प्रकाशय वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता में आबद्ध होकर मानव असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से विमुख न हो जाय, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राप्त वस्तु योग्यता आदि का ह्रास होता रहता है और आवश्यकतानुसार वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होती रहती है। पर जब मानव अनेक बार अवसर मिलने पर प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग नहीं करता और उससे असंग नहीं होता, तब विधान से वस्तु सामर्थ्य आदि का अभाव अनुभव करने के लिए उसे विवश होना पड़ता है। यदि अभाव के अनुभव होने पर भी मानव वस्तु, योग्यता आदि से असंग तथा निष्काम हो जाय तो मंगलमय विधान मानव को वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असफलता का दर्शन अवैधानिक है, अर्थात् मानव की भूल से होता है। असफलता जनित वेदना सफलता की जननी है। यह कैसा

अद्‌भुत विधान है कि अभाव की वेदना में पूर्णता की प्राप्ति निहित है। आवश्यकता ही एकमात्र जिसकी प्राप्ति का उपाय है उससे निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है।

कामना-उत्पत्ति, पूर्ति तथा आपूर्ति-काल में प्रत्येक मानव को पराधीनता का ही अनुभव होता है। इस दृष्टि से कामना ही पराधीनता की जननी है। कामनाओं का उद्गम अविवेकसिद्ध है, अर्थात् मंगलमय विधान से प्राप्त विवेक का आदर न करने पर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं जो मानव को पराधीनता, जड़ता तथा अभाव में आबद्ध करती हैं। इस दृष्टि से निष्कामता बड़े ही महत्व की वस्तु है। परन्तु जब तक मानव निर्मम नहीं होता, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में यह अनुभव नहीं करता कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता अपनी नहीं है, तब तक निष्काम होना सम्भव नहीं है। निष्काम होने के लिए निर्मम होना अनिवार्य है जो विवेक-सिद्ध है, अर्थात् निष्कामता की प्राप्ति विधान के आदर से ही सम्भव है। विधान का अनादर करना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। विधान का महत्व अनुभव करने के लिए अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अनिवार्य है। जाने हुए का प्रभाव किए हुए की आसक्ति के नाश में समर्थ है। आसक्ति का नाश होते ही नित्य योग की प्राप्ति तथा भोग के राग की निवृत्ति स्वतः होती है और आसक्ति का अन्त केवल जाने हुए का आदर करने में ही निहित है। इस कारण विधान का पालन सर्वतोमुखी विकास का मूल हैं।

कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति विधान के पालन में ही है। निष्कामता से उदित परम-शान्ति तथा जिज्ञासा-पूर्ति से प्राप्त वास्तविकता एवं प्रेम से नित-नव रस की अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन है जो विधान का आदर करने पर मानव को स्वतः प्राप्त होता है।

अल्प से अल्प आयु, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य होने पर भी मानव को वास्तविक जीवन से निराश नहीं होना चाहिए। कारण कि वास्तविक जीवन से मानव-मात्र की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। मिली हुई वस्तु,

योग्यता, सामर्थ्य आदि से मानव की जातीय भिन्नता है। वस्तु, योग्यता आदि की जातीय एकता 'यह' अर्थात् सृष्टि के साथ है, 'मैं' के साथ नहीं। मानव-साधक है, शरीर आदि वस्तु नहीं। साधक पर मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व है। जो नहीं कर सकता वह मानव को नहीं करना है और विधान-विरोधी, अर्थात् जो नहीं करना चाहिए वह भी नहीं करना है। इस दृष्टि से जो करना चाहिए तथा जिसे कर सकते हैं, वही करना है, और उसी का यह फल होगा कि वह वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जायगा। जब ऐसा, उदारता तथा स्नेह से परिपूर्ण विधान है तब अल्प से अल्प सामर्थ्य होने पर भी वास्तविकता से निराश होने के लिए कोई स्थान नहीं है। इतना ही नहीं, आवश्यकतानुसार आयु, सामर्थ्य, योग्यता एवं वस्तु, सफलता के लिए मानव को मंगलमय विधान से स्वतः मिलती रहती है। पर जब मानव प्रमादवश वस्तु, योग्यता आदि को ही जीवन मान बैठता है तब उसे पराधीनता तथा अभाव-जनित वेदना सहनी ही पड़ती है, यद्यपि वेदना की उत्पत्ति में भी विकास ही होता है, ह्रास नहीं। अतः मानव-जीवन में वास्तविकता से निराश होने के लिए कोई स्थान नहीं है। मंगलमय विधान में अविचल आस्था न होने से ही मानव निराश होता है जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। करने में सावधान तथा होने में प्रसन्न रहने से मंगलमय विधान में अविचल आस्था स्वतः हो जाती है जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त करने पर करने में सावधानी स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही प्रत्येक कार्य के अन्त में निश्चिन्तता तथा निर्भयता की अभिव्यक्ति होती है और फिर जो हो रहा है उसमें अपने हित का ही दर्शन होता है जो प्रसन्नता प्रदान करने में हेतु हैं।

मिले हुए का आश्रय बनाए रखना और उसका सदुपयोग न करना विधान-विरोधी कार्य है। मिले हुए का आश्रय सर्वाधार से विमुख करता है और उससे विमुख होते ही मानव उसमें आबद्ध हो जाता है जिसकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् प्रतीति के आकर्षण से मानव को नित्य-प्राप्त की विस्मृति हो जाती है जिसके होते ही उत्पन्न हुई

वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि से तादात्म्य हो जाता है और फिर उसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर नहीं होती, और दृश्य में स्थिरता नहीं है। ऐसी दशा में चित्त बिना आधार के शान्त नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि उसका चिन्तन होने लगता है जो 'नहीं' है। 'नहीं' के चिन्तन ने ही, जो 'है' उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता का भास कराया है, जिसकी निवृत्ति केवल विधान के आदर में ही निहित है। विधान का आदर करते ही मिले हुए का आश्रय मिट जाता है और फिर सर्वाधार का आश्रय मिल जाता है जिसको पाकर मानव प्रतीति से विमुख होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है। मिले हुए का दुरुपयोग करने पर मिले हुए की आसक्ति नाश नहीं होती, अपितु मिले हुए के न रहने पर भी उसकी ममता तथा कामना ज्यों की त्यों रहती है। ममता विकारों की और कामना अशान्ति की जननी है। विधान का आदर करने पर मिले हुए के दुरुपयोग की रुचि नाश हो जाती है जिसके होते ही सदुपयोग स्वतः होने लगता है और फिर मिले हुए से असंगता हो जाती है जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः मानव-जीवन में विधान-विरोधी कृत्य का कोई स्थान ही नहीं है।

समस्त साधनों की अभिव्यक्ति वैधानिक तथ्य है। विधान का अनादर करने पर ही असाधन उत्पन्न होते हैं। असाधन के साथ-साथ बलपूर्वक किया हुआ साधन वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं होता और मानव-जीवन का महत्व वर्तमान में सिद्धि प्राप्त करना है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सर्वांश में विधान का आदर कर असाधन से रहित होता है। विधान के आदर का अर्थ है कि जाने हुए के अनुरूप ही कर्म हो, अर्थात् उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाय जो विवेक-विरोधी हैं। किए हुए का परिणाम कर्ता को विवश होकर भोगना पड़ता है और कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति होता है। अतः दूसरों के प्रति की हुई भलाई अथवा बुराई अपने प्रति होती है, इस दृष्टि से किसी भी मानव को किसी के प्रति किसी भी परिस्थिति में बुराई करनी ही नहीं चाहिए। प्राप्त बल का उपयोग निर्बलों की सेवा तथा अपनी रक्षा में कर सकते हैं, किसी के विनाश में नहीं। यह तभी सम्भव होगा जब मानव का हृदय सर्व-हितकारी

सद्भावना से भरपूर रहे। सद्भावना की अभिव्यक्ति तभी होती है जब मानव विवेक-विरोधी सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त कर दे। विवेक-विरोधी सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त करते ही स्वतः निर्ममता तथा निष्कामता एवं असंगता प्राप्त होती है। निर्ममता से निर्विकारता, निष्कामता से शान्ति और असंगता से स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी कर्म तथा सम्बन्ध के त्याग से मानव कर्तव्य-निष्ठ एवं असंग होता है।

कर्तव्यपरायणता जगत् के लिए और असंगता अपने लिए उपयोगी सिद्ध होती है। यह विधान के आदर की महिमा है। विवेक-विरोधी विश्वास का अर्थ है उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति में विश्वास। जब यह स्पष्ट ही है कि वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में सतत परिवर्तन है तो उनका विश्वास विधान-विरोधी विश्वास है। विधान-विरोधी विश्वास के त्याग में ही प्रभु-विश्वास की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही मानव में शरणागत होने की सामर्थ्य आ जाती है। शरणागत होते ही मानव शरण्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, अर्थात् शरणागत शरण्य की प्रीति हो जाता है। प्रीति में उसी की सत्ता होती है जिसकी वह प्रीति है। अतः प्रीति होकर मानव उसके लिए उपयोगी होता है जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है और जिसकी कृपा-शक्ति ने भोगार्थी को कर्म-सामग्री और मोक्षार्थी को विचार प्रदान किया है। कर्म-सामग्री किसी मानव की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है और कर्मानुष्ठान के लिए कर्तव्य का ज्ञान भी उसे मिला है। वैधानिक दृष्टि से मिले हुए के सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है।

किये हुए सदुपयोग तथा दुरुपयोग का फल विधान-निर्मित है। यद्यपि दुरुपयोग करने की प्रेरणा वैधानिक नहीं है, परन्तु मानव विवेक-विरोधी कर्म द्वारा प्राप्त कर्म-सामग्री का दुरुपयोग कर बैठता है जो, ह्रास का मूल है। विधान का आदर करने पर विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त स्वतः हो जाता है, जो विकास का मूल है। अब यदि कोई यह कहे कि उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के विश्वास का अन्त करना तो अनिवार्य है, कारण कि जिससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है

उसका विश्वास भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, परन्तु बिना जाने प्रभु के विश्वास की क्या आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि यदि मानव निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता में सन्तुष्ट है और वह अपने में किसी प्रकार की परिच्छिन्नता नहीं पाता है तथा उसमें भेद और भिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती, तब तो प्रभु-विश्वास अपेक्षित नहीं है, परन्तु यदि मानव पूर्व-परिस्थिति पर विचार करे तो उसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि जिस साधन से मुझे निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त हुई, वह साधन किसकी देन है? यदि वह अपनी ही है तो फिर असाधन क्यों उत्पन्न हुआ, जिसके कारण मानव अशान्ति, पराधीनता, जड़ता आदि में आबद्ध हो गया? असाधन का मूल, विधान का अनादर है।

यदि समस्त साधन अपनी ही विभूति है तो विधान का अनादर क्यों किया? इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विधान के अनादर में मानव की भूल ही हेतु है। भूल जाने हुए की होती है, अर्थात् विधान के जानते हुए भी उसका अनादर मानव ही ने किया। जो भूल कर सकता है, वह स्वरूप से साधन-युक्त नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि भूल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, इस कारण भूल के नाश से ही असाधन सदा के लिए नाश हो जाता है और साधन-तत्व से, जो साध्य का स्वभाव होने से अविनाशी है, मानव की अभिन्नता होती है। असाधन को मानव अपने में आरोप करता है और साधन से अभिन्न होता है। यह वैधानिक तथ्य है कि अभिन्नता उसी से होती है जो नित्य तत्व है और आरोप तथा तादात्म्य उसी से होता है जो अभाव-रूप है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट ही है कि जिसने भूल का अन्त करने के लिए सामर्थ्य प्रदान की उससे इस उदारता से की किवह सामर्थ्य मानव को अपनी ही मालूम हुई, किसी की देन नहीं मालूम हुई। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि कोई इतना अपना है जो अपने से भी अधिक अपना हितैषी है तो उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास न किया जाय। इसका परिणाम यह होगा कि दोनों ही बातें अपनी ही अवस्थायें होंगी। यदि पुनः पूर्वावस्था हो गई तो निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता वास्तविक न रह

कर काल्पनिक हो जायेगी। इस कारण अविनाशी जीवन के अस्तित्व को स्वीकार करना निर्विवाद सिद्ध है। तभी मानव सदा के लिए वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों की दासता से रहित वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है।

पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि का अभाव तभी सम्भव होगा जब पराधीनता आदि का कारण अपनी भूल स्वीकार की जाय। विधान के अनादर के अतिरिक्त भूल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। विधान है, मानव को उसका बोध है, पर असावधानी से जाने हुए का प्रभाव न अपनाकर किए हुए की आसक्ति में आबद्ध हो जाने से भूल पोषित होती है। विधान से प्राप्त वेदना से भूल का अन्त होता है, जिससे किए हुए की आसक्ति मिट जाती है और जाने हुए का प्रभाव हो जाता है, जिसमें सर्वतोमुखी विकास निहित है।

इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि तथा विवेकरूपी प्रकाश मानव को जन्मजात प्राप्त है। यह वैधानिक तथ्य है कि दृष्टि और दृश्य प्रकाश के आश्रित ही रहते हैं, अर्थात् विवेकरूपी प्रकाश से ही इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि कार्य करती है और दृश्य की प्रतीति भी प्रकाश के ही आश्रित है। दृश्य में सतत परिवर्तन होने से इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव स्थिर नहीं रहता, जिसके न रहने पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव दृश्य से विमुख करने में समर्थ होता है जिसके होते ही समस्त दृश्य अहम् में विलीन हो जाता है, परन्तु राग के रहते हुए पुनः दृष्टि उदित होती है, जिसके होने से पराधीनता, जड़ता, अभाव ही प्रतीत होता है। मानव-जीवन में अभाव के अभाव की माँग है। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का अन्त होते ही दृश्य का राग शेष नहीं रहता। राग-रहित होते ही स्वतः दृश्य और दृष्टि दोनों ही अपने उद्गम में विलीन होते हैं। इसी दशा में विधान का बोध होता है, जिसके होते ही मानव सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है अर्थात् जीवन और विधान में भेद नहीं रहता। जीवन ही विधान है और विधान ही जीवन है, यह विधान की ही महिमा है।

विधान का बोध वीतराग मानव को ही होता है। जिसके होते ही कर्तव्य की, निज-स्वरूप की तथा प्रभु की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है,

जो सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। विस्मृति भूल का परिणाम है, अर्थात् जाने हुए के अनादर से ही विस्मृति होती है। कर्तव्य की विस्मृति में अकर्तव्य की,स्वरूप की विस्मृति में देहाभिमान की एवं प्रभु की विस्मृति में आसक्तियों की उत्पत्ति होती है। परन्तु मंगलमय विधान से, अकर्तव्य कभी भी सर्वांश में कर्तव्य की स्मृति का नाश नहीं कर पाता। इसी कारण अकर्तव्य की उत्पत्ति होने पर भी आंशिक कर्तव्य रहता ही है अर्थात् अकर्तव्य की उत्पत्ति सर्वांश में कर्तव्य की विस्मृति नहीं कर पाती। इसी कारण मानव में अकर्तव्य के नाश तथा कर्तव्यपरायणता की माँग रहती है। कर्तव्य की स्मृति में ही अकर्तव्य का नाश है। कर्तव्य की स्मृति और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को विधान से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से विधान के अनुरूप जीवन हो सकता है। विधान और जीवन का भेद प्रमाद-जनित है, वास्तविक नहीं। देहाभिमान होने पर भी जिज्ञासा रहती है। यद्यपि देहाभिमान-जनित कामनाएँ जिज्ञासा को शिथिल बनाती हैं, परन्तु कामनाओं के उत्पन्न होने पर जिज्ञासा नाश नहीं होती। तीव्र जिज्ञासा की जागृति कामनाओं के नाश में समर्थ है। कामनाओं का नाश होते ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए मंगलमय विधान से स्वतः विचार की अभिव्यक्ति होती है जो अविचार का अन्त कर निःसन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर स्वतः शान्त होती है उसी प्रकार विचार-रूपी सूर्य अविचार-रूपी अन्धकार को नाश कर, वास्तविकता से अभिन्न होता है।

कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर, जो 'है' उसकी स्मृति स्वतः उदित होती है और सभी आसक्तियों का अन्त कर मानव को अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता से अभिन्न कर देती है। प्रियता उसी का स्वभाव है जिसकी वह प्रियता है। आसक्ति तथा प्रियता में भेद यह है कि आसक्ति जिसमें उत्पन्न होती है उसको अपने से अभिन्न नहीं कर पाती अर्थात् आसक्त और आसक्ति में भिन्नता रहती है, किन्तु प्रियता जिसमें जाग्रत होती है उसे अपने से अभिन्न कर लेती है। इस कारण प्रियता जाग्रत होने पर

परिच्छिन्नता, भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती, यह मंगलमय विधान है।

जो कुछ नहीं कर सकता वह किसी प्रकार की बुराई भी नहीं कर सकता। बुराई-रहित होते ही भलाई स्वतः होती है, यह विधान है। सामर्थ्य के रहते हुए की हुई बुराई न दुहराने का और जानी हुई बुराई न करने का विधान है। अतः विधान का आदर करते ही बुराई का नाश तथा भलाई की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। बुराई-रहित भलाई होने पर भलाई का अभिमान नहीं रहता। बुराई के साथ-साथ की हुई भलाई ही मानव में अभिमान उत्पन्न करती है जो विनाश का मूल है। जिसे बुराई का ज्ञान है वही मानव है और उसी पर यह दायित्व है कि बुराई को बुराई जानने पर उसका सदा के लिए त्याग करे। बुराई का न दुहराना तथा न करना ही उसका त्याग है। बुराई-रहित जीवन की माँग सभी को स्वभाव से हैं। इस दृष्टि से विधान का आदर करना मानवमात्र के लिए अनिवार्य है विधान के अनादर में मानव-जीवन का अनादर है। विधान की अधीनता, स्वाधीनता की जननी है और विधान का अनादर, जड़ता, पराधीनता तथा अभाव में आबद्ध करता है। इस कारण विधान के अनादर का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि विधान के अनादर की प्रवृत्ति मानव में क्यों उत्पन्न होती है? तो इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दायित्व पूरा करने का अधिकार मानव को मिला है। इस स्वाधीनता का दुरुपयोग करने पर ही मानव में विधान-विरोधी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि मानव को विधान से स्वाधीनता न मिलती तो मानव और मानवेतर में भेद ही क्या होता? मानव पर विधायक ने यह विश्वास किया है कि वह विधान का आदर करेगा। विधायक की उदारता के दुरुपयोग से ही विधान-विरोधी प्रवृत्ति पोषित होती है। उदारता का दुरुपयोग कर्ता की भूल है। उसे वैधानिक तथ्य नहीं कह सकते। वैधानिक तथ्य तो यही है कि भूल को भूल जान लेने पर उसका सदा के लिए अन्त करना है अथवा यों कहो कि भूल का ज्ञान जिस विधान से होता है वह विधान भूल-रहित होने की प्रेरणा देता है। इतना ही नहीं, भूल का ज्ञान और उसकी निवृत्ति उसी प्रकार युगपत् हैं जिस प्रकार सूर्य का

उदय, अन्धकार की निवृत्ति तथा प्रकाश की प्राप्ति।

जो नहीं करना चाहिए तथा जिसे नहीं कर सकते, इसका ज्ञान मानव को विधान से प्राप्त है। इस विधान का आदर करने पर अशुद्ध तथा अनावश्यक कर्म मिट जाते हैं, कारण कि जो नहीं करना चाहिए उसके नहीं करने पर अशुद्ध कर्म नहीं रहते और जो नहीं कर सकते उन संकल्पों का त्याग करने पर अनावश्यक कार्य जमा नहीं रहते। उसका परिणाम यह होता है कि जो कर सकते हैं और जो करने योग्य है वह कार्य पूरा हो जाता है। कार्य की पूर्ति होने पर यदि कर्ता में कर्म की फलासक्ति नहीं है तो अपने-आप विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। अनावश्यक कार्य का जमा रखना, न करने योग्य कार्य करना तथा कर्तव्य-कर्म में फलासक्ति रखना विश्राम में बाधक है। विश्राम ही में आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जागृति स्वतः होती है जो विकास का मूल है। विश्राम के सम्पादन में मानव असमर्थ तथा पराधीन नहीं है। विश्राम के सम्पादन की स्वाधीनता मानव को विधान से मिली है। पर विधान के अनादर से ही आज मानव विश्राम-प्राप्ति में भी अपने को असमर्थ तथा परतन्त्र मान बैठा है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति के बिना कर्तव्यपरायणता और विचार का उदय हुए बिना देहाभिमान का नाश एवं प्रीति की जागृति के बिना अनन्त रस की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन बड़े ही महत्व की वस्तु है। कैसा अनुपम विधान है कि श्रम-रहित होते ही सब कुछ प्राप्त होता है अर्थात् सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाता है। यदि वास्तविकता की प्राप्ति श्रम-साध्य होती तो उसका अधिकारी कोई एक मानव होता, सभी के लिए सम्भव नहीं था, कारण कि सर्वांश में समान योग्यता, सामर्थ्य, रुचि के दो व्यक्ति भी नहीं है। श्रम-रहित होने पर जिस जीवन की प्राप्ति होती है वह प्रत्येक मानव को मिल सकता है, कारण कि सामर्थ्य, योग्यता आदि का भेद होने पर भी आवश्यक कार्य के अन्त में विश्राम सभी को मिलता है और आवश्यक कार्य पूरा करने में प्रत्येक मानव स्वतन्त्र है। इस दृष्टि से मानव-मात्र वास्तविक जीवन का अधिकारी है, यह मंगलमय विधान है।

वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में आबद्ध मानव पराधीनता, विषमता, दीनता तथा अभिमान से दग्ध होता रहता है, कारण कि परिस्थिति आदि में समता नहीं है। यह कैसा अनुपम विधान है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होने पर भी परिस्थितियों के अर्थ में कोई भेद नहीं है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में भी भेद तथा भिन्नता नहीं है और प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग करने पर प्रत्येक मानव का परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश होता है। इस दृष्टि से परिस्थिति-भेद है पर वास्तविकता से अभिन्न होने में सभी समान हैं, परन्तु जब मानव प्रमादवश परिस्थिति को ही जीवन मान लेता है तब वास्तविकता से निराश होने लगता है, जो वैधानिक नहीं है। विधान का आदर करने पर प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है।

असाधन-रहित प्रत्येक साधन सिद्धिदायक है, यह मंगलमय विधान है। अपने-अपने जाने हुए असाधन के त्याग का दायित्व मानव-मात्र पर है, किन्तु विध्यात्मक साधन व्यक्तिगत है। व्यक्तिगत साधन को सामूहिक बनाने का प्रयास साधन में असाधन को जन्म देता है, कारण कि योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि का भेद होने पर व्यक्तिगत साधन सामूहिक रूप से सम्भव न होगा। यद्यपि व्यक्तिगत साधन भी साधन है, परन्तु सभी के लिए सम्भव न होने के कारण उसका आग्रह करना, बलपूर्वक कराने का प्रयास करना साधक के प्रति घोर अत्याचार है। अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुरूप अपने साधन में अपने प्रति आग्रह होना चाहिए। आग्रह से दृढ़ता आयेगी, जो साधन में तत्परता प्रदान करेगी। अपने व्यक्तिगत साधन का दूसरों के प्रति आग्रह करना भूल है। जब साधक और साधन में एकता नहीं होती तब साधन और जीवन में भेद रहता है। वास्तव में साधन जीवन है, जीवन से भिन्न नहीं है। साधन और जीवन में भिन्नता आंशिक असाधन के रहित हुए ही रहती है। सर्वांश में असाधन का नाश होने पर साधन और जीवन मे भेद नहीं रहता अर्थात् साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व ही नहीं रहता, तभी साधक, साधन और साध्य में अभिन्नता होती है जो वास्तविक जीवन है।

व्यक्तिगत साधन का आग्रह यह सिद्ध करता है कि जिस साधन का वह आग्रह कर रहा है, वह वास्तवमें उसका जीवन नहीं है, जैसे कोई भूखा प्राणी भोजन की प्रशंसा तो करता हो, पर स्वयं भूखा रहता हो, वैसे ही साधन का अग्रह तो करता हो और साधन और जीवन में एकता न हो। इस दृष्टि से असाधन-रहित होकर अपने-अपने साधन का अनुसरण करना है, उसका दूसरों के प्रति आग्रह नहीं करना है। आग्रह मानव की परिच्छिन्नता का परिचय देता है। परिच्छिन्नता भेद तथा भिन्नता की जननी है जो संघर्ष का मूल है। साधननिष्ठ मानव-समाज में परस्पर स्नेह की एकता रहती है। स्नेह की एकता ही एकमात्र संघर्ष के नाश में हेतु है। अपने-अपने मजबह तथा इज्म के आधार पर स्नेह की एकता से भिन्न किसी अन्य प्रकार की एकता की स्थापना का प्रयास करना परस्पर दलबन्दी तथा संघर्ष को जन्म देना है जो विनाश का मूल है। अपनी-अपनी मान्यताओं से अपने को सुन्दर बनाकर प्राप्त सुन्दरता से समाज की सेवा करना हितकर है। पर मजबह और इज्म का आग्रह करना विधान-विरोधी कृत्य है। व्यक्तिगत भिन्नता का तथ्य वास्तविक है। उसका आदर करना अनिवार्य है। पारस्परिक सहयोग द्वारा भिन्नता में एकता स्थापित होती है। आग्रह तथा अधिकार तो एकता के नाम पर भिन्नता को ही पोषित करता है।

जो बुराई बुराई के वेश में आती है उससे उतनी क्षति नहीं होती जितना विनाश उस बुराई से होता है जो भलाई का वेश धारण करके आती है। सुधार के नाम पर संघर्ष का जन्म इसी प्रमाद से होता है। प्रत्येक प्रणाली हितकर है, पर कब? जब उसके अनुसरण से अपने को सुन्दर बना सकें। दूसरों को हमारी प्रणाली अभीष्ट नहीं है अपितु सहयोग एवं स्नेह अभीष्ट है। विभिन्न भेद होने पर भी मानव सहयोग दे सकता है, स्नेह रख सकता है। एकता के नाम पर स्नेह तथा सहयोग के गीत गाना व्यापकता को संकीर्ण करना है जो अहितकर है। व्यक्तिगत भिन्नता एक दूसरे की पूरक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होताहै जब मानव व्यक्तिगत अधिकार तथा आग्रह से रहित हो जाय। आग्रह तथा अधिकार-लोलुपता ने ही सीमित

अहंभाव को जन्म दिया है, जो विनाश का मूल है। सीमित अहंभाव के रहते हुए निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता सम्भव नहीं है। निर्ममता के बिना निर्विकारता तथा निष्कामता के बिना परम शान्ति एवं आत्मीयता के बिना अगाध प्रियता जाग्रत ही नहीं होती। निर्विकारता की अभिव्यक्ति बिना हुए अनेकता में एकता का दर्शन सम्भव नहीं है और शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा असंगता सम्भव नहीं है जो स्वाधीनता की जननी है। प्रियता की अभिव्यक्ति हुए बिना न तो नीरसता का ही नाश होता है और न परिच्छिन्नता का ही अत्यन्त अभाव होता है जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

सीमित अहंभाव के कारण ही ममता, कामना एवं तादात्म्य का पोषण होता है। समस्त विकारों की भूमि ममता है और पराधीनता एवं अशान्ति की जननी कामना है एवं तादात्म्य से ही परिच्छिन्नता जीवित रहती है जिसके रहते हुए अनेक प्रकार के भेद तथा भिन्नता उत्पन्न होती है जो अवनति का मूल है। इस दृष्टि से अहम् भाव का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र अचाह, अप्रयत्न एवं समर्पण से ही सम्भव है। इसी पाठ को पढ़ाने के लिए कामनाओं की आपूर्ति का विधान है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने विधान का आदरपूर्वक स्वागत किया है। प्रत्येक कर्म का जन्म कर्ता की रुचि से होता है पर उसका फल विधान से होता है। किये हुए के फल में कर्ता स्वाधीन नहीं है। कर्म-सामग्री प्रत्येक कर्ता को विधान से मिलती है, पर उसके उपयोग में कर्ता स्वाधीन है। जो मानव विधान का आदर नहीं करते वे ही मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का दुरुपयोग करते हैं जो अहितकर है। किये हुए का फल सुखद हो अथवा दुःखद, पर विधान से होने के कारण मंगलकारी है। सुख सुकृति और दुःख दुष्कृति से फल को नाश करता है। इस दृष्टि से विधान मानव को कर्म से अतीत की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। कर्म से अतीत योग, बोध तथा प्रेम का साम्राज्य है। यदि सुख-दुःख के स्वरूप में किये हुए कर्मों का फल नाश न होता तो कोई भी मानव योग, बोध तथा प्रेम का अधिकारी न होता। इस दृष्टि से विधान

मानव-मात्र के लिए मंगलकारी है। मानव-मात्र योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न हो कृतकृत्य हो सकता है। अतः करने में सावधान तथा होने में प्रसन्न रहना अनिवार्य है।

सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना और सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध रहना मानव का प्रमाद है, जिसका नाश एकमात्र विधान के आदर में ही निहित है। विधान का आदर करने में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास है। विधान का उल्लंघन करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। विधान के अधीन होने पर पराधीनता, जड़ता और अभाव की गन्ध भी नहीं रहती। जो हो रहा है वह विधान है। उसके प्रभाव को अपनाना विधान का आदर है। विधान का आदर करते ही, जो हो रहा है उससे परे जो जीवन है उसकी उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जो विकास का मूल हे। प्रत्येक घटना में मंगलमय विधान का दर्शन करना और घटना के अर्थ को अपनाकर घटना भूल जाना विधान का आदर है। अर्थ को भूल जाना और घटनाओं का चिन्तन करना विधान का अनादर है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव करने और होने के भेद को भली-भाँति जान लेता है। करने के मूल में करने का राग, पाने का प्रलोभन तथा पराधीनता में जीवन-बुद्धि रहती है। कर्म-सामग्री, किये हुए का फल एवं उस फल का नाश विधान से होता है। जब मानव यह भली-भाँति अनुभव कर लेता है कि किसी भी कर्म का फल अविनाशी जीवन नहीं है तब उसे कर्म से अरुचि होती है। परन्तु वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रहते हुए कुछ न कुछ करना पड़ता है, किन्तु कर्म की वास्तविकता का बोध हो जाने पर कर्ता में निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही विधान से कर्म का फल होने पर भी कर्ता उस फल में आबद्ध नहीं होता।

यह कैसा अनुपम विधान है जो प्रत्येक मानव को कर्म के फल से मुक्त कर अविनाशी जीवन से अभिन्न कर देता है अर्थात् किसी भी कर्म से कर्म का फल नाश नहीं होता अपितु कर्ता में निष्कामता आने-मात्र से ही समस्त कर्मों का फल नाश हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

भूतकाल की भूल से पीड़ित मानव जब अधीर हो जाता है और अपने को अपनी ही दृष्टि में निन्दनीय पाता है, उस दशा में भी मंगलमय विधान उसका पथ-प्रदर्शन करता है। इस दृष्टि से विधान मानव-मात्र के लिए सर्वदा मंगलकारी है। भूल-जनित वेदना भूल न दुहराने की प्रेरणा देती है। उस प्रेरणा का आदरपूर्वक पालन करते ही सभी का वर्तमान निर्दोष होता है। उस निर्दोषता से मानव की अभिन्नता हो जाती है जिसके होते ही भूतकाल की भूल का परिणाम सदा के लिए मिट जाता है और वर्तमान सरस तथा भविष्य उज्जवल हो जाता है, यह विधान की महिमा है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में मानव-जीवन के महत्व को स्वीकार करता है।

मानव अन्य प्राणियों की भाँति नहीं है। मानव में किये हुए का प्रभाव अंकित होताहै और उसके आधार पर वह अपने को भला-बुरा मानता है। अपनी की हुई भलाई बुराई अपने से मानव छिपा नहीं सकता। इसी कारण किये हुए का प्रभाव उसे व्यथित करता रहता है। उस व्यथा से रहित करने के लिए भी मानव को प्रकाश मिलता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन सर्वोत्कृष्ट है, पर विधान का अनादर करने पर उसकी गणना पशुता से भी निम्न-कोटि में हो जाती है, कारण कि पशुओं में न तो किये हुए का पश्चाताप ही होता है और न उसका भावी फल बनता है। किये हुए कर्म का अदृश्य प्रभाव मानव में ही अंकित होता है। उस अदृश्य प्रभाव का नाश करने के लिए मानव विवेकपूर्वक असंगता को अपनाकर समस्त कर्मों के फल से मुक्त हो कृतकृत्य होता है। विवेकरूपी प्रकाश मंगलमय विधान से प्रत्येक मानव को स्वतः प्राप्त है। वैधानिक दृष्टि से किसी आकृति विशेष को ही मानव नहीं कहते; जो अपने दायित्व तथा माँग को जानता है, वही मानव है।

यह सभी को विदित है कि मानव को क्रियाशक्ति, विवेकशक्ति तथा भावशक्ति प्राप्त है। भावशक्ति के सदुपयोग द्वारा मानव बिना जाने, सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर सकता है जिसके करते ही अहम् और मम का नाश हो जाता

है और अगाध अनन्त, नित-नव प्रियता जाग्रत होती है। अहम् और मम के नाश होने से समस्त कर्मों का फल नाश हो जाता है और प्रियता जाग्रत होने से नित नव रस की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक माँग है। इस दृष्टि से भावशक्ति का सदुपयोग करने पर भी मानव कृतकृत्य हो जाता है। अतः मंगलमय विधान से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है, विधान से मिला है और मिले हुए का सदुपयोग जगत् के लिए उपयोगी है। जो वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता जगत् की सेवा के लिए मिली है उसके द्वारा अपने सुख के सम्पादन का प्रयास करना दुःख को नियन्त्रण देकर बुलाना है और उसके आने पर भयभीत होना है। यह मानव की भूल है। सेवा करते हुए आवश्यक संकल्पों की पूर्ति स्वतः होती है। इस दृष्टि से मिला हुआ अपने लिए नहीं है, अपितु सेवा-सामग्री है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव यह अनुभव कर लेता है कि जो कुछ मिला है, विधान से मिला है। उसे अपना मानना और अपने लिए मानना भूल है। जब तक मानव में सेवा की सद्भावना रहती है और जब तक वह सेवा-जनित सुख-भोग नहीं करता है, यहाँ तक कि मैं सेवक हूँ, इस बात का भी रस नहीं लेता है, अर्थात् मिले हुए तथा किये हुए से अपना मूल्यांकन नहीं करता है, तब तब बिना ही माँगे मंगलमय विधान से सेवा-सामग्री स्वतः मिलती रहती है। पर जब मानव सेवा के वेश में व्यक्तित्व के महत्व को पोषित करने लगता है तब न तो सेवा-भाव ही रहता है और न आवश्यक सेवा-सामग्री ही प्राप्त होती है। इस कारण सजगतापूर्वक मिले हुए का सदुपयोग पर-सेवा में करना है और निर्मम तथा निष्काम होकर शान्ति, स्वाधीनता एवं निर्विकारता से अभिन्न होना है, जो अपने लिए उपयोगी है। जब मानव अपने लिऐ अपने को उपयोगी पाता है तब मंगलमय विधान से उसे वह सामर्थ्य प्राप्त होती है कि वह प्रीति होकर सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक के लिए उपयोगी हो जाय, जो वास्तविक जीवन है।

अपने-अपने सुख के सम्पादन की रुचि तो प्राणी-मात्र में जन्मजात है परसुख की दासता से

रहित होकर शान्ति, स्वाधीनता से अभिन्न होने की माँग एवं प्रीति से परिपूर्ण होने की अभिरुचि मानव में ही होती है। इस दृष्टि से मानव-जीवन का बड़ा ही महत्व है। विधान का अनादर करने पर मानव अपने महत्व को भूलता है, जिसके भूलते ही अन्य प्राणियों की भाँति सुख की दासता एवं दुःख के भय में आबद्ध होता है। इस कारण विधान के आदर में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। यह कैसा अनुपम विधान है कि निर्मम होते ही दीनता तथा अभिमान का अन्त होता है और सभी अपने हो जाते हैं; भेद, भिन्नता तथा विषमता शेष नहीं रहती। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जिस पर अपना कोई भी स्वत्व नहीं है, उसकी ममता का त्याग दुर्लभ हो गया है। इतना ही नहीं, जो बात अपने करने की है, उसे स्वयं न करके दूसरों से आशा करना और वर्तमान कर्तव्य को भविष्य पर छोड़ना कहाँ तक युक्ति-युक्त है, अर्थात् अपनी असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानव-जीवन में असावधानी के लिए कोई भी स्थान नहीं है। यदि यह कह दिया जाय कि असावधानी सर्वनाश की जननी है तो अत्युक्ति न होगी। ऐसी कोई असफलता है ही नहीं, जिसके मूल में असावधानी नहीं है। विधान के अनुसार सावधानी ही सफलता की जननी है।

मानव-जीवन में महत्व की विस्मृति ही असावधानी की जननी है। मानव-जीवन का मूल्यांकन वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के आश्रित करना ही मानव-जीवन के महत्व की विस्मृति है। वस्तु, अवस्था, परिस्थितियाँ विधान से निर्मित है। यदि वे अपनी उत्पन्न की हुई होतीं तो उन पर अपना स्थायी स्वत्व होता, पर ऐसा है नहीं। इस कारण मानव 'मानव क्यों हैं'- इस मूल समस्या पर विचार करने से ही मानव-जीवन के महत्व का ज्ञान हो सकता है। वैधानिक दृष्टि से मानव में मानवता यही है कि वह मिले हुए के सदुपयोग द्वारा जगत् के लिए, निर्मम तथा निष्काम होकर असंगतापूर्वक अपने लिए और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत होकर प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है अर्थात् सेवा, त्याग, प्रेम की प्राप्ति में ही मानव-जीवन की महिमा है। किसी परिस्थिति-विशेष के आश्रित मानव जीवन का मूल्यांकन भूल है। सेवा,

त्याग, प्रेम प्रत्येक मानव के लिए सम्भव है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव मानव-जीवन के वास्तविक महत्व से परिचित हो सकता है, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति में मानव पराधीन नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

मानव विस्मृति के कारण ही, जिसकी प्राप्ति में वह स्वाधीन है, उसकी प्राप्ति में पराधीनता अनुभव करता है और जिसके सम्पादन में वह पराधीन है उसमें स्वाधीनता मान बैठता है, जो अवैधानिक है। विधान का आदर करते ही मानव स्वाधीनतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है-यह निर्विवाद सिद्ध है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से ही, मानव विधान का आदर नहीं कर पाता। ज्यों-ज्यों पराधीनता-जनित वेदना बढ़ती जाती है त्यों-त्यों स्वाधीनता की उत्कट लालसा सबल तथा स्थायी होती जाती है। सर्वांश में स्वाधीनता की लालसा जाग्रत होते ही मानव में विधान के आदर की सामर्थ्य आ जाती है। और फिर विधान और जीवन में एकता होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

मानव का जन्म भले ही पराधीनता को लेकर हुआ है, पर उसकी स्वाभाविक माँग स्वाधीनत होने की है। स्वाधीनता की माँग ही पराधीनता का अस्तित्व है। इस दृष्टि से पराधीनता प्राकृतिक तथ्य नहीं है। जिसे पराधीनता असह्य हो जाती है उसे स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। यह कैसा उदार विधान है कि जब मानव किसी भी प्रकार पराधीनता सहन नहीं कर पाता तब उसे स्वतः स्वाधीनता प्राप्त होती है। फिर भी मानव पराधीन बना रहे इससे बढ़कर और कोई भारी भूल नहीं है। स्वाधीनता की माँग में ही पराधीनता का नाश तथा स्वाधीनता की प्राप्ति निहित है। यह मंगलकारी विधान है।

सन्देह की वेदना में जिज्ञासा की जागृति, विचार का उदय और निःसन्देहता की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तविक माँग ही अपनी पूर्ति में हेतु है। इस रहस्य को अनुभव करते ही असफलता के लिए कोई स्थान नहीं रहता। असफलता का एकमात्र कारण वास्तविक माँग की पूर्ति में

विकल्प करना है, जो वैधानिक नहीं है। वैधानिक दृष्टि से माँग उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। अतः माँग की पूर्ति से निराश होना विधान से अपरिचित होना है और कुछ नहीं। कामनाओं की पूर्ति और आपूर्ति वैधानिक है। सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी हुईं। इस दृष्टि से अन्त में कामना-आपूर्ति ही शेष रहती है, जो मानव को स्वभाव से ही अभीष्ट नहीं है। कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति वैधानिक तथ्य है। इससे भिन्न जो कुछ है वह मानव की माँग नहीं है। वास्तविक माँग से निराश होना और कामना-पूर्ति की आशा करना, विधान का अनादर है। निःसन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है। सन्देह-रहित होते ही, जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इस दृष्टि से निःसन्देहता बड़े ही महत्व की वस्तु है, जिसकी प्राप्ति एकमात्र सन्देह-जनित वेदना से जाग्रत जिज्ञासा से ही होती है।

आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, मंगलमय विधान से स्वतः होती है। कर्तव्यनिष्ठ के लिए आवश्यक सामर्थ्य और जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार का उदय एवं शरणागत में प्रीति का उदय स्वतः मंगलमय विधान से होता है। प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करने पर ही मानव असमर्थता में आबद्ध होता है। सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, असमर्थता की व्यथा में भी विकास निहित है, यह मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से सफलता से निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। विधान के महत्व को न जानने से ही मानव विकास से निराश होता है। मानव-जीवन की दो ही अवस्थाएँ सार्थक हैं-प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय तथा असमर्थता-जनित वेदना। सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर भी विकास होता है और असमर्थता की वेदना में भी विकास निहित है। ह्रास तो केवल उसी का होता है जो न तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग ही करता है और न असमर्थता से पीड़ित है। अब यदि कोई यह कहे कि मैं सामर्थ्य का

सदुपयोग भी नहीं कर पाता और न असमर्थता से पीड़ित ही हूँ, तो क्या विकास सम्भव है? तो इस बात पर विचार करना होगा कि जो मानव सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता तो क्या वह दुरुपयोग करता है? विकास के लिए सदुपयोग करना उतना आवश्यक नहीं, जितना दुरुपयोग न करने का अविचल निर्णय। जब मानव किसी भी प्रकार प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता तब अपने-आप सदुपयोग होने लगता है। और यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है। जब मानव सर्वांश में दुरुपयोग न करने के निर्णय में तत्पर हो जाय। ऐसा कोई ह्रास नहीं है जिसका कारण प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न हो। जो नहीं करना चाहिए उसके न करने मात्र से ही विकास आरम्भ हो जाता है, कारण कि दुरुपयोग न करने पर या तो सामर्थ्य का सदुपयोग स्वतः होने लगता है अथवा असमर्थता की वेदना जाग्रत होती है। इस दृष्टि से प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने मात्र में ही विकास निहित है।

कुछ न करने की स्थिति स्वतः आवश्यक सामर्थ्य प्रदान कर कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति का मानव को अधिकारी बनाती है जो सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। विनाश का मूल एकमात्र विकास से निराश होकर हार मान लेना ही है। प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। इस दृष्टि से सभी परिस्थितियों में विकास सम्भव है। अतएव विकास से निराश होना मानव की भारी भूल है जिसका शीघ्रातिशीघ्र वर्तमान में ही नाश करना अनिवार्य है। मानव-जीवन में विकास के लिए नित-नवउत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता रहे, तो सफलता-अनिवार्य है। यह मंगलमय विधान है।

यह विधान है कि सुख का प्रलोभन तथा उसकी दासता रहते हुए दुःख का आना स्वाभावित है, अनिवार्य है। सुख के प्रलोभन तथा उसकी दासता का नाश करते ही दुःख स्वतः मिट जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि दुःख का प्रादुर्भाव केवल मानव को सुख के प्रलोभन से रहित करने के लिए होता है। सुख की दासता से रहित दुःख, दुःखी को दुःखहारी से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से सर्वांश में दुःख का प्रादुर्भाव ही सर्वतोमुखी विकास

में हेतु है। जिसके न होने की वेदना है, वह होन लगता है और जिसके होने की वेदना है वह मिट जाता है। इसमें यह निर्विवाद सिद्ध है कि वास्तविक माँग पूरी होती है। सुख के प्रलोभन के रहते हुए विकास सम्भव नहीं है। सुख के प्रलोभन ने ही मानव को परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं परम-प्रेम से विमुख किया है, कारण कि सुख-भोग का प्रलोभन पराधीन में जीवन-बुद्धि उत्पनन करता है जिससे देहाभिमान पुष्ट होता है। बेचारा देहाभिमानी दुःख-निवृत्ति, परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से विमुख हो जाता है। देहाभिमान का नाश वास्तविक माँग की जागृति में ही निहित है। माँग की पूर्ति वैधानिक तथ्य है। इसमें अविचल आस्था होने से ही कामनाओं की निवृत्ति तथा वास्तविक माँग की जागृति होती है। कैसा अनुपम विधान है कि माँग की जागृति में ही उसकी पूर्ति निहित है। फिर सर्वोत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति से निराश होना अपनी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कामना-पूर्ति न तो वर्तमान की ही वस्तु है और न स्वाधीनता से ही साध्य है। उसके लिए भविष्य की आशा, श्रम तथा पराधीनता को अपनाना आवश्यक होता है। परन्तु माँग की पूर्ति के लिए माँग के अतिरिक्त न किसी श्रम की अपेक्षा है और न भविष्य की आशा ही अपेक्षित है। सर्वांश में माँग की जागृति तथा उसकी पूर्ति युगपत् है। यह विधान है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपनी वास्तविक माँग की खोज करना है। यद्यपि प्रत्येक मानव में बीज रूप में माँग विद्यमान है, परन्तु कामना-पूर्ति-आपूर्ति से उत्पन्न सुख-दुःख में आबद्ध होने के कारण मानव को माँग की विस्मृति हो गई है, जो दुःख का प्रभाव होने पर नाश होती है, जिसके होते ही माँग की स्मृति जाग्रत होती है जिसकी पूर्ति मंगलमय विधान में निहित है। इस दृष्टि से विधान के आदर में ही जीवन का आदर तथा उसके अनुसरण में ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः सिद्ध है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में अनुत्पन्न तत्व और प्रतीति का प्रकाश है। उसे कोई मानव माने अथवा न माने, इससे उसके होने में कोई अन्तर नहीं होता। जो मानने पर भासित हो और न मानने से न रहे, वह वही है जो नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसके

न मानने से कोई क्षति नहीं होती और मानने में उसमें कोई विशेषता नहीं आती। जो है, वह उसका भी है जो उसे मानता है, और उसका भी है जो उसे नहीं मानता। जो सत्य की खोज करता है पर उसमें आस्था नहीं करता, वह खोज करते-करते स्वयं सत्य से अभिन्न हो जाता है और जो सत्य में आस्था करके उससे आत्मीयता स्वीकार करता है वह उसकी प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से जो 'है' उसको कोई माने अथवा न माने, पर वह सभी को जानता है और सभी को अपना मानता भी है। जब मानव सुख की दासता से रहित होकर केवल दुःखी होता है, अर्थात् दुःखी के जीवन में जब किसी प्रकार का सुख शेष नहीं रहता और वह दुःख को स्वतः मिटा नहीं पाता तब तो उसका अपना है वह उसे दुःखी नहीं रहने देता है अभागा दुःखी तभी तक दुःखी है जब तक सुख का प्रलोभन रखता है। सुख की आशा से रहित होते ही दुःखी का दुःख मंगलमय विधान से स्वतः नाश हो जाता है, कारण कि विधान का विधायक सभी का सब कुछ है और समर्थ है। अतः दुःख का सर्वांश में होना और उसकी निवृत्ति युगपत् है, यह अनन्त का अनुपम विधान है।

ॐ आनन्द। ॐ आनन्द। ॐ आनन्द॥

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – १

I. मानवमात्र के शरणानन्दजी

II. सत्संग और साधन

1. असत् का त्यागः साधन की अभिव्यक्ति
2. अकर्तव्य का नाश: कर्तव्य की अभिव्यक्ति
3. पराधीनता का नाश: स्वाधीनता की अभिव्यक्ति
4. आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति
5. मूक-सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति
6. उपसंहार

III. दर्शन और नीति

IV. जीवन पथ

1. जीवन असत से सत की ओर।
2. प्रभु में प्रियता।
3. मिले हुए का सदुपयोग।
4. मानव जीवन का महत्व।
5. विश्राम में जीवन हैं।
6. कर्तव्य परायणता।
7. स्मृति की जागृति – "हैं" की प्राप्ति
8. असंगता का महत्व।
9. प्रवृति सेवा में निवृति प्रेम में।
10. प्रभु में विश्वास
11. प्रियता में जीवन की पूर्णता।
12. ममता का त्याग
13. अगाध अनन्त आनन्द की प्राप्ति
14. जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति – अनित्य हैं।

V. दुःख का प्रभाव

1. एक परिचय
2. दुःःख का प्रभाव
3. उपसंहार

VI. मानवता के मूल सिद्धांत

VII. मूक-सत्संग तथा नित्य-योग

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग - २

I. साधन-तत्व

1. साधक कौन है?
2. साधन-तत्व क्या है?
3. साध्य क्या है?
4. क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है?
5. साधन-तत्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं?
6. साधन और साधन-तत्व में क्या भेद है?
7. साधन की आवश्यकता क्यों है?
8. साधन में विघ्न क्या हैं?
9. साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती?
10. जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों है?

11. साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो?
12. साधक होने का अधिकारी कौन है?
13. साधन में शिथिलता क्यों आती है?
14. साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है?
15. साधन का आरंभ कैसे हो?
16. साधन की लालसा
17. साधन का महत्व
18. असाधन का त्याग
19. दर्शन और साधन
20. जीवन और साधन
21. विश्वास और साधन
22. साधन-विधि
23. साधन-क्रम
24. साधन और असाधन
25. साधन और सत्संग
26. सत्संग की आवश्यकता
27. अहम् का नाश तथा साधन-तत्व

II. मानव की मांग

1. प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग
2. सुन्दर समाज का निर्माण
3. अपना कल्याण चाह-रहित होने में है
4. सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति
5. बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर
6. अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति
7. संयोग में वियोग के दर्शन
8. कर्तव्य-परायणता
9. अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम
10. भुक्ति, मुक्ति और भक्ति
11. निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है
12. मुक्त किससे होना है
13. कर्ता और कर्म- मान्यता का प्रभाव
14. निर्मलता कि प्राप्ति
15. सुख का उपयोग सेवा है
16. कर्म, विवेक और विश्वास
17. परिस्थितियाँ
18. भाव – शुद्धि
19. अचाह होने का महत्व
20. कर्तव्य-पालन में स्वतन्त्रता
21. पर-दोष-दर्शन
22. करना और होना
23. जीवन-विभाजन
24. करो 'सेवा' जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को
25. निर्भयता की प्राप्ति
26. स्वाभाविक आवश्यकता कि सहज पूर्ति
27. चरित्र – निर्माण

III. मानव–दर्शन

28. मानव जीवन की समस्या, मानव–दर्शन का महत्व
29. असत् का विवेचन
30. मैं का विवेचन
31. पथ-विवेचन
32. कर्तव्य-विवेचन
33. समाज-दर्शन
34. दुःख की समस्या
35. शिक्षा और दीक्षा

36. विश्व-शान्ति
37. उपसंहार

IV. साधन-निधि

1. अपने लिए उपयोगी होना
2. जगत् के लिए उपयोगी होना
3. प्रभु के लिए उपयोगी होना
4. उपसंहार

V. मंगलमयी विधान

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ३ & ४

स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज के अकाट्य प्रवचनों का संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ५

I. सन्त समागम
II. सन्त सौरभ
III. सन्त उद्बोधन
IV. साधन सूत्र

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ६

I. चित्त शुद्धि

1. अशुद्धि क्या?
2. अशुद्धि के कारण की खोज
3. सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग
4. व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान
5. प्राप्त का सदुपयोग
6. अस्वाभाविकता का त्याग
7. न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति
8. न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति
9. असाधनरूप मान्यताओं की अस्वीकृति
10. परिस्थितियों की अनित्यता
11. भय तथा प्रलोभन से मुक्ति
12. नीरसता और खिन्नता से मुक्ति
13. स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता
14. कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अंत
15. निस्संकल्पता की आवश्यकता
16. वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद
17. अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं
18. निषेधात्मक साधन की आवश्यकता
19. निज-ज्ञान की सामर्थ्य
20. चित्त की महिमा
21. चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृत्ति
22. ज्ञान और जीवन की अभिन्नाता
23. व्यक्तित्व के मोह का अन्त
24. सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज
25. सन्देह की निवृत्ति तथा निस्सन्देहता की प्राप्ति

26. असंभव का त्याग तथा संभव की प्राप्ति
27. गुणदोष-युक्त द्वन्द्व से मुक्ति
28. सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति
29. कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग
30. जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग
31. मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति
32. अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय
33. स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ
34. निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान
35. इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग एवंबुद्धि-ज्ञान का आदर
36. आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति
37. सुख-भोग की आशा का त्याग
38. मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय
39. सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्व
40. क्षमा-प्रार्थना एवं क्षमा-शीलता का महत्व
41. अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति
42. व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ
43. रूचि-अरूचि के द्वन्द्व का अन्त
44. अहम् और वस्तु का विभाजन
45. आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त
46. प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन-निर्माण
47. प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में
48. अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति
49. अहम्-भाव की निवृत्ति एवंभय-प्रलोभन से मुक्ति
50. अनन्त के विधान-विवेक का आदर
51. वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति
52. कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति
53. संकल्प उत्पत्ति-पूर्त्ति से अतीत का जीवन
54. करने में सावधान और होने में प्रसन्न

II. जीवन दर्शन

55. अचाह पद
56. विवेक एवं अविवेयुक्त विश्वास
57. भोग-इच्छाओं की निवृत्
58. व्यक्तित्व की दासता
59. परिस्थितियों का सदुपयोग
60. व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति
61. हमारी वास्तविकता आवश्यकता
62. मान्यता, विधान और जीवन की एकता
63. आशा और निराशा किसकी?
64. 'करने' का 'होने' में परिवर्तन
65. गुणों के अभिमान का त्याग
66. अनित्य जीवन से निराशा
67. कामना-निवृत्ति
68. नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव
69. माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति
70. सहज निवृत्ति का सदुपयोग
71. वर्तमान का सदुपयोग
72. आसक्ति और प्रीति
73. व्याकुलता और प्रेम
74. विवेक और प्रीति
75. साधन-निर्माण
76. प्रीति ही जीवन है।
77. कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्त
78. निर्मोहता में दिव्य-जीवन

79. परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर
80. निर्भयता की कुन्जी
81. आसक्ति और प्रीति का विवेचन
82. सुख की आशा के त्याग में ही विकास
83. पर-चर्चा से हानि
84. सफलता की कुन्जी
85. विश्राम की महिमा
86. विश्राम की विधि
87. साधन-निर्माण की भूमि
88. अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता
89. साधन में शिथिलता क्यों आती है?
90. भिन्नता के अन्त में जीवन
91. 'मैं' क्या है?
92. निस्संदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति
93. प्रवृत्ति और निवृत्ति
94. निष्कामता में ही सफलता है
95. पराश्रय का त्याग और सेवा
96. कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन
97. साधन-तत्त्व
98. वर्तमान जीवन का सदुपयोग
99. साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है
100. वर्तमान का आदर ही साधन है।
101. स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति
102. 'मैं' का स्वरूय
103. त्याग और प्रेम
104. विवेक की अलौकिकता
105. व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन
106. उपासना का रहस्य
107. नि:संदेहता तथा प्रीति
108. कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति
109. कामना-निवृत्ति का महत्त्व
110. जीवन का परम पुरुषार्थ
111. असंगता और प्रेम
112. दोषों का मूल-असावधानी
113. गुण, दोष और उनकी निवृत्ति
114. साधनरूप मान्यताएँ
115. अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति
116. विवेक से प्रीति
117. उद्देश्य और उसकी पूर्ति
118. कर्तव्य-मीमांसा
119. क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय
120. परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन
121. ममता का त्याग और प्रेम
122. अचाह में अभिन्नता
123. श्रमरहित साधन
124. साधन-भेद और साध्य की एकता
125. बाह्य दुष्टियों का सदुपयोग
126. चिर-शान्ति और सरसता।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ७

साधकों को पत्रों के माध्यम से स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज जी का उपदेश संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ८

I. सन्त जीवन दर्पण

1. स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज`
2. पुण्य- स्मृति
3. वह तो आते आधे नाम
4. जीवन के मार्मिक प्रसंग
5. विविध प्रसंग

II. साधन त्रिवेणी

1. जीवन का सत्य
2. हमारी आवश्यकता
3. सेवा ही जीवन का सार सर्वस्व
4. सत्संग मानव का स्वधर्म
5. स्वाधीनता, उदाराता और प्रेम
6. धर्म विज्ञान
7. सच्चा साधक कौन?
8. विवेक और विश्वास
9. साधना-पथ की बाधाएँ
10. प्रभु-प्रेम की विलक्षणता
11. विश्व-शान्ति

III. 'मैं' की खोज

1. 'मैं' क्या है?
2. 'मैं' का स्वरूप'
3. 'मैं' का विवेचन
4. उपसंहार

IV. पथ प्रदीप

1. जीवन कला
2. मानव की महिमा
3. 'मैं' का परिचय
4. अचाह-मानव का परम पुरुषार्थ
5. राग निवृत्ति-नित्ययोग
6. दुःख-एक विवेचन
7. सन्तुलन
8. सेवा का माहात्म्य
9. व्यक्तिगत सत्संग
10. विश्राम-विकास की पृष्ठभूमि
11. विश्रान्ति की सीमा पर मिलते हैं
12. साधन-भजन-पूजन
13. भक्ति – योग
14. अहैतुकी कृपा
15. प्रभु की प्रियता

V. प्रश्नोतरी संतवाणी

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ९ & १०

दिव्य ज्योति प्रो.देवकी माँ के प्रवचन